अभिज्ञानशकुन्तला नाटकम्

लोकप्रियसाहित्यग्रन्थमाला-92

अभिज्ञानशकुन्तला नाटकम्

(शारदा-पाण्डुलिपियों में संचरित हुई काश्मीरी वाचना का समीक्षित पाठसम्पादन)

प्रधान संपादक

प्रो. परमेश्वरनारायणशास्त्री

(कुलपति)

संपादक

वसन्तकुमार म. भट्ट

निदेशक, भाषा-साहित्य भवन

(आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग)

गुजरात युनिवर्सिटी अहमदाबाद

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

मानितविश्वविद्यालयः

(भारतशासनमानवसंसाधनविकासमन्त्रालयाधीनम्)

नवदेहली

प्रकाशक:
कुलसचिव:
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्
(मानितविश्वविद्यालय:)
56-57, इन्स्टीट्यूशनलएरिया
जनकपुरी, नवदेहली- 110058
ईपीएबीएक्स : 28524993, 28521994, 2854995

e-mail : rsksrp@yahoo.com
website : www.sanskrit.nic.in

ISBN : 978-93-85791-25-3

प्रथमसंस्करणम् : 2018

मूल्यम् : ₹ 400.00

मुद्रक :
ग्राफिक वर्ल्ड,
1659 दरिया गंज, नई दिल्ली-110002
9811025848

प्राग्भणितिः

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानस्य ग्रन्थप्रकाशनमालायाम् आचार्येण डॉ. वसन्तकुमारभट्टमहोदयेन महत्या सूक्ष्मेक्षिकया सम्पादितस्य अभिज्ञानशकुन्तलाख्यस्य नाटकस्य (शारदापाण्डुलिपिषु सञ्चरितायाः काश्मीरीयवाचनायाः) सभीक्षितपाठसम्पादनरूपं प्रकाशनं क्रियते, इत्यन्तहर्षस्य विषयः। अनेन प्रकाशनेन संस्कृतसाहित्यरसिकानां पुरस्तात् महाकविकालिदासस्य समुत्कृष्टनाटकस्य पञ्चम्याः पाठः समागमिष्यति। साम्प्रतं यावत् मैथिलीय-बङ्गीय-दाक्षिणात्य-देवनागरीवाचनानां चतुर्विधाः पाठाः प्रकाशिता अभुवन्। तेषु पाठेषु केवलं देवनागरीवाचनायाः पाठा एव अध्ययनेऽध्यापने च प्रचलन्ति। सम्पादकाभिमतानुसारं प्रस्तुत-देवनागरीवाचनायाः पाठस्तु पञ्चदश-षोडशशताब्द्यां सज्जीकृतोऽत्यन्तं संक्षिप्तः संमश्रितश्च। साम्प्रतम् एतस्य काश्मीरीयपाठस्य प्रकाशनात् न्यूनातिन्युनं सप्तामशताब्द्यां पाठं यावदस्माकं गतिः। पाठसम्पादकः प्रो. भट्ट सर्वप्रथमतया प्रकाशनात् न्यूनातिन्युन सप्तमशताब्द्याः पाठं यावदस्माकं गतिः। पाठसम्पादकः तिस्रः आक्सफोर्डविश्वविद्यालयस्य बोडलियनपुस्तकालयात् सम्प्राताः आसन्। एका पाण्डुलिपिः पुण्यपत्तनस्थ-भाण्डाकरप्राच्यविद्यालयस्य बोडलियनपुस्तकालयात् सम्प्राप्ताः आसन्। एका पाण्डुलिपिः पुण्यपत्तनस्थ-भाण्डाकरप्राच्यविद्यानुसन्धानसंस्थानद् अपरा चैका श्रीनगरस्य-आलमइकबालपुस्तकालयतो लब्धा। एतासु पाण्डुलिपिषु 1875 तमे वर्षे ब्युल्हरमहाशयेन प्राप्ता भूर्जपत्रेष्वङ्किता शारदापाण्डुलिपिः प्राचीनतमा अद्वितीया च वर्तते, यस्याः पाठ आदृततमः।

सर्वप्रथमं यदा सरविलियमजोन्समहोदयः 1789तमे वर्ष आङ्ग्लभाषायां नाटकस्यास्य बङ्गीयपाठस्य अनुवादञ्चकार, तत एव पाश्चात्त्यविद्याजगति संस्कृतसाहित्यस्यालोडनं प्रारभत। किन्त्वभिज्ञानशाकुन्तलनाम्ना सुप्रचलितमिदं नाटकम् अद्यावधि बहुविधपाठान्तरेष्वेव मग्नमवलोक्यते। साम्प्रतं काश्मीरीयवाचनायाः प्राचीनतमस्य पाठस्यास्य प्रकाशनेनैतस्य नाटकस्य पाठोद्धारस्य मार्गः प्रशस्तो भविष्यति। राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानं समालोचनायुतं शारदालिपिबद्धकाश्मीरीयपाठं देवनागरीलिप्यां प्रकाशयद् गौरवमनुभवति।

अस्माकं देशे परम्परागतसंस्कृतग्रन्थेषु बहवस्तादृशा वर्तन्ते, येषां समीक्षितावृत्तेरभावात् पाठनिर्धारणे महती समस्या विद्यते। एतादृशा ग्रन्थाः शास्त्रीयविषयप्रतिपादनपरा भवेयुः आहोस्वित् काव्यसाहित्यसम्बद्धास्तेषां सर्वेषां समालोचना विवादग्रस्ता वर्तते। किन्तु समीक्षितपाठसम्पादनेन एतादृशा विवादा न्यूनीकर्तु शक्यन्त ऐतिह्यानुप्राणिततुलनात्मकमञ्चाध्ययनं पुरस्कर्तुं शक्यते। नूतनाः संस्कृतच्छात्रा अस्यां दिशि अग्रेसरा भवन्त्विति भावनया ग्रन्थोऽयं लोकायार्प्यते। ग्रन्थस्यास्य सम्पादकेभ्यो डॉ. वसन्तकुमारभट्टमहोदयेभ्योऽहम् एतद्ग्रन्थप्रकाशनपुण्यावसरे धन्यवादं वितनोमि।

प्रो. परमेश्वरनारायणशास्त्री

अस्मदीयं निवेदनम्

महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशकुन्तला नाटक का पाठ, जो काश्मीर की शारदालिपि में लिखी हुई परम्परागत पाण्डुलिपिओं में सुरक्षित रहा है, किन्तु अद्यावधि तिरोहित ही रहा था उसका समीक्षित पाठ सुधी रसिकों के सामने प्रस्तुत करते हुए आज बड़ी प्रसन्नता हो रही है। इस निमित्त से मा शारदा सरस्वती की समाराधना करने का जो मौका मिला है उससे मैं कृतकृत्यता का अनुभव कर रहा हूँ। प्रस्तुत समीक्षित पाठसम्पादन की गरिमामय कतिपय विशेषताएँ हैं। जैसे कि, 1. प्रकृत सम्पादन में काश्मीर की शारदा लिपि में लिखी हुई पाँच पाण्डुलिपिओं का इदं प्रथमतया विनियोग किया गया है। इन पाँच में भूर्जपत्र पर लिखी गई एक दुर्लभतम प्रति का समावेश है। न्यू केटलोगस केटलोगरम के द्वारा इसको सदा काल के लिए तिरोहित हुई घोषित की गई थी, इसको पुनः प्रकाश में लाने का सद्‌भाग्य मिला है, वह उल्लेख्य है। उसके साथ साथ दूसरी भूर्जपत्र पर लिखी हुई एक खण्डित प्रति भी यहाँ पर प्रथम बार प्रकाश में लाई जा रही है। 2. एकाधिक शारदा पाण्डुलिपियों का प्रथम बार विनियोग करके सही स्वरूप में काश्मीरी वाचना का समीक्षित पाठसम्पादित किया गया है। यह सम्पादन श्रद्धेय डॉ. एस. के. बेलवालकर जी के सम्पादन से बहुत पृथक् एवं केवल शारदा पाण्डुलिपिओं के साक्ष्य पर तैयार किया गया है। 3. इसमें काश्मीरी वाचना के पाठ की अज्ञात अद्वितीय विशेषताएँ उजागर की गई हैं। 4. इस नाटक की पाँचों वाचनाओं में काश्मीरी वाचना ही प्राचीनतम है इस बिन्दु को प्रथम बार बाह्याभ्यन्तर प्रमाणों से प्रस्थापित

किया गया है। (इस सम्पादन से अब हम 14वीं शती के देवनागरी पाठ से हट कर, 7वीं शती के पाठ तक पहुँच रहे हैं।) प्राकृत-प्रकाश पर भामह ने जो टीका लिखी है उसमें शौरसेनी प्राकृत के उदाहरण के रूप में जैसे मृच्छकटिक से उदाहरण दिये गये हैं, वैसे 11वीं शती में हेमचन्द्राचार्य ने शौरसेनी के जो उदाहरण दिये हैं वे काश्मीरी वाचना के अभिज्ञान-शकुन्तला नाटक से दिये हैं इसकी सूचना भी प्रथमबार यहाँ समुद्घाटित हो रही है।

5. इस नाटक की पाँचों वाचनाओं में उपलब्ध हो रहे सातों अंकों के बहुविध पाठान्तरों का सविस्तार तुलनात्मक अभ्यास प्रथमबार पेश किया गया है। इस तुलनात्मक अभ्यास में कालिदास के इस नाटक के कवि प्रणीत मूल पाठ में पाठविचलन का क्या क्रम रहा होगा? इस जिज्ञासा से प्रेरित होकर प्राचीन से प्राचीनतर, एवं प्राचीनतर से प्राचीनतम पाठ तक पहुँचने का प्रयास किया गया है। (हमारे प्राचीन ग्रन्थों के समीक्षित पाठसम्पादनों में बहुसंख्यक पाण्डुलिपिओं में उपलब्ध होनेवाले पाठ को ही बहुशः प्राधान्य दिया जाता है। अथवा, प्राप्त की गई पाण्डुलिपिओं में से जिस पाण्डुलिपि का लेखनकाल सब से पुराना होता है उसके पाठ को ही प्राधान्य दिया जाता है। या फिर, कदाचित् पाण्डुलिपिओं में एवं प्रकाशित ग्रन्थों में उपलब्ध हो रहे बहुविध पाठों में से सम्पादक की दृष्टि से जो सर्वोत्तम लगता हो ऐसे पाठ का चयन किया जाता है। साथ में अमान्य किये गये पाठान्तरों का पादटिप्पणिओं में समावेश करके सम्पादन-कार्य की समाप्ति की जाती है। लेकिन ऐसे इकलेक्टीक प्रिन्सीपल्स पर तैयार की गई एडिशन्स में अज्ञात रूप से सम्पादक की रुचि-अरुचि प्रविष्ट होती ही है, जिसके कारण वह सम्पादन सर्वसम्मत नहीं हो सकता है। किन्तु किसी भी प्राचीन कृति की अनेक पाण्डुलिपिओं में से श्रद्धेय पाठ का सम्पादन करते समय उस कृति का पाठ किस तरह के साहित्य का पाठ है? वह पहले सोचना चाहिए। निखिल संस्कृत-वाङ्मय 1. अकर्तृक दृष्ट-साहित्य, 2. अनेक-कर्तृक प्रोक्त-साहित्य, 3. एक-कर्तृक कृत-साहित्य, 4. उत्कीर्ण साहित्य एवं 5. बुद्ध एवं महावीर की वाणी, जिसको हम श्रुत-साहित्य कहते हैं, इन पाँच प्रकार के पाठ में विभक्त हो सकता है।

यहाँ प्रत्येक पाठ के सम्पादन की समस्याएँ अलग अलग होती है और पाठसम्पादन के नियमादि भी पृथक् पृथक् होते हैं। लेकिन उन सब तरह के पाठों में, पाण्डुलिपिओं में उपलब्ध हो रहे पाठान्तरों को देख कर उनमें अन्तर्निहित पौर्वापर्य को ढूँढने का उपक्रम ही पहले तो अधिक फलदायी सिद्ध होता है, इस बात की ओर शायद किसी का ध्यान प्रकट रूप से गया नहीं है। वर्तमान में तो किसी भी प्राचीन कृति की पाठयात्रा किस क्रम में चल रही है? ऐसी ऐतिहासिक दृष्टि से अनुप्राणित विचारणा प्रायः होती ही नहीं है। जिसके कारण प्राचीन से प्राचीनतर, एवं प्राचीनतर से प्राचीनतम पाठ की गवेषणा होती ही नहीं है।, इस सन्दर्भ में, इस नाटक के पाठ में मंचनलक्षी परिवर्तनों की एवं संक्षेपीकरण की आनुक्रमिक पाठयात्रा सोची गई है तथा उसके आन्तरिक प्रमाण इदं प्रथमतया उपस्थित किये गये हैं। (इस सन्दर्भ में, डॉ. दिलीप कुमार काञ्जीलाल की जो उपस्थापना है, उससे सर्वथा भिन्न मत हमने उपस्थित किया है।) 6. जिस देवनागरी वाचना के लघुपाठ को मौलिक या सब से अधिक श्रद्धेय मान लिया गया है उस पाठ को "संक्षिप्त किया गया" एवं अन्यान्य वाचनाओं के पाठभेदों का स्वीकार करके बनाया गया "संमिश्रित पाठ" सिद्ध किया गया है। देवनागरी वाचना का सुप्रचलित पाठ एक रंगावृत्ति का ही पाठ है ऐसा कृतिनिष्ठ आन्तरिक प्रमाणों से सिद्ध किया गया है। 7. कालिदास के द्वारा प्रयुक्त "अपि च" एवं "अथवा" निपातों का स्वारस्य निश्चित करके, इस नाटक के पाठ में किये गये प्रक्षेप या संक्षेपादि का निरूपण किया गया है। 8. उत्तरपीठिका भाग में, जहाँ प्रत्येक अंक के पाठान्तरों की चर्चा की गई है उसमें काश्मीरी वाचना में संचरित हुए पाठ की अनेक स्थानों में उच्चतर समीक्षा की है, और आन्तरिक सम्भावना से उन पाठों की मौलिकता सिद्ध की गई है। 9. अभिज्ञान-शाकुन्तल नाम से सुविख्यात बने इस नाटक की "वाचनाएँ" कितनी? इस प्रश्न पर पुनर्विचार किया गया है। क्योंकि अद्यावधि लिपिभेद से या प्रदेशभेद से वाचनाभेद करने के प्रघात से ही वाचनाओं का निर्धारण होता रहा है। इस दृष्टि से तो आज उपलब्ध हो रही वाचनाओं को हम काश्मीरी, मैथिली, बंगाली,

देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं के नाम से पहचानते हैं। किन्तु समीक्षामूलक किसी भेदक तत्त्व को पुरस्कृत करके सोचा जाए तो, एक ओर "शारदा (काश्मीरी) वाचना" खड़ी है, तथा दूसरी ओर "शारदेतर वाचनाएँ" खड़ी हैं। जिसमें शारदेतर वाचना के चतुर्विध रूपान्तरण प्रवर्तमान है (जैसे कि, मैथिली, बंगाली, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य) ऐसा कहना होगा। 10. काश्मीरी वाचना का प्राचीनतम एवं समुचित समीक्षित पाठ प्रस्तुत करके, इस नाटक का अधिकाधिक श्रद्धेय हो ऐसे पाठ का पुनर्गठन करने का मार्ग प्रशस्त किया गया है। 11. अन्त में, इस नाटक के पाठ में उपलब्ध हो रहे इतने सारे मंचनलक्षी परिवर्तनों के बावजुद भी, सभी वाचनाओं के पद्यात्मक भाग में बहुत कम परिवर्तन (10 प्रतिशत प्रक्षेप एवं 10 प्रतिशत संक्षेप) हुए है ऐसा विश्लेषण भी प्रस्तुत किया गया है। इस सम्पादन एवं उत्तर पीठिका भाग में रखे गये विवेचन से अब इस नाटक का नवीन काव्यार्थ ढूँढने की, सोचने की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत होती है। (इस सन्दर्भ में, "अभिज्ञानशाकुन्तल में प्रतीकों से अभिव्यक्त होनेवाला नाट्यकार्य" शीर्षक से "संस्कृत-विमर्श'', दिल्ली, 2013 में प्रकाशित मेरा आलेख दृष्टव्य है।)

कृतज्ञता-ज्ञापन

काश्मीर की शारदा-पाण्डुलिपियों प्राप्त करने में जिन्होंने बहुमूल्य साहाय्य की है, उनका मैं सदैव ऋणी रहुँगा। इन साहाय्य-कर्ता संस्कृतानुरागी विद्वानों में प्रोफेसर डॉ. सरोजा भाटे, प्रोफेसर डॉ. माधव देशपाण्डे, मेरे बचपन के मित्र प्रिय भूषण हेमन्त ब्रह्मभट्ट, और मेरी कर्मभूमि गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदाबाद मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। इन पाण्डुलिपिओं की शारदा-लिपि को पढ़ने, समझने में सहभागी बने मेरे प्रिय छात्र श्रीधर्मेन्द्र भट्ट एवं श्रीमती भारती पटेल मुझे सदा याद रहेंगे। काश्मीरी वाचना के पाठ की महत्ता के सन्दर्भ में मेरी जो विचारधाराएँ चलती रही हैं उन पर सहचिन्तन या असम्मति दिखा कर पुनर्विचार के लिए बाध्य करनेवाले विद्वान्, और मेरी पुत्री चि. कृष्णा तथा पुत्र चि. विश्वेश ने मुझ पर बहुत उपकार किया है। क्योंकि ऐसे परामर्श से ही वादे वादे जायते तत्त्वबोधः की स्थिति साकार होती है। मेरी इस विचारयात्रा के परीक्षक रहे हैं काशी के मूर्धन्यपण्डित प्रोफेसर श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी जी, नाट्यसाहित्य के मर्मज्ञ अनुपम विद्वान् प्रोफेसर श्री राधावल्लभ त्रिपाठी जी, विक्रम युनिवर्सिटी के प्रोफेसर श्री बालकृष्ण शर्मा जी,एवं मेरे साथी प्राध्यापक श्री कमलेशकुमार छ. चोक्सी, (गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदाबाद) तथा मेरी छात्रा डॉ. कालिन्दी पाठक एवं डॉ. पंकज ठाकर। मैं उन सब महानुभावों का सदैव ऋणी रहुँगा। इस सम्पादन-कार्य में अपरोक्ष रूप से उज्जयिनी में प्रतिवर्ष आयोजित होनेवाला कालिदास समारोह तथा राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन, दिल्ली की कार्य-शिबिरों में व्याख्यान देने का जो मौका मिलता रहा है

वह उपकारक सिद्ध हुए है। इस सन्दर्भ में, काश्मीरी शारदा-लिपि सिखानेवाले प्रो. त्रिलोकनाथ गञ्जू एवं ग्रन्थलिपि के ज्ञाता डॉ. एस. जगन्नाथ जी की मैत्री को भी मैं विशेष रूप से याद करता हूँ। साथ में डॉ. दिलीपकुमार राणा,डॉ. श्री जितेन्द्रभाई शाह, प्रोफेसर दीप्ति त्रिपाठी एवं डॉ. रमेश भारद्वाज का भी मैं आभारी हूँ। इस स्वाध्याय-यज्ञ में सहायक बने है काशी विद्यापीठ के प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी जी, हैदराबाद संस्कृत अकादमी के निदेशक डॉ. श्रीनिवास वरखेडे जी, उत्तर गुजरात युनि. के डॉ. दिलीपकुमार पटेल। इन सभी का मैं पुनः पुनः धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। अन्त में, जिसको याद किये बिना यह कृतज्ञता-ज्ञापन अधुरा रहेगा वह मेरे प्रिय श्रीमती सौ. वृन्दा (कल्याणी) को मैं अभिवादन-पुरस्सर धन्यवाद देता हूँ। क्योंकि, उन्होंने ही देश के कौने कौने से एवं नेपाल, लन्दन या ऑक्सफर्ड से मेरे घर में आती रही शकुन्तला-पाण्डुलिपिओं का सानन्द स्वागत किया है! तथा इस कार्य को पूरा करने के लिए निरन्तर प्रेरणा एवं बहुविध अनुकूलताएँ सदैव प्रदान की है।

इस ग्रन्थ की उत्तर-पीठिका में जिन प्रकरणों का समावेश किया गया है उनमें से बहुत से प्रकरण शोध-आलेख के रूप (वर्ष 2012-13 से 15 तक) में प्रकाशित करनेवाली विभिन्न पत्रिकाएं नाट्यम्, संस्कृत-विमर्श, अपूर्वा, शोध-प्रभा, धीमहि, गंगानाथ झा रिसर्च जर्नल, सम्बोधि, कृति-रक्षण इत्यादि के सम्पादकों का भी मैं आभारी हूँ। क्लेशः फलेन पुनर्नवतां विधत्ते का सुखद अनुभव करानेवाले राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली का भी मैं सदैव आभारी रहुँगा, क्योंकि उसने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार उठाया है। इस सम्पादन के प्रकाशन के साथ सम्भवतः कुछ मतभेद प्रकट होंगे, जिसकी मुझे प्रतीक्षा है। क्योंकि ऐसा होने पर ही हमारे महाकवि कालिदास पुनर्नवा होंगे॥ तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

वसन्तकुमार म. भट्ट

A-2, सुरभि एपार्ट. सुभाष सोसायटी
विजय क्रोस रोड, नवरंगपुरा, अहमदावाद-380009
v.k. bhatt53@gmail.com
मो. 9427700064 & 9773127745

अनुक्रम

पूर्वपीठिका

(1) काश्मीरी वाचना का अभिज्ञानशकुन्तला नाटक

महाकवि कालिदास ने ई. स. की प्रथम शताब्दि में तीन नाटकों की रचना की थी, उनमें से जो नाटक सर्वोत्तम सिद्ध हुआ है वह "अभिज्ञानशाकुन्तल" नाम से सुविख्यात हुआ है। कालिदास के समय में तो ब्राह्मी लिपि का प्रचलन था। कालिदास ने ब्राह्मी लिपि में लिखी प्रथम पाण्डुलिपि प्राप्त होना सम्भव नहीं है, क्योंकि वह प्रति तो आज कालग्रस्त हुई है। लेकिन उस स्वहस्तलेख में से बनाई गई प्रथम प्रतिलिपि को "आदर्शप्रति" के रूप में स्थापित करके, उनमें से दूसरी प्रतिलिपि, दूसरी प्रतिलिपि से तीसरी प्रतिलिपि, तीसरी से चौथी प्रतिलिपि बनाने की एक लम्बी परम्परा रही होगी। ऐसे बारंबार होते रहे प्रतिलिपिकरण के दौरान प्रदेशभेद से और कालभेद से लिपिभेद भी होता रहा होगा। उस तरह के प्रतिलिपि-करण एवं लिप्यन्तरण का सिलसिला शताब्दिओं से चलता रहा है। इस तरह के परम्परागत पाठ की जो वंशज प्रतिलिपियाँ आज मिल रही है वे बहुशः शारदा, बंगाली, मैथिली, नेवारी, देवनागरी, ग्रन्थ, तेलुगु, उडिया जैसी लिपियों में लिखी गई हैं। इनके आधार पर इस नाटक की चार वाचनाओं का अद्यावधि प्रकाशन हुआ है, वह (1) बंगाली, (2) मैथिली, (3) देवनागरी एवं (4) दाक्षिणात्य है।[1] इन सब के साथ एक महनीय वाचना का परिगणन भी अत्यावश्यक है, वह हैः- (5) काश्मीरी वाचना।[2] इस पाँचवी वाचना का पाठ काश्मीर की शारदा-लिपि में लिखी गई पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ है, जो आज कतिपय पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रहा है। मैथिली एवं

बंगाली पाण्डुलिपियों में इस नाटक का शीर्षक “अभिज्ञानशकुन्तल” है, देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में इसका नाम “अभिज्ञानशाकुन्तल” है, किन्तु काश्मीर की वाचना का पाठ जिन शारदा-पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रहा है उनमें इस नाटक का शीर्षक “अभिज्ञानशकुन्तला” दिया गया है। अब, इस नवीन वाचना के पाठ का अभ्यास एवं उसके प्रकाशन का इतिहास सर्वप्रथम ज्ञातव्य हैः-

शारदा पाण्डुलिपियों पर अब तक हुए कार्य का ऐतिहासिक दृष्टि से विवरणः-

प्रोफेसर डॉ. ब्युह्लर जी ने 1875-76 के वर्षों में काश्मीर, राजपुताना (बीकानेर) और मध्यभारत के प्रदेशों में से कतिपय पाण्डुलिपियाँ खरीद कर एशियाटिक सोसायटी, मुम्बई में सुरक्षित की थी। उनमें से कालिदास के अभिज्ञानशकुन्तला नाटक की भूर्जपत्र पर लिखी पाण्डुलिपि को 192 क्रमांक दिया गया था। काश्मीर की शारदा लिपि में लिखी हुई यह प्रति निरतिशय मूल्यवान है। (उसका लेखन-काल ई.स. 1676 है। अर्थात् औरंगजेब के शासन-काल (ई.स. 1660 से 1707) के दौरान इस भूर्जपत्रवाली पाण्डुलिपि का निर्माण हुआ होगा।) ई. स. 1875 में ब्युह्लर के द्वारा खरीदी गई इस पाण्डुलिपि का वाचन 1877 में हुआ। श्री नारायण शास्त्री ने शारदा लिपि में लिखी गई उस प्रति का वाचन करके, उसके प्रथम अङ्क का पाठ देवनागरी लिपि में तैयार किया। उसको रॉयल सोसायटी, मुम्बई के जर्नल में (1877 में) प्रकाशित करने से पहले श्रीवामनाचार्य झळकीकर जी ने संशोधित भी किया था। इस प्रथम अङ्क का पाठ प्रसिद्ध होते ही युरोपिय विद्वानों को मालूम हो गया था कि इस भूर्जपत्रवाली प्रति में इस नाटक का जो शारदा-पाठ संक्रान्त हो कर आया है, वह एक स्वतन्त्र वाचना का पाठ हो सकता है। अतः कार्ल बुरखाड ने इस पाण्डुलिपि में से अवशिष्ट रहे छः अङ्कों का भी अभ्यास किया और उक्त विचार का पुष्टीकरण किया।[3] तत्पश्चात् यही भूर्जपत्रवाली पाण्डुलिपि को उसी विद्वान् के पास जर्मन में भेजी गई। उन्होंने इस शारदा पाठ का रोमन स्क्रिप्ट में रूपान्तरण करके 1884 में प्रकाशित करवाया। यह पुस्तक आज गुगल

आर्काईझ में सर्वजन सुलभ है। द्रष्टव्य हैः- DieKacmirer Cakuntala-Handschrift von Dr. Karl Burkhard, Sitzungsberichte der Philosophisch-Historischen Classe, Wien. कार्ल बुरखाड महाशय ने शारदा-पाठ का रोमन लिपि में रूपान्तरण करके बहुत उपकार किया है। इस तरह के प्रकाशन के बाद अपेक्षित तो यही था कि विद्वानों के द्वारा 1. पाँचवीं वाचना के रूप में शारदापाठ को मान्यता दी जा सकती है या नहीं? उसका ऊहापोह किया जाए। एवं 2. अन्यान्य शारदा पाण्डुलिपियाँ एकत्र करके, उस काश्मीरी वाचना के पाठ का सब से पहले समीक्षित पाठ-सम्पादन तैयार किया जाए। किन्तु ई. स. 1884 के बाद अद्यावधि (ई.स. 2015 तक) ऐसा कुछ हुआ नहीं। जो कुछ हुआ उसका विवरण निम्नोक्त है :-

ई. स. 1884 के बाद, वह भूर्जपत्रवाली पाण्डुलिपि भारत में वापस लाई गई, और मुम्बई की रॉयल सोसायटी में रखी गई। वहाँ से उसको भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूणें में भेजी गई। इस समय, **1912 e-ilQ$j Jh cyoUrjk; Bkdkj**[4] ने प्राच्य विद्या परिषद, पूणें के प्रथम अधिवेशन में “द टेक्स ऑफ शकुन्तला” शीर्षक से एक आलेख प्रस्तुत किया। जिसमें सब से पहली बार, अनेक वाचनाओं में बिखरे विविध पाठान्तरों में से जो सर्वाधिक नाट्यक्षम हो ऐसे पाठभेदों का चयन करके शाकुन्तल नाटक के सर्वसम्मत हो सके ऐसे पाठ के संस्करण को तैयार करने की अनिवार्यता को वाचा दी गई।[5] अर्थात् वे सिलेक्टीव प्रिन्सीपल[6] पर आधारित हो ऐसे पाठसम्पादन के पक्षधर थे। इस तरह के दृष्टिकोण से की गई चर्चा में उन्होंने काश्मीरी वाचना के कतिपय पाठभेदों को अधिक श्रद्धेय देख कर स्वीकार्य माने हैं। उसके बाद, (याने 1923 के बाद) उपर्युक्त भूर्जपत्रवाली पाण्डुलिपि का अध्ययन करके डॉ. एस. के बेलवालकर जी ने 1923 से लेकर 1963 में कुछ शोधपत्रों को प्रकाशित किये हैं। जैसे कि,

1. The Application of a few Canons of Textual and Higher Criticism to Kalidaasa's Sakuntala-Asia Major, Leipzing, (pp. 78-104),1923,

2. The Original Sakuntala, Sir Ashutosh Mookerjee Silver Jubilee Vol. 3, Orientalia, Part–2, (pp. 344-359), Calcutta, 1925.
3. S'ringaric Eloboration in Sakuntala–Act : 3, Indian Studies in Honor of C. R. Lanman, Harvard University Press, (pp. 187-192), 1929.
4. Kalidasa's Abhijnanasakuntala-Its Dramatic Setting, Vikram Volume, (pp.45-55), Scinia Oriental Institute, Ujjain, 1948
5. Entracte to 7 (Natak and Natan), Bulletin of Deccan College Research Institute, Poona, Vol. 20, (pp. 19-24), 1950
6. निसर्ग कन्या शकुन्तला। कालिदास ग्रन्थावली, अनुवादक श्रीसीताराम चतुर्वेदी, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ, 1962, में प्रकाशित लेख, पृ. 59-70

इन शोध-आलेखों को देखने से लगता है कि डॉ. एस. के. बेलवालकर जी काश्मीरी वाचना के पाठ को अधिक मौलिक मानने के पक्ष में थे। किन्तु उनके हाथों से जो पाठसम्पादन तैयार हुआ है उसे हम किसी भी तरह से "समीक्षित पाठसम्पादन" नहीं कह सकते हैं। तथा श्री बेलवालकर जी के देहावसान के पश्चात् केन्द्रीय साहित्य अकादेमी, दिल्ली के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ. वी. राघवन् जी ने उस सम्पादन को, उसकी मर्यादाओं के साथ[7], यथावत् स्वरूप में साहित्य अकादेमी, दिल्ली से 1963 में प्रकाशित कर दिया। जिसके कारण उस संस्करण से हम यह नहीं जान पाते हैं कि डॉ. बेलवालकर जी ने कौन कौन सी शारदा पाण्डुलिपियों का विनियोग किया था? उस संस्करण में कहीं पर भी पादटिप्पणी में विभिन्न पाठभेदों का निर्देश नहीं है। तथा डॉ. बेलवेलकर जी की लिखी हुई प्रस्तावना भी उसमें नहीं है। अरे, पङ्क्तिशः अवलोकन करने से ऐसा मालूम होता है कि काश्मीरी पाठ के नाम पर उसमें कुत्रचित् बंगाली एवं कुत्रचित् देवनागरी पाठान्तर को भी ग्राह्य रखा गया है, और उपलब्ध शारदा-पाठ को परित्यक्त

किया है। जिसका प्रमुख उदाहरण हैः-तृतीयांक में आया हुआ शृङ्गारिक दृश्य। यह दृश्य शारदा पाण्डुलिपियों में तो सुरक्षित है, लेकिन डॉ. बेलवालकर जी ने उसका विस्तृत पाठ यथावत् स्वरूप में नहीं दिया है। उन्होंने जिस भाग को निष्कासित किया है उनमें 1. शकुन्तला को मृणाल-वलय पहनाने का दृश्य, तथा 2. पुष्परज से कलुषित हुये शकुन्तला के नेत्र को दुष्यन्त अपने वदन-मारुत से परिमार्जित कर देता है, उन दृश्यों का समावेश होता है। यह है (काश्मीरी वाचना के नाम पर) इस नाटक का "नातिदीर्घ एवं नातिह्रस्व" ऐसा पाठ, जो उनको मान्य था। मतलब कि साहित्य अकादेमी, दिल्ली का वह संस्करण काश्मीरी वाचना के(शारदा-पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रहे) पाठ का अखण्ड एवं सच्चा परिचय नहीं देता है। यह तो श्रीबेलवालकर जी के द्वारा तैयार की गई "इकलेक्टीक टेक्ष" ही है।

कार्ल बुरखाड ने जो कार्य किया है उसमें काश्मीरी पाठ को स्वतन्त्र पाठ के रूप में पहचाना है, किन्तु उन्होंने 1. शारदा लिपि में लिखी हुई भूर्जपत्रवाली एक मात्र पाण्डुलिपि का ही विनियोग किया है। और अन्य एक भी नयी प्रति प्राप्त नहीं की थी। 2. केवल एक भूर्जपत्रवाली पाण्डुलिपि के आधार पर उन्होंने जो काश्मीरी पाठ दिया है उसका अन्य वाचनाओं के पाठान्तरों के साथ तुलनात्मक अध्ययन पेश नहीं किया है, और काश्मीरी पाठ का महत्त्व उजागर नहीं किया है। 3. तथा इस काश्मीर के शारदा-पाठ को बंगाली वाचना के पाठ में से अवतारित पाठ माना है। तथा अनेक स्थान में भूर्जपत्रवाली शारदा पाण्डुलिपि में उपलब्ध हो रहे पाठ का त्याग करके, उसके स्थान में बंगाली पाठ को ग्राह्य रखा है। 4. प्राकृत उक्तियों के पाठ में जो सुधार किया है वह भी बंगाली पाठ को ध्यान में रख कर किया है। 5. कार्ल बुरखाड के समय में मैथिली वाचना का प्रकाशन भी नहीं हुआ था। अतः इस नाटक के बृहत्पाठ को प्रसारित करनेवाली तीन बंगाली, मैथिली और काश्मीरी वाचनाओं में संक्रान्त हुए पाठ का वंशवृक्ष भी सोचने का अवकाश नहीं था। दूसरे शब्दों में कहे तो, मूल नाटक के पाठविचलन का क्रम (यानें पाठयात्रा का अनुमानित चित्र) सोचने

का विचार उदित नहीं हुआ था। ऐसा करने के लिए पहले बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं का तुलनात्मक अभ्यास करना अपेक्षित था, जो अद्यावधि किसी ने भी प्रस्तुत नहीं किया है।

ई. स. 1884 में काश्मीरी पाठ का कार्ल बुरखाड के द्वारा प्रकाशन होने के बाद, डॉ. बेलवालकर जी के द्वारा 1923 से लेकर 1965 तक उपर्युक्त पाँच-छः शोधपत्र लिखे गये हैं। इससे अधिक कुछ कार्य शारदा-पाठ को लेकर हुआ नहीं। ब्युल्हर ने प्राप्त की हुई भूर्जपत्रवाली पाण्डुलिपि कहाँ गई? ऐसा प्रश्न किसी को हुआ ही नहीं, उसको ढूँढने का प्रयास ही नहीं हुआ। अतः भाण्डारकर इन्स्टीट्यूट में श्री पी. के. गोडे साहब जब शारदा पाण्डुलिपिओं का केटलोगींग कर रहे थे तब इस अत्यन्त मूल्यवान् प्रति का नाम-निर्देश भी कहीं हुआ नहीं। परिणामतः न्यू केटलोगस केटलोगरम में ऐसा साफ लिखा गया कि भूर्जपत्र पर लिखी 192 क्रमांकवाली शारदा पाण्डुलिपि भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्युट, पूणें में से गायब हो गई है।[8] किन्तु कालिदास ग्रन्थावली, (हिन्दी अनुवाद के साथ, सं. सीताराम चतुर्वेदी, अलीगढ, 1963) के परिशिष्ट में भाग्यवशात् "निसर्गकन्या शकुन्तला" शीर्षकवाले शोध-आलेख में डॉ. एस. के. बेलवालकर जी ने लिख दिया था कि उन्होंने वह 192 क्रमांकवाली भूर्जपत्र पर लिखी गई प्रति भाण्डारकर इन्स्यटीट्युट में वापस जमा करवा दी है। उस प्रकार के निवेदन के आधार पर, हमने उसकी मांग की। तब वर्तमान संनिष्ठ पदाधिकारिणी डॉ. सरोजा भाटे जी ने उसकी तलाश करवाई और हम उसे ई. स. मई, 2014 में प्राप्त कर सके॥

ई. स. 1889 में, श्री पी. एन. पाटणकर जी (इन्दौर) ने देवनागरी वाचना का "शुद्धतर पाठ" तैयार किया, (जिसका द्वितीय संस्करण 1902 में निकला था[9])। लेकिन उसमें डॉ. कार्ल बुरखाड के द्वारा प्रकाशित किये गये शारदा-पाठ का विनियोग किया! जिसका मतलब यह हुआ कि उन्होंने भी काश्मीर के शारदा-पाठ का मूल्य पहचाना, किन्तु उस पाठ की सही अस्मिता को अन्धेरे में धकेल दी। दूसरे शब्दों में कहे तो, उन्होंने शारदा-पाठ को स्वतन्त्र वाचना के रूप में देखा नहीं, और परिणामतः उसका समुचित

गौरव हुआ नहीं। अपने सम्पादित किये हुए देवनागरी पाठ को शुद्धतर बनाने के लिए ही उन्होंने काश्मीरी पाठ को केवल सहायक-सामग्री के रूप में उपयुक्त की है।

(श्री पी. एन. पाटणकर जी ने अपने पुस्तक की भूमिका में इस नाटक के द्विविध पाठ की ग्राह्याग्राह्यता के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक बात बताई है। जैसे कि, श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने इस नाटक के बंगाली पाठ को अग्राह्य रखते हुए, देवनागरी वाचना के संक्षिप्त पाठ को मान्यता दी। अभिज्ञानशकुन्तल नाटक के इस संस्करण का प्रकाशन ई.स. 1880 में हुआ था। तत्पश्चात् 1887 एवं 1889 में उसका पुनर्मुद्रण हुआ। श्रीईश्वरचन्द्र ने अपना संस्करण राघवभट्ट की टीका में स्वीकृत पाठ के आधार पर तैयार किया था, तथा उसे ही अधिकृत पाठ होने का गौरव प्रदान किया था। जिससे बंगाली पाठ की कड़ी आलोचना करनेवाले विद्वान् संतुष्ट हुए और पूरे भारत के विद्वज्जगत् के हाथों में राघवभट्ट के द्वारा स्वीकृत और श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा प्रमाणित किया गया पाठ प्रतिष्ठित एवं प्रचलित हो गया।[10] वर्तमान जगत् में जो देवनागरी वाचना का पाठ ही पठन-पाठन में प्रतिष्ठित हो गया है उसके लिए जिम्मेवार व्यक्तियों में सब से पहले उस जमाने के श्रद्धेय मनीषी श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागर का नाम आता है।)

डॉ. सत्य पाल नारङ्ग जी (दिल्ली) के द्वारा प्रकाशित हुई "कालिदास बिब्लीओग्राफी" (पृ. 165, 1975) में भी श्रीकार्ल बुरखाड की काश्मीरी पाठवाली आवृत्ति का निर्देश हुआ है। किन्तु इस नाटक की पाँचवी वाचना, जो काश्मीर की शारदा पाण्डुलिपियों में सुरक्षित पड़ी है, इस हकीकत की ओर आधुनिक समय में किसी का ध्यान भी नहीं गया है॥ (कारोलुस बुरखाड नामक विद्वान् ने 1872 में शकुन्तला की जो आवृत्ति प्रकाशित की है, वह देवनागरी वाचना के पाठ को प्रस्तुत कर रही है। श्री सोमदेव वासुदेव ने The clay Sanskrit Library, न्यूयार्क युनि. प्रेस से 2006 में काश्मीरी पाठ का अनुवाद प्रकाशित किया है। किन्तु इसमें पृ. 144, 164, 208, 280, 292, 300 एवं 318 पर मूलपाठ का समर्थन नहीं है। क्योंकि

उन्होंने भूर्जपत्रवाली (क्र. 192) प्रति को देखी नहीं है।)

डॉ. श्रीदिलीपकुमार काञ्जीलाल (कोलकाता) के द्वारा ई.स. 1980 में प्रकाशित किये बंगाली वाचना के समीक्षित पाठसम्पादन में, बंगाली पाण्डुलिपियों के साथ साथ ऑक्सफर्ड की बोडेलियन लाईब्रेरी में संगृहीत दो शारदा पाण्डुलिपिओं का भी विनियोग किया था। एवमेव, कार्ल बुरखाड का रोमन स्क्रिप्टवाला शारदा-पाठ भी उपयोग में लिया था। (डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल के पास श्रीनगर की 1435 क्रमांक वाली शारदा पाण्डुलिपि नहीं थी।) लेकिन उन्होंने भी शारदा-पाठ को स्वतन्त्र काश्मीर की वाचना के रूप में माना नहीं। और उसे बंगाली वाचना के पाठ में से ही बनाया गया पाठ माना।

तत्पश्चात् काशी के मूर्धन्य विद्वान् प्रोफेसर श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी जी ने 1976 एवं 1986 में कालिदास ग्रन्थावली का प्रकाशन किया तब उनके द्वारा भी शारदा-पाठ का स्वतन्त्र महत्त्व नहीं देखा गया, क्योंकि उनके सामने केवल डॉ. श्री एस. के. बेलवालकर जी का, साहित्य अकादेमी, दिल्ली (1963) ने निकाला काश्मीरी पाठ का तथाकथित समीक्षित पाठसम्पादन ही था॥

इस नाटक के काश्मीरी पाठ के अभ्यास का उपर्युक्त इतिहास देखा जाए तो, दो-तीन हकीकत उभर कर हमारे सामने आती हैः 1. ब्युह्लर के द्वारा प्राप्त की गई भूर्जपत्रवाली शारदा पाण्डुलिपि डॉ. बेलवालकर जी के पास ही शायद बहुत वर्षो तक रहने के कारण विस्मृति के गर्त में चली गई। तथा कार्ल बुरखाड ने 1884 में उक्त पाण्डुलिपि का जो रोमन लिप्यन्तरण प्रकाशित किया था, वह जर्मनी में होने के कारण सुलभ नहीं था।[11] एवं 2. शारदालिपि में लिखी हुई अन्य पाण्डुलिपियाँ प्रायः विदेशों में चले जाने के कारण दुष्प्राप्य हो गई है। तथा 3. कदाचित् अन्य स्थानों में संगृहीत हुई शारदा पाण्डुलिपियों की हमें आज जानकारी भी नहीं मिलती है। तथापि सद्भाग्य से भूर्जपत्र पर लिखी गई जो प्राचीनतम एवं अद्वितीय शारदा-पाण्डुलिपि है, जिसमें इस नाटक का पाठ प्रायः सम्पूर्ण है, वह अब इस संसार में दूबारा प्रकाश में लाई गई है! मानों कि कालिदास पुनर्नवा

हुए हैं!!! इसके साथ साथ, ऑक्सफर्ड की बोडलियन लाईब्रेरी तथा श्रीनगर युनिवर्सिटी की लाईब्रेरी से प्राप्त की गई अन्यान्य चार शारदा पाण्डुलिपियाँ, (जिनमें से एक दूसरी भूर्जपत्र पर लिखी हुई खण्डित पाण्डुलिपि भी शामिल है) मिल जाने पर, उनके आधार पर काश्मीरी वाचना का समीक्षित पाठसम्पादन, जो अद्यावधि हुआ ही नहीं था, वह कार्य आज सम्पन्न होकर आपके करकमलों में विराजमान है॥

(2) समीक्षणीय सामग्री : शारदा-लिपि-निबद्ध पाण्डुलिपियों का विवरण

यद्यपि डॉ. डी. के. काञ्जीलाल ने एशियाटीक सोसायटी में संगृहीत अभिज्ञानशकुन्तल की 5289-5653 क्रमांकवाली नेवारी पाण्डुलिपि को ही प्राचीनतम (12वीं शती की) मानी है, तथापि लिपियों के उद्‌भव एवं विकास के इतिहास से मालूम होता है कि ब्राह्मी लिपि से निकली सभी भारतीय लिपियों में सब से पहले शारदा लिपि (7वीं से 11वीं शती के मध्य) का ही क्रम आता है। आज उपलब्ध हो रही शारदा पाण्डुलिपियाँ भले ही एशियाटीक सोसायटी, कोलकाता की उक्त नेवारी पाण्डुलिपि से परवर्ती काल की हो, किन्तु इस नाटक की शारदा लिपि में संचरित हुई पाठपरम्परा तो प्राचीनतम हो सकती है यह हम कैसे भूल सकते हैं?[12] अतः प्रस्तुत पाठ-सम्पादन में केवल शारदा लिपि में लिखी गई पाण्डुलिपियों का ही स्वतन्त्र रूप से विनियोग किया गया है। जिससे काश्मीर की शारदा पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ इस नाटक का समीक्षित पाठ हमारे सामने प्रकट हो जाये। शारदा-लिपि में उपनिबद्ध पाठ को समीक्षितावृत्ति के रूप में तैयार करने के लिए अधो-निर्दिष्ट पाँच शारदा-पाण्डुलिपियों का विनियोग किया गया है :

(पहली पाण्डुलिपि) क्रमाङ्कः 192, ब्युह्लर ने 1875 में काश्मीर प्रान्त में से भूर्जपत्र पर लिखी एक शारदा पाण्डुलिपि प्राप्त की थी। यह पाण्डुलिपि प्राचीनतम है, तथा अन्य शारदा-पाण्डुलिपिओं की तुलना में भूर्जपत्र पर लिखी होने से अद्वितीय है। (कार्ल बुरखाड के मतानुसार इसका लेखन-काल ई.स.1676 से पहले का नहीं है।) भूर्जपत्र पर लिखी गई इस शारदा-पाण्डुलिपि

के पाठ को प्रस्तुत प्रकाशन में मुख्य आधार बनाया गया है। इसमें कुल मिला के 72 फोलियो (यानें 144 पृष्ठ) है। प्रत्येक पृष्ठ पर 16 पङ्क्तियाँ लिखी गई है। इसमें जो पाठ मिलता है वह बहुशः सुरक्षित और सुवाच्य है॥ (यह पाण्डुलिपि ही सब से प्राचीनतम है, तथा केवल उसीमें प्राकृत उक्तिओं की प्रायः सर्वत्र संस्कृतच्छाया दी गई है। एवम् लिपिकार के द्वारा अनवधानवशात् एक-दो स्थानों में स्खलन हुए है,[13] तथा इस पाण्डुलिपि का पृ. 91-92 मध्य में से ही फट गया है। एवं अन्यत्र भी कुछ पृष्ठ बीच में छिद्रयुक्त हुए हैं। अतः ऐसे स्थानों का उद्धार करने के लिए अन्यान्य शारदा पाण्डुलिपिओं की साहाय्य लेना अनिवार्य है।)

इस पाण्डुलिपि का आरम्भ "अथ शकुन्तला-नाटकं लिख्यते। श्रीगणेशाय नमः॥" शब्दों से होता है। तथा इसकी पुष्पिका में कहा गया है कि "इत्यभिज्ञानशकुन्तलाख्ये नाटके सप्तमोऽङ्कः। समाप्तं चेदम् अभिज्ञान-शकुन्तला-ख्यम् महानाटकम्। कृतिः श्रीप्रासादितसर्वविद्यस्य महाकवेः कालिदासस्य। इति शुभम्॥" लिपिकार ने सब के अन्त में लिखा है कि "संवत् 33 वै. शु. ति सप्तम्यां सम्पन्नमिदं शकुन्तलाख्यं नाटकमिति शुभम्। श्रीगुरवे सरस्वतीभूपायोम् नमः॥ श्रीगणेशाय नमः॥" एवमेव, जहाँ जहाँ पर नया अङ्क शूरू होता है वहाँ पर लिपिकार ने "श्रीगणेशाय नमः" ऐसा लिखा है। किन्तु जहाँ पर अङ्क समाप्ति होती है, वहाँ किसी अङ्क के विशेष नाम उसमें नहीं दिये हैं। भूर्जपत्र पर लिखी इस पाण्डुलिपि में सर्वत्र क-कार या प-कार के पूर्व में यदि विसर्ग आता है तो उस विसर्ग के स्थान में जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का एक विशिष्ट चिह्न रखा गया है।

(दूसरी पाण्डुलिपि) बोडेलियन लाईब्रेरी, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी, इङ्गलाण्ड से प्राप्त की गई दूसरी शारदा पाण्डुलिपि का क्रमाङ्क 1247 है। यह पाण्डुलिपि भी पूर्ण है और कागज पर लिखी गई है। सम्भवतः 1693 ई. स. में लिखी गई है। उसके लिपिकार (लेखक) का नाम राजा नलसक है। "श्रीसरस्वत्यै नमः॥" से आरम्भ होनेवाली इस पाण्डुलिपि की पुष्पिका में लिखा है कि *"समाप्तं चेदमभिज्ञानशकुन्तला नाम नाटकम्। कृति-र्महाकवेः*

कालिदासस्येति शिवम्। शुभमस्तु लेखक-पाठक-श्रोतृणाम्। शुभं भवतु सर्वत्र॥'' जहाँ पर नया अङ्क शुरू होता है वहाँ पर लिपिकार ने *"नमो विघ्नहन्त्रे"* ऐसा लिखा है।

ऑक्सफर्ड की इस पाण्डुलिपि में कहीं पर भी प्राकृत उक्तिओं का संस्कृतच्छायानुवाद नहीं दिया है। भूर्जपत्र पर लिखी उपर्युक्त पाण्डुलिपि में जैसे क-कार या प-कार के पूर्व में यदि विसर्ग आता है तो उस विसर्ग के स्थान में जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का चिह्न रखा गया है, इसी तरह से ऑक्सफर्ड की इस पाण्डुलिपि में भी विसर्ग के स्थान में जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के विशिष्ट चिह्न रखे गयें हैं। यह शारदा-पाठ-परम्परा की एक विशेषता है तथा उन दोनों में संचरित हुए पारम्परिक पाठ कि पुरातनता का द्योतक है।

(श्रीकार्ल बुरखाड ने भूर्जपत्रवाली पाण्डुलिपि के पाठ का वाचन करके जो रोमन स्क्रिप्ट में रूपान्तरण किया है, वह अभिनन्दनीय है। किन्तु भूर्जपत्रवाली पाण्डुलिपि में जहाँ पर भी खण्डितांश आते हैं, उसका समुद्धार करने के लिए, उन्होंने कोई दूसरी शारदा पाण्डुलिपि का विनियोग नहीं किया था। तथा च, कुत्रचित् बंगाली पाठ का अनुसरण करते हुए कुछ पाठ्यांश को निर्धारित किये थे। एवमेव, शारदा परम्परा में संचरित हुए प्राकृत-पाठ्यांश को बदल कर, उसके स्थान में बंगाली-वाचनानुसारी शौरसेनी का ध्वनिगत रूप स्थापित किया है।)

विशेष बातः भूर्जपत्र पर लिखी हुई शारदा पाण्डुलिपि (क्रमांक 192) एवं ऑक्सफर्ड से प्राप्त की गई शारदा पाण्डुलिपि (क्रमांक 1247) के प्रथम पृष्ठ पर, शूरू में भवभूति के मालतीमाधव प्रकरण की अन्तिम पङ्क्तियाँ लिखी हुई हैं। क्योंकि काश्मीर प्रान्त की पुस्तकों में एक ही जिल्द में अनेक कृतियों की पाण्डुलिपियों को बांधी (बाईन्ड) जाती है। जिसका मतलब होता है कि जिस पृष्ठ पर एक कृति का पाठ पूरा होता है, उसी पृष्ठ पर कुछ भाग को छोड़ कर, तुरंत दूसरी कृति का पाठ लिखना शूरू किया जाता है। इस तरह की परिपाटी के कारण भूर्जपत्र क्र. 192 एवं ऑक्सफर्ड क्र. 1247 के आरम्भ में एक समानतया मालतीमाधव का अन्तिम

अंश निम्नोक्त शब्दों में मिलता हैः-

“क्रान्तास्सर्वे। दशमोऽङ्कस्समाप्तः।

समाप्तं चेदं मालतीमाधवं नाम नाटकम्॥

कृति-र्महाकवे-र्भट्ट-भवभूत्यपर-नाम्नो भट्ट ... करस्य इति भद्रम्॥

ओम् नमो गुरुवरचरणारविन्दमकररेणुभ्यः। नमो वाग वाता पादपद्मेभ्यः॥

अथ शकुन्तलानाटकं लिख्यते॥ श्रीगणेशाय नमः॥”

ऑक्सफर्ड की पाण्डुलिपि के आरम्भ में लिखा है कि,

“काम एवमेतत् इति निष्क्रान्तास्सर्वे।

दशमोङ्कः।

समाप्तं चेदं मालतीमाधवं नाम नाटकम्।

कृति-र्महाकवे-र्विविध-बुधचक्र-नीराजित-पादद्वयाम्भोजस्य श्रीभट्ट-भवभूतेरिति भद्रम्॥”

इस तरह के साम्य से ऐसा अनुमान करने का मन करता है कि ये दोनों हि पाण्डुलिपियाँ कोई तीसरे ही पाण्डुलिपियों के कोश से निकली होगी, जिसमें अनेक नाटकों की प्रतिलिपि लिखी गई होगी। और उसमें मालतीमाधव के बाद अभिज्ञानशकुन्तला नाटक का पाठ लिखा गया होगा! (काश्मीर की शारदा पाण्डुलिपियों में इस नाटक का शीर्षक “अभिज्ञान-शकुन्तला” दिया है।)

(तीसरी पाण्डुलिपि) बोडेलियन लाईब्रेरी,ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी, इङ्गूलाण्ड से प्राप्त की गई तीसरी शारदा पाण्डुलिपि का क्रमाङ्क 159 है। यह पाण्डुलिपि अपूर्ण है। जैसे कि, उसमें पहले पाँच अङ्कों का पाठ सम्पूर्ण है, और षष्ठांक का कुछ आरम्भिक अंश ही उपलब्ध हो रहा है। इस पाण्डुलिपि के अग्रिम भाग में राजशेखर के “प्रचण्डपाण्डव” नाटक का पाठ लिखा गया है। फोलियो 23 पर वह पूरा होता है, वहीं से शकुन्तला नाटक का पाठ शूरू होता है। जैसे कि,

“समाप्तं प्रचण्डपाण्डवाभिधं नाटकम्॥ इति महाकवे राजशेखरस्य। शुभमस्तु॥

नमो गणपतये॥ अथ शकुन्तला नाटकं लिख्यते॥ या स्रष्टुः सृष्टिराद्या

पिबति विधिहुतं ....” इति। इस तरह से, नान्दी पद्य से शूरू होकर “षष्ठांक के *“राजा ध्यानमन्दं परिक्रम्य”* पर्यन्त का पाठ उपलब्ध होता है। याने “प्रथमं सारङ्गाक्ष्या। (6-7)” से आगेवाला पाठ नहीं है॥ इस पाण्डुलिपि में प्राकृत उक्तिओं में कुत्रचित् संस्कृतच्छायानुवाद दिया है। तथा प्रत्येक पृष्ठ पर 12 पङ्क्तियाँ लिखी गई है। इस में विसर्ग के स्थान में जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय का विशिष्ट चिह्न नहीं प्रयुक्त हुआ है। तथा पूरी पाण्डुलिपि इतनी जर्जरित दशा में है कि प्रत्येक पृष्ठ के मध्य भाग में ऊपर से नीचे तक जिन जिन वर्णों, शब्दों को लिखे गये हैं वे हम पढ़ नहीं पाते हैं॥ एवमेव, उनमें सुरक्षित रहे पृष्ठों का क्रम भी अस्त-व्यस्त हो गया है, जिनको पुनः व्यवस्थित क्रम में लाने की आवश्यकता है॥ डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल का कहना है कि स्टेन कलेक्शन की इस 159 क्रमाङ्क की पाण्डुलिपि का समय 1600 ई. स. के आसपास का माना जा सकता है। उनमें “क'', “ग'', “च'', “ण” वर्णों का जो आकार मिलता है वह बक्षाली पाण्डुलिपि में मिलनेवाले इन वर्णों के समान है॥

(चौथी पाण्डुलिपि) युनिवर्सिटी ऑफ श्रीनगर के अन्तर्गत गवर्मेन्ट ऑफ जम्मु एण्ड काश्मीर की पब्लीक लाईब्रेरी (आलम इकबाल लाईब्रेरी) में से प्राप्त की गई शारदा पाण्डुलिपि का क्रमाङ्क 1435 है। बहुत पुराने समय के पिले कागज पर लिखी इस पाण्डुलिपि का आरम्भ *“ओम् स्वस्ति। .....णेशाय ...मः॥ नमो गुरुभ्यः। या स्रष्टुः सृष्टिराद्या पिबति विधिहुतं॥* “शब्दों से होता है। और, उसके अन्त में लिपिकार ने (शायद कागज के अभाव में) सप्तमाङ्क के अन्त भाग की कुछ पङ्क्तियाँ छोड कर, सीधे भरतवाक्य का उत्तरार्ध लिख दिया हैः जैसे कि *“ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः इति ...ष्क्रान्ताः सर्वे॥ शुभम्। समाप्तम्॥”* अर्थात् पुष्पिका के रूप में विशेष कोई जानकारी नहीं मिलती है॥ जहाँ पर नया अङ्क शूरू होता है वहाँ पर लिपिकार ने ॐ ऐसा लिखा है। इस पाण्डुलिपि में कुल मिला के 140 पृष्ठ है, और प्रत्येक पृष्ठ की इयत्ता 21 × 14-5 से.मी. है॥

लिपिकार ने इस पाण्डुलिपि को सुन्दर हस्ताक्षरों में लिखा है। फिर

भी बहुत स्थानों पर, विशेष रूप से “षष्ठाङ्क के पाठ में, प्रमादवशात् अमुक वर्ण छुट गये है, या दो बार लिखा गया है। एवं अमुक वर्ण आगे पीछे भी हुए है, या अमुक वर्ण गलत लिखा गया है। उदाहरण के लिए (1) सु(उ) न्तला। (2) अत्थ(भ) वदीए (ओ)। (3) चित्रफल (फ) कं। (4) सन्तउ(उन्त) ला। (5) आलि(हि) दुकामो।(6) विहा (य) सि॥ वाक्यों की पङ्क्तिओं में ऐसा व्युत्क्रम नहीं है यह एक आश्वसनीय बात है। इस पाण्डुलिपि में जहाँ जहाँ प्राकृत संवाद है वहाँ पर सर्वत्र संस्कृतच्छायानुवाद नहीं दिया है। जिन प्राकृत शब्दों का संस्कृतच्छायानुवाद कठिन प्रतीत होता है, केवल उन्हीं शब्दों का छायानुवाद कुत्रचित् दो पङ्क्तिओं के बीच बीच में लिखा गया है।

(पाँचवी पाण्डुलिपि) ऑक्सफर्ड में अभी भी एक पाण्डुलिपि है, जिसमें सप्तमांक का कुछ खण्डित अंश मिल रहा है। इस पाण्डुलिपि का क्रमांक डी. 87 / (93/170) है॥ शकुन्तला नाटक के इस खण्डितांश के पीछे, “अलंकार-रत्नाकर” नामक ग्रन्थ का पाठ लिखा गया है। यह प्रति को ताडपत्र के रूप में घोषित की गई है, किन्तु ताडपत्रों का आकार कुछ अलग ही होता है। एवं वे शारदालिपि में लिखे हुए नहीं होते हैं। वास्तव में देखा जाए तो वह भूर्जपत्र पर लिखी गई मातृका है॥ इसका आरम्भ सप्तमांक के सातवें श्लोक से *“.....वतीर्णां स्वः। ..... परविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भिः।” से होता है। तथा अन्त में “ममापि च क्षपन्तु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतभक्तिरात्मभूः॥ (7-34)॥ इति निष्क्रान्तास्सर्वे। सप्तमोऽङ्कः॥ समाप्तमिदमभिज्ञानशकुन्तलं नाम नाटकम्॥ इति शुभमस्तु लेखक-पाठकयोः। शिवं च सर्वजगताम्। अशुद्धत्वमादर्शदोषात्। सं. 52 पौ सुदी 11, गुरौल। श्रीगणेशाय नमः॥”* इन शब्दों के साथ होता है॥ यहाँ काश्मीर में चलनेवाले संवत्सर के हिसाब से जो “सं. 52” बताया है, वह ई.सा. 1676 में पड़ता है। इस प्रति में भी क/ख, या प/फ के पूर्व में स्थित विसर्ग के स्थान में जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय के चिह्न प्रयुक्त हुए है॥

(हमारे ही देश की इन पाण्डुलिपियाँ विदेशों में संगृहीत की गई है,

जिसकी स्केन कॉपी देने के लिए वे लोग कल्पनातीत धनराशि मांगते हैं। जिसके कारण ऐसी पाण्डुलिपियाँ हमारे लिए अप्राप्य बन जाती है। भारत सरकार के विदेश-मन्त्रालय को सक्रिय हो कर, विदेशों में चली गई हमारी विरासत, हमारी पाण्डुलिपियों को वापस लाने की कोशिश करनी चाहिए, या कम से कम उसकी प्रतिलिपिओं को प्राप्त कर ही लेनी चाहिए।)

(3) पाण्डुलिपियों के सांकेतिक नाम :-

जिन पाँच शारदालिपि में लिखी गई पाण्डुलिपियों का इस सम्पादन में विनियोग किया गया है, उनके लिए प्रयुक्त संकेतों की सूचिः-

1. क्र. 192 मूलतः भूर्जपत्रस्योपरि लिखिताया मातृकायाः कृते (भूर्ज.),
2. कार्ल बुरखाडेन रोमनलिप्यां रूपान्तरितस्य पाठस्य कृते (बु.),
3. ऑक्सफर्ड युनि. बोडलीयन-ग्रन्थभण्डारस्य (क्र. 1247) मातृकायाः कृते (ऑ.1),
4. ऑक्सफर्ड युनि. बोडलीयन-ग्रन्थभण्डारस्य (क्र. 159 इति) मातृकायाः कृते (ऑ.2),
5. एवं काश्मीरप्रदेशस्य श्रीनगरे स्थितस्य ग्रन्थभण्डारस्य (क्र. 1435) मातृकायाः कृते (श्री.) इति प्रयुज्यन्ते।
6. ऑक्सफर्ड युनि. बोडलीयन-ग्रन्थभण्डारस्य (क्र. 87 इति) मातृकायाः कृते (भूर्ज.-ऑ.3)(अत्र केवलम् सप्तमांकस्य पाठ एवोपलभ्यते।)

1. भूर्जपत्र पर लिखी 192 क्रमांक की अद्वितीय पाण्डुलिपि का चित्रः-

ऑक्सफर्ड की पहली शारदा-पाण्डुलिपि, क्रमांकः 1247

ऑक्सफर्ड की दूसरी शारदा-पाण्डुलिपि, क्रमांकः 159
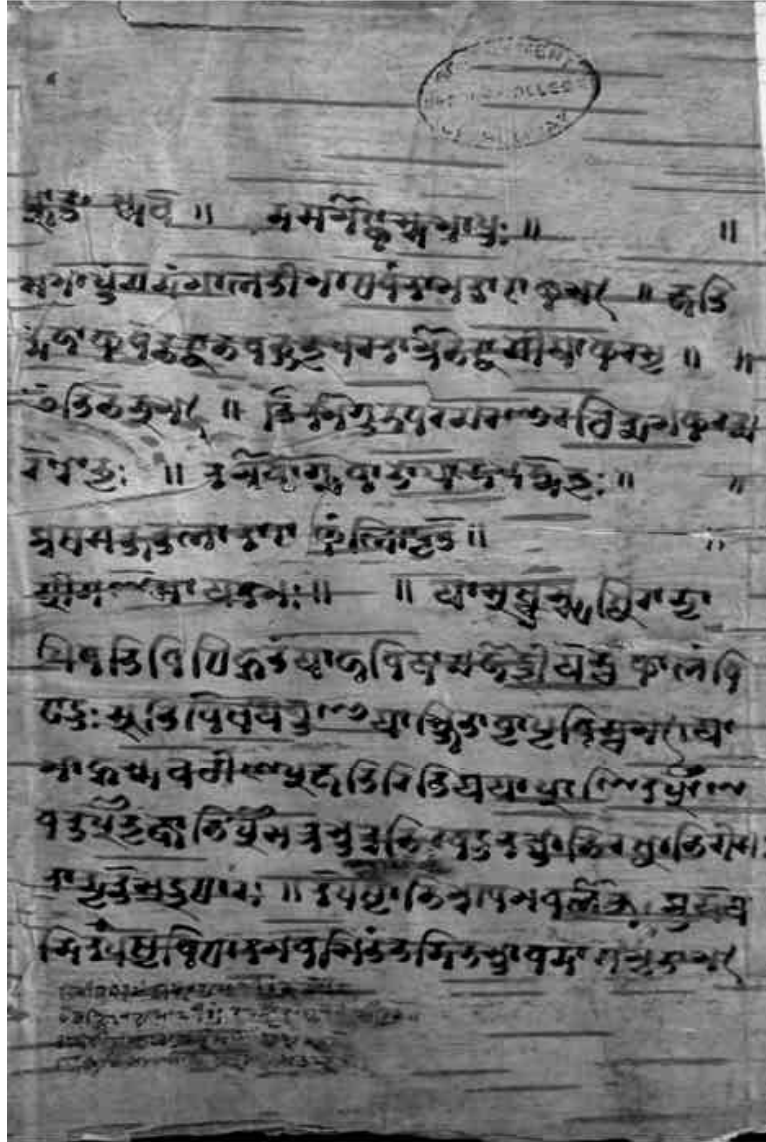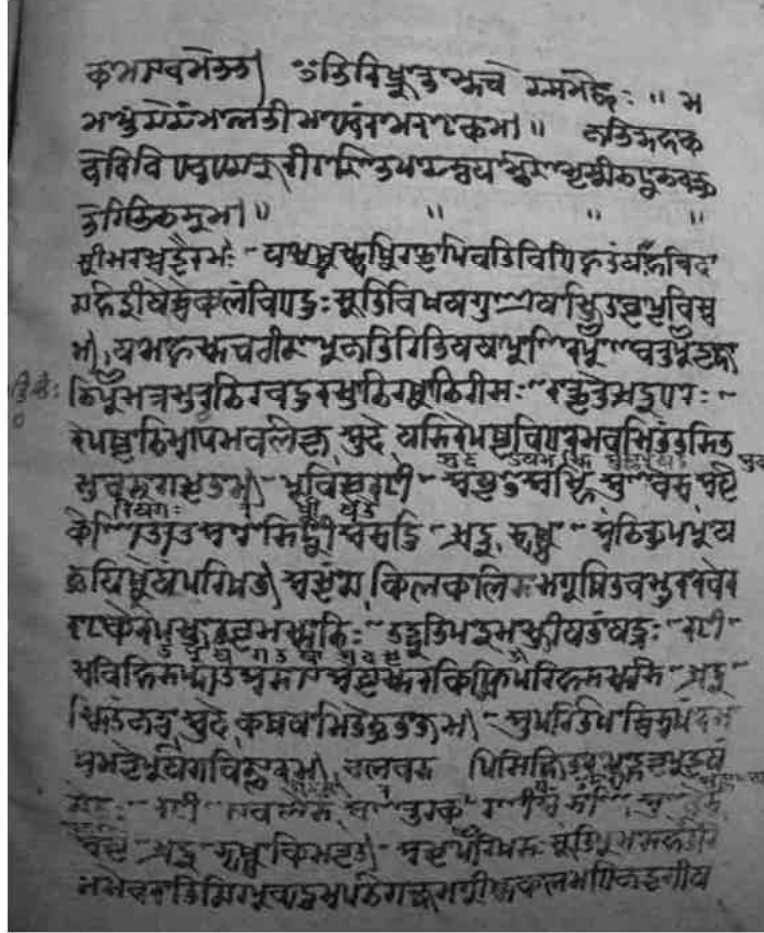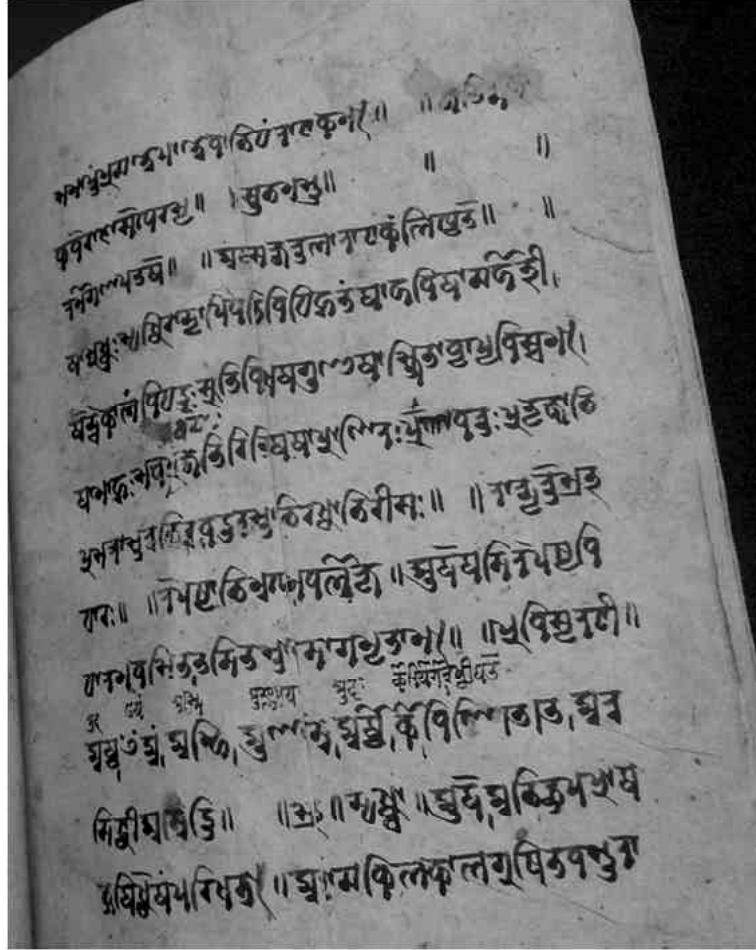
ऑक्सफर्ड की तीसरी भूर्जपत्र पर लिखी खण्डित पाण्डुलिपि,
क्रमांकः 87 (90 / 170)
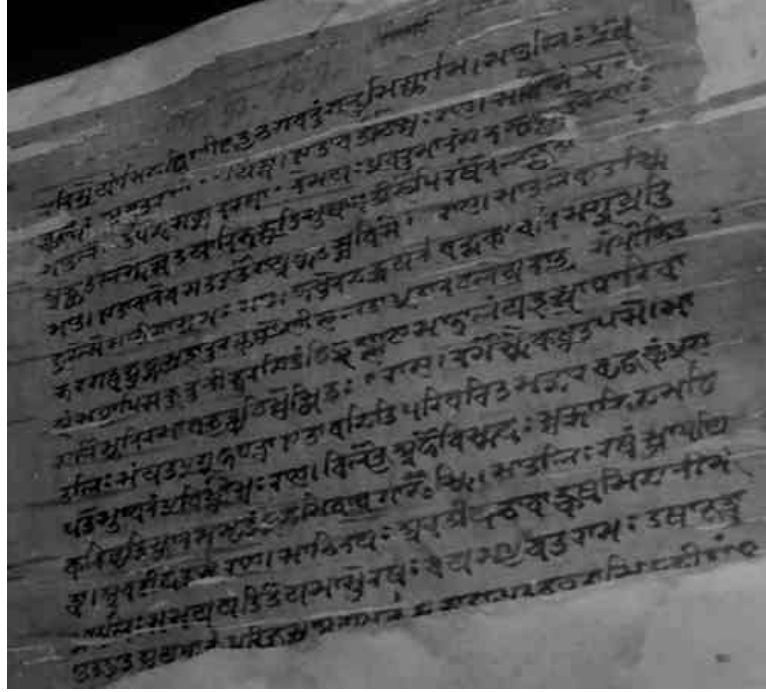
श्रीनगर से प्राप्त की गई शारदा-पाण्डुलिपि, क्रमांकः- 1435
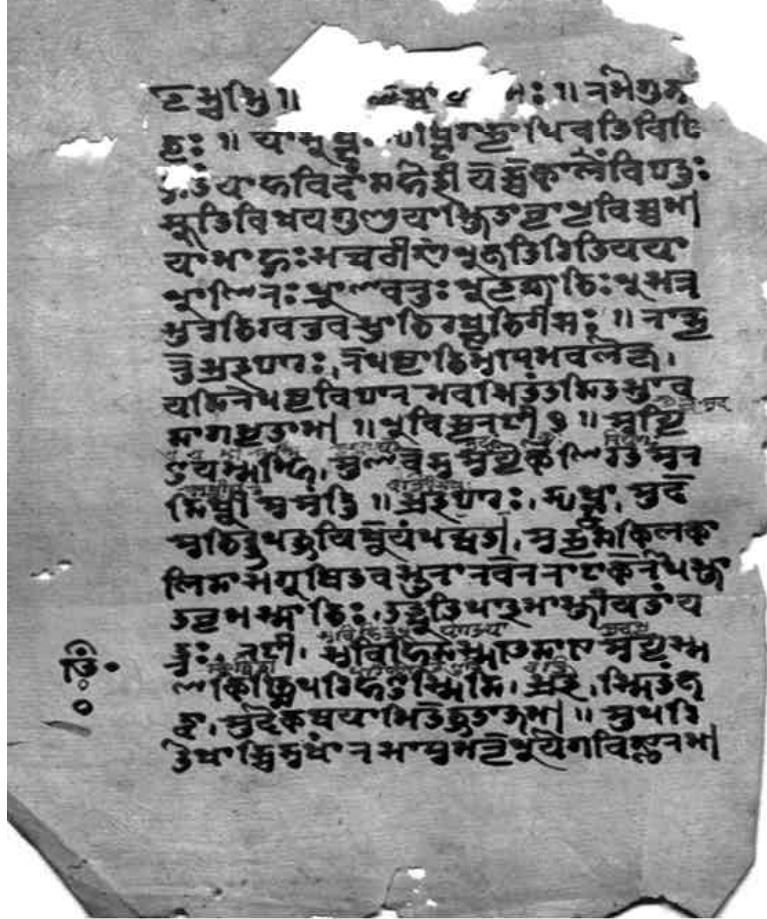
(4) पाण्डुलिपियों का आनुवंशिक सम्बन्ध

जिन शारदा पाण्डुलिपियों के आधार पर प्रस्तुत सम्पादन तैयार किया गया है उन पाण्डुलिपियों का आनुवंशिक सम्बन्ध सोचना अतीव आवश्यक है। क्योंकि उपलब्ध हो रही पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपियाँ भले ही देश-विदेश

के विभिन्न ग्रन्थभण्डारों में संगृहीत की गई हो, किन्तु भूतकाल में जब उन सब का भारत में निर्माण हुआ होगा, तब उनके लिए मूलस्रोत रूप जो आदर्श-प्रति (या आदर्शप्रतियाँ) रही होगी वह कदाचित् एक ही हो सकती है। अतः उपलब्ध पाण्डुलिपियों में दिख रहे पाठभेदों एवं लुप्तांश, प्रक्षिप्तांश आदि के साम्य-वैषम्य का पहले तुलनात्मक अभ्यास करना चाहिए। ऐसा करने से ही इन पाण्डुलिपियाँ कोई एक समान आदर्शप्रति में से निकली हुई केवल वंशज प्रतियाँ ही है, या फिर अलग अलग पूर्वज प्रतियों में से आज की पाण्डुलिपियाँ बनाई गई है? उसका पता चलता है। उपलब्ध हो रही पाण्डुलिपियों के इस तरह के तुलनात्मक अभ्यास से उन सब का आनुवंशिक सम्बन्ध ढूँढा जा सकता है, एवं उन पाण्डुलिपियों का (आनुमानिक) वंशवृक्ष तैयार किया जा सकता है। जिससे उपलब्ध की गई पाण्डुलिपियों में से कौन सी पाण्डुलिपि सब से अधिक प्राचीन है? उसका पता चलता है। ऐसी वंशवृक्ष पद्धति वस्तुनिष्ठ एवं तर्कानुसारी होने से नाटक की लिखित पाठपरम्परा का इतिहास अनुमित किया जा सकता है। अतः यह वंशवृक्ष पद्धति अधिक श्रद्धेय भी है और उपकारक भी है।

उपर्युक्त पाँच शारदा पाण्डुलिपियों में मिल रहे पाठभेदादि का तौलनिक दृष्टि से अभ्यास करने से सब से पहले यह मालूम होता है कि (क) ये पाँचों पाण्डुलिपियाँ समान-वंशज प्रतियाँ है। क्योंकि शारदा-लिपि में उपनिबद्ध काश्मीरी वाचना के पाठ में जो अनितर-साधारण वैशिष्ट्य है वह इन पाँचों पाण्डुलिपियों में एक समान मिलता है। उदाहरण के रूप में, (1) इन पाँचों में इस नाट्यकृति का शीर्षक "अभिज्ञानशकुन्तला" ही दिया गया है। तथा प्रत्येक अंक का विशेष रूप से नामकरण भी नहीं किया है।, (2) गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो मुनिकन्यकाः वाला तृतीयांक का श्लोक शारदा पाठपरम्परा में है ही नहीं।, (3) सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं, सर्वैरनुज्ञायताम्॥(4-11) इस श्लोक के बाद, "कोकिलरवं सूचयित्वा" जैसी रंग सूचना कहीं पर भी नहीं है। (4) दुष्यन्त की पूर्वपरिणीता रानी का नाम वसुमती नहीं है, किन्तु कुलप्रभा है। एवं (5) सप्तमांक में "शकुन्तलावण्यं

पश्य" इस तरह की उक्ति नहीं है॥ इन उदाहरणों के आधार पर कहना होगा कि शारदा पाठपरम्परा को धारण करनेवाली ये पाँचों पाण्डुलिपियाँ समानगोत्रज है॥

(ख) पाँचों पाण्डुलिपियाँ समान-वंशज होते हुए भी, कोई एक ही "आदर्श-प्रति" से भी नहीं बनाई गई है। जिसके कारण, अलग अलग आदर्श-प्रतियों से बनाई गई इन पाण्डुलिपियों के लेखनकाल का पौर्वापर्य भी निर्धारित किया जा सकता है। जैसे कि, तृतीयांक में कुसुमशयना शकुन्तला मदनलेख लिखती है उस दृश्य में उपलब्ध हो रही रंगसूचनायें देखी जाए तो, भूर्जपत्रवाली 192 क्रमांक की पाण्डुलिपि में कोई रंगसूचना ही नहीं है। ऑक्सफर्ड की क्रमांक 159 वाली (ऑ.-2) पाण्डुलिपि में, केवल "चिन्तयति" इतनी ही रंगसूचना दी गई है। अर्थात् उक्त दोनों पाण्डुलिपियों की परम्परा में शकुन्तला मदनलेख लिखते समय कुसुमास्तरण पर लेटी हुई अवस्था में ही है। किन्तु ऑक्सफर्ड की क्रमांक 1247 वाली (ऑ. -1) पाण्डुलिपि में एवं श्रीनगर से प्राप्त की गई क्रमांक 1435 वाली पाण्डुलिपि में "आसीना चिन्तयति" ऐसी रंगसूचना दी गई है। इस पाठान्तर के हिसाब से पूरे दृश्य का मंचन स्वरूप ही बदल जायेगा। कवि की मूलयोजना में तो नायिका लेटी हुई स्थिति में ही मदनलेख लिखे वह अनुगामी संवादों के साथ सुसंगत रहेगा। अतः, इस एक उदाहरण से सिद्ध होता है कि आज उपलब्ध हो रही पाँचों शारदा-पाण्डुलिपियों का प्रतिलिपिकरण का क्रम (1) भूर्जपत्रवाली पाण्डुलिपि, (2) ऑक्सफर्ड की 159 क्रमवाली पाण्डुलिपि, (3) ऑक्सफर्ड की 1247 क्रमवाली पाण्डुलिपि एवं अन्त में (4) श्रीनगर की 1435 क्रमवाली पाण्डुलिपि तैयार की गई होगी॥

(ग) लेकिन इन पाँचों पाण्डुलिपियों के लेखनक्रम का पौर्वापर्य निर्धारित करने के बावजुद भी यह जिज्ञासा बनी रहती है कि इन सब में उपलब्ध हो रहे पाठान्तरों के साम्य-वैषम्य का तौलनिक अभ्यास करने से किस तरह का पारिवारिक सम्बन्ध उभर कर हमारे सामने आता है। इस बिन्दु का परामर्शन करने से दो तरह के पारिवारिक यूथ बन रहे

हैः (1) भूर्जपत्र पर लिखी गई 192 क्रमवाली पाण्डुलिपि एवं ऑक्सफर्ड की 159 क्रमांक वाली पाण्डुलिपि। तथा (2) ऑक्सफर्ड की 1247 क्रमांक वाली पाण्डुलिपि, श्रीनगर की 1435 क्रमवाली पाण्डुलिपि एवं ऑक्सफर्ड की 87 क्रमांक वाली भूर्जपत्र पर लिखी गई पाण्डुलिपि का दूसरा यूथ॥ उपलब्ध हो रही इन पाँच पाण्डुलिपियों के उपर्युक्त द्विविध परिवार निर्धारित करनेवाले कुछ उदाहरण ऐसे हैः

(क) तृतीयांक में, शकुन्तला के सामने राजा दुष्यन्त आकर खड़े रहते हैं तब अनसूया ने राजा का स्वागत करते हुए कहा है कि "इतः शिलातलैकदेशमनुगृह्णातु वयस्यः''। यहां पर मंचनलक्षी कोई भी रंगसूचना 192 एवं 159 क्रमवाली पाण्डुलिपियों में नहीं है। उसके प्रतिपक्ष में, 1247 एवं 1435 पाण्डुलिपियों में "शकुन्तला पादावपसारयति" ऐसी नवीन रंगसूचना दाखिल की गई है॥

(ख) शकुन्तला का नेत्र पुष्परज से कलुषित होने के प्रसंग पर (श्लोक 3-30 के उपरि भाग में) "शकुन्तला अकामप्रतिषेधं रूपयन्ती विहरति" ऐसी रंगसूचना भूर्ज. (192) एवं ऑ.-2 (159) में एक समान है। उसके प्रतिपक्ष में, 1247 एवं 1435 पाण्डुलिपियों में "शकुन्तला अकामप्रतिषेधं नाटयति" ऐसी रंगसूचना दी गई है।

(ग) द्वितीयांक में, दुष्यन्त रेवक नामके दौवारिक को कहता है कि सेनापति को बुलाओ। तब 192 एवं 159 क्रमवाली पाण्डुलिपियों में रेवक की उक्ति इस तरह की मिलती हैः रेवकः-जं भट्टा आणवेदि। (इति निष्क्रान्तः)। उसके प्रतिपक्ष में, 1247 एवं 1435 पाण्डुलिपियों में "दौवारिकस्तथेति निष्क्रान्तः" ऐसी रंगसूचना लिखी है।

(घ) चतुर्थाङ्क में, (192 एवं 159 क्रमवाली पाण्डुलिपियों में) उद्विग्न चित्तवाली अनसूया की उक्ति हैः- "अहवा दुक्खसीले तवस्सिअणे को अब्भत्थिअदु।" उसके प्रतिपक्ष में, 1247 एवं 1435 पाण्डुलिपियों में, "दुक्खशीले तवस्सिजणे" ऐसा पाठ मिलता है।

(ङ) सप्तमांक में महर्षि मारीच के मुख में एक श्लोक (7-27) हैः- "पुत्रस्य ते रणशिरस्ययम् अग्रगामी दुष्यन्त इत्यभिहितो भुवनस्य भर्ता।"

यह पाठ 192 एवं 159 क्रमवाली पाण्डुलिपियों में दिया गया है। लेकिन 1247 एवं 1435, तथा ऑक्सफर्ड से प्राप्त की गई 87 क्रम की (खण्डित भूर्जपत्रवाली) तीसरी पाण्डुलिपि में अग्रयायी ऐसा पाठान्तर मिलता है। इत्यादि॥ इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि शारदा लिपि में लिखी गई जिन पाँच पाण्डुलिपियों का यहाँ विनियोग किया गया है उन सब का बटवारा उपर्युक्त दो परिवारों में हो रहा है॥ इस तरह से, इन शारदा पाण्डुलिपियों का जो आनुमानिक वंशवृक्ष हम बना सकते हैं वह निम्नोक्त स्वरूप का होगा—

कालिदास का स्वहस्तलेख (जो कालग्रस्त हो चूका है)

↓

उसमें से निकली हुई प्रथम प्रति (जिसको हम मूलादर्श-प्रति = Architype कहेंगे)

↓

''क्ष''

अज्ञात आदर्शभूत पूर्वज प्रति (जिसमें प्रक्षेप-संक्षेपादि ने प्रवेश किया)

(प्राप्त पाण्डुलिपियाँ)

(1) भूर्जपत्रवालीप्रति, क्रमांकः 192

↓

(2) ऑक्सफर्ड की दूसरी प्रति, (क्रमंक : 159)

"ज्ञ" (अज्ञात उप-आदर्शप्रति)

↓

(3) ऑक्सफर्ड की पहली प्रति, (क्रमांक : 1247)

(4) ऑक्सफर्ड की तीसरी प्रति, (क्रमांक : 87)

(5) श्रीनगर की प्रति, (क्रमांक : 1435)
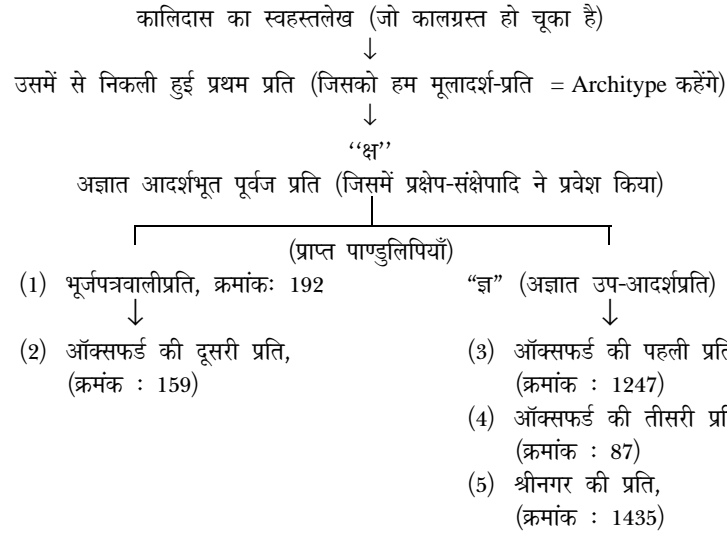
(5) प्रस्तुत समीक्षित पाठसम्पादन की पद्धति

यहाँ पर शारदा पाण्डुलिपियों के पाठों का तौलनिक दृष्टि से अभ्यास करके काश्मीरी-वाचना का समीक्षित पाठसम्पादन प्रकाशित किया जा रहा है, उसमें निम्नलिखित नियमों का परिपालन किया गया हैः-

(1) शारदा पाण्डुलिपियों के पाठ में जहाँ पर भी परस्पर से विरुद्ध दिखनेवाले पाठभेद मिलते हैं, उन सभी का पादटिप्पणी में निर्देश किया गया है। तथा पाँचों पाण्डुलिपियों के पाठों में

से भूर्जपत्रवाली पाण्डुलिपि में संचरित हुआ जो पाठ है, वह प्राचीनतम पाठ होने के कारण, बहुशः उसीको मूल पाठ के रूप में स्थान दिया गया है।

(2) भूर्जपत्रवाली पाण्डुलिपि का प्रत्येक नया पृष्ठ जहाँ से आरम्भ होता है उसको निर्दिष्ट करने के लिए # (2), # (3) जैसे चिह्नों का विनियोग किया गया है।

(3) प्राकृत उक्तिओं का मूल शारदा-पाठ ही प्रायः यथावत् रखा गया है। एवं डॉ. कार्ल बुरखाड ने उन प्राकृत उक्तियों की जो संस्कृत छाया दी है, वह भी यथावत् रखी है। किन्तु उन्होंने शारदा-पाण्डुलिपियों के प्राकृत पाठ को (डॉ.श्री रिचार्ड पिशेल से प्रभावित होकर, बंगीय वाचना के पाठ का अनुसरण करते हुए) व्यापक रूप से परिवर्तित किया गया है, उनको (बु.) ऐसे संकेत के साथ पादटिप्पणी में रखा है। हमने तो शारदा पाण्डुलिपियों में, विशेष रूप से भूर्जपत्रवाली 192 क्रमांक की पाण्डुलिपि में जिस तरह का प्राकृत दिया है, उसीको यथावत् प्रस्तुत करने का मार्ग स्वीकारा है। क्योंकि शारदा पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ (शौरसेनी) प्राकृत का स्वरूप अपने आप में 16वीं शती का ऐतिहासिक दस्तावेजी मूल्य रखता है॥

(4) भूर्जपत्रवाली पाण्डुलिपि एवं ऑक्सफर्ड-1, ऑक्सफर्ड-2 तथा ऑक्सफर्ड-3 इन तीनों पाण्डुलिपियों में क-कारादि एवं ख-कारादि शब्दों से पूर्व में आये हुए विसर्गों के स्थान में सार्वत्रिक रूप से जिह्वामूलीय का चिह्न बनाया गया है। तथा उसी तरह से प-कारादि एवं ख-कारादि शब्दों से पूर्व में आये हुए विसर्गों के स्थान में सार्वत्रिक रूप से उपध्मानीय का चिह्न बनाया गया है। [द्रष्टव्य : पृ. 28 की 11वीं पंक्ति।] किन्तु प्रस्तुत सम्पादन के दौरान इन चिह्नों को, मुद्रण-सौकर्यार्थ विसर्ग के (:) चिह्नों से ही प्रदर्शित किये गये हैं।

(5) ऑक्सफर्ड-1, ऑक्सफर्ड-2 एवं श्रीनगर की शारदा-पाण्डुलिपियों

के लेखकों के द्वारा जहाँ पर अशुद्ध पाठ लिखा गया है, वहाँ पर ऐसे अशुद्ध पाठों को पादटिप्पणी में (उन पाण्डुलिपियों के सांकेतिक नामों के साथ) प्रदर्शित किये गये हैं।

(6) पाँचों शारदा पाण्डुलिपियों (भूर्जपत्र, ऑक्सफर्ड-1, ऑक्सफर्ड-2, ऑक्सफर्ड-3 एवं श्रीनगर की पाण्डुलिपि) में यदि कुत्रचित् अशुद्ध पाठ ही संचरित होकर आया है तो उसे सुधार ने के लिए चतुर्विध कोष्टकों का विनियोग किया गया है। जैसे कि, 1. पुनरुक्त पाठ्यांश को {} इस तरह के कोष्टकों में स्थापित किये गये है। 2. तीनों प्रतियों के अशुद्ध पाठ्यांश को ( ) इस कोष्टकों की सहायता से सुधार लिया गया है। 3. वर्णलोपादि से या अवाच्यांश के कारण यदि किसी शब्द अपूर्ण लगता है तो वहाँ पर [ ] इस तरह के कोष्टक का विनियोग करके, उसमें अपेक्षित वर्ण दाखिल करके, उस शब्द को पुरा कर लिया गया है। 4. जहाँ पर किसी अशुद्ध पाठ्यांश को किसी भी तरह से समझा नहीं जाता है और उसे सुधारा भी नहीं जाता है, वहाँ ऐसे अशुद्ध शब्द के पीछे (?) इस तरह के प्रश्न-चिह्न के साथ प्रदर्शित किया गया है। इस तरह के विविध कोष्टकों का विनियोग करके, निर्धारित किये गये मुख्य पाठ को परिशुद्ध सुसंगत बनाया गया है। तथा जो अशुद्ध पाठ्यांश अग्राह्य लगता है उसे पादटिप्पणी में रखे गयें हैं।

(7) काश्मीरी पाठ की उच्चतर समीक्षा करके जहाँ पर भी कोई पाठ्यांश प्रक्षिप्त सिद्ध होता है, उसको भी मूल पाठ में स्थान तो दिया गया है। क्योंकि वह सभी शारदा पाण्डुलिपियों में एकसमान रूप से संचरित हुआ है। तथापि उस प्रक्षिप्तांश को [< ----- >] इस तरह के कोष्टक के अन्तर्गत रखा गया है, एवं ऐसे पाठ्यांश को इटालिक फोन्ट में रखे हैं। (उदाहरणतया तृतीयांक में *"अपराधमिमं सहिष्ये"*, तथा *"अप्यौत्सुक्ये"* श्लोक।) यह ऐसे प्रक्षेप है कि जो कालिदास के समय, प्रथम शताब्दि

से लेकर सातवीं शताब्दि तक के बीचवाले कालखण्ड में प्रविष्ट हो चूके है। ऐसे स्थानों का अस्वीकार करने के लिए केवल उच्चतर समीक्षा को ही प्रमाणभूत आधार बनाई गई है॥

(8) उसी तरह से, काश्मीरी वाचना के परम्परागत पाठ में कुछ पाठ्यांश को किसी अज्ञात स्थानीय रंगकर्मिओं ने कटौती करके हटा दिया है ऐसा उच्चतर समीक्षा से सिद्ध हो सका है। वहाँ ऐसे पाठ्यांश को [ ] इस तरह के कोष्टक के अन्दर दाखिल करके पादटिप्पणी में समाविष्ट किये हैं। तथा उस पाठ को बिन्दुओं की लकीर से अधोरेखांकित भी कर दिये है। (उदाहरणतया, भ्रमर-बाधा प्रसंग में "सस्पृहम्" की रंगसूचना के बाद "यतो यतः षट्चरणो" वाला श्लोक।)

(9) भूर्जपत्रवाली पाण्डुलिपि में पृ. 91 एवं 92 खण्डित है, (इसमें षष्ठाङ्क का धीवर-प्रसंग आता है,) उसकी वजह से यहाँ कुछ वाक्यावली अलभ्य है। कार्ल बुरखाड ने इन खण्डितांश का पुनर्गठन करने के लिए रिचार्ड पिशेल की बंगाली आवृत्ति का सहारा लिया है। किन्तु प्रस्तुत सम्पादन में तो ऑक्सफर्ड एवं श्रीनगर की अन्य शारदा-पाण्डुलिपियाँ भी उपयोग में ले गई है, इस लिए उक्त खण्डितांश का उद्धार शारदा-पाठ से ही किया गया है॥

(6) काश्मीरी वाचना के पाठ की कतिपय विशेषताएँ

कालिदास के इस नाटक की अभी तक चार वाचनायें उपलब्ध थी, आज आपके करकमल में एक पाँचवी वाचना, "काश्मीरी वाचना'', दूसरे शब्दों में कहे तो "शारदा वाचना" विराजमान है। अतः जिज्ञासा होगी ही कि इस पाँचवी वाचना में मुख्य रूप से क्या क्या नावीन्य है? यद्यपि इस विषय का विस्तृत एवं तुलनात्मक दृष्टि से निरूपण आगे आनेवाले प्रकरणों में किया ही है। तथापि केवल काश्मीरी वाचना के अद्यावधि अज्ञात या अप्रचलित रहे हो ऐसे नवीन पाठान्तरों की जानकारी प्राप्त करने के लिए,

किसी भी पाठक के मन में भारी उत्सुकता होगी। तो यहाँ पहले ऐसी कुछ प्रमुख विशेषताएं "इति दिङ्"—न्याय से प्रदर्शित की जा रही है :-

(1) (क) इस काश्मीरी वाचना में नाटक का एक तीसरा शीर्षक "अभिज्ञानशकुन्तला" मिलता है। (ख) नाटक के नान्दी-पद्य में नवीन पदक्रम एवं पाठान्तर भी है। जैसे कि, "या स्रष्टुः सृष्टिराद्या पिबति, विधिहुतं"। (यहाँ प्रचलित पाठ "या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति, विधिहुतं" है।) (ग) शकुन्तला का वल्कलशिथिलीकरण का प्रसंग राजा जिस बकुलवृक्ष के पीछे खडा है, उसके नजदीक में ले जाकर किया जाता है। (घ) शकुन्तला ने नवमालिका लता का वनतोषिणी नाम नहीं रखा है, उसने तो सहकारवृक्ष का नाम वनतोषिन् रखा था। (ङ) भ्रमरबाधा-प्रसंग में तत्कालीन स्थानीय रंगकर्मिओं ने "यतो यतः षट्चरणो-ऽभिवर्तते" श्लोक को हटाया है। जिसका ईशारा "सस्पृहम्" जैसी रंगसूचना में विद्यमान है। (च) "असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदेवमस्याभिलाषि मे मनः" श्लोक में मनः का विशेषण "आर्यम्" शब्द ही नहीं है। (च) अङ्क के अन्तभाग में शकुन्तला "हद्धि ऊरुत्थम्भेण विअलम्हि संवुत्ता।" इस वाचिक के साथ, सव्याज विलम्बित गति से वहाँ से जाने का बहाना बनाती है। (जिसका कालक्रम से, अनुगामिनी वाचनाओं में विस्तार एवं संकोच हुआ दिखता है।)

(2) (क) विदूषक राजा को शकुन्तला जैसी तापसकन्या में क्यूं स्पृहा करते हैं? ऐसा प्रश्न करता है तब राजा ने एक श्लोक के द्वारा अपना पक्ष रखा है। जिसकी आनुपूर्वी अन्यत्र दुर्लभ है :

"चिरं गतनिमेषाभिर्नेत्रपङ्क्तिभिरुन्मुखः नवामिन्दुकलां केन भावेन पश्यति।
न च सा मादृशानाम् अप्रार्थनीया समासतः समिन्मध्यकालागुरुखण्डवत्॥"

(3) तीसरे अङ्क में, (क) जो रंगसूचना है कि "ततः प्रविशति कामयानावस्थो राजा", वह वामन के द्वारा समर्थित प्राचीनतम

पाठ है। (ख) राजा जब मालिनी नदी के लतावलयों में लेटी हुई शकुन्तला को देखता है तब उसके मुँह से "लब्धं नेत्रनिर्वापणम्" वाक्य निकलता है। यह पाठ कृतिनिष्ठ आन्तरिक प्रमाण से समर्थित होता है। (इस सन्दर्भ में जो प्रचलित पाठ है वह "लब्धं नेत्रनिर्वाणम्" है।)(ग) प्रियंवदा राजा को शकुन्तला के प्रणय को स्वीकार ने की प्रार्थना करती है तब शकुन्तला के मुख से एक वाक्य निकलता है : "हला, अलं वो अन्तेउरविहार-पय्युस्सुएण राएसिणा उवरुद्धेण।" इसका समर्थन "बहुवल्लभाः राजानः" शब्द से होता है। किन्तु इसके स्थान में जो प्रचलित हुआ पाठ है वह तो "अन्तःपुरविरह-पर्युत्सुकस्य" ऐसा है। (घ) केवल इस काश्मीरी वाचना में ही "गान्धर्वेण विवाहेन" श्लोक की अनुपस्थिति है। इस श्लोक के होने से तो दुष्यन्त के प्रेम की गरिमा को हानि होती है। लेकिन यह श्लोक प्रक्षिप्त है ऐसा इस पंचम वाचना से ज्ञात हो रहा है। (ङ) अङ्क के अन्तभाग में, दुष्यन्त और शकुन्तला के मिलन में रुकावट डालती हुई नेपथ्योक्ति इस तरह की है, "अम्मो, अय्या गोदमि।" और ऐसा प्रकट संकेत होने के कारण जब गौतमी रंगमंच पर प्रवेश करती है, तब उसके साथ में सहेलियों का प्रवेश नहीं होता है। जो ज्यादा युक्तिसंगत प्रतीत होता है। (यहाँ, अन्य वाचनाओं में "चक्रवाकवधूके, आमन्त्रयस्व प्रियसहचरम्, उपस्थिता रजनी।" ऐसा एक अधिक वाक्य मिलता है।)

(4) चतुर्थांक में, (क) दुर्वासा के पास जा कर शापमोचन की याचना अनसूया करती है, तथा शकुन्तला से इस शाप-वृत्तान्त को गुप्त रखने का प्रस्ताव प्रियंवदा का है। ऐसी योजना अन्यत्र कहीं पर भी सुरक्षित नहीं रह पाई है। (ख) शकुन्तला की बिदाई के समय पर चक्रवाक पक्षी सम्बन्धी दो गाथाएँ केवल काश्मीरी पाठ में ही सुरक्षित रही है। (घ) तपोनिष्ठ पिता कण्व

ससुराल जा रही शकुन्तला को कहते हैं कि,

''यथा शरीरस्य शरीरिणश्च पृथक्त्वम् एकान्तत एव भावि।
आहार्ययोगेन वियुज्यमानः परेण को नाम भवेद् विषादी॥''
यह श्लोक होने से ही पुरोगामी "अभिजनवतः भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे" श्लोक का औचित्य सिद्ध होता है। (ङ) इसमें "ऋक्छन्दसा आशास्ते'', एवं "कोकिलरवं सूचयित्वा" जैसी रंगसूचनायें नहीं है।

(5) पञ्चमांक में, (क) कंचुकी का आगमन एवं वैतालिकों के गान के बीच में हंसपदिकागीत का क्रम रखा गया है। अतः वैतालिकों के गान की उपयुक्तता सिद्ध होती है। (मैथिली तथा बंगाली में कंचुकी का आगमन एवं वैतालिकों के गान के पश्चात् हंसवती का गीत प्रस्तुत होता है। और देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में सब से पहले हंसपदिका का गीत रखा है।) (ख) राजा ने जब शकुन्तला को परभृतिका कह दिया तब उसके मुँह से "अनार्य" शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। (ग) वाद-विवाद की क्षणों में शकुन्तला ने दृढता के साथ एक गाथा प्रस्तुत की है। तद्यथा, "तुम्हे य्येव पमाणं जाणध धम्मत्थिदिं च लोअस्स। लज्जाविणिज्जिदाओ जाणन्ति हुं किं ण महिलाओ।" जो सम्भवतः प्रक्षिप्त लगती है॥

(6) षष्ठांक के प्रवेशक में धीवर-प्रसंग में (क) मछुवे के मुख में रखे गये "यमवसतिं गत्वा, गुडखण्डं च दत्वा इव प्रतिनिवृत्तः।" इस वाक्य में यमसदन से मुक्ति मिलने का जो कारण दिया है, वह अभी तक की किसी भी पाण्डुलिपि में से नहीं मिला था। (ख) मेनका के द्वारा प्रेषित की गई अप्सरा का नाम "अक्षमाला" है। (जो अन्यत्र मिश्रकेशी एवं सानुमती के नाम से प्रसिद्ध है।) (ग) चित्रफलक-प्रसंग में कम श्लोक है, और उसी कारण से विदूषक की उक्ति में अश्लीलता का प्रवेश नहीं हुआ है। (घ) इस वाचना में, चित्रफलक से सम्बद्ध जो

स्पर्धा का निरूपण है वह राजा की परिचारिका मेधाविनी और रानी कुलप्रभा की दासी पिङ्गलिका के बीच में दिखाया है। जो उत्तरवर्ती काल में, मैथिली आदि वाचनाओं में, अन्तःपुर के कालकूट का (रानी वसुमती की स्पर्धा का) विषय बना कर प्रस्तुत किया गया है। (ङ) मातलि का प्रवेश हो रहा है उसकी ओर अक्षमाला अङ्गुलिनिर्देश करती हुई रंगभूमि से निवृत्ति होती है।अन्यत्र ऐसा नहीं है, अन्य वाचनाओं में राजा जब रंगमंच पर बेहोश गिरे है तब मिश्रकेशी (एवं सानुमती) रंगभूमि से सीधी निकल जाती है।

(7) सप्तमांक के आरम्भ में, एक प्रवेशक आता है। जिसमें दो नाकलासिकाओं का नृत्य है, और उन दोनों की बातचीत से मालूम होता है कि दुष्यन्त स्वर्गलोक से वापस आ रहा है। ऐसा प्रवेशक अन्य किसी भी वाचना में नहीं है। (ख) सर्वदमन के हाथों से सिंहबाल को छुडाने के लिए, तापसकन्या ने मृत्तिकामयूर देते हुए कहा कि, "सव्वदमण, सउन्तला..."। तापसकन्या कहना तो चाहती थी कि सर्वदमन, शकुन्तला भणति। किन्तु, भरत ने बीच में ही पूछ लिया कि कहिं मे अज्जू॥ ध्यानास्पद बिन्दु यही है कि काश्मीरी वाचना में "सर्वदमन, पश्य शकुन्तलावण्यम्" ऐसी उक्ति नहीं है।

(8) इसमें स्त्रीपात्रों के मुख में जो प्राकृत का विनियोग हुआ है, उसमें शौरसेनी का स्वरूप प्रायः सुरक्षित रहा है। तथा षष्ठांक में, धीवर-प्रसंग में मागधी की भी प्रायः रक्षा हुई है।

(9) काश्मीरी वाचना में इस नाटक का शीर्षक "अभिज्ञानशकुन्तला" दिया है।

पहले प्रसिद्ध हुए दो शीर्षकों में से "अभिज्ञानशकुन्तलम्" मैथिल एवं बंगाली वाचनाओं में मिलता है। तथा डॉ. मोनियर विलियम्स, प्रोफेसर पी.एन. पाटणकर आदि विद्वानों ने प्रकाशित किये हुए देवनागरी वाचनाओं के संस्करणों में भी "अभिज्ञानशकुन्तलम्" ऐसा ही नाम रखा गया है।

जिसमें से अभिज्ञान से स्मृत, या प्राप्त की गई शकुन्तला ही केन्द्र में है ऐसा बोध निकलता है। श्री शारदा रञ्जन राय इस शीर्षक में द्वन्द्व समास मानते हैं, और कहते हैं कि इस नाटक में अभिज्ञान एवं शकुन्तला दोनों ही प्रधान है ऐसा समझना चाहिए। दूसरा सुप्रचलित हुआ जो शीर्षक है वह है : "अभिज्ञान-शाकुन्तलम्''। काशी के श्रद्धेय प्रोफेसर श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी जी बताते हैं कि इस शीर्षक में शकुन्तला नहीं है, किन्तु शाकुन्तल है वह ध्यानास्पद है।[14] इस नाटक में चक्रवर्ती पुत्र की प्राप्ति होना वही प्रधान नाट्यकार्य है। अतः सप्तम अङ्क में यह सर्वदमन शकुन्तला का पुत्र "शाकुन्तल" है, उसके एकाधिक अभिज्ञान प्रस्तुत किये गये हैं। मतलब कि इस नाटक में शकुन्तला केन्द्र में नहीं है, किन्तु शाकुन्तल पुत्र भरत का अभिज्ञान केन्द्र में है।

अब हमारे सामने इस नाट्यकृति का तीसरा शीर्षक आ रहा है, "अभिज्ञानशकुन्तला''। तब उसको समझने कि भी इच्छा और आवश्यकता होगी। यदि हम "अभिज्ञान-पूर्विका शकुन्तला इति अभिज्ञानशकुन्तला।" (जिसमें अभिज्ञान पहला है और बाद में शकुन्तला प्रकट होती है, प्राप्त की जाती है ऐसा यह नाटक है) ऐसा सोच कर, बाद में अभेदोपचार से उसे नाट्यकृति का भी नामाभिधान मान ले तो इस तीसरे शीर्षक में से नवीन अर्थग्रहण हो सकता है। जैसे कि,

नाटक का आरम्भ होने से पहले, मेनका से परित्यक्त बालकी को अपने आश्रम में पक्षिओं से घेरी हुई देख कर, शकुन्तैः लाता, परिरक्षिता इतिशकुन्तला—ऐसा पहला अभिज्ञान करके कण्व मुनि ने उसे "शकुन्तला" के नाम से घोषित की। बाद में जब नाटक शूरू होता है तब दुष्यन्त भी "यह क्षत्रिय के लिए परिग्रह-क्षम रत्न है" ऐसे अभिज्ञानपूर्वक ही संनद्ध, सक्रिय होता है। पञ्चमांक में अत्रभवती मया परिणीतपूर्वा, तथा तत्कथम् .... आत्मानं क्षेत्रिणम् अनाशंसमानः प्रतिपत्स्ये।" इत्यादि वाक्यों से पहले शकुन्तला के अभिज्ञान के लिए समुत्सुक रहता है। तदनन्तर, षष्ठांक में भी दुष्यन्त धीवर से स्वनामधेयांकित अङ्गुलीयक प्राप्त करने के बाद, "शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्" शब्दों से शकुन्तला रूप

मृगी को प्राप्त करने के लिए मुझे शिकारी नहीं, किन्तुविश्वसनीय (निरागस) मृग होकर खड़ा रहना होगा, और "इयम् अनुरक्ता मधुकरी तृषितापि सती मया विना मधु न पिबति" का अभिज्ञान प्राप्त करता है। तथा अन्ततोगत्वा, सप्तमांक में मृत्तिकामयूर के प्रसंग से "चक्रवर्ती के लक्षण को धारण करनेवाले इस बालक की जननी शकुन्तला है" उसका भी जब पहले अभिज्ञान प्राप्त करता है, उसके बाद ही शकुन्तला से उसका साक्षात् मिलन होता है। सारांशतः, राजा दुष्यन्त इस पूरे नाटक में कोई न कोई अभिज्ञानपूर्वक ही शकुन्तला को ग्रहण करता है, प्राप्त करता है। इस तरह से काश्मीरी वाचना का शीर्षक भी समग्र कृति में होनेवाली "अभिज्ञानपूर्विका शकुन्तला इति अभिज्ञानशकुन्तला।" जैसी नाट्यक्रिया को अभिव्यक्त करता है।

(7) काश्मीरी शारदापाठ की प्राचीनतमता के समर्थक प्रमाण

''अभिज्ञानशकुन्तल" एवं "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" ऐसे द्विविध शीर्षकों से अद्यावधि उपलब्ध हुई इस नाटक की चार वाचनाएँ प्रकाशित हुई है। 1. बंगाली, 2. मैथिली, 3. देवनागरी तथा 4. दाक्षिणात्य। आज 5. "अभिज्ञानशकुन्तला" के नाम से काश्मीर की पाँचवी वाचना प्रकाशित हो रही है! इन पाँचो वाचनाओं में से जो बंगाली, मैथिली एवं काश्मीरी वाचनायें हैं उनमें इस नाटक का बृहत्पाठ संचरित हुआ है। तथा देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में लघुपाठ उपलब्ध होता है। विदेश की भूमि पर जब प्रथमबार 1791 में सर विलियम जोन्स का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ था तो वह बंगाली पाण्डुलिपियों में प्रवहमान हुए बृहत्पाठ का ही था। अतः पश्चाद्वर्ती समय में जब देवनागरी वाचना का पाठ ध्यान में आया तो उसमें लघुपाठ होने से वही मौलिक पाठ होगा ऐसी कल्पना की गई। धीरे धीरे उसी लघुपाठ को मौलिक या अधिक श्रद्धेय माननेवाले विद्वानों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढती ही चली। श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे सर्वमान्य उद्भट महामहोपाध्याय ने, स्वयं बंगाल के होते हुए भी, बंगाली पाठ को प्रक्षेपों से भरा पाठ कहा, और देवनागरी वाचना के लघुपाठ

को मान्यता प्रदान की तब से इस नाटक के बृहत्पाठ की नितान्त अवहेलना शूरू हुई। यद्यपि विदेश में कुछ विद्वानों ने, जिसमें रिचार्ड पिशेल भी शामिल है, बंगाल के बृहत्पाठ को अधिक श्रद्धेय मानने की विचारणा प्रस्तुत की थी। तथा कालान्तर में, डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने बहुत अभिनिवेशपूर्वक बंगाली वाचना के पाठ को प्राचीनतम एवं मौलिक मानने का मत घोषित किया है। एवमेव, उन्होंने बंगाली वाचना में से ही मैथिली तथा काश्मीरी वाचना के पाठों की धारा प्रवाहित हुई है ऐसा माना है॥ किन्तु बंगाली वाचना के पाठ को मौलिक सिद्ध करने के लिए उन्होंने जो प्रमाण उपस्थापित किये हैं, वे बहुशः बहिरंग प्रमाण ही है। तथा बंगाली पाठ में प्रकट रूप से दिख रहे प्रक्षेपों को भी उन्होंने नहीं पहचाने,[15] और कुछ विसंगतियाँ भी नहीं देखी।

इतनी पूर्वभूमिका के साथ हम इस विषय की समालोचना करना चाहते हैं। सब से पहले तो यही प्रश्न होता है कि इस नाटक का बृहत्पाठ जिसमें संचरित हुआ है ऐसी बंगाली, मैथिली तथा काश्मीरी वाचनाओं को पुरोगामिनी मानी जाये, और जिसमें लघुपाठ संचरित हुआ है वैसी देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं को अनुगामी काल की मानी जाये? अथवा, उससे विपरीत स्थिति होगी?। इस सन्दर्भ में हमने एक शोध-आलेख लिखा है : "अभिज्ञानशाकुन्तल की देवनागरी वाचना में संक्षेपीकरण के पदचिह्न",[16] जिसमें कृतिनिष्ठ अनेक आन्तरिक प्रमाणों से यह बात सिद्ध की गई है कि देवनागरी (तथा दाक्षिणात्य) वाचना में संचरित हुआ पाठ अनुगामी काल में तैयार किया गया है। इस नाटक को शायद अल्प समयावधि में प्रस्तुत करने के लिए, तथा कुछ प्रक्षिप्त अश्लिल अंशो से संत्रस्त होकर, मध्यकालिक रंगकर्मिओं ने मुख्य रूप से तृतीयांक में से सहज प्रेमसहचार के दो दृश्यों की कटौती कर दी है। इस निरूपणा से पहले इतना तो सिद्ध हो ही गया है कि बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं की अपेक्षा से लघुपाठ का संचरण करनेवाली देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाएं निश्चित रूप से उत्तरवर्ती काल में आकारित हुई है॥ अतः द्वितीय क्रमांक पर यह विचारणीय बनता है कि इस नाटक का बृहत्-पाठ जिसमें

संचरित हुआ है, वैसी बंगाली, मैथिली और काश्मीरी वाचनाओं में से कौन सी वाचना प्राचीनतम है? और कौन प्राचीनतर तथा प्राचीन है?

इस विषय में सब से पहला ध्यानास्पद बिन्दु यह है कि बंगाली वाचना का पाठ इयत्ता की दृष्टि से बृहत्तम है, मैथिली वाचना बृहत्तर है, और काश्मीरी वाचना बृहत् मात्र है।(केवल एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण ही देखें तो तीसरे अङ्क में, बंगाली वाचना में 41 श्लोक है, मैथिली में 40 श्लोक हैं, और काश्मीरी वाचना में 35 श्लोक हैं।) इस इयत्ता के प्रमाण से यह सूचित होता है कि कौन सी वाचना सब से प्राचीनतम होगी। आगे चल कर हम कुछ प्रमाण ऐसे उपस्थित करेंगे कि जिससे भी यही सिद्ध होता है कि काश्मीरी वाचना में संचरित हुआ पाठ प्राचीनतम है, और मैथिली वाचना में संचरित हुआ पाठ प्राचीनतर है, तथा बंगाली वाचना का पाठ प्राचीन है।

[1]

भारत देश में प्रवर्तमान सभी लिपियों का मूल ब्राह्मी लिपि (ई. स. पूर्व 350) ही है। उस ब्राह्मी में से दो तरह की शैलियाँ विकसित हुई। भारत के उत्तर-पश्चिम भागों में गुप्तकालिक ब्राह्मी, कुटिल, प्राचीनतम नागर, टाकरी, शारदा, गुरुमुखी, पंजाबी, नेवारी और देवनागरी। तथा पूर्व-दक्षिण की ओर मैथिली, बंगाली, उडिया, तेलुगु, नन्दीनागरी, तमिल, ग्रन्थादि लिपियाँ प्रचलित हुई। आज हमें इस नाटक की जो पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हो रही है, वे शारदा, बंगाली, नेवारी, मैथिली, नागरी-देवनागरी, नन्दीनागरी, ग्रन्थादि लिपियों में लिखी गई हैं। लिपियों के इतिहास की दृष्टि से देखा जाए तो इन सब में से शारदा लिपि ही प्राचीनतम है, जिसका प्रचलन 8वीं शती से 13वीं शती तक निरन्तर बना रहा था। पुरातत्त्वीय अवशेषों के रूप में मिल रहा राजा मेरु वर्मा का एक शिलालेख ई.स. 850 में उत्कीर्ण करवाया गया है, जो शारदा लिपि में लिखा गया है। अतः इस शारदालिपि में लिखी गई जो पाण्डुलिपियाँ आज मिल रही है, वह भले ही अपेक्षाकृत उत्तरवर्ती काल की हो, लेकिन उनमें संचरित

हुआ काश्मीरी वाचना का पाठ सब से पुराना होगा ऐसा मानना प्रमाण विरुद्ध नहीं है। एवञ्च, काश्मीरी वाचना का पाठ सातवीं शती से भी पहले प्रचार में था ऐसा वामन, अभिनवगुप्त, कुन्तकादि के उद्धरणों से सिद्ध होता है। तथा भोज के शृंगारप्रकाश से सिद्ध होता है कि ग्यारहवीं शती तक काश्मीर का पाठ सुज्ञात था ॥ अस्तु ॥

[2]

आज उपलब्ध हो रही विविध वाचनाओं में, तृतीयांक के आरम्भ में नायक दुष्यन्त के प्रवेश सम्बन्धी एक रंगसूचना मिलती है। काश्मीरी वाचना में लिखा है कि "ततः प्रविशति कामयानावस्थो राजा'', किन्तु मैथिली वाचना में "ततः प्रविशति मदनावस्थो राजा '', तथा बंगाली वाचना में भी "ततः प्रविशति मदनावस्थो राजा" ऐसा लिखा हुआ है। अर्थात् इस जगह दो पाठान्तर मिलते हैं। जिसको देख कर प्रश्न होना स्वाभाविक है कि उनमें से प्राचीनतम पाठ कौन होगा? इसका उत्तर आज उपलब्ध हो रही पाण्डुलिपियों का क्या समय है उसको देख कर भी दिया जा सकता है। किन्तु कोई भी पाण्डुलिपि दो सो या तीन सो साल से अधिक पुरानी तो मिलती ही नहीं है। अतः कुछ बहिरंग प्रमाण को ढूँढना होगा। तो आचार्य वामन (ई. स. 750) ने अपने काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में "कामयानशब्दः सिद्धोऽनादिश्चेत्। (5-2-82)" ऐसा सूत्र लिखा है। इसमें उन्होंने कहा है कि कामयान शब्द को सिद्ध (याने व्याकरण सम्मत) मानना चाहिए, यदि वह शब्द अनादि काल से चला आ रहा हो तो। और पंडित प्रवर श्रीरेवाप्रसाद द्विवेदी जी कहते हैं कि कालिदास ने स्वयं रघुवंश में एक स्थान में (19-50) कामयान शब्द का प्रयोग किया भी है। इससे सिद्ध हो जाता है कि काश्मीरी वाचना में सुरक्षित रहा पाठ ही प्राचीनतम है।

इसी तरह से काश्मीरी वाचना में "कथमप्युन्नमितं, न चुम्बितं तु। (3-32)" श्लोक आता है। इसका मैथिली एवं बंगाली वाचना में जो पाठ है वह "कथमप्युन्नमितं, न चुम्बितं तत्। (3-37, एवं 3-38)" ऐसा है। इस तरह के दो पाठभेदों में से कौन सा पाठ प्राचीनतम होगा? यह प्रश्न

है। तो आनन्दवर्धन ने निपातों की व्यंजकता के बारे में चर्चा करते हुए इसी श्लोक का उद्धरण दिया है, जिसमें काश्मीरी वाचना के अनुसार ही "कथमप्युन्नमितं, न चुम्बितं तु" पाठ रखा है। आनन्दवर्धन का सर्वमान्य समय 840 से 890 का अनुमाना गया है। इस दूसरे बहिरंग प्रमाण से भी सिद्ध हुआ कि काश्मीरी वाचना में संचरित हुआ पाठ ही प्राचीनतम है। एवमेव, इस नाटक का नान्दी पद्य लीजिये, उसकी प्रथम पङ्क्ति में "या स्रष्टुः सृष्टिराद्या पिबति, विधिहुतं या हविर्या च होत्री" ऐसा पाठ काश्मीरी वाचना में दिया है। इसी तरह के पाठ को आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्यशाशास्त्र (अ. 9-174, हस्तमुद्राओं के निरूपण में) की अभिनवभारती टीका में उद्धृत किया है।[17] और अभिनवगुप्त का समय 11वीं शती है। मैथिली तथा बंगाली वाचनाओं में संचरित हुआ पाठ 12वीं-13वीं शती के बाद का है। अलंकारशास्त्र के ये दोनों धुरन्धर आचार्य काश्मीर के हैं, और इन दोनों ने शारदा पाण्डुलिपियों में संचरित हुए पाठ को ही स्वीकारा है। इससे भी सिद्ध हो रहा है कि काश्मीरी वाचना ही प्राचीनतम है।

[3]

काश्मीरी वाचना में इस नाटक का जो पाठ सुरक्षित रहा है वह प्राचीनतम होने का एक आन्तरिक प्रमाण यह है कि कालिदास ने मालविकाग्निमित्र तथा विक्रमोर्वशीय नाटकों में जैसे किसी अङ्कों का नामकरण नहीं किया है, वैसे हि अभिज्ञानशकुन्तला नाटक के काश्मीरी पाठ में भी कोई भी अङ्क का नाम नहीं दिया गया है।

कालिदास के इस नाटक में प्रत्येक अंक का विशेष नाम देने की यह प्रवृत्ति कालान्तर में, पहली बार मैथिली वाचना में दृष्टिगोचर हो रही है। तद्यथा, प्रथम अङ्क का नाम "आखेटक" दिया है, द्वितीय अङ्क का नाम "तपोवनानुगमन" दिया है,[18] तृतीय अङ्क का नाम "शृङ्गारभोग" दिया है, चतुर्थ अङ्क का नाम "शकुन्तला-प्रस्थान" दिया है, पञ्चम अङ्क का नाम "शकुन्तला-प्रत्याख्यान" दिया है, षष्ठ अङ्क का नाम "शकुन्तलाविरह" दिया है एवं सप्तम अङ्क का नाम "शकुन्तला-संवर्धन"

दिया है॥ इसी मैथिली पाठपरम्परा का बहुशः अनुसरण करते हुए बंगाली वाचना में भी प्रत्येक अङ्क का नामकरण किया गया है। जैसे कि, यहाँ प्रथम अङ्क का नाम "आखेटक" दिया है, द्वितीय अङ्क का नाम "आख्यानगुप्ति" दिया है, तृतीय अङ्क का नाम "शृङ्गारभोग" दिया है, चतुर्थ अङ्क का नाम "शकुन्तलाप्रस्थान" दिया है, पञ्चम अङ्क का नाम "शकुन्तला- प्रत्याख्यान" दिया है, षष्ठ अङ्क का नाम "शकुन्तलाविरह" दिया है, तथा सप्तम अङ्क का नाम नहीं दिया गया है॥ प्रत्येक अङ्क का नामकरण करने की प्रवृत्ति निश्चित रूप से उत्तरवर्ती काल की है उसमें मुख्य प्रमाण तो, जैसे ऊपर कहा गया है, कालिदास ने अपने अन्य दो नाटकों में ऐसा नहीं किया है। तो जिसमें अङ्कों के नाम नहीं है वह काश्मीरी पाठ की परम्परा ही प्राचीनतम होगी ऐसा सहज अनुमान किया जा सकता है। एवञ्च, मैथिली परम्परा में द्वितीय अङ्क का नाम "तपोवनानुगमन" है, किन्तु उसी अङ्क का बंगाली वाचना में "आख्यानगुप्ति" दिया है। तथा बंगाली वाचना में सप्तम अङ्क का नाम उपलब्ध नहीं होता है। इससे ऐसा सिद्ध होता है कि इन दोनों ने किसी पुरोगामी समान परम्परा का संरक्षण किया होगा तो भी, उनमें सुधार करने की चेष्टा भी की है। उपरि निर्दिष्ट नामों में प्रत्येक अङ्कों में सम्पन्न किया गया नाट्यकार्य क्या है, उसका प्रतिबिम्ब है। किन्तु द्वितीयांक के जो दो तरह के नाम मिलते हैं उसमें उस अङ्क में सम्पन्न हुए नाट्यकार्य को देखने में मतभेद है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। अतः काश्मीरी अपेक्षा से मैथिली वाचना उत्तरवर्ती काल की है। एवं तीसरे क्रम में बंगाली वाचना ने उस नामकरण की प्रवृत्ति में सुधार किया है ऐसा भी सुनिश्चित दिखता है।

[4]

संस्कृत नाट्यकृतियों में स्त्रीवर्ग के पात्रों के लिए शौरसेनी प्राकृत भाषा का विनियोग करना चाहिए ऐसा एक मार्गदर्शक नियम भरत मुनि ने कहा है।[19] कालिदास, शूद्रकादि नाट्यकार, जो कि भरत मुनि के समय के नजदीक रखें जाते हैं, उनके लिए तो भरत मुनि का वचन अनुसरणीय

ही था। इस सन्दर्भ में यदि अभिज्ञान-शकुन्तला नाटक में प्रयुक्त प्राकृत भाषा का विश्लेषण करते हैं तो इस नाटक के प्राकृत-संवादों में हुए परिवर्तनों के क्रम का कुछ ठोस प्रमाण सामने आ सकते हैं। क्योंकि इस नाटक की उपलब्ध हो रही पाण्डुलिपियों में तथा उसके वर्तमान संस्करणों में प्राकृत-संवादों में शौरसेनी की अस्मिता (यानें उसका नीजि ध्वनिस्वरूप) क्रमशः लुप्त हो रही है। और उसके स्थान पर महाराष्ट्री प्राकृत भाषा का स्वरूप दाखिल होता जा रहा है ऐसे प्रकट संकेत मिल रहें हैं। प्राकृत भाषाओं में हुआ ध्वनि परिवर्तन एक ऐसा भाषाकीय तथ्य है कि जिसके साथ भौगोलिक एवं सामयिक भेदक-रेखा का सम्बन्ध भी जुड़ा हुआ है। उदाहरण के लिए कुछ शब्दों की निम्नोक्त सूचि द्रष्टव्य हैः-

क्रम	**संस्कृत शब्द**	**ध्वनिविशेष का परिवर्तन**	**शौरसेनी शब्दरूप में परिवर्तन**	**उत्तरवर्ती काल की महाराष्ट्री प्राकृत में**
1.	अतिथि	त का द,	अदिधि	अदिहि
2.	शकुन्तला	संयुक्ताक्षर में यथावत्	सउन्तला सउंदला	सउन्दला, तकार का दकार
3.	आर्यपुत्र	र्य का य्य	अय्यपुत्त, अय्यउत्त	अज्जपुत्त, अज्जउत्त
4.	अथवा, यथा-तथा, मनोरथ	थ का ध	अधवा, जधा-तधा, मणोरध	अहवा, जहा-तहा, मणोरह
5.	पूर्व	स्वरभक्ति	पुरव	पुव्व
6.	कृत्वा	त्वा के लिए दुअ	कदुअ	करिअ
7.	एव	एव का येव	येव, य्येव	ज्जेव
8.	नाटकम्	ट का ड	नाडअं	णाडअं
9.	मयूरः	यकार का लोप	मऊर	मोर
10.	प्रकृति	ऋ का रि, क व्यंजनलेप	पकिदि	पइदि

काश्मीरी वाचना में जिन स्थानों पर शौरसेनी का प्रयोग हुआ है उसका तुलनात्मक अभ्यास करने से भी इसके पाठ का प्राचीनतमत्व सिद्ध होता है।

(क) काश्मीरी में, हला सउन्तले, उइदं णो अदिधि-पय्युवासणं, ता इध उवविसम्ह।
मैथिली में, हला सउन्तले, उइदं णो अदिधिपज्जुपासणं। ता एहि, उअविस म्ह।
बंगाली में, हला सउन्तले, उइदं णो अदिधिपज्जुवासणं ता एहि उवविसम्ह।
देवनागरी मे, हला सउंदले, उइदं णो पज्जुवासणं अदिहीणं, एत्थ उवविसम्ह।

(ख) काश्मीरी में, पडिण्णादं मन्थरो विअ अय्यउत्तो संवुत्तो।
मैथिली में, पडिण्णाद-मन्थरो विअ अज्जउत्तो।
बंगाली में,पडिण्णाद-मन्थरो विअ अज्जउत्तो।
देवनागरी मे, (नास्तीदं दृश्यम् / वाक्यम्)

(ग) काश्मीरी में, एसो णूणं अत्तणो दे चित्तगदो मणोरधो।
मैथिली में, एस दे अत्तणो चित्तगदो मणोरहो।
बंगाली में, णूणं एस दे अत्तगदो मणोरधो।
देवनागरी मे, एसो णूणं तुह अत्तगदो मणोरहो।

(घ) काश्मीरी में, हला सउन्तले, अवसिदमण्डनासि।
मैथिली में, हला सउन्तले, अवसिदमण्डणा दाणि सि तुमं।
बंगाली में, हला सउन्तले, अवसिदमण्डणा दाणिं सि तुमं।
देवनागरी मे, हला सउंदले, अवसिदमंडणासि।

(ङ) काश्मीरी में, णं पढमं येव अय्येण आणत्तं जधा ण अहिणाणसउन्तला णाम अपुरवं णाडअं पओएण अधिकरिअदु।
मैथिली में, णं पढुमं जेव अज्जेण आणत्तं जधा अहिण्णाणसउन्तलं अहिरूअ-णालअं अहिणीअदु।
बंगाली में,णं पढमं जेव अज्जेण आणत्तं अहिण्णाणसउन्तलं णाम अउव्वं णाडअं अहिणीअदु त्ति।
देवनागरीमें, णं अज्जमिस्सेहिं पढमं एव्व आणत्तं अहिण्णाणसाउंदलं णाम अपुव्वं णाडअं अधिकरीअदु त्ति।

(च) काश्मीरी में,तं सुमणोगोविदं कदुअ देवसेसावदेसेण तस्स रण्णो हत्थे पाडइस्सं।
मैथिली में,तं अहं सुमणोगोविदं कदुअ देवदाववदेसेण तस्स रञ्ञो हत्थं पावइस्सं।
बंगाली में, तं अहं सुमणोगोविदं कदुअ देवदासेससावदेसेण तस्स रण्णो हत्थं पावइस्सं।
देवनागरी में, इमं देवप्पसादस्सावदेसेण सुमणोगोविदं करिअ से हत्थअं पावइस्सं।

(छ) काश्मीरी में, वण्णअचित्तिदो मट्टिआ मऊरओ चिट्ठदि। तं से उवाहर।
मैथिली में, वण्णचित्तिदो मित्तिआ-मोरो चिट्ठदि। तं से उअहर।
बंगाली में, वण्णअचित्तिदो मट्टिआ-मोरो चिट्ठदि। तं से उवहर।
देवनागरी मे, वण्णचित्तिदो मित्तिआ-मोरओ चिट्ठदि, तं से उवहर।

इसी तरह शारदा पाण्डुलिपियों के पाठ में प्राचीनतम शौरसेनी के लक्षण बहुशः सुरक्षित रहे हैं। जैसे कि, अघोष व्यंजन स्वरूप त और थ का घोषीकरण होकर द और ध में ध्वनि-परिवर्तन होता है। उदाहरण के रूप में (क) तथा का शौरसेनी में तधा होता है। एवमेव, अतिथि का शौरसेनी में अदिधि होता है। फिर उत्तरवर्ती काल में, जब महाराष्ट्री प्राकृत का आविष्कार होता है तब उसमें वही धकार का हकार के रूप में एक ओर ध्वनि परिवर्तन हो जाता है। जिससे अदिहि रूप प्रचार में आता है। हेमचन्द्र जी ने भी “थो धः। (8-4-267)” एवं “तो दोऽनादौ शौरसेन्याम् अयुक्तस्य। (8-4-260)” सूत्र से यही कहा है॥ (ख) रेफोत्तरवर्ती य-कार (र्य) के स्थान में समीकरण होने से शौरसेनी में य्य होता है। उदाहरणतया, अय्यउत्त। इत्यादि। यहाँ हेमचन्द्र जी के मत से “न वा र्यो य्यः। (8-4-266)” सूत्र से उक्त ध्वनि परिवर्तन होता है। (ग) में मणोरधो ऐसा जो शब्द रूप दिया है, उसमें थकार का धकार हुआ है। जिसमें 8-4-267 सूत्र की प्रवृत्ति है। (घ) शकुन्तला शब्द का शौरसेनी रूप सउन्तला होता

है। हेमचन्द्र जी ने जिसको 8-4-260 सूत्र का विषय बताया है। लेकिन उत्तरवर्ती काल में संयुक्ताक्षर में भी आये हुए तकार का दकार में परिवर्तन शूरू हुआ है। जिसके कारण देवनागरी में सउन्दला या सउंदला शब्द का प्रयोग शूरू हो गया है। (ङ) पूर्व शब्द में स्वरभक्ति होने से पुरव होता है। हेमचन्द्र जी ने जिसके लिए "पूर्वस्य पुरवः। (8-4-270)" सूत्र दिया है। और ऐसा शब्द रूप काश्मीरी में ही सुरक्षित रह पाया है। (च) कृत्वा जैसे कृदन्त के लिए शौरसेनी में कदुअ रूप होता है। जिसके लिए हेमचन्द्र जी ने "कृ-गमो डडुअः। (8-4-272)" सूत्र का विधान किया है। (छ) मयूर शब्द में यकार का लोप हो कर, मऊर होता है। मध्यवर्ती यकार का लोप होना वह शौरसेनी की प्रवृत्ति है। लेकिन अनुगामी काल में, महाराष्ट्री प्राकृत में ध्वनि-परिवर्तन की प्रवृत्ति आगे बढ़ती है, और मऊर में से मोर शब्द बन जाता है।(ज) प्रकृति शब्द के ऋकार का रिकार होकर, पकिदि बनता है। तदनन्तर क-व्यंजन का लोप होकर पइदि बनता है।

अतः जिन देवनागरी आदि पाण्डुलिपिओं में महाराष्ट्री प्राकृत अनुसारी पाठ मिल रहा है तो वह निश्चित रूप से अनुगामी काल का स्वरूप मानना होगा। पाठसम्पादन के सन्दर्भ में यदि प्राचीन से प्राचीनतर, और प्राचीनतर से प्राचीनतम पाठ कहीं से भी उपलब्ध हो रहा हो, (और उसमें अन्य कोई दृष्टि से भी अधिक प्रामाणिक पाठ विद्यमान है ऐसा दिख रहा हो) तो उसे ही अधिक श्रद्धेय पाठ के रूप में मान्यता देनी चाहिए।

उपरि भाग में रखे गयें उदाहरणों में जो अय्यउत्त एवं अपुरवं ऐसे दो शब्द रूप है, वे केवल काश्मीरी में ही सुरक्षित रहे है। मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में ऐसे रूप परिवर्तित स्थिति में संचरित हुए है। इससे भी सिद्ध होता है कि इन तीनों में केवल काश्मीरी वाचना का पाठ ही प्राचीनतम हो सकता है।

हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में शौरसेनी एवं मागधी प्राकृत के शब्द रूपों की नियमावली देने के साथ साथ उनके समर्थन में जिन उदाहरणों को उद्धृत किये हैं वे सब अभिज्ञानशकुन्तला नाटक में से दिये हैं। एवं वे सभी उदाहरण काश्मीरी वाचना के अनुसार ही है।[20] हेमचन्द्र जी के

इस प्राकृत व्याकरण जैसे बहिरंग प्रमाण से भी सिद्ध हो रहा है कि आज उपलब्ध हो रहा काश्मीरी वाचना का पाठ गुजरात जैसे सुदूर प्रान्त में भी 11-12 वीं शती में प्रचलित था। उसका मतलब कि यही पाठ प्राचीनतम होगा। [इस सन्दर्भ में यह भी बताना आवश्यक है कि हमें कतिपय ऐसी अतिप्राचीन देवनागरी पाण्डुलिपियाँ गुजरात के पाटण स्थित ग्रन्थभण्डारों से, एवं गुजरात बाहर के एकाधिक संग्रहों में से भी, प्राप्त हुई है कि जिनमें काश्मीरी वाचना जैसा बृहत्पाठ संचरित हुआ है! लेकिन इस विषय का निरूपण हमारे दूसरे रिसर्च प्रोजेक्ट में होगा।]

यहाँ यह भी कहना आवश्यक है कि काश्मीर की शारदा पाण्डुलिपियों में कुत्रचित् शौरसेनी का ध्वनि रूप छोड कर परवर्ती काल का रूप भी दाखिल हुआ है। उदाहरण के रूप में, अथवा के लिए अहवा ऐसा रूप इन शारदा पाण्डुलिपियों में उपलब्ध हो रहा है। कार्ल बुरखाड और रिचार्ड पिशेल ने उसे शौरसेनी में परिवर्तित करके अधवा के रूप में प्रस्तुत किये हैं। किन्तु आज उपलब्ध हो रही शारदा-पाण्डुलिपियाँ चूँकि 16वीं-17वीं शती में निर्मित हुई है, इस लिए हमने तत्कालीन काश्मीर का प्राकृत बनाये रखने का अभिगम रखा है। ऐसे परवर्ती काल के कुछ प्राकृत रूप मिलने पर शारदा-पाण्डुलिपियों में संचरित होकर हम तक पहुँचे पाठ का प्राचीनतमत्व विनष्ट नहीं होता है। क्योंकि अनेक अन्यान्य स्थानों में शौरसेनी का रूप उन सब में सुरक्षित भी रहा है॥ एवमेव, इन शारदा-पाण्डुलिपियों में कुत्रचित् देश्य प्राकृत शब्द भी सुरक्षित रहे हैं कि जिसको देख कर भी इनकी प्राचीनतमता अक्षुण्ण बनी रहती है। जैसे कि, 1. द्वितीयांक में विदूषक की एक उक्ति हैः- (अपवार्य) इअं दाणिं अणुऊल-गलत्था। (इयमिदानीम् अनुकूल-प्रेरणा)। पाइअ-सद्द-महण्णवो कोश देखने से मालूम होता है कि गलत्था एक स्त्रीलिंग देश्य शब्द है। जिसका प्रेरणा ऐसा अर्थ होता है।अन्य वाचनाओं के पाठशोधक इस शब्द को नहीं समझ पाये, अतः उन्होंने इसके स्थान में गलहत्था जैसे पाठान्तर को जन्म दिया। 2. चतुर्थांक में, प्रियंवदा की उक्ति हैः- अज्ज वि विणा पिएण गमइदि राइं विसूरणा-दीहं (4-19)। इसमें विसूरणा शब्द भी देश्य है, जिसका कोश में खेदना ऐसा अर्थ दिया

है। शारदा-पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रहे इस देश्य शब्द को भी कालान्तर में नहीं समझने के कारण विषाददीर्घतराम् (रात्रिम्) जैसा पाठान्तर अवतारित हुआ है। ऐसे अन्य देश्य प्राकृत शब्दों की सुरक्षा केवल शारदा-पाण्डुलिपियों में ही हुई है, जिससे भी उनकी प्राचीनतमता प्रमाणित होती है।

[5]

उपर्युक्त चर्चा में लिपि का इतिहास, अलंकारशास्त्रीय उद्धरण, प्रत्येक अङ्क का नामकरण एवं प्राकृत भाषा का स्वरूप, इन चार बिन्दुओं के आधार पर काश्मीरी वाचना का पाठ सब से प्राचीनतम है ऐसा निरूपित किया गया है। अब वाचकों के सामने, मुख्य रूप से तृतीयांक के कुछ कृतिनिष्ठ आन्तरिक प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं कि जिसके आधार पर भी यह निःशङ्कतया सिद्ध होगा कि काश्मीरी वाचना में संचरित हुआ पाठ ही प्राचीनतम है। (1) दुष्यन्त तीसरे अङ्क के आरम्भ में शकुन्तला को ढूँढता हुआ प्रवेश करता है। वह मालिनी नदी के तट पर शकुन्तला की पदपङ्क्ति को देखता हुआ, उस लतावलय तक पहुँचता है कि जहाँ शकुन्तला अपनी दोनों सहेलियों के साथ थी। दुष्यन्त ने जैसे ही शकुन्तला को दूर से देखी, वैसे ही उसके मुख में से “लब्धं नेत्रनिर्वाणम्” ऐसा आनन्दोत्थित सहज उद्गार निकल जाता है। ऐसा पाठ मैथिली, बंगाली, देवनागरी इत्यादि सभी वाचनाओं में समान रूप से है। किन्तु काश्मीरी वाचना में उसके स्थान में “लब्धं नेत्रनिर्वापणम्” पाठ मिलता है। प्रथम दृष्टि में ही समझ में आयेगा कि यह एक अनुलेखनीय सम्भावना युक्त पाठभेद है। फिर भी यह विचारणीय तो है कि किस तरह का पाठ मूल में होगा, और कालान्तर में पैदा हुआ दूसरा पाठ कौन सा होगा। इस अङ्क के आरम्भ में शिष्य ने प्रियंवदा को पूछा है कि यह उशीर का लेप एवं मृणाल सहित के नलिनी पत्रों को किसके लिए ले जाये जातें है? तब प्रियंवदा ने कहा है कि “आतपलङ्घनाद् बलवद् अवस्था शकुन्तला। तस्याः दाहे निर्वापणायेति”। [एवमेव, इसी अङ्क में आगे चल कर दोनों सखियों की उक्ति में भी, (मैथिली तथा बंगाली वाचनाओं में) “संतापनिर्वापयित्रीं

ज्योत्स्नाम्'', तथा (देवनागरी वाचना में) "शरीरनिर्वापयित्रीं ज्योत्स्नाम्" ऐसे दुबारा वही शब्द उपलब्ध होता है।] इससे सिद्ध होता है कि कालिदास ने मूल में तो "लब्धं नेत्रनिर्वापणम्" शब्द ही रखा होगा। तथा "लब्धं नेत्रनिर्वाणम्" ऐसा पाठान्तर, प्रतिलेखन के दौरान, पश्चाद्वर्ती काल में पैदा हुआ है।

(2) प्रियंवदा ने राजा दुष्यन्त को बिनती की है कि आपको उद्दिष्ट करके भगवान् मदन ने हमारी सखी की ऐसी अवस्था पैदा की है। तो अब आप इसका स्वीकार करके, उसके जीवन को अवलम्बन दीजिए। इसी क्षण शकुन्तला बोलती है : "हला, अलं वोऽन्तःपुर-विहार-पर्युत्सुकेन राजर्षिणोपरोधेन।" (अरे सखि, अन्तःपुर में विहार करने के लिए पर्युत्सक राजर्षि को यहाँ रोक लेने की कोशिश से आप दोनों रुक जाव।) यह काश्मीरी वाचना का पाठ है। उसके प्रतिपक्ष में अन्य सभी वाचनाओं में "हला अलं वो अन्तःपुर-विरह-पर्युत्सुकेन राजर्षिणा उपरोधेन।" (अरे सखि, अन्तःपुर (की रानिओं) के विरह से पर्युत्सक बने राजर्षि को यहाँ रोक लेने की कोशिश से आप दोनों रुक जाव।) यहाँ पर प्राप्त हो रहे दोनों (विहार तथा विरह जैसे) पाठान्तर में भी अनुलेखनीय सम्भावना दिख रही है। अर्थात् विहार से विरह बना होगा, कि विरह से विहार बना होगा? यह प्रश्न है। प्रतिलिपि की प्रतिलिपि बनाते समय उपर्युक्त दोनों शब्द एक दूसरे की जगह स्थानापन्न हो सकते हैं। लेकिन शकुन्तला की उक्ति के तुरंत बाद अनसूया कि "वयस्य, बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते। यथा नः सखी बन्धूजने अशोचनीया भवति, तथा निर्वाहय।" उक्ति के अनुसन्धान में सोचा जाए तो "बहुवल्लभाः" (अर्थात् जिसको एक से अधिक वल्लभायें, पत्नियाँ होती हैं) शब्द के साहचर्य में तो "अन्तःपुरविहारपर्युत्सक" शब्द का ही मूल में होना समुचित लगता है। इस तरह की आन्तरिक सम्भावना युक्त पाठ जब केवल काश्मीरी वाचना में ही सुरक्षित रहे हैं ऐसा एकाधिक उदाहरणों से प्रमाणित होता है तब मानना होगा कि इसी वाचना का पाठ प्राचीनतम एवं श्रद्धेय होगा।

इसी सन्दर्भ में, केवल काश्मीरी वाचना के पाठ में ही 1. चतुर्थ अङ्क में दुर्वासा मुनि के शाप-मोचन की याचना के लिए अनसूया का जाना और शाप-प्रसंग को गुप्त रखने का प्रस्ताव प्रियंवदा करती है, यह उक्ति-क्रम की सुरक्षा हुई है। 2. चतुर्थ अङ्क के पाठ में ही चक्रवाक पक्षी सम्बन्धी "पद्मिनीपत्रान्तरितां (4-18)" एवं "अद्यापि विना प्रियेण (4-19)" दो गाथाओं की सुरक्षा भी काश्मीरी में ही हुई है। 3. पञ्चम अङ्क के आरम्भ में कञ्चुकी, वैतालिकों का श्लोकगान एवं शकुन्तला का प्रवेश-क्रम जितना काश्मीरी वाचना में सुरक्षित है, उतना सुसंगत क्रम अन्यत्र नहीं है। 4. षष्ठांक के चित्रफलक प्रसंग में विदूषक की उक्ति में अश्लील अंश की (स्खलतीव मे दृष्टिः निम्नोन्नतप्रदेशेषु) अनुपस्थिति है, अन्यत्र सर्वत्र वह अंश है। इन सब बिन्दुओं की विस्तृत चर्चा अनुगामी परिच्छेदों में की गई है, उनसे भी सिद्ध होता है कि काश्मीरी वाचना का पाठ ही प्राचीनतम मानना आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य है।

हाँ, यह भी दो बातें ध्यातव्य है : (1) यदि यह काश्मीरी वाचना का पाठ उपलब्ध अन्य वाचनाओं की अपेक्षा से प्राचीनतम हो तो भी कितना पुराना पाठ होगा? यह विचारणीय है। प्रोफेसर ब्युल्हर ने काश्मीर से 1875 ई. में खरीदी हुई भूर्जपत्रवाली (192 क्रमांक) पाण्डुलिपि करीब ई. 1660 के समय की है। किन्तु लिपियों के इतिहास की दृष्टि से देखा जाए तो शारदा लिपि का प्रवर्तन एवं वामन का निर्दिष्ट किया हुआ "कामयान" शब्द, इनसे हम मान सकते हैं कि काश्मीरी वाचना का पाठ सप्तम शती जितना पुराना तो निश्चित रूप से है। काश्मीर प्रदेश के आलंकारिकों में वामन का समय 800 ई.स. माना गया है, उसके बाद आनन्दवर्धन (850 ई.स.) ने भी इसी काश्मीरी वाचना के ही अभिज्ञानशकुन्तला का पाठ उद्धृत किया है, और अभिनवगुप्त (990-1015 ई.स.) ने भी इसी वाचना से उद्धरण दिये है।

एवमेव, काश्मीर से सुदूर गुजरात के हेमचन्द्राचार्य जी (1088-1172 ई.स.) ने अपने प्राकृत व्याकरण में शौरसेनी के जो उदाहरण दिये हैं वे

सब इसी वाचना में मिलते हैं। इन सब प्रमाणों से कहना होगा कि प्रस्तुत काश्मीरी वाचना के पाठ की पूर्व सीमा 7वीं से पहले की हो सकती है, किन्तु परवर्तिनी नहीं हो सकती है। तथा उत्तर सीमा 11वीं शती सुनिश्चित है। मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं का पाठ 12वीं या 13वीं शती का प्रतीत हो रहा है। तथा वर्तमान दाक्षिणात्य पाठ 14वीं 15वीं शती का हो सकता है। दाक्षिणात्य वाचना, जिसका बहुशः अनुसरण देवनागरी वाचना का पाठ करता है, उस पर काटयवेम भूप ने कुमारगिरिराजीया टीका 15वीं शती में लिखी, जो इस नाटक के प्रथम टीकाकार माने जाते हैं।

तथा (2) उपर्युक्त दृष्टि से उपलब्ध हो रही पाँचों वाचनाओं में से काश्मीरी वाचना का पाठ ही प्राचीनतम एवं अपेक्षाकृत अधिक श्रद्धेय जरूर है। तथापि इसमें संचरित हुआ पाठ ही अपने यथावत् स्वरूप में निर्दुष्ट एवं साद्यन्त मौलिक ही है ऐसा हम नहीं मानते हैं। क्योंकि काश्मीरी पाठ में भी कुत्रचित् (तृतीयांक में) प्रक्षिप्त अंश दिखाई रहे हैं, तथा उसमें कुत्रचित् (प्रथमांक में) संक्षेप भी किये गये हैं। इन सब उदाहरणों की चर्चा भी अनुगामी प्रकरणों में रखी हैं, अतः इसकी यहाँ पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं है।

(8) अभिज्ञानशकुन्तला की पाठयात्रा

उपर्युक्त चर्चा में अभिज्ञानशकुन्तला (या अभिज्ञानशकुन्तल, या अभिज्ञानशाकुन्तल) की आज उपलब्ध हो रही पाँचों वाचनाओं का आनुमानिक कालखण्ड 7वीं या 8वीं शती से लेकर 14वीं शती तक फैला हुआ है ऐसा कहा गया है। मतलब की कवि कालिदास का अपने हाथों से लिखा मूलपाठ तो आज काल-ग्रस्त हो चूका है, किन्तु उस मूलपाठ की रचना के बाद सात सो या आँठ सो साल का अन्तराल अन्धकार ग्रस्त है। कालिदास ईसा की प्रथम शताब्दि में हुए होंगे, किन्तु उनके इस सुप्रसिद्ध नाटक का आज उपलब्ध होनेवाला (शारदा-लिपि में लिखा हुआ) पाठ 7वीं-8वीं शती में प्रवर्तित हुआ है। और यहाँ से लेकर 14वीं शती तक के लम्बे कालखण्ड में किस क्रम से उपरि निर्दिष्ट पाँचों वाचनाओं का उद्भव-विकास

हुआ है? वह जिज्ञास्य है। दूसरे शब्दों में कहें तो, शूरू के सात सो साल का काल, जो अन्धकार ग्रस्त है, उसकी चर्चा को थोड़ी देर के लिए रोक दे तो, 7वीं शती से लेकर 14वीं शती तक का जो समय है, उसमें इस नाटक की जो पाठयात्रा यानि पाठविचलन-क्रम दृष्टिगोचर हो रहा है उसका निरूपण किया जाता है :-

[क] एक बात सुविदित है कि इस नाटक की पाँचों वाचनाओं का दो भागों में बटवारा हो सकता है। जैसे कि, काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली ये तीन वाचनायें ऐसी है कि जिसमें इस नाटक का बृहत्पाठ मिलता है। तथा देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में लघुपाठ मिलता है। इन दोनों में जो बृहत्पाठवाली तीन वाचनायें हैं वे पुरोगामिनी है, और लघुपाठवाली दो वाचनायें उत्तरवर्ती काल की है। क्योंकि लघुपाठवाली दोनों वाचनायें नाटक के मूल पाठ में कटौती करके कालान्तर में बनाई गई है ऐसा अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया गया है। अतः इस लघुपाठ की अपेक्षा से जिसमें अनेकानेक प्रक्षेप हुए है और जो निरन्तर वृद्धिंगत होता रहा है, वह बृहत्पाठ पुरोगामी काल में अवस्थित है। संक्षेपतः, बृहत्पाठवाली तीन वाचनायें पहले की है और लघुपाठवाली दोनों वाचनायें बाद में आकारित हुई है, इतना पौर्वापर्य तो स्पष्ट हो चूका है। अब हमारे लिए इसी दिशा में दूसरा बिन्दु यह विचारणीय है कि बृहत् पाठवाली पूर्वोक्त काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली ये तीनों वाचनाओं में कौन सा पौर्वापर्य है?

प्रोफेसर डॉ. वी. राघवन् जी ने कहा है कि मैथिली वाचना का पाठ कदाचित् बंगाली वाचना के पाठ की ओर झुकता है, एवं कदाचित् वही मैथिली पाठ काश्मीरी वाचना के पाठ ओर झुकता है।[21] यही बात डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने भी कही है॥ इस तरह के निरीक्षण में सच्चाई अवश्य है। किन्तु इस तरह से अमुक अमुक पाठभेदों के साम्य एवं वैषम्य को आधार बनाकर जब, प्राप्त हो रही विभिन्न वाचनाओं का वंशवृक्ष बनाने की कोशिश की जायेगी तब, मैथिली वाचना के पाठभेदों की उपर्युक्त स्थिति होने से (उसका उभयत्र साम्य होने के कारण), मैथिली को बंगाली पाठ की वंशज-वाचना मानी जाए या फिर उसे काश्मीरी पाठ की वंशज-वाचना

मानी जाये? ऐसा प्रश्न खड़ा होगा। यहाँ दूसरी भी एक सम्भावना हो सकती है। जैसे कि, मैथिली वाचना का पाठ पुरोवर्ती हो, तो उस पूर्वज वाचना में से काश्मीरी एवं बंगाली वाचना के पाठ वंशज-पाठ के रूप में निकले होंगे ऐसा भी कोई कहेगा। क्योंकि ऐसा होने पर ही मैथिली वाचना का पाठ कदाचित् काश्मीरी के साथ साम्य दिखा सकता है, तथा कदाचित् बंगाली पाठ के साथ साम्य दिखा सकता है। इस तरह की द्विधाजनक परिस्थिति में हम किस रास्ते पर चल सकते हैं?

लिपियों के विकास के इतिहास की ओर देखा जाए तो मैथिली एवं बंगाली लिपियों की अपेक्षा से शारदा लिपि निश्चित रूप से पुरोगामिनी है। तथा काश्मीरी शारदा-पाण्डुलिपियों में संचरित हुए कुछ पाठभेद ऐसे हैं कि जिसको वामन का समर्थन मिलता है। वामन का समय अष्टम शताब्दि है, अतः मानना पड़ेगा कि काश्मीर की शारदा-पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ पाठ ही पुरोगामी है। (मैथिली एवं बंगाली के पाठभेदों को विश्वनाथ के साहित्यदर्पण का समर्थन है, जिसका समय 14वीं शती है। इस दृष्टि से भी मैथिली एवं बंगाली पाठ का पुरोवर्तित्व सिद्ध नहीं होता है।) अतः, उपर्युक्त प्रमाणों से काश्मीरी वाचना का पुरोवर्तित्व तथा प्राचीनतमत्व सिद्ध होता है। इस लिए (1) मैथिली वाचना के पाठ का जहाँ जहाँ बंगाली वाचना के साथ वैषम्य है और काश्मीरी पाठ के साथ साम्य है, वहाँ उस मैथिली पाठ को पाठविचलन के द्वितीय क्रमांक पर रखना होगा। एवमेव, (2) जहाँ मैथिली पाठभेदों का काश्मीरी पाठ के साथ वैषम्य है, एवं बंगाली पाठभेदों के साथ साम्य है वहाँ ऐसा अनुमान करना होगा कि जो पाठभेद (पहले काश्मीरी वाचना में नहीं थे,) वे सब से पहले मैथिली में दाखिल हुए होंगे। और वे सब पाठभेद उत्तरवर्ती काल में (यानि तृतीय स्तर पर) बंगाली वाचना में प्रविष्ट हुए होंगे। ऐसे मैथिली वाचना के पाठ को काश्मीरी से पश्चाद्वर्ती काल का, और बंगाली वाचना से पुरोगामी काल का मानने से, उस मैथिली के उभयत्र दिख रहे साम्य-वैषम्य को हम सटीक समझा सकते हैं। इस विचार को केवल एक सम्भावना के रूप में ही हमने नहीं सोची है। किन्तु अनुगामी प्रकरण

में, जहाँ इस नाटक के प्रत्येक अङ्क में उपलब्ध हो रहे विभिन्न पाठान्तरों का तुलनात्मक अभ्यास रखा है, उसमें अनेक उदाहरणों से यह बात सिद्ध की गई है। इस तुलनात्मक अभ्यास में निरपवाद रूप से ऐसा ही देखा जाता है कि मैथिली पाठ ने काश्मीरी पाठ का अनेक स्थानों पर अनुसरण किया है। तथा यह भी देखा जाता है कि काश्मीरी पाठ से हट कर मैथिली वाचना के पाठशोधकों ने बहुत नवीन श्लोकों का प्रक्षेप और जगह जगह पर शाब्दिक परिवर्तन किये हैं। तत्पश्चात् तीसरे क्रम में, बंगाली वाचना के पाठशोधकों ने उन प्रक्षेपों का स्वीकार करते हुए, कुछ स्थानों पर पाठसुधार की अभिनव चेष्टा भी की है।

काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में इस तरह के पौर्वापर्य को आत्मसात् करने के लिए दो-तीन निदर्श रखें जाते हैं। (1) द्वितीयांक का एक सन्दर्भ द्रष्टव्य है :- विदूषक के कहने से राजा ने मृगया-कर्म से विरत होने का सोच लिया और अपने सेनापति को बुलाया। दुष्यन्त सूचना देना चाहता है कि मृगया के लिए एकत्र किये जंगल के प्राणिओं को मुक्त किये जाये। दौवारिक जा कर सेनापति को ले आता है। रंगमंच पर आकर सेनापति ने राजा के शरीर की ओर देखा। मृगया के कारण राजा को जो शारीरिक लाभ हुआ था उनका वह गुण-वर्णन शूरू करता है। जैसे कि, "अनवरतधनु-र्ज्यास्फालन-क्रूरपूर्वम्''। काश्मीरी वाचना में यहाँ पर दौवारिक की एक उक्ति हैः *अय्य, एसो क्खु अणुवअणदिण्णकण्णो इदो दिण्णदिठ्ठ येव भट्टा तुमं पडिवालेदि। ता उवसप्पदु अय्यो। (आर्य, एष खल्वनुवचनदत्तकर्ण इतो दत्तदृष्टिरेव भर्ता त्वां प्रतिपालयति। तस्माद् उपसर्पत्वार्यः।)* पूर्वापर सन्दर्भ में इस उक्ति को देखेंगे तो मालूम होगा कि राजा जी ने सामने से आ रहे सेनापति के मृगया की प्रशंसा करते हुए शब्दों को ध्यान से सुने थे, और वे उसकी प्रतीक्षा भी कर रहे थे। मतलब कि यहाँ राजा के लिए प्रयुक्त "अनुवचनदत्तकर्ण" एवं "इतो दत्तदृष्टि" ये दोनों विशेषण राजा के आङ्गिक अभिनय के साथ ही जुड़े हुए है। नाट्य प्रयोग के दौरान ही राजा के आङ्गिक अभिनय से समझ में आयेगा कि ये दोनों शब्द सर्वथा उपयोगी है।

मैथिली वाचना में इसी उक्ति का जो स्वरूप है वह निम्नोक्त हैः *एदु एदु अज्जो। एसो अणुवअण-दिण्णकण्णो भट्टा तुमं जेव्व पडिवालेदि। ता उअसप्पदु अज्जो॥* यहाँ मैथिली पाठ में "इतो दत्तदृष्टिः" इतने शब्द नहीं है। अर्थात् नाट्यप्रयोग के दौरान राजा के आङ्गिक अभिनय से स्पष्ट होगा कि राजा जी केवल सेनापति के शब्दों को सुन रहे थे, किन्तु उनकी दृष्टि सेनापति के आने की दिशा में नहीं घुमाई गई थी॥

बंगाली वाचना में इस सन्दर्भ की उक्तियाँ परीक्षणीय है। जिसमें सब से पहले यह ज्ञातव्य है कि राजा की आज्ञा से दौवारिक जब सेनापति को लेकर रंगमंच पर आता है तो वहाँ किसी रंगकर्मी ने समय की बचत करने के लिए "निष्क्रम्य - प्रविश्य" की युक्ति का विनियोग किया है, और सेनापति की उक्ति को स्थानान्तरित करके पीछे ले ली है। अतः बंगाली पाठ का सन्दर्भ प्रथम द्रष्टव्य हैः--

राजा—*रैवतक, सेनापतिस्तावदाहूयताम्।*

दौवारिकः—*तधा। (इति निष्क्रम्य पुनः सेनापतिना सह प्रविश्य) एदु एदु अज्जो। एस आलावदिण्णकण्णो भट्टा इदो ज्जेव चिट्ठदि। उवसप्पदु णं अज्जो। (तथा। एतु एतु आर्यः। एष आलापदत्तकर्णो भर्ता इत एव तिष्ठति। उपसर्पतु एनम् आर्यः॥)*

सेनापतिः—*राजानमवलोक्य स्वगतम्। कथं दृष्टदोषापि मृगया स्वामिनि केवलं गुणायैव संवृत्ता।*

तथा हि देवः,

अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरकर्मा, रविकिरणसहिष्णुः स्वेदलेशैरभिन्नः।

अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं, गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति॥(2-4)

इसमें जो सेनापति के मुख में रखा गया श्लोक है, वह अन्य सभी वाचनाओं में दौवारिक उसको बुला कर साथ में ला रहा है तब सेनापति के मुख में है। वह आते समय रास्ते में ही इस श्लोक के द्वारा राजा का शरीर, जो मृगया के व्यायाम से कसा गया है, उसका निरूपण करता है। इस श्लोक का उच्चारण (या गान) पूरा हो जाने पर ही दौवारिक

उसको कहता है कि राजा आपके कथन को सुन ही रहे है, अतः आप उसके निकट में जा सकते हो। लेकिन बंगाली पाठ में इस श्लोक को पीछे कर देने से दौवारिक जब कहता है कि राजा, जो आलापदत्तकर्ण है, वह यहीं खड़े है और अब आप उसके निकट जा सकते हैं, तो वह वाक्य विसंगत बन जाता है। क्योंकि इस बंगाली पाठ में तो अभी तक सेनापति ने रास्ते में आते समय यह श्लोक बोला (या गाया) ही नहीं है! तो फिर दौवारिक कैसे कह सकेगा कि राजा आपके आलाप की ओर ध्यान देकर सुन रहे है? बंगाली पाठ की इस तरह की नवीन पाठयोजना असम्बद्ध है उसमें कोई शक नहीं है।[22] काश्मीरी और मैथिली पाठों में इस तरह की विसंगति नहीं है। तथा देवनागरी वाचना ने यद्यपि बंगाली वाचना के नवीन पाठयोजना का अनुसरण किया है, किन्तु उपर्युक्त विसंगति से बचने के लिए दौवारिक की पूर्वोक्त उक्ति में "आलापदत्तकर्ण" शब्द को बदल के, उसके स्थान में [''एसो अण्णावअणुक्कंठो भट्टा इदो दिण्णदिट्ठी एव्व चिठ्ठदि। उवसप्पदु अज्जो। (एष आज्ञावचनोत्कण्ठो भर्ता इतो दत्तदृष्टिरेव तिष्ठति। उपसर्पतु आर्यः।)''] ''आज्ञावचनोत्कण्ठ" शब्द से एक नया ही (चौथा) पाठान्तर अवतारित किया है।

उपर्युक्त चर्चा में पाठविचलन की यात्रा भी स्पष्टतया उद्भासित हो रही है कि उपलब्ध प्राचीनतम काश्मीरी वाचना के शारदा पाठ में पहले "अनुवचनदत्तकर्णः, इतो दत्तदृष्टिः" ऐसे दो शब्द थे। द्वितीय क्रम में, मैथिली वाचना ने काश्मीरी पाठ का अनुसरण जरूर किया, लेकिन एक शब्द को कम करके केवल "अनुवचन-दत्तकर्णः" शब्द चालु रखा। तथा सेनापति के श्लोक को, राजा के सामने लाने से पहले, प्रस्तुत करवानेवाली मूल योजना को नहीं बदली। तीसरे क्रम में, बंगाली पाठ में सेनापति के मुख में रखे श्लोक को स्थानान्तरित किया गया। तथा "आलापदत्तकर्णः" जैसे तीसरे पाठान्तर को प्रस्तुत किया। लेकिन उसमें पूर्वोक्त प्रकार की विसंगति आने के कारण देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में एक चौथे पाठान्तर ने जन्म लिया, जिसमें "आज्ञावचनो-त्कण्ठः" शब्द आ गया।

(2) अब षष्ठांक का एक सन्दर्भ प्रदर्शित करते हैं :- काश्मीरी पाठ में राजा के परिजन-वर्ग में लिपिकरी मेधाविनी नामक दासी है। और देवी कुलप्रभा के परिजन-वर्ग में एक दासी पिङ्गलिका है। काश्मीरी पाठ में, इन दो दासियों के बीच में टकराव होता है। इसमें कुलप्रभा ईर्ष्या-कषायित हो कर कुछ सक्रियता नहीं दिखाती है। मैथिली पाठ में, मेधाविनी एवं पिङ्गलिका की उपस्थिति तो यथावत् रूप में मिलती है। किन्तु जो पहला परिवर्तन आया है वह ऐसा है कि पिङ्गलिका को साथ में लेकर आ रही रानी वसुमती स्वयं ईर्ष्याग्रस्त हो कर, मेधाविनी के हाथों में से वर्तिका-करण्डक छिन लेती है। राजा को अधिक प्रिय होने की स्पर्धा में वह अपने आप राजा के पास जा कर वर्तिका देना चाहती है॥ तीसरी ओर, बंगाली पाठ में देखा जाए तो, राजा के परिजन-वर्ग में अब मेधाविनी के स्थान पर "चतुरिका" आ जाती है! जो राजा के लिए चित्रफलक ले आती है, और बाद में वर्तिका-करण्डक को लेने भी जाती है। तथा रानी वसुमती की दासी के रूप में पिङ्गलिका यथावत् रूप में विद्यमान है। किन्तु बंगाली पाठ में जो एक असाधारण विसंगति प्रकट रूप से अद्यावधि विद्यमान दिख रही है वह यह है कि "मेधाविनी" नाम को बदल कर बंगीय पाठ में "चतुरिका" ऐसा नया नाम प्रवेश करवाने के बावजुद भी, पाठशोधक लोग एक स्थान पर पुरानी "मेधाविनी" को बदल देना भूल गये हैं! जैसे कि, विदूषकः– *(कर्णं दत्त्वा) भो अहिधावन्ती एसा अन्तेउरवग्घी मेधाविणिं मइं विअ कवलिदुं उवत्थिदा।* (रिचार्ड पिशेल, द्वितीय संस्करण, 1922, पृ. 86, तथा डॉ. दिलीपकुमार कांजीलाल, 1980, पृ. 324) यदि बंगाली पाठ में मेधाविनी के स्थान पर "चतुरिका" नया नाम प्रस्तुत करना ही था, तो उसको षष्ठांक में सर्वत्र क्यूं नहीं बदला?। लेकिन यह असावधानी हमारे लिए बड़ी काम की सामग्री बन गई है। यह विसंगति इस बात की गवाह दे रही है कि मैथिली पाठ का अनुगमन करनेवाला (आज का) बंगाली पाठ तृतीय क्रमांक पर ही तैयार किया गया है। तथा दाक्षिणात्य पाठ में, बंगाली पाठ की उपर्युक्त विसंगति सम्पूर्णतया हटाई गई है। उसमें सर्वत्र "चतुरिका" ही मिलती है। तथा दाक्षिणात्य पाठ में,

पिङ्गलिका को बदल कर, वही दासी का नाम "तरलिका" भी किया गया है। अतः वह चतुर्थ क्रमांक पर तैयार किया गया पाठ सिद्ध होता है।

निदर्श के रूप में दिये गये उपर्युक्त दो सन्दर्भ इस नाटक के पाठविचलन-क्रम को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। (तथापि इसी तरह के अनेक उदाहरण भी आगे चल कर उपस्थित किये जायेंगे।) इस क्रम को चित्रात्मक रूप में पेश करने से प्रस्तुत विचार सुगम होगा। जिसमें कविप्रणीत मूलपाठ से शूरू करके क्रमशः कैसे काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में पाठ की इयत्ता बढ़ती ही चली है, वह दिखाई रहा है। किन्तु सुरुचि का भङ्ग करनेवाले प्रक्षेपों को हटाने के लिए, एवमेव, रंगकर्मिओं के द्वारा अल्पकालावधि में इस नाटक को प्रस्तुत करने के लिए उस वृद्धिंगत हुए पाठ में कटौती भी चतुर्थ क्रम पर की गई है। जिसका दाक्षिणात्य पाण्डुलिपियों में खूब प्रसार-प्रचार हुआ है। और कुछ मामूली परिवर्तनों एवं संक्षेप के साथ पाँचवी देवनागरी वाचना भी कालानुक्रम से जन्म लेती है। इस तरह के पाठविचलन-क्रम को अधो-निर्दिष्ट चित्र से देख सकते हैं, जिससे सारी बात हस्तामलकवत् दृश्यमान होगी :-

अभिज्ञानशकुन्तला की पाठयात्रा
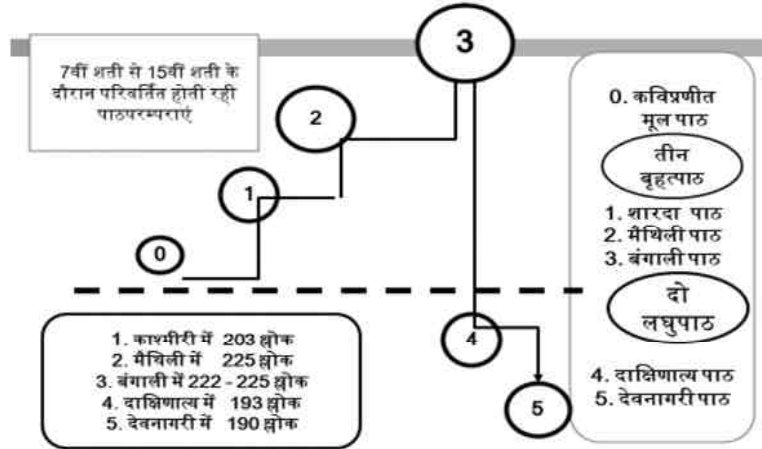
[ख] पाठयात्रा का उपरि निर्दिष्ट चित्र देखते समय यह याद रखना है कि इसमें पाठविचलन का जो क्रम दिखाया गया है उसमें, इस नाटक के प्रणयन काल से लेकर, यानि 1 शती से लेकर 7वीं शती तक के कालावधि में मूलपाठ में हुए परिवर्तनादि की क्या स्थिति थी? वह जानने का कोई मूर्त सबूत (पाण्डुलिपि) हमारे पास नहीं है। एवमेव, उस कालखण्ड का कोई अलंकारशास्त्री भी नहीं है कि जिसने इस नाटक का एक भी उद्धरण दिया हो। यह कालखण्ड तो अन्धकारग्रस्त है। उस सात सो साल के अन्तराल में इस नाटक के पाठ में कैसे कैसे प्रक्षेप, परिवर्तनादि हुए होंगे, यह केवल अनुमानगम्य हो सकता है। और इसके लिए काश्मीरी वाचना में से ही कुछ ऐसे संकेत मिल रहे हैं, जो शूरुआत के सात सो सालों में हुए खिलवाड़ का उत्तर दे रहे है। उदाहरणतया,

(1) प्रथमांक में माधवीलता का प्रक्षेप :- कण्व मुनि के आश्रम के प्राङ्गण में सहकार वृक्ष है, बकुलवृक्ष (या केसर वृक्ष) है, एवं नवमालिका (जिसका नामान्तर वनज्योत्स्ना या वनतोषिणी) है। लेकिन माधवी लता का निर्देश एक ऐसा प्रक्षेप है[23] कि जो काश्मीरी वाचना में स्वल्पांश में दिखाई देता है, तथा क्रमशः अन्यान्य वाचनाओं में वृद्धिंगत होता ही रहा है। और चतुर प्रक्षेप-कर्ता ने उसे चतुर्थांक में भी दाखिल करके रखी है। संक्षिप्त की गई देवनागरी तथा दाक्षिणात्य में उसे स्थान नहीं मिल पाया है। वस्तुतः इस माधवीलता का स्थान तो दुष्यन्त के हस्तिनापुर की प्रमदवनभूमि में था, किन्तु किसी अज्ञात पाठशोधक ने मोहवशात् उसे कण्वाश्रम में भी स्थापित की है।

(2) तृतीयांक में नायिका शकुन्तला की गाढ मदनावस्था को निरूपित करने के लिए कालिदास ने उसे कुसुमास्तरण पर सुलाई है। और दोनों सहेलियाँ रंगमंच से बाहर चली जाये, और दुष्यन्त जब शकुन्तला को कहे कि "संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ" तब उसे पुष्पमयी शय्या से उठना है। कवि की संकल्पित मूलयोजना तो ऐसी थी। लेकिन अनुगामी काल में रंगकर्मिओं

ने नायिका की रंगमंच पर शयनावस्था का दुरुपयोग किया है, और "अपराधमिमं ततः सहिष्ये यदि रम्भोरु तवाङ्ग-सङ्गे'', "अप्यौत्सुक्ये महति दयितप्रार्थनासु प्रतीपाः, काङ्क्षयन्त्योऽपि व्यतिकरसुखं कातराः स्वाङ्गदाने'', एवं "यदा सुरतरसज्ञो भविष्यामि" जैसे अश्लीलता भरे श्लोक एवं संवादों का प्रक्षेप किया है। यह प्रक्षिप्तांश ऐसा है कि जो शूरुआत के सात सो वर्षों में ही शायद हो गये थे, और इसी लिए बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में वह थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ दृढ़ासन लगाये बैठे हैं। यह अश्लीलांश प्रक्षिप्त ही है ऐसा सिद्ध करने के लिए सभी वाचनाओं में, एक या दूसरे स्वरूप में बिखरी "उपविष्टा चिन्तयति'', या "आसीना चिन्तयति'', "पादौ अपसारति'', अथवा "सलज्जा तिष्ठति'',(और ऐसा कहने बाद भी) "इत्युत्थातुम् इच्छति'', अथवा "इति अभ्युत्थातुमिच्छति" जैसी परस्पर में विसंगत रंगसूचनायें द्रष्टव्य हैं।

(3) चतुर्थांक के आरम्भ में, प्रभातवेला का आकलन करने के लिए शिष्य रंगमंच पर आकर चार श्लोकों का गान करता है। इनमें से "कर्कन्धूनाम्" एवं "पादन्यासं क्षितिधर" जैसे प्रथम दोनों ही श्लोक सन्दर्भोचित सिद्ध होते हैं। अतः मौलिक प्रतीत होते हैं। किन्तु "यात्येकतोऽस्तशिखरं'', एवं "अन्तर्हिते शशिनि" जैसे अन्य दो श्लोक पुनरुक्ति रूप होने से प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं॥ इन चारों श्लोकों का अवतार "अपि च" जैसे समुच्चयार्थक निपात से किया गया है। अतः सावधानी से उसकी परीक्षा करनी चाहिए। क्योंकि, तथाकथित पाठशोधकों के लिए किसी भी नाट्यकृति में प्रक्षेप करने के लिए "अपि च" निपात का विनियोग बहुत सुलभ है। कालिदास ने जहाँ पर भी ऐसे "अपि च" निपात का विनियोग करते हुए दो श्लोकों का अवतार किया है वहाँ दो विभिन्न दिशाओं में अवस्थित अलग अलग सौन्दर्यों का वर्णन किया है।

परन्तु प्रकृत में प्रभातकाल का वर्णन पहले दो श्लोकों से हो जाने के बाद, दूसरे दो श्लोकों की आवश्यकता नहीं थी। नाट्य जैसी समय की पाबन्धी को स्वीकारनेवाली कला में किसी भी तरह की पुनरुक्ति असह्य है। ये दोनों श्लोकों का प्रक्षेप शूरुआत के सात सो वर्षों में ही हो गया था, इसलिए काश्मीरी और मैथिली वाचनाओं में उपर्युक्त चारों श्लोकों का संचरण हुआ है। तथा बंगाली वाचना में भी वे चारों का स्वीकार तो हुआ है, लेकिन उत्तरवर्ती दो श्लोकों को क्रम-व्यत्यय करके पहले स्थान पर रखे गये है। और देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में से जो दो श्लोक मौलिक थे, (जैसे कि,''कर्कन्धूनाम्" एवं "पादन्यासं क्षितिधर'') उनको हटाये गये हैं।

प्रस्तुत उदाहरणों से मालूम होता है कि शारदालिपि में निबद्ध पाण्डुलिपियों में संचरित हुई काश्मीरी वाचना का पाठ प्राचीनतम सिद्ध होते हुए भी, वह अपने वर्तमान स्वरूप में साद्यन्त निर्दुष्ट नहीं है। उसमें कतिपय ऐसे पाठ्यांश मिलते हैं कि जिसमें परापूर्व से चले आ रहे प्रक्षेप भी शामिल है। एवं काश्मीर प्रदेश के रंगकर्मिओं के द्वारा कुत्रचित् किये गये संक्षेप के चिह्न भी मिलते हैं।[24] इस तरह से कालिदास के समय से लेकर (यानि प्रथम शताब्दि से लेकर) वामन की 7वीं-8वीं शती तक का जो कालखण्ड तमसावृत्त है, उसमें इस तरह से नाटक की पाठयात्रा के चित्र का कुछ अन्दाजा हम लगा सकते हैं।

(9) अभिज्ञानशाकुन्तल की वाचनाओं का निर्धारण

भूमिका : अभिज्ञानशाकुन्तल नाम से सुप्रचलित हुआ महाकवि कालिदास का नाटक सर्वोत्तम है उसमें दो मत नहीं है। लेकिन वर्तमान में इस नाटक का सर्वसम्मत हो सके ऐसा एक भी पाठ हमारे पास नहीं है। इस नाटक का पाठ बहुविध वाचनाओं में प्रकाशित हुआ है, तथापि उनमें से किसी का भी पाठ सर्वांश में सर्वथा ग्राह्य नहीं दिखता है। बहुत प्राचीन समय से इस नाटक का पाठ अनेक लिपियों में लिखी हुई पाण्डुलिपियों में संचरित होता हुआ हम तक पहुँचा है। इन सब में इतने व्यापक रूप में परिवर्तन,

पाठान्तर, प्रक्षेप एवं संक्षेपादि के प्रकट चिह्न मिलते हैं कि जिसको देख कर यह नाटक कितने स्वरूप में प्रचलित हुआ है? इसकी जिज्ञासा होती है। पाठालोचना की परिभाषा में कहे तो बहुविध स्वरूपवाले इस नाटक का पाठ कितनी "वाचनाओं" में प्रवाहित हुआ है? इस प्रश्न को लेकर 60-70 वर्षों पहले विद्वानों में चर्चा होती थी, किन्तु वर्तमान में तो इस तरह की चर्चा विस्मृति के गर्त में धकेल दी गई है। हाँ, 1980 के वर्ष में कोलकाता के प्रोफेसर दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने इस विषय की विस्तृत चर्चा की थी। किन्तु, आज काश्मीरी वाचना की प्रतिनिधि रूप पाँच शारदा पाण्डुलिपियों का अभ्यास करने के बाद इस विषय में कुछ नये तथ्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं, इस लिए इस चर्चा को पुनरुज्जीवित एवं नवपल्लवित की जाती है।

[1]

कालिदास के इस नाटक पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इन टीकाकारों के सामने भी पाठभेदोंवाली बहुविध पाण्डुलिपियाँ प्रचलित थी। इन सब को देख कर वे लोग भी कदाचित् कुत्रचित् "प्राचीनपुस्तक में ऐसा लिखा है'', या "यह साम्प्रदायिक पाठ है'', अथवा "अमुक पाठ नवीन पुस्तकों में मिलता है'', या फिर "वैदेशिक पुस्तक में ऐसा पाठान्तर है'', "यह तिरभुक्तीय पाठ है'', अथवा "दाक्षिणात्य परम्परा में अमुक पाठ है" इत्यादि शब्दों से लिखते हैं कि इस नाटक का पाठ कुछ कुछ स्थानों में दूसरे तरह का भी चल रहा है। इस तरह की टीका लिखनेवाले टीकाकारों में शङ्कर, राघवभट्ट, काटयवेम, चन्द्रशेखर, घनश्यामादि का नाम अग्रगण्य है। किन्तु विभिन्न पाठान्तरों की ओर मात्र अङ्गुलिनिर्देश करने से किसी वाचना-विशेष का निर्धारण नहीं होता है।

एवमेव, जिन प्राचीन लिपिओं में इस नाटक की पाण्डुलिपियाँ लिखी गई हैं, उसके हिसाब से देखा जाए तो इस नाटक का पाठ शारदा, नेवारी, मैथिली, बंगाली, देवनागरी, ग्रन्थ, तेलुगु, तमिल, उडिया इत्यादि लिपियों में संचरित हुआ है। प्रदेशभेद से लिपिभेद होना वह हमारे देश की एक

विशेषता है। एक ही नाट्य कृति की जब प्रतिलिपियाँ तैयार की जाती हैं तब अलग अलग प्रदेशों की भिन्न भिन्न लिपियों का विनियोग होना स्वाभाविक है। जब किसी कृति के पाठभेदों का अभ्यास लिपिभेद को आधार बना कर किया जाता है तब पाण्डुलिपियों का केवल लिपिमूलक वर्गीकरण ही (Paleographic groups) हस्तगत होता है। मतलब कि ऐसे लिपिभेद से प्राप्त होनेवाले पृथक्करण को भी नवीन वाचना (Recension) का नाम नहीं दिया जाता। अतः जब कोई कहता है कि "यह देवनागरी पाठ है'', या फिर "यह बंगाली पाठ है" अथवा "यह दाक्षिणात्य पाठ है" तब उस वाक्य से किसी वाचना-विशेष का अमुक पाठ है ऐसा मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। उसका मतलब तो इतना ही करना चाहिए कि अमुक लिपि में लिखी गई पाण्डुलिपियों में ऐसा पाठ चलता है॥ अमुक वाचना-विशेष का यह पाठ है ऐसा कहने में कुछ भिन्न तात्पर्य परिलक्षित किया गया है ऐसा समझना चाहिए।

[2]

भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूणें के द्वारा प्रकाशित की गई महाभारत की समीक्षित आवृत्ति तैयार करते समय उस विशाल-काय ग्रन्थ की दो वाचनाओं का निर्धारण किया गया हैं। जैसे कि, 1. उत्तर भारतीय वाचना, और 2. दक्षिण भारतीय वाचना। उत्तर भारतीय वाचना में लघुपाठ है, (उदाहरण के रूप में, आदिपर्व में 8460 श्लोक है), और दक्षिण भारतीय वाचना में बृहत्पाठ है (उदाहरण के रूप में, आदिपर्व में 9984 श्लोक संगृहीत हुए है)। इस तरह से किसी भी कृति के पाठ का कितना कलेवर (इयत्ता) है, उसके आधार पर उस कृति की वाचनाओं का निर्धारण किया जा सकता है॥ इसी तरह से रामायण की समीक्षित आवृत्ति तैयार करते समय भी दो तरह की वाचनायें निर्धारित की गई थी। जिसमें "उत्तरी वाचना की अपेक्षा से दक्षिणी वाचना में आर्ष-भाषा प्रयोग की अधिक सुरक्षा हुई है" इस हेतुपुरस्सर दक्षिणी वाचना के पाठ को महत्त्व दिया गया है।

एक मत के अनुसारः-अभिज्ञानशाकुन्तल नाम से जो नाटक सुप्रसिद्ध

है उसकी भी इयत्ता की दृष्टि से दो वाचनायें घोषित की जा सकती हैं : (क) लघुपाठवाली वाचना और (ख) बृहत्पाठवाली वाचना। उनमें से जो प्रथम लघुपाठ वाली वाचना है उसके दो रूपान्तरण मिलते हैं, जैसे कि, (1) देवनागरी और (2) दाक्षिणात्य। (इन दोनों रूपान्तरणों (versions) के विविध संस्करणों में 190 से 208 तक के श्लोकोंवाला पाठ मान्य किया गया है)। जो बृहत्पाठवाली वाचना है उसके तीन रूपान्तरण मिलते हैं, जैसे कि, (1) काश्मीरी, (2) मैथिली एवं (3) बंगाली। इन तीनों रूपान्तरणों के विविध संस्करणों में 213 से 225 तक के श्लोकोंवाला पाठ प्रचलित है। दूसरे मत के अनुसारः- प्रादेशिकभेद एवं लिपिभेद को ध्यान में लेकर अद्यावधि सभी विद्वानों ने उपर्युक्त पाँचों रूपान्तरणों को "वाचना" के नाम से ही अभिहित किया है। जैसे कि, बंगाली वाचना, देवनागरी वाचना इत्यादि। किन्तु उपर्युक्त पाँचों प्रकार के पाठों के पार्थक्य को "वाचना" के नाम से घोषित किया जा सकता है या नहीं? यह विवादास्पद है।

अतः प्रसंगतया, "वाचना" (Recension) जैसी परिभाषा का विनियोग कब किया जाता है उसका परामर्शन करने की पहले जरूरत है। किसी भी कृति का पाठ अनेक पाण्डुलिपियों के माध्यम से संचरित होता हुआ जब पूरे देश में फैल जाता है, तो उसमें कई कारणों से एकरूपता नहीं रहती है। तब प्राप्त की गई बहुसंख्यक पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रहे पाठ का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाता है। इस समय पाठान्तर, लुप्तांश, प्रक्षिप्तांश एवं कुछ पाठ्यांश में क्रमभेद होना इत्यादि विशिष्ट लक्षणों के आधार पर, उन पाण्डुलिपियों के पाठ में प्रतिबिम्बित हो रहे पार्थक्य की पहचान देने के लिए, "वाचना" शब्द का प्रयोग किया जाता है। जिन जिन पाण्डुलिपियों में उपर्युक्त प्रकार के विशिष्ट लक्षण एक समान दिख रहा हो तो उन पाण्डुलिपियों के यूथ को एक समान "वाचना" को धारण करनेवाली पाण्डुलिपियाँ कही जायेगी। इसके आधार पर बहुशः विद्वान् ऐसा कहते रहे हैं कि इस नाटक का पाठ पाँच वाचनाओं में प्रवाहित हुआ दिखाई देता है। जैसे कि, देवनागरी, दाक्षिणात्य, काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली। विद्वानों ने कदाचित् ऐसी भी विचारणा प्रस्तुत की है कि

देवनागरी वाचना के साथ दाक्षिणात्य वाचना का पाठ बहुशः साम्य रखता है, अतः उसको पृथक् वाचना कहने की आवश्यकता ही नहीं है। एवमेव, डॉ. वी. राघवन् जी ने ऐसा भी कहा है कि मैथिली वाचना का पाठ बंगाली वाचना के साथ प्रायः साम्य रखता है, अतः उसे भी स्वतन्त्र वाचना होने का गौरव नहीं देना चाहिए। तथा च, काश्मीरी वाचना को भी पृथक् मान्यता देने से डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल जैसे प्रौढ विद्वान् ने संकोच दिखाया है॥ इन सब विचारों के सामने शताधिक वर्षो से पूर्व, वेबर नामके युरोपिय विद्वान् ने इस विषय में जो कहा है वह भी स्मर्तव्य है। उन्होंने तो ऐसा कहा था कि इस नाटक की विविध पाठपरम्परों में से एक भी पाठपरम्परा को "वाचना" कहने के लिए पर्याप्त कारण नहीं है[25]! इस मताग्रह में कुछ गम्भीर बात संनिहित है ऐसा लगता है। वेबस्टर की "कोम्प्रिहेन्सीव इङ्गलीश डीक्षनेरी" (2004, पृ. 1052) में वाचना शब्द (Recension) का अर्थ बताते हुए कहा है कि किसी भी कृति का पाठ, जो परम्परा से चला आ रहा हो उसका समीक्षात्मक निरीक्षण।[26] इस लक्षण के अनुसार, वाचना-निर्धारण के लिए उपलब्ध हो रही सभी पाण्डुलिपियों के प्रक्षेप, पाठान्तरादि का केवल साम्य-वैषम्य ही नहीं देखना है, उन सब का समीक्षात्मक निरीक्षण भी करना अनिवार्य है। उस परम्परा-गत पाठ में यदि समीक्षामूलक कोई भेदक तत्त्व मिल जाते हैं तो उसके आधार पर, ऐसे पाठ को "वाचना" शब्द से अभिहित किया जा सकता है। अब, इस तरह के लक्षण को ध्यान में रखते हुए अभिज्ञानशाकुन्तल की विभिन्न वाचनाओं का निर्धारण करने के लिए पुनः एक बार परामर्श करना होगा।

[3]

उपर्युक्त पाँचो तथाकथित वाचनाओं में संचरित हुए पाठों का तुलनात्मक अभ्यास करने से तुरंत मालूम होता है कि काश्मीर की शारदा (लिपि में लिखी गई) पाण्डुलिपियों में इस नाटक का जो पाठ है वह तीन बिन्दुओं पर अन्य सभी पाठपरम्पराओं से नितान्त पृथक् ही है। जैसे कि, (क) काश्मीरी पाठ के तृतीयांक में नायक और नायिका का विस्तृत फलक

पर सहज प्रेमसहचार निरूपित किया गया है। ऐसे प्रेमसहचार के दौरान दुष्यन्त के मुख से "गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो मुनिकन्यकाः। परिणीतास्ताः पितृभिश्चानुमोदिताः॥" जैसा श्लोक नहीं निकलता है। इस तरह के पाठ्यांश में, एक ओर इस श्लोक का नहीं होना तथा दूसरी ओर नायक-नायिका का सहज नैसर्गिक प्रेम भरा सहचार (जिसमें दुष्यन्त शकुन्तला के हाथ में मृणालवलय पहनाता हो, और पुष्प रज से कलुषित हुए शकुन्तला के नेत्र को अपने वदन-मारुत से प्रमार्जित कर देता हो ऐसा) दिखाया जाता है। अतः काश्मीर का शारदा पाठ देख कर कोई भी साहित्य-रसिक "नायक दुष्यन्त शास्त्रीय दृष्टि से मान्य हो ऐसे गान्धर्व-विवाह का नामशः निर्देश करके, नायिका शकुन्तला को गान्धर्व-विवाह के लिए उकसाता है" ऐसा आक्षेप नहीं कर पायेगा। (ख) काश्मीरी पाठ के षष्ठांक में राजा शकुन्तला के चित्र में कुछ अवशिष्ट भावनायें रेखाङ्कित करने के लिए मेधाविनी नामक अपनी परिचारिका के पास वर्तिका-करण्डक मंगवाता है। तब रानी कुलप्रभा की परिचारिका पिङ्गलिका उसके हाथ में से वर्तिका-करण्डक छिन लेती है। मतलब कि इस काश्मीरी पाठ में, वर्तिका-करण्डक राजा के पास पहुँचाने के लिए दो दासियों के बीच में टकराव होता है। लेकिन अन्य सभी पाठपरम्पराओं में राजा की परिचारिका के हाथ में से रानी वसुमती ही वर्तिका-करण्डक छिन लेती है और वह स्वयं राजा के पास उसे पहुँचाना चाहती है। यहाँ पर इस दृश्य की पाठयोजना में जो भेद है वह बहुत मार्मिक है। यदि अन्तःपुर की रानी बहुमानगर्विता है, और राजा को अधिक प्रिय होने की स्पर्धा में लगी रहनेवाली हो, अथवा ईर्ष्या-कषायिता होनेवाली है, तो (नाटक के अन्त भाग में) शकुन्तला का दुष्यन्त के साथ मिलन हो जाने पर पूर्ण सुख की कोई गुंजाईश नहीं रहेगी। पुनर्मिलन के समय शकुन्तला को सर्वथा स्वाधीनपतिका पत्नी के रूप में एवं राजा की पूर्वपरिणीताओं की ईर्ष्या से मुक्त प्रस्तुत की जायेगी तो ही प्रेक्षकों के मन में सकल शृंगार व्यञ्जित होगा। मतलब कि नाटक पूर्ण रूप से सुखान्त में परिणत होगा।

अन्य चारों पाठपरम्पराओं में, अर्थात् मैथिली, बंगाली, देवनागरी तथा

दाक्षिणात्य पाठपरम्पराओं में (क) चित्रगता शकुन्तला के प्रति स्पर्धा या ईर्ष्या भाव से आक्रान्त हुई बहुमानगर्विता एवं अन्तःपुरव्याघ्री रानी वसुमती राजा की दासी मेधाविनी (या चतुरिका) को कवलित कर जाने के लिए दौडती हुई (अभिधावन्ती) आ रही है ऐसा कहा जाता है। (ख) तथा विदूषक के शब्दों में राजा अन्तःपुर के पाश, अन्तःपुर की वागुरा, अन्तःपुर के कालकूट, या अन्तःपुर के कलह से मोक्ष प्राप्त करे तब उसको मेधछन्नप्रासाद से बुलाना है। काश्मीरी पाठ में ऐसे कोई शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। तथा राजा की दासी एवं रानी वसुमती के बीच का वह टकराव भी नहीं है। इस तरह के पाठभेद को ध्यान में लेकर सोचा जाए तो मालूम होगा कि कालिदास ने अपने दोनों पुरोगामी नाटकों में राजा की पूर्वपरिणीताओं के द्वारा राजा के नवीन प्रेमप्रसंग में बारं बार अन्तराय पैदा होता है ऐसा निरूपण किया हैं। किन्तु कालिदास ने जब अभिज्ञानशकुन्तला को लिखना शूरू किया है तब उसकी प्रस्तावना में ही (सूत्रधार और नटी के शब्दों से) उन्होंने लिखा है कि मेरा यह नाटक "अपूर्व" है, एवं "नवीन" है। वह कौन सी अपूर्वता है? ऐसा प्रश्न पूछा जाए तो उसका उत्तर काश्मीरी पाठ में से ही मिलता है। यहाँ पर पूर्वपरिणीताओं की ओर से उपस्थित होनेवाले अन्तराय को स्थान ही नहीं है। क्योंकि महाकवि ने अब पुरातन मार्ग छोड कर, दुर्वासा के शाप रूप नवीन अन्तराय की उद्भावना कर ली है!

(ग) तदुपरान्त, शारदा वाचना के पाठ में तीसरा भेदक बिन्दु यह है कि पतिगृह की ओर प्रस्थान कर रही शकुन्तला पिता कण्व को कहती है कि मुझे आपके विरह का भारी दुःख सताता रहेगा। तब तपोधन आरण्यक पिता ने "यदा शरीरस्य शरीरिणश्च पृथक्त्वमेकान्तत एव भावि। आहार्ययोगेन वियुज्यमानः परेण को नाम भवेद् विषादी॥" इस श्लोक से दुहिता को औपनिषदिक दृष्टि भी दी है। अन्य सभी पाठपरम्पराओं में "तुम ससुराल में बहुत सुख प्राप्त करोगी और पुत्र प्राप्ति हो जाने पर तुझे पिता के विरह का दुःख नहीं रहेगा" ऐसा केवल एकदेशी आश्वासन ही दिया गया है।

उपर्युक्त भेदक तत्त्वों को यदि ध्यान में लिया जायेगा तो तुरंत निश्चित होगा कि शारदालिपि में लिखी हुई काश्मीरी पाण्डुलिपियों में जो पाठ संचरित हो कर हम तक पहुँचा है उसमें एक स्वतन्त्र "वाचना" सुरक्षित है। इस काश्मीरी वाचना को यदि हम "शारदा वाचना" का नामाभिधान दें, तो अन्य सभी पाठपरम्पराओं, (जिसमें दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रणय-प्रसंग की उत्तरपीठिका में अन्तःपुर का कालकूट उल्लिखित किया गया है,) उनको "शारदेतर वाचनायें" कहना होगा। काश्मीरी वाचना की यह दो अद्वितीय विशेषतायें हैं कि इसके पूर्वार्ध में "गान्धर्वेण विवाहेन" वाला श्लोक नहीं है तथा नाटक के उत्तरार्ध में पूर्वपरिणीताओं का कोई ईर्ष्या-कषायित भाव मुँह नहीं दिखाता है। जिससे, केवल इसी वाचना में ही हम शकुन्तला के पूर्ण सुखमय जीवन की विश्वस्त स्थिति सोच सकते हैं।

निष्कर्षतः, एक ही कृति का पाठ जब अनेक पाण्डुलिपियों में संक्रान्त होता है, तब उन सभी में से पृथक् पृथक् "वाचनाओं" का निर्धारण करने के लिए केवल पाठान्तर, लुप्तांश एवं प्रक्षेपादि के साम्य-वैषम्य को ही मानदण्ड नहीं बनाना चाहिए। किन्तु उपर्युक्त स्वरूप का कोई समीक्षामूलक निरीक्षण यदि मिलता है तो वही एक वाचना-निर्धारण का सही भेदक तत्त्व बन सकता है। (प्रोफेसर वेबर के सामने शायद उपर्युक्त भेदक-तत्त्व आये ही नहीं होगें, इस लिए उन्होंने इस नाटक की पूर्वोक्त वाचनाओं को "वाचना" शब्द से अभिहित करने का समुचित नहीं समझा था)।

[4]

शारदा पाण्डुलिपियों में प्रवाहित हुए पाठ का उपर्युक्त समीक्षामूलक निरीक्षण करने के बाद, हम कह सकते हैं कि आज उपलब्ध हो रही सभी पाण्डुलिपियों में इस नाटक की दो तरह की वाचनायें चली आ रही है। जैसे कि, काश्मीरी वाचना अर्थात् "शारदा वाचना" तथा "शारदेतर वाचना''। अब इन दोनों में से, शारदेतर वाचना की निजी विशेषतायें क्या क्या हैं? इसको भी रेखाङ्कित कर लेना आवश्यक है :- (1) जिस पाठ में, दुष्यन्त ने शकुन्तला को गान्धर्व-विवाह के लिये उकसाई है। और (2) दुष्यन्त और शकुन्तला के दाम्पत्य जीवन की उत्तरपीठिका में अन्तःपुर

के कालकूट की विभीषिका आलोकित हो रही है॥ इन दोनों विशेषताओं से विशिष्ट इस नाटक की जो "शारदेतर वाचना" है, उसके कुल चार रूपान्तरण मिलते हैं। जैसे कि, (क) मैथिली एवं (ख) बंगाली। इन दो रूपान्तरणों में अनेक प्रक्षिप्तांशों के कारण नाटक का बृहत्तम पाठ संगृहीत किया गया है। तथा (ग) दाक्षिणात्य एवं (घ) देवनागरी। इन दो रूपान्तरणों में अनेक स्थानों पर संक्षेप एवं परिवर्तन किये गये हैं। विशेष रूप से तृतीयांक के पाठ में भारी कटौती की गई है, जिसके कारण दुष्यन्त-शकुन्तला का नैसर्गिक प्रेमभरा सहचार वर्णित करनेवाले दो मौलिक दृश्यों को हटाये गये हैं। अतः यह रूपान्तरण स्पष्ट रूप से रंगावृत्ति का पाठ प्रस्तुत करता हो ऐसा लगता है। इस पूरी चर्चा को चित्रात्मक ढंग से प्रस्तुत करने से बात सुस्पष्ट हो जायेगी–

पाठपरम्पराओं, अर्थात् वाचनाओं का वंशवृक्ष
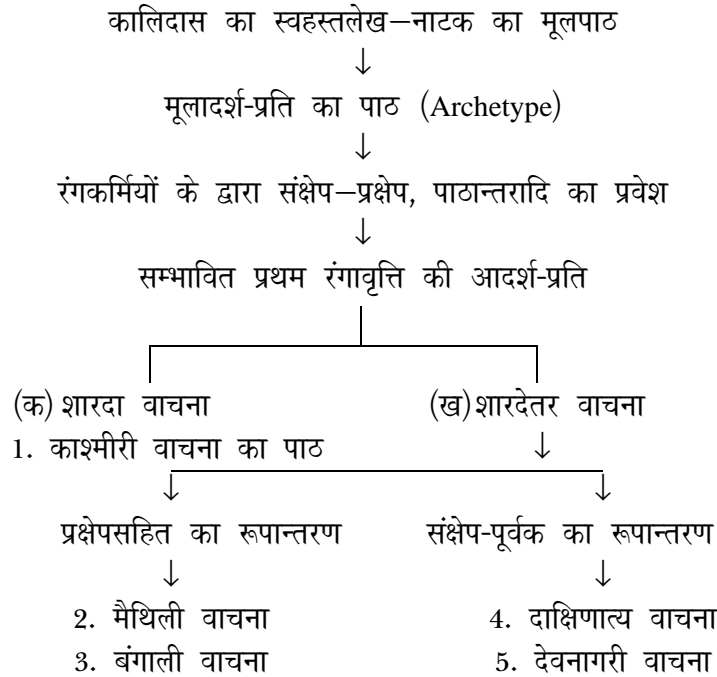
उपरि भाग में निर्दिष्ट द्विविध वाचनाओं में से शारदा वाचना का पाठ प्राचीनतम है और मौलिकता के नज़दीक भी है। (तथापि इस वाचना में सुरक्षित रहा पाठ अपने साद्यन्त स्वरूप में सर्वथा प्रक्षेपादि से मुक्त है ऐसा भी नहीं है। उसकी पाठालोचना अपेक्षित ही है।) उसके प्रतिपक्ष में जो शारदेतर वाचनाएं है (और उनके जो चार रूपान्तरण, या रंगावृतियाँ मिल रही हैं) उसका पाठ प्रदूषित किया गया पाठ है। तथा शारदा वाचना में इस नाटक का शीर्षक "अभिज्ञानशकुन्तला" है। परन्तु शारदेतर वाचना में जो द्विविध रूपान्तरण (या रंगावृत्तियाँ) है उनमें दो तरह के शीर्षक प्रचलित है : प्रक्षेपसहित के दो रूपान्तरणों में "अभिज्ञानशकुन्तलम्" ऐसा शीर्षक है। एवं संक्षेपपूर्वक के रूपान्तरणों में शीर्षक "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" रखा गया है।

सन्दर्भ

1. इनमें से पहली तीन वाचनाओं का समीक्षित पाठ प्रकाशित हुआ है, किन्तु दाक्षिणात्य वाचना का नहीं।
2. इन पाँचों पाठों के लिए "वाचना" शब्द का प्रयोग करना उचित है या नहीं? यह भी विवादास्पद है।
3. Lectiones codicis cakuntali Bikanirensis, by karl Burkhard, 1881. See : Achter jahresbericht uber das k.k. Franz-Joseph–Gymnasium in Wien, 1881/82.
4. गुजराती भाषा में सॉनेट काव्यप्रकार के प्रथम प्रवर्तक कविवर्य श्री बलवन्तराय ठाकोर फर्ग्युसन कॉलेज, पूणें में इतिहास विषय के प्राध्यापक थे। उन्होंने संस्कृत नाटकों के गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित किये हैं। 1948
5. Cultured humanity cannot possibly tolerate three divergent Sakuntala or even two. It must have one single definitive Sakuntalaa acceptable to all competent judges.–The Text of Sakuntala (A paper read at the Fist Oriental Conference, Poona,, 1919), Pub. By D.B. Taraporewala Sons & Co., Bombay, 1922, p. 5.
6. Eclectic Principles.
7. Declining health prevented Prof. Belvalkar from continuing his work on the edition. He had, however, printed the whole of a text of the play, following some manuscript and taking readings from

those offered by it but without any notes whatsoever or variants. He could not prepare the critical apparatus, nor an introduction explaining the recension or readings preferred by him.–V. Raghavan, Introduction, p. 3, The Abhijnanasakuntala, Ed. S.K. Belvalkar, Sahity Akademy, Delhi, 1965.

8. द्रष्टव्यः- New Catalogus catalogrum, Ed. V. Raghavan, Uni. Of Madras, 1968, (part-1, page : 282 & 283)
9. The Abhijnanasakuntala, The purer Devnagari Text Ed. By P.N. Patankar, Shiralkar & Co., Poona, 1889, second edition revised and improved, 1902.
10. द्रष्टव्यः पी. एन. पाटणकर के अभिज्ञानशकुन्तल की द्वितीयावृत्ति (1902), भूमिका का पृ. 8।
11. यह रोमन रूपान्तरण उपलब्ध करवाने के लिए मैं डॉ. माधव देशपाण्डे जी, (मिशीगन युनि.) का आभारी हूँ।
12. भारतवर्ष की जो प्राचीनतम लिपि सम्राट् अशोक के शिलालेखों में प्रयुक्त की गई है वह ब्राह्मी लिपि है। भारत में कालक्रम से प्रचलित हुई अन्यान्य लिपियाँ भी उसी ब्राह्मी लिपि से ही निकली हुई हैं। वर्तमान में, आधुनिक भारतीय आर्य भाषा कुल की भाषा हो या द्रविड कुल की भाषा हो, उसे लिखने के लिए जो भी लिपिओं का विनियोग होता है वे सभी लिपियाँ ब्राह्मी लिपि से ही निकली हुई हैं। काश्मीर प्रान्त में प्रचलित हुई शारदा लिपि का समय 700 ई. सं. का अनुमित होता है। राजा मेरु वर्मा का एक शिलालेख 850 ई. स. में लिखा गया है, जिसमें इस शारदा लिपि का उपयोग किया गया है। अतः लिपि-विकास के इतिहास की दृष्टि से देखा जाए तो भी इस शारदा लिपि में लिखी हुई पाण्डुलिपिओं में संचरित हुआ पाठ ही प्राचीनतम मानना होगा।
13. उदाहरण के लिए, भूर्जपत्र पृ. 113 पर अक्षमाला की उक्ति में प्रतीहारी की उक्ति संमिश्रित हो गई है। 2. तथा 6 अंक के अष्टम श्लोक में "निराकृतम्" शब्द की पुनरावृत्ति हो गई है।
14. कालिदास : अपनी बात (भारतीय दृष्टि), रेवाप्रसाद द्विवेदी, कालिदास संस्थान, वाराणसी, 2004, पृ. 34
15. हमने चन्द्रशेखर चक्रवर्ती की सन्दर्भदीपिका टीका के साथ सम्पादित किये अभिज्ञानशकुन्तल की प्रस्तावना में इस विषय की आलोचना पृ. 32 से 93 में की है। (प्रकाशकः- राष्ट्रिय पाण्डुलिपि मिशन, दिल्ली, 2013)
16. नाट्यम्, (अङ्क 71-74), सं. राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, 2011-12, पृ. 27-57 में प्रकाशित शोध-आलेख।
17. नाट्यशास्त्रम्। (भाग-2), अभिनवभारती के साथ, गायकवाड ओरिएन्टल इन्स्टीट्युट, वडोदरा, 2006

18. यद्यपि मैथिली वाचना के सम्पादक श्रीरमानाथ झा ने इस अङ्क का नाम नहीं दिया है। उन्होंने लिखा है कि उनके पास जो पाण्डुलिपियाँ हैं उनमें इसका नाम अवाच्य है। किन्तु नेपाल की दरबार लाईब्रेरी की मैथिल पाण्डुलिपि (क्रमांक-1600, पृ. 22) में यह नाम सुवाच्य है। (इस पाण्डुलिपि की फोटोग्राफिक कॉपी श्री धर्मानंद कौशाम्बी ने प्राप्त की थी, और वह श्री काकासाहेब कालेलकर जी के संग्रह में से प्रोफेसर रमेश भारद्वाज, दिल्ली ने हमें उपलब्ध करवाई है।)
19. सोरसेनं समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके। अथवा छन्दतः कार्या देश भाषा प्रयोक्तृभिः॥18-34
    नायिकानां सखीनाञ्च सौरसेन्यविरोधिनी। यौधनागरिकादीनां दाक्षिणात्या च दीव्यताम्॥18-39
    व्यसने नायिकादीनाम् आत्मरक्षासु मागधी। गंगासागरमध्ये तु ये देशाः संप्रकीर्तिताः॥ 18-46, नाट्यशास्त्रम्, सं. बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, 1980
20. इस सन्दर्भ में परिशिष्ट-भाग देखने की कृपा करें!
21. Its editor claims that text represents a Maithili recension of the play but such a fifth recession is not justified by facts. This text belongs to the Bengali-kashmiri family, sometimes leaning towards the Bengali and sometimes towards the Kashmiri.–V. Raghavan, Introduction, P. 3, The Abhijananasakuntala, Ed. S.K. Belvalkar, Sahity Academy, Delhi.
22. इस तरह की असम्बद्धता समान रूप से डॉ. रिचार्ड पिशेल (पृ. 19) एवं डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल (पृ. 223) द्वारा सम्पादित बंगाली वाचना के पाठ में दृष्टिगोचर हो रही है।
23. जिसका विस्तार से निरूपण अनुगामी पृष्ठों में किया है।
24. उदाहरणतया भ्रमरबाधा-प्रसंग में "यतो यतः षट्चरणो" वाले श्लोक की कटौती करने के बाद भी उसी श्लोक के साथ संलग्न "सस्पृहम्" वाली रंगसूचना अभी भी वहाँ मौजुद हैं ओर उस "सस्पृहम्" के साथ दिया गया श्लोक "चलापाङ्गां दृष्टिम्" तो ईर्ष्याजन्य है, उसके साथ तो "सासूयम्" वाली रंगसूचना ही होनी चाहिए।
25. Weber has questioned the reasonability of using the term "Recension" with reference to the original texts of the Shaakuntalam. See : Indische Studien, (Recension" with reference to the original texts of the Shaakuntalam. See : Indische Studien, (Rfe. 14, 35, ff. 161-311.)
26. A critical revision of the text of a book, also, The edition so received.

उत्तरपीठिका

(क) अभिज्ञानशकुन्तला (अङ्कः1) के पाठभेदों में अन्तर्निहित पाठविचलन का क्रम एवं मौलिकता की गवेषणा

भूमिका : कालिदास के अभिज्ञानशकुन्तला नाटक का बृहत्पाठ काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में संचरित हुआ है। तथा इसका लघुपाठ देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में संचरित हुआ है। यह तो स्पष्ट है कि इन में से एक भी वाचना में कालिदास प्रणीत मौलिक पाठ अखण्ड रूप में सुरक्षित नहीं है। अतः इन पञ्चविध वाचनाओं में से किस वाचना का पाठ सब से प्राचीन होगा? वही प्रथम ज्ञातव्य बिन्दु है। जिसके लिए भारतवर्ष की प्राचीन लिपियों के इतिहास की ओर दृष्टिक्षेप करना चाहिए। दो हजार वर्ष पहले कालिदास ने जिस लिपि में इस नाटक को लिखा था वह तो ब्राह्मी लिपि थी। और आज इस नाटक के पाठ को सुरक्षित रखनेवाली शारदा पाण्डुलिपियाँ, मैथिली पाण्डुलिपियाँ, बंगाली पाण्डुलिपियाँ, देवनागरी पाण्डुलिपियाँ एवं दाक्षिणात्य लिपियों (नन्दी-नागरी, ग्रन्थ, तेलुगु, तमीळ, उडिया) में लिखी गई पाण्डुलिपियों का निर्माण-काल तो दो सो या तीन सो साल से अधिक पुराना नहीं है। किन्तु ब्राह्मी लिपि की वंशज लिपियों में शारदा-लिपि का काल 6 या 7 वी शती से शूरू होता है, और उसका प्रचलन 13 वीं शती के बाद भी चलता रहा है। अतः उपर्युक्त पाँचों वाचनाओं में उपलब्ध हो रहे इस नाटक के पाठ में से शारदा पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ पाठ ही प्राचीनतम है, यह बात निर्विवाद है। अतः किसी भी पाठालोचक को शारदा पाण्डुलिपियों को प्राथम्य दे

कर, इस नाटक की विभिन्न वाचनाओं में बिखरे अनेकानेक पाठभेदों का तुलनात्मक दृष्टि से अभ्यास करना चाहिए। ऐसा करने पर ही, इस नाट्य कृति के मूल पाठ में किस आनुक्रमिकता से पाठविचलन होता गया है? उसकी गवेषणा की जायेगी। इस नाट्य कृति के पाठ में उपलब्ध हो रहे पाठभेद केवल काव्य सौन्दर्य बढ़ाने या बदलने के आशय से ही पैदा होते हैं ऐसा नहीं है। एवमेव, प्रतिलेखन के दौरान किसी लिपिकर्ता के अज्ञान या अनवधान से ही पाठभेद पैदा होते हैं ऐसा भी नहीं है। क्योंकि नाट्य कृतियाँ दृश्य-काव्य होने से उनमें कुछ पाठभेद मंचन-चमत्कृति को बढ़ाने के आशय से आकारित होते हैं, अथवा अल्प समयावधि में नाट्य-प्रयोग की प्रस्तुति करने के आशय से प्रेरित संक्षेपीकरण के कारण पैदा होते हैं।

इस विषय की हमने सप्रमाण उपस्थापना "अभिज्ञानशाकुन्तल के देवनागरी पाठ में संक्षेपीकरण के पदचिह्न" शीर्षकवाले एक शोध-आलेख में की है, जिसका प्रकाशन प्रोफेसर डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी जी ने "नाट्यम्" (अङ्क : 71-74, पृ. 27 से 57), डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, 2011-12 में किया है। अतः बृहत्पाठ की अपेक्षा से लघुपाठ उत्तरवर्ती काल में आकारित हुआ है ऐसा सिद्ध किया गया है। तथा लिपियों की उत्क्रान्ति के इतिहास की दृष्टि से देखा जाए तो भी काश्मीर की शारदा पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रहा इस नाटक का पाठ ही सब से प्राचीनतम है। तथापि इस वाचना में जो पाठ संचरित होकर हम तक पहुँचा है उसमें भी कहाँ कहाँ पर मंचनवैशिष्ट्य दिखाने के आशय से, या प्रक्षेप-संक्षेपादि होने के कारण पाठभेद पैदा हुए हैं उसकी पर्यालोचना करणीय है। प्रस्तुत आलेख में अभिज्ञानश(शा) कुन्तल की बृहत्पाठ को सुरक्षित रखनेवाली काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के प्रथमाङ्क में आये हुए पाठभेदों का तुलनात्मक दृष्टि से अभ्यास किया जायेगा॥ (क्योंकि इन तीन वाचनाओं में ही प्रायः इस नाटक का मौलिक या अधिक श्रद्धेय कहा जाए ऐसा पाठ कहीं न कहीं खण्डशः बिखरा हुआ आज भी सुरक्षित है। इन पाठभेदों का तौलनिक अभ्यास करने से ही कदाचित् मूल पाठ की गवेषणा का मार्ग प्रशस्त होगा।)

[1]

पाठालोचना का प्रथम लक्ष्य तो यही होता है कि हम उपलब्ध हो रही पाण्डुलिपियों में प्राचीन से प्राचीनतर, एवं प्राचीनतर से प्राचीनतम पाठ कहाँ छिपा है वह ढूँढ निकाले। यदि एक बार प्राचीनतमता कहाँ संनिहित है यह निश्चित किया जाता है तो अन्य वाचनाओं में किस क्रम से पाठ विचलित होता गया है वह ढूँढना आसान हो जाता है। तथा ऐसा करने से ही कौन सा पाठान्तर प्राचीनतर है?। अथवा कौन सा पाठान्तर प्राचीन (अर्थात् कालानुक्रम में परवर्ती काल का है, अथवा जिसको हम केवल अर्वाचीन कहना पसंद करेंगे ऐसा पाठ) है वह जान सकते हैं। पाण्डुलिपियों में उपलब्ध हो रहे पाठभेदों का केवल साम्य-वैषम्य देखना, या वाचनाओं का निर्धारण करना, या उससे भी आगे बढ़ कर, उन वाचनाओं का वंशवृक्ष बनाना पर्याप्त नहीं है। क्योंकि वंशवृक्ष बनाने के पीछे जो तर्क काम कर रहा है वह तो पाठ-विचलन का क्रम उजागर करने का है। अतः पाठभेदों का अभ्यास इस दृष्टि से करना चाहिए।

इस नाटक के पाठ-विचलन-क्रम को उद्भासित करने के लिए कालिदास ने अपने हाथों से लिखे इस नाटक के मूल पाठ का संचरण कैसा हुआ होगा? इस विषय पर पहले सोचने की आवश्यकता है। यद्यपि पाठ के संचरण का ऐतिहासिक विवरण पेश करनेवाले साधन तो हमारे पास हैं नहीं। तथापि तर्क के बल पर अन्धेरे में झाँखने की कोशिश करनी होगी! "अभिज्ञानशकुन्तल" शीर्षकवाली बृहत्पाठपरम्परा में जिन तीन वाचनाओं को गिनाई जाती हैं, उसकी पाठ-गङ्गोत्री का स्वरूप कुछ इस प्रकार से अनुमित किया जा सकता हैः सब से पहले तो स्वयं कालिदास के द्वारा लिखा गया इस नाटक का कोई स्वहस्तलेख (Auto-graph) होगा, जो आज सर्वथा कालग्रस्त हो चूका है। लेकिन उसकी जो प्रथम प्रतिलिपि बनाई गई होगी, उसको ही आदर्शप्रति के रूप में सामने रखते हुए प्रतिलिपि-कर्ता ने अन्य पाण्डुलिपि बनाई गई होगी। मूल स्वहस्तलेख के आधार पर बनाई गई इस प्रथम प्रतिलिपिको ही ''मूलादर्श प्रति'' (Archetype) कहते हैं। जिसको हम "क्ष" प्रति ऐसा नाम दे सकते हैं। इस प्रथम क्रमांक

पर खड़ी “क्ष” मूलादर्श प्रति में से जब दूसरा प्रतिलेखन होता है, और एक नयी पाण्डुलिपि बनाई जाती है, तो उसे हम उपमूलादर्श प्रति (या प्रतियाँ) (Sub-archetype) कहते हैं। जिसको हम “ज्ञ” प्रति ऐसा नाम दे सकते हैं। इस द्वितीय क्रमांक पर खड़ी “ज्ञ” उपमूलादर्श प्रति में से ही देश के अलग अलग प्रान्तों में जब विभिन्न पाठपरम्परायें शूरू होती है, (जिसको अमुक प्रकार[1] के साम्य-वैषम्य के आधार पर “वाचना” (Recension) ऐसा नाम दिया जाता हैं), तब उस उपमूलादर्श प्रति को “पूर्वज प्रतिलिपि” कहेंगे। एवम्, एक ही उपमूलादर्श प्रति में से निकली विभिन्न पाण्डुपिलियों को “समान-पूर्वज वाली” पाण्डुलिपियाँ कहेंगे। यद्यपि इन दोनों “क्ष” एवं “ज्ञ” प्रतिलिपियों का अस्तित्व काल्पनिक है, और उसमें संचरित हुआ पाठ हमारे लिए केवल अनुमानगम्य ही है, परन्तु उसमें संचरित हुआ पाठ सर्वाधिक मात्रा में परिशुद्ध एवं बिना परिवर्तनवाला होगा ऐसी उम्मीद हम कर सकते हैं। क्योंकि उसमें नाट्यकवि कालिदास ने स्वहस्त से जो पाठ लिखा होगा उसके खूब नज़दीक का पाठ संचरित हुआ होगा।

अनुमानगम्य पाठसंचरण की इस चर्चा को ध्यान में रखते हुए प्रकृत में हम तीनों वाचनाओं में पाठ-संचरण का क्रम ढूँढना चाहेंगे। तथा उसके साथ में जिसके आधार पर, 1. मौलिक पाठ्यांश, या 2. अधिक श्रद्धेय पाठ्यांश, या 3. प्राचीनतम पाठ्यांश, या 4. अस्वीकार्य पाठ्यांश कह सके ऐसे प्रामाणिकता के विविध स्तरवाले पाठ्यांशों का निर्धारण कैसे किया जा सकेगा? उसकी विचारणा भी करेंगे। अतः इस तरह के तारतम्यवाले पाठ्यांश को निर्धारित करने के लिए क्या क्या नियम हो सकते हो? वही कहना पहले आवश्यक है। जैसे कि,

(क) किस पाठ को मौलिक पाठ कहेंगे? : जिस वाचना का पाठ प्राचीनतम सिद्ध होता है, और उसी में उपलब्ध होनेवाला पाठ यदि आन्तरिक सम्भावना की दृष्टि से भी समर्थित हो रहा हो तो वह मौलिक पाठ होगा ऐसा मान सकते हैं॥

(ख) किस तरह के पाठान्तर को अधिक श्रद्धेय कहेंगे? : जिस वाचना

का पाठ प्राचीनतम सिद्ध होता है, और उसी में उपलब्ध होनेवाला पाठ यदि समान-पूर्वजवाली अन्य वाचना, (या वाचनाओं) से भी समर्थित होता हो तो वैसा पाठान्तर मूलादर्श प्रति का पाठ (यानि मौलिकता से नज़दीकी का पाठ) होने की सम्भावना है। अतः ऐसे पाठ को हम "अधिक श्रद्धेय पाठ" कहेंगे॥

(ग) किस तरह के पाठ को प्राचीनतम पाठ होने का गौरव देकर सुरक्षित रखना चाहिए? : लिपियों के इतिहास की दृष्टि से, एवं अतिप्राचीन काल के ग्रन्थान्तरों में आये हुए उद्धरणादि से जिस वाचना का पाठ प्राचीनतम सिद्ध हुआ हो, तथा प्रतिपक्ष की अन्य वाचनाओं में संक्रान्त हुआ पाठान्तर निश्चित रूप से उत्तरवर्ती काल का ही है ऐसा सिद्ध हुआ हो तो, उस प्राचीनतम वाचना में संचरित हुए पाठान्तर का ही संरक्षण करना चाहिए। यहाँ भले ही उस प्राचीनतम पाठ को अन्यान्य (उत्तरवर्ती) वाचनाओं का समर्थन न मिलता हो, तब भी उसीको प्राचीनतमा का गौरव देकर, स्वीकारना चाहिए।

(घ) समान पूर्वजवाली अन्य दो वाचनाओं के पाठान्तर का कब स्वीकार करना आवश्यक होता है? : जब प्राचीनतम वाचना का पाठ आन्तरिक सम्भावना से विरुद्ध जाता हुआ दिखता हो, तब केवल प्राचीनतम पाठ होने के कारण ही उसका संग्रह या संरक्षण करने की आवश्यकता नहीं है, उसका तो अस्वीकार ही करना चाहिए। ऐसे स्थानों में समानपूर्वज वाली अन्य वाचना के पाठान्तर को ही ग्राह्य रखना चाहिए। अथवा प्राचीनतम वाचना के पाठ में आवश्यक सुधार करना चाहिए।

[2]

इस नाटक के प्रथमांक के पाठ में कतिपय ऐसे पाठभेद मिल रहे हैं कि जो केवल काश्मीरी वाचना में ही हैं। ऐसे स्थानों पर मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में कुछ अलग सा पाठ उपलब्ध होता है। उदाहरण के रूप में, (1) नाटक का नान्दी श्लोक ही द्रष्टव्य है : *या स्रष्टुः सृष्टिराद्या पिबति, विधिहुतं या हविर्या च होत्री।* काश्मीरी वाचना के इस तरह के पाठ के

समान मैथिली वाचना में भी "या स्रष्टुः सृष्टिराद्या, वहति विधिहुतं" ऐसे पदक्रमववाला पाठ मिलता है। किन्तु बंगाली वाचना में "या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री "ऐसा भिन्न पदक्रमवाला पाठ मिलता है।[2] (इसी तरह का पाठ देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में भी संचरित हुआ है।) दोनों की तुलना करने से मालूम होता है कि, काश्मीरी "पिबति" पाठ के स्थान में मैथिली एवं बंगाली पाठ में''वहति" ऐसा एक पाठान्तर मिल रहा है। जिसके कारण उसका अन्वय "या सृष्टिः सृष्टिराद्या, वहति विधिहुतं या हवि, र्या च होत्री" ऐसा होगा। यदि बहुसंख्यक वाचनाओं में कौन सा पाठभेद है और अल्पसंख्यक वाचनाओं में कौन सा पाठभेद है? इस दृष्टि से निर्णय करेंगे तो "वहति" वाला पाठभेद ही सर्वाधिक वाचनाओं में मिलता है, इसी लिए उसको मान्य करने की इच्छा होती है। किन्तु केवल संख्या बल के आधार पर अमुक पाठ की पसंदगी करना हमेशा समुचित नहीं है। क्योंकि अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में इस नान्दीपद्य के ''पिबति'' क्रियापद की व्याख्या 'अशन' शब्द से की है। अतः अभिनवगुप्त के उद्धृतांश से जो पाठ समर्थित होता है, वही अधिक श्रद्धेय पाठ मानना चाहिए। एवञ्च, प्रकृत में दोनों ही तरह के पाठभेद व्याकरणानुकूल तो है ही। अतः जब दोनों ही तरह के पाठभेद समान सम्भावनावाले होते हैं तब प्राचीनतम पाठ का त्याग करने का कोई विशेष कारण भी नहीं है।

(2) सूत्रधार के कहने से नटी ने जो ग्रीष्म-ऋतु सम्बन्धी गान किया है उस आर्या के शब्द (भूर्जपत्रवाली पाण्डुलिपि में जो दिये हैं) इस तरह के हैः-

खणचुम्बिआइं भमरेहिं सुअअ सुउमारकेसरसिहाइं। (32 मात्रायें)
अवदंसअन्ति पमदा दअमाणाओ सिरीसकुसुमाइं॥ (30 मात्रायें)

यह आर्या में मात्राओं शास्त्रानुकूल नहीं है। क्योंकि आर्या के 12 + 18 = 30 का पूर्वार्ध होता है, तथा उत्तरार्ध में 12 + 15 = 27 मात्राएँ होती है। इस सन्दर्भ में डॉ. एस. के. बेलवालकर जी ने एक शोध-आलेख लिखा है।[3] जिसमें सूचित पाठसुधारणा के अनुसार यहाँ "पश्य" अर्थ में

"उअ" होना चाहिए। तभी आर्या की आवश्यक मात्राएँ बन सकती है। उन्होंने कहा है कि डॉ. पिशेल द्वारा दिया गया पाठ व्याकरणसम्मत जरूर है, लेकिन उसमें आर्या की मात्राएँ ठीक नहीं बैठती है। तथा इसके पूर्वार्ध में उपलब्ध हो रहे सुहअ, सुअअ, उहअ, उब,इत्यादि पाठान्तरों में से एक भी सन्तोषजनक नहीं है। इस लिए यहाँ पाठसुधारणा[4] करनी आवश्यक है। अतः उनके द्वारा सम्पादित अभिज्ञानशाकुन्तल के संस्करण में इस आर्या को निम्नोक्त स्वरूप में प्रकाशित की हैः-

खणचुम्बिआइँ भमरेहिँ उअ सुउमारकेसरसिहाइँ।
अवअंसअन्ति सदअं सिरीसकुसुमाइँ पमदाओ॥

तथा पादटिप्पणी में उसी का जो संस्कृतच्छायानुवाद दिया है वह इन शब्दों में हैः-

क्षणचुम्बितानि भ्रमरैः पश्य सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति सदयं शिरीषकुसुमानि प्रमदाः॥

यद्यपि भूर्जपत्र में "सुअअ (सुभग)" तथा "दअमाणा (दयमाना)" ऐसा लिखा हुआ है। किन्तु पूर्वोक्त कारण से उन्होंने उक्त पाठसुधारणा सूचित की है॥ (रिचार्ड पिशेल द्वारा (1876, 1922) सम्पादित "शकुन्तला" नाटक के बंगाली वाचनानुसारी पाठ में "खणचुम्बिआइँ भमरेहिं उअह सुउमारकेसरसिहाइं। अवअंसअन्ति सदअं सिरीसकुसुमाइँ पमआओ। "ऐसा पाठ दिया है। तथा उअह जैसे देशी शब्द का अर्थ पश्यत लिया है, जो डॉ. बेलवालकर जी को मान्य है। एवं "उअ" शब्द का पुनर्लेखन के दोष से ही "उअअ" हुआ होगा[5] ऐसा उनका मानना है।)

(3) इस नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार रंगमंच पर आकर नाटक की प्ररोचना करते हुए कहता है कि आज कौन सा नाटक खेलना है। "आर्ये, अभिरूपप्रायभूयिष्ठेयं परिषत्। अस्यां च किल कालिदासग्रथितवस्तुना नवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः। तत्प्रतिपात्रमास्थीयतां यत्नः॥" यहाँ पर नया नाटक खेलना है इतना ही कहा गया है, उसमें नाटक का नाम नहीं दिया गया है।[6] वह बात तो नटी के गीत को सुनने के बाद, नटी के मुख से, वह भी प्राकृत भाषा में कही गई है : *नटी—णं पढमं येव अय्येण*

आणत्तं जधा ण अहिण्णाणसउन्तला णाम अपुरवं णाडअं पओएण अधिकरीअदुत्ति। इस तरह, काश्मीरी वाचना की तीनों पाण्डुलिपियों में नाटक का शीर्षक “अभिज्ञानशकुन्तला” है ऐसा नटी के द्वारा बताया जाता है। किन्तु मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में यही शीर्षक “अभिज्ञानशकुन्तलम्” के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। और उसको सूत्रधार ने भी अपने वक्तव्य में संस्कृत भाषा में दिया है। देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में इस नाट्यकृति का शीर्षक “अभिज्ञान-शाकुन्तलम्” दिया गया है।[7] यानि कृति के शीर्षक को लेकर कुल मिला के तीन पाठान्तर होते हैं, जिसमें से तीसरा पाठान्तर काश्मीरी वाचना में से मिलता है।

अभिज्ञायते स्मर्यतेऽनेनेत्यभिज्ञानं चिह्नम्। अत्र अङ्गुलीयकमिति यावत्। अभिज्ञानपूर्विका शकुन्तलेति, अभिज्ञानशकुन्तला, ताम् अधिकृत्य कृत्यं नाटकम् (अपि), अभिज्ञानशकुन्तला। यहाँ काश्मीरी वाचना में जो “अभिज्ञानशकुन्तला” नाम दिया है, उसमें “लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्” इस वार्तिक से तद्धित प्रत्यय का लोप हो जाने के कारण आदि स्वर की वृद्धि नहीं होती है, और अभेदोपचार से वह नाटक का विशेषण बन सकता है।

(4) नटी के रागबद्ध गीत को सुन कर सूत्रधार क्षण भर के लिए अपना संकल्पित कर्म क्या था वह भूल जाता है। और नटी को पूछता है कि “तदिदानीं कतमत्प्रकरणम् आश्रित्य जनमाराधयावः।” यह काश्मीरी वाचना का पाठ है। उसके प्रतिपक्ष में, याने मैथिली और बंगाली वाचनाओं में “तत्कतमं प्रयोगम् आश्रित्यैनम् आराधयामः।” ऐसा पाठभेद दिया है। इन दो तरह के पाठभेदों को पढ़ कर प्रश्न होता है कि यहाँ कवि ने मूल में कौन सा शब्द रखा होगा?। प्रथम दृष्टि में मैथिली और बंगाली वाचना का पाठान्तर ही समुचित लगता है, क्योंकि “प्रकरण” प्रकार का रूपक तो दश अङ्क का होता है। और प्रस्तुत अभिज्ञानशकुन्तला नामक “नाटक” तो सप्तांकों वाला है।अतः यहाँ सूत्रधार के मुख में नाट्यप्रयोग के अर्थ में “प्रयोगम्” ऐसा शब्द प्रयुक्त किया गया हो तो वही शास्त्रसम्मत सिद्ध होता है॥ किन्तु यह बात ठीक नहीं है। नटी के गीत से सूत्रधार रागबद्ध-चित्त-वृत्तिवाला हो गया था, अतः वह भूल जाता है कि उसने

ही स्वयं एक-दो क्षणों के पूर्व में जो कहा था कि आज इस अभिरूप भूयिष्ठा परिषत् के सामने कालिदास-ग्रथित वस्तु वाला एक नवीन नाटक प्रस्तुत करना है। इस विस्मृति के कारण ही उसके मुँह से "नाटक" शब्द के बदले में "प्रकरण" शब्द का उच्चारण हो जाता है। कवि कालिदास ने गीत के राग से सूत्रधार की जो विस्मृति दिखाई है, उसमें से ऐसा ध्वनि निकलता है कि प्रस्तुत नाटक में भी आगे चल कर नायक दुष्यन्त शकुन्तला को भूल जानेवाला है। इस नाटक में विस्मृति की एक प्रधान घटना आकारित होनेवाली है उसका ध्वनन "प्रकरण" शब्द के प्रयोग से किया जाता है। अतः काश्मीरी वाचना में उपलब्ध होनेवाले इस पाठ में आन्तरिक सम्भावना सुनिहित है, और इसी लिए प्रकृत में काश्मीरी पाठ को मौलिक हो ऐसा पाठ[8] कहा जायेगा।

(5) प्रस्तावना में नटी ने इस अभिज्ञानशकुन्तला नाम नाटक को "अपूर्व" भी कहा है। इस अपूर्व शब्द का शौरसेनी प्राकृत में "अपुरवम्" ऐसा ध्वनि परिवर्तन होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने प्राकृत-व्याकरण में पूर्वस्य पुरवः॥ 8-4-270 सूत्र से यह कहा है। तथा "अपुरवं नाडयं" ऐसा उदाहरण दिया है। अतः काश्मीरी वाचना में सुरक्षित रहा "अपुरवम्" ऐसा पाठ प्राचीनतम होने से अधिक श्रद्धेय सिद्ध होता है। परन्तु डॉ. रिचार्ड पिशेल एवं डॉ. डी. के. काञ्जीलाल के द्वारा सम्पादित बंगाली वाचना में इस शब्द के स्थान में "अउव्वं" ऐसा पाठान्तर मिलता है। ध्वनि परिवर्तन के कालानुक्रम को देखा जाए तो अपूर्व शब्द में पहले स्वर भक्ति होकर अपुरवम् ही बनेगा, एवं तत्पश्चात् समीकरण तथा पकार व्यंजन के लोप की प्रक्रिया होने से अउव्वं ऐसा प्राकृत रूप बनेगा। मतलब की बंगाली वाचना में यहाँ मूल शौरसेनी के रूप की सुरक्षा नहीं हुई है। अतः काश्मीरी वाचना के पाठ की प्राचीनतमता सिद्ध होती है, और हेमचन्द्र का उसीको समर्थन भी मिलता है, इसी लिए उसी के पाठान्तर को अधिक श्रद्धेय मानना चाहिए।

(6) प्रथमांक के अन्तिम भाग में, रंगमंच से बाहर निकलते हुए राजा ने एक श्लोक बोला है, उसमें एक पाठभेद ऐसा है कि जो केवल

काश्मीरी वाचना में ही उपलब्ध होता है। जैसे कि, गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चाद् असंवृतं चेतः। चिह्नांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य॥(1-30) यहाँ पर, मैथिली आदि सभी अन्य वाचनाओं में "चिह्नांशुकमिव" के स्थान में "चीनांशुकमिव" ऐसा पाठान्तर प्रवर्तमान है। अतः प्रश्न होता है कि इन दोनों में से कौन सा पाठभेद अधिक श्रद्धेय हो सकता है?। तो काश्मीरी वाचना के ही पाठ को, यानि "चिह्नांशुकमिव" को ही अधिक श्रद्धेय मानना चाहिए। क्योंकि, यदि अनुलेखनीय सम्भावना की दृष्टि से सोचेंगे तो "चिह्नांशुकमिव" में से ही पाण्डुलिपियों के प्रतिलेखन के दौरान प्रतिलिपि-कर्ता लोग के दृष्टिभ्रम से चीनांशुकमिव जैसे पाठभेद ने जन्म लिया हो सकता है। तथा जिस वाचना में प्राचीनतम पाठ संचरित हुआ हो, उसे मूल कवि के नज़दीक समय का पाठ होने का तो गौरव मिला ही है। अतः अद्यावधि अनुल्लिखित या अज्ञात रहा काश्मीरी वाचना का यह पाठभेद ही मान्य रखना चाहिए।

[3]

प्रथमांक में रंगकर्मिओं के द्वारा जो प्रक्षेप एवं परिवर्तनादि हुए हैं उसका एक उदाहरण निम्नोक्त हैः-- मृगयाविहारी राजा दुष्यन्त का रंगमंच पर प्रवेश होता है। सारथि ने बताया कि हमारे रथ और मृग के बीच में तपस्वी लोग आकर खड़े हो गये हैं। यहाँ एक रंगसूचना है और तापस की उक्ति है, जिसमें अनेक पाठान्तर मिल रहे हैं। जैसे कि,

''**(ततः प्रविशत्यात्मना तृतीयस्तापसः)**

तापस : *(ससंभ्रमं हस्तमुद्यम्य) राजन्, आश्रममृगोऽयम्, आश्रममृगोऽयम्। तत्साधु कृतसन्धानं प्रतिसंहर सायकम्। आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि॥* *(1-10)*

राजा : *एषः प्रतिसंहृतः। (यथोक्तं करोति)''*

काश्मीरी वाचना के इस पाठ में, रंगमंच पर दो शिष्यों के साथ एक तपस्वी प्रवेश करता है। वह मृगयाविहारी राजा को "यह आश्रम का मृग है" इतने शब्द कहता है। तथा राजा को शिक्षान्वित भी करता

है कि “राजा के शस्त्र तो आर्त व्यक्तियों की रक्षा के लिए होते हैं, अनागस व्यक्ति पर प्रहार करने के लिए नहीं होते हैं। अतः हे राजन्, सन्धान किये हुए तुम्हारे बाण को वापस लेलो, वही ठीक रहेगा''। इस निरूपण में कोई पुनरुक्ति नहीं है।

लेकिन मैथिली और तदनुसारिणी बंगाली वाचना के पाठों में कुछ विशेष नये अंश दाखिल किये गये हैं। जैसे कि, एक नेपथ्योक्ति के साथ इस दृश्य की शूरुआत होती हैः-

‘‘**(नेपथ्ये)** : *भो भो राजन्नाश्रममृगोऽयम्, न हन्तव्यो न हन्तव्यः। ....।*
(ततः प्रविशत्यात्मना द्वितीय-स्तापसः।)

तापस : *(हस्तमुद्यम्य) राजन्, आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो, न हन्तव्यः।*
न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन् मृदुनि मृगशरीरे पुष्पराशाविवाग्निः।
क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं क्व च निशितनिपाताः सारपुङ्खाः शरास्ते॥ (1-10)
तदाशु कृतसन्धानं प्रतिसंहर सायकम्।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि॥ (1-11)

राजा : *एष प्रतिसंहृतः।''*

यह मैथिली वाचना का पाठ है, और बंगाली वाचना में भी ऐसा ही पाठ उपलब्ध होता है। इन दोनों के नवीन पाठ्यांश का अभ्यास किया जाए तो, यहाँ के रंगकर्मिओं ने तापस के साथ में एक ही शिष्य का प्रवेश रंगमंच पर करवाया है। तथा उनमें “न हन्तव्यो, न हन्तव्यः” इतना अधिक वाक्य जोड़ दिया है। एवमेव, “तत्साधु” शब्द के स्थान में “तदाशु” ऐसा पाठान्तर दिया गया है। किन्तु तपस्वी के द्वारा कहे गये “आश्रममृगो-ऽयम्” जैसे शब्दों के बाद कुछ विशेष में कहने की आवश्यकता ही नहीं थी। क्योंकि एक बार कहा कि “यह आश्रम का मृग है” तब उसके पीछे, पुनरुक्ति करते हुए, “उसका हनन न किया जाय” ऐसा बार बार कहने की आवश्यकता ही नहीं थी। तथा “बाण का जल्दी से संहरण करो” ऐसा भी कहने की जरूरत नहीं थी। एवमेव, तापस (जिसको बंगाली

वाचना में वैखानस कहा है, वह) मृग को क्यूं न मारा जाए यह भी समझाने के लिए जो "न खलु न खलु बाण" वाले श्लोक का गान करता है, वह भी नितान्त पुनरुक्ति ही है। तथापि इस दृश्य की प्रस्तुति को अधिक प्रभावक बनाने के लिए उपर्युक्त शब्दों का प्रक्षेप किया गया होगा। नाटक जैसी समयबद्ध कला में तो हंमेशा पुनरुक्ति असह्य ही मानी गई है। अतः यह श्लोक भी उच्चतर समीक्षा की दृष्टि से सर्वथा प्रक्षिप्त ही सिद्ध होता है॥ [अत एव, राघव भट्ट ने जिस देवनागरी वाचना के पाठ पर टीका लिखी है उसमें यह "न खलु न खलु बाणः" वाले श्लोक को नहीं स्वीकारा है, उस पर कोई टीका नहीं लिखी है।]

इस प्रसंग में एक दूसरा बिन्दु भी निखर कर हमारे सामने आ रहा है। जैसे कि, काश्मीरी वाचना का जो पाठ प्राचीनतम होने के साथ साथ उच्चतर समीक्षा से भी समर्थित होता है, वह पाठसंचरण के प्रथम क्रमांक पर स्थित है। और जिसमें उपर्युक्त नये अंश दाखिल किये गये हैं वे दोनों मैथिली तथा बंगाली वाचनाओं का पाठ उत्तरवर्ती काल में आकारित हुए हैं। किन्तु अब प्रश्न होगा कि इन दोनों में कोई पौर्वापर्य है या नहीं? तो मैथिली वाचना ने काश्मीरी वाचना का "तापस" शब्द यथावत् रखा है, जिसको बदल कर बंगाली वाचना में "वैखानस" शब्द प्रयुक्त किया गया है, वह ध्यानास्पद है। अतः पाठविचलन के तृतीय क्रम पर बंगाली वाचना के पाठ की गीनती करनी होगी।

इसी दृश्य के अनुसन्धान में एक चर्चा अवशिष्ट हैः- मैथिली और बंगाली वाचना के पाठशोधकों (यानि किसी अज्ञात रंगकर्मिओं) ने जैसे इस दृश्य को प्रभावक बनाने के लिए कुछ नवीन शब्दावली का प्रक्षेप किया है, वैसे देवनागरी वाचना के पाठशोधक लोग भी उसी दिशा में आगे बढ़े है। जैसे कि, काश्मीरी वाचना में तापस के साथ में रंगमंच पर दो शिष्यों का आगमन हुआ था। मैथिली और बंगाली वाचना के पाठ के मुताबिक तापस के साथ में केवल एक ही शिष्य रंगमंच पर प्रविष्ट होता है। लेकिन रंगमंच पर तापस के साथ आये शिष्य (या शिष्यों) की कोई प्रवृत्ति नहीं दिखाई है। वे फिजुल के ही रंगमंच में उपस्थित

हुए है। यह बात रंगमंच की मर्यादा से विरुद्ध है। क्योंकि बिना कोई उपयोग का पात्र रंगमंच पर प्रवेश नहीं कर सकता है। अतः दाक्षिणात्य एवं तदनुगामिनी देवनागरी वाचना में तापस के साथ आये शिष्यों का उपयोग सोचा गया। जैसे कि,

''**राजा** : *एषः प्रतिसंहृतः। (इति यथोक्तं करोति)*

वैखानस : *सदृशमेतत् पुरुवंशप्रदीपस्य भवतः।*
जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं तव।
पुत्रमेवंगुणोपेतं चक्रवर्तिनम् आप्नुहि॥ (देव. 1-11)

इतरौ : *(बाहू उद्यम्य) सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रम् आप्नुहि॥*

राजा : *प्रतिगृहीतम्॥''*

इस तरह दाक्षिणात्य वाचना में, किसी अज्ञात रंगकर्मिओं ने इस दृश्य की रोचकता बढ़ाने के लिए वैखानस के मुख में आशीर्वादात्मक एक नया श्लोक दाखिल किया है। तथा रंगमंच पर शिष्यों की कुछ प्रवृत्ति दिखाने के लिए उस श्लोक के बाद रंगसूचना से कहा है कि वे दोनों शिष्य हाथ ऊठा कर एक गद्य वाक्य में उसी आशीर्वाद का पुनरुच्चारण करते हैं। यह निश्चित बात है कि दाक्षिणात्य वाचना ने प्रस्तुत दृश्य को सही स्वरूप में "दृश्य अर्थात् दर्शनीय" बनाया है। परन्तु ऐसा करने में भी पुनरुक्ति का प्रवेश तो हुआ ही है, जो नाटक जैसी समयबद्ध कला में असह्य मानी गई है॥ राजा को बाण वापस लेने के लिए चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त होने का जो आशीर्वाद दिया जाता है वह पाठ्यांश काश्मीरी एवं अन्य वाचनाओं में कैसा है? वह द्रष्टव्य हैः-

(1) काश्मीरी वाचना में,

राजा : *एषः प्रतिसंहृतः। (यथोक्तं करोति)*

तापस : *(सहर्षम्) साधु भोः, सदृशमेतत् पुरुवंशजातस्य भवतः।*
सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रमवाप्नुहि।

राजा : *(सप्रणामम्) प्रतिगृहीतं तपोधनवचनम्।*

(2) मैथिली वाचना में,

राजा : *एषः प्रतिसंहृतः। (इति यथोक्तं करोति)*

तापस : *(सहर्षम्) सदृशमैवेतत् पुरुवंशजातस्य नरेन्द्रप्रदीपस्य भवतः।*

सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रम् अवाप्नुहि।

राजा : *(सप्रणामम्) गृहीतं ब्राह्मणवचनमस्माभिः।*

(3) बंगाली वाचना में,

राजा : *एषः प्रतिसंहृतः।(इति यथोक्तं करोति)*

तापस : *(सहर्षम् सदृशमैवेतत् पुरुवंशप्रभवस्य नरेन्द्रप्रदीपस्य भवतः। सर्वथोभयचक्रवर्तिनं पुत्रम् अवाप्नुहि।*

राजा : *(सप्रणामम्) गृहीतं ब्राह्मणवचः।*

यहाँ पर तीन में से एक भी वाचना में आशीर्वादात्मक कोई श्लोक तापस के मुख में नहीं है। तीनों में केवल एक गद्य वाक्य से ही राजा को चक्रवर्ती पुत्र के आशीर्वाद दिये जाते हैं। तथा उस तापस के साथ में आया हुआ शिष्य रंगमंच पर निष्क्रिय खड़ा रहता है। लेकिन दाक्षिणात्य वाचना के पाठशोधकों ने तापस के मुख में एक नया आशीर्वादात्मक श्लोक दाखिल किया, तथा शिष्य के द्वारा गद्य वाक्य में उसी आशीर्वाद का पुनरुच्चारण भी करवाया। जिसके कारण शिष्य की रंगमंच पर उपस्थिति अनावश्यक नहीं लगती है, किन्तु ऐसा करने में पुनरुक्ति का दोष तो आ ही गया। तथा देवनागरी वाचना में तापस के स्थान में वैखानस शब्द आ जाता है। और मैथिली एवं बंगाली में तपोधनवचन के स्थान में ब्राह्मण वचन शब्द आ जाता है। वही जब देवनागरी में जाता है तो उसमें से "तपोधन" और "ब्राह्मण" इन दोनों को हटा कर, केवल "प्रतिगृहीतम्" इतना ही वाक्य बनाया जाता है। एवञ्च, देवनागरी वाचना ने काश्मीरी वाचना की "ततः प्रविशत्यात्मना तृतीयो वैखानसः" रंगसूचना का स्वीकार करते हुए, रंगमंच पर तापस के साथ दो शिष्य भी खड़े कर दिये है। किन्तु मैथिली एवं बंगाली वाचना ने "ततः प्रविशत्यात्मना द्वितीयस्तापसः" वाली रंगसूचना को छोड़ दी है। इस परिवर्तन में हम देख सकते हैं कि दाक्षिणात्य वाचना का पाठ चतुर्थ क्रमांक में परिष्कृत किया गया है। सारांशतः पाठविचलन का सिलसिला काश्मीरी से शूरू होकर, मैथिली में से बंगाली वाचना में पहुँचता है। तथा अन्त में, दाक्षिणात्य-देवनागरी वाचनाओं तक गतिशील रहता है। यद्यपि देवनागरी वाचना के पाठशोधकों

ने कुछ अंश काश्मीरी से लिया है, तथा कुछ अंश बंगाली में से लेने का उपक्रम भी रखा है। अतः देवनागरी वाचना के पाठ को केवल संक्षिप्त किया गया पाठ ही न कह कर, उसे संमिश्रित किया गया पाठ भी मिलता है ऐसा कहना होगा।

[4]

मृगयाविहारी राजा दुष्यन्त का कण्वाश्रम के पास अरण्य में प्रवेश होता है। आगे मृग है, उसके पीछे दुष्यन्त का रथ दौड़ रहा है। यहाँ रथवेग का निरूपण करने के लिए कालिदास ने दो श्लोकों की रचना की है। जैसे कि,मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया॥ (1-8), तथा, यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद् विपुलताम्॥(1-9) इन दोनों श्लोकों का स्वीकार सभी वाचनाओं में हुआ है। लेकिन जो प्रथम श्लोक है उसमें पाठान्तरों ने स्थान जमाया है। काश्मीरी वाचना में इस श्लोक के शब्द ऐसे हैः-

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया, निष्कम्पचामरशिखा निभृतोच्चकर्णाः।
आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलंघनीया धावन्ति ते मृगजवाक्षमयेव रथ्याः॥

देवनागरी वाचना में इस श्लोक के अन्तिम चरण में एक छोटा सा परिवर्तन हैः- धावन्त्यमी मृगजवा। किन्तु मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठ में पादक्रम में भी परिवर्तन किया गया है, तथा शब्दावली में भी परिवर्तन कर दिया है। जैसे कि,

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकायाः, स्वेषामपि प्रसरतां रजसामलङ्घयाः।
निष्कम्पचामरशिखाश्च्युतकर्णभङ्गा, धावन्ति वर्त्मनि तरन्ति नु वाजिनस्ते॥

और, मैथिली वाचना के द्वारा परिवर्तित किये गये पाठ का ही बंगाली वाचना ने अनुसरण किया। अतः इस श्लोक की शब्दगत रचना के विषय में एक ओर काश्मीरी तथा देवनागरी के पाठ में साम्य है, दूसरी ओर मैथिली तथा बंगाली वाचना के पाठों में साम्य है। लेकिन अन्यत्र उपलब्ध हो रहे प्रमाणों के आधार पर काश्मीरी वाचना का पाठ ही प्राचीनतम

होने से उसके पाठ को अधिक श्रद्धेय मानना चाहिए।

इसी तरह के अन्य उदाहरण भी देखेंगे। (2) तापस ने राजा को चक्रवर्ती पुत्र के आशीर्वाद देकर कहा कि, *"समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम्। एष चास्मद्गुरोः काश्यपस्य संसक्तहिमवत्सानुरनुमालिनीतीरम् आश्रमो दृश्यते। न चेद् अन्यकार्यातिपातस्तत् प्रविश्यात्र प्रतिगृह्यताम् अतिथिसत्कारः।"* यहाँ, काश्मीरी पाठ में, तापस के द्वारा केवल अपने गुरु एवं उनके आश्रम के बारे में आवश्यक प्राथमिक परिचय दिया है। उसी तरह के देवनागरी पाठ में भी वैखानस कहता हैः- *राजन्, समिदाहरणाय प्रस्थिता वयम्। एष खलु कण्वस्य कुलपते-रनुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते। न चेदन्यकार्यातिपातः, प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथेयः सत्कारः॥* किन्तु मैथिली एवं बंगाली वाचना के पाठ में कुछ विशेष शब्दों का प्रक्षेप हुआ है ऐसा दिखता है।

तापस : *समिदाहरणाय प्रस्थितावावाम्। एष चास्मद्गुरोः कण्वस्य साधिदैवत इव शकुन्तलया अनुमालिनीतीरे आश्रमो दृश्यते। न चेदन्यकार्यातिपातस्तदा प्रविश्य गृह्यतामतिथिसत्कारः॥* यहाँ पर कण्व के आश्रम के बारे में न केवल प्रथमिक परिचय दिया गया है, उसमें तो विशेष रूप से यह भी कहा जाता है कि "जिस आश्रम में शकुन्तला अधिदेवता के रूप में विराजमान है," उसमें जा कर अतिथिसत्कार को ग्रहण करो। यहाँ शकुन्तला के बारे में बिना पूछे जो कहा गया है वह खटकता है। मैथिली एवं बंगाली वाचना के पाठ में इतना अंश प्रक्षिप्त हो सकता है, क्योंकि जब बिना पूछे राजा को कहा ही गया है कि कण्व का आश्रम अभी तो *"साधिदैवत इव शकुन्तलया"* है, तो फिर उत्तरवर्ती संवाद में राजा को यह पूछने की आवश्यकता ही नहीं थी कि आश्रम में कुलपति है या नहीं। लेकिन दुष्यन्त ने तापस के मुख से उपर्युक्त वचन सुनने के बाद भी यह पूछा तो जरूर है कि आश्रम में अभी कुलपति है या नहीं? इससे सिद्ध होता है कि *साधिदैवत इव शकुन्तलया इतने* शब्द प्रक्षिप्त ही है। इस उदाहरण में भी काश्मीरी एवं देवनागरी का साम्य दृष्टिगोचर हो रहा है, तथा उसके प्रतिपक्ष में मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में साम्य मिलता है। साथ में यह भी स्पष्ट होता है कि प्राचीनतम पाठ

के रूप में काश्मीरी वाचना का पाठ यहाँ प्रायः शुद्ध रहा है। लेकिन कालान्तर में मैथिली वाचना में प्रक्षेप शूरू हुआ है, जिसका बंगाली वाचना के पाठ में अनुगमन हुआ है॥(3) आगे चल कर राजा ने अपने सारथि को आज्ञा दी है कि, *सूत, चोदयाश्वान्। पुण्याश्रम-दर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे॥* काश्मीरी जैसा ही पाठ देवनागरी में मिलता है। लेकिन मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में यहाँ *"सूत, प्रेरयाश्वान्। पुण्याश्रमदर्शनेनात्मानं पुनीमहे तावत्।"* ऐसा परिवर्तित पाठ मिलता है। किन्तु प्राचीनतमता के नाम पर काश्मीरी वाचना का पाठ अधिक श्रद्धेय रहेगा।

[5]

राजा ने आश्रम के प्राङ्गण में प्रवेश किया, वहाँ तीन आश्रम-कन्याएँ वृक्ष वाटिका में जलसिञ्चन करती हुई सामने से आ रही है। राजा वृक्षों की छाया में खड़ा रह कर उन कन्याओं का अवलोकन करता है, और उसके मुँह में से "अहो माधुर्यकान्तं खलु दर्शनम्" ऐसा प्रतिभाव निकलता है। तत्पश्चात् वह तीनों सखियों का संवाद सुनता है, और तीन कन्याओं में से शकुन्तला नामक कण्वदुहिता कौन है वह भी पहचान लेता है। अतः उसी को लक्षित करते हुए वह बोलता है : क्या यही है कण्व की दुहिता (शकुन्तला)? काश्मीरी वाचना में इस सन्दर्भ का पाठ्यांश निम्नोक्त है :

राजाः (निर्वर्ण्य सकौतुकम्) कथमियं सा कण्वदुहिता, अहो विस्मयः। शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो जनस्य। दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥ (1-15) भवतु, पादपान्तरित एव विश्वस्तभावाम् एनां पश्यामि। (तथा करोति)॥ यहाँ, काश्मीरी वाचना में, दुष्यन्त ने शकुन्तला को वनलता की उपमा दी है, और राजमहल में स्थित अपनी रानिओं को उद्यानलता कही है। याने शकुन्तला स्वरूपिणी वनलता ने अपने साहजिक सौन्दर्य से राजमहल की उद्यानलता को, याने रानिओं को जित लिया है। किन्तु यह उपमा प्रतीतिकर एवं सुन्दर होते हुए भी, व्याकरण की दृष्टि से क्षतिग्रस्त है। यहाँ वचनभङ्ग का दोष आ रहा है (यह बात डॉ. बेलवालकर जी के ध्यान में नहीं आयी है)। जैसे कि, शकुन्तला के लिए प्रयुक्त किया

गया “वनलता” का उपमान एकवचन में नहीं है, किन्तु वह तो बहुवचन में (वनलताभिः) है। (और रानिओं के लिए प्रयुक्त “उद्यानलताः” का उपमान बहुवचन में है, जो उचित है।) अतः यहाँ काश्मीरी पाठ में, उपमान में प्रयुक्त वचन की संगति बिठाने का प्रश्न पैदा होता है।

अब वाचनान्तर में इस सन्दर्भ का क्या पाठ चल रहा है? वह देखने की आवश्यकता है। मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में दुष्यन्त ने आश्रम कन्याओं की दूर से ही वृक्ष सिंचन की प्रवृत्ति देख कर, तीनों के रूपलावण्य के सन्दर्भ में निम्नोक्त प्रतिभाव दिया है। (मतलब कि उसने इन तीन सखियों में से अमुक एक कन्या शकुन्तला है ऐसा व्यक्तिविशेष का ज्ञान होने से पहले ही निम्नोक्त श्लोक का उच्चारण किया है।) :

राजा : *(आकर्ण्य) अये दक्षिणेन वृक्षवाटिकायाम् आलाप इव श्रूयते। तद् भवतु अवगच्छामि। (तथा कृत्वा परिक्रम्यावलोक्य च) अये एतास्तपस्विकन्यकाः स्वप्रमाणानुरूपैः सेचनघटैर्बालपादपेभ्यः पयो दातुमित एवाभिवर्तन्ते। अहो मधुरमासां दर्शनम्।*

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥ (मै. 1-16)
(ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला।)

इन दोनों वाचनाओं में, जिस सन्दर्भ को हमारे सामने आकारित किया गया है, उसमें एक ओर तीन सहेलियाँ है, तथा दूसरी ओर राजमहल की रानियाँ भी अनेक है। इस लिए उपर्युक्त श्लोक में वनलताओं (यानि कण्वाश्रम की तीन कन्याओं) के द्वारा राजमहल की उद्यानलताएँ (यानि अनेक रानियाँ) पराजित हुई है ऐसे वाक्यार्थ की संगति ठीक बैठती है॥ इसी तरह की पाठयोजना देवनागरी तथा दाक्षिणात्य में भी सुरक्षित रही मिलती है। अतः काश्मीरी वाचना का उपर्युक्त पाठ आन्तरिक सम्भावना की दृष्टि से दूषित प्रतीत हो रहा है, इस लिए उसे अग्राह्य घोषित करना चाहिए। यद्यपि डॉ. बेलवालकर दी ने इस सन्दर्भ का काश्मीरी पाठ ही समुचित समझा है, वह चिन्त्य ही है।

प्रथमांक में आश्रम कन्यायें वृक्षों को जलसिंचन कर रही है। वहाँ शकुन्तला के वल्कलवस्त्र को देख कर दुष्यन्त के मन में कुछ भाव प्रकट होते हैं। वल्कल-प्रसंग के साथ जुड़े पाठ्यांश में दो महत्त्वपूर्ण पाठान्तर मिलते हैं। उसकी चर्चा करना आवश्यक है। काश्मीरी वाचना में, दुष्यन्त ने जब कण्व की दुहिता के रूप में शकुन्तला को पहचानी तभी बकुलवृक्ष के पल्लव पवन से झंकृत होते हैं। इसको देख कर शकुन्तला को लगता है कि बकुल वृक्ष मुझे अपने पास बुला रहा है। यहाँ काश्मीर के रंगकर्मिओं ने मंचन की योजना ऐसी सोची है कि दुष्यन्त वही बकुलवृक्ष के पीछे ही खड़ा है, और उसी वृक्ष ने पल्लवाङ्गुलियाँ हिला कर शकुन्तला को अपनी पास बुलाई है। शकुन्तला भी उसी के पास जाती है। तब काश्मीरी वाचना में एक रंगसूचना पढ़ने को मिलती है, जिसमें लिखा है कि, *राज्ञः संनिकर्षमागच्छति।* तब वल्कलवस्त्र में खड़ी नायिका को नज़दीक से देख कर वह बोलता है कि शकुन्तला वल्कल वस्त्र में लपेटी हुई है, जो ठीक नहीं है। *इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति। ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया समिल्लतां छेत्तुम् ऋषिर्व्यवस्यति॥* (1-16) इसी क्षण वहाँ, यानि जिस बकुलवृक्ष के पीछे नायक दुष्यन्त खड़ा है, वहीं पर नज़दीक में आयी शकुन्तला बोलती है कि प्रियंवदा ने मुझे वल्कल से इतनी ज्यादा नियन्त्रित की है कि उसे शिथिल करने की आवश्यकता है॥ इस तरह से काश्मीर के रंगकर्मिओं ने शकुन्तला का वल्कल-शिथिलीकरण का प्रसंग राजा जहाँ खड़ा था, उसी बकुलवृक्ष के पास शकुन्तला को ले जाकर प्रदर्शित किया है॥ ऐसी योजना केवल काश्मीरी वाचना में ही दृष्टिगोचर हो रही है, अन्य किसी भी वाचना में ऐसा नहीं है। इस सन्दर्भ में रसिक प्रेक्षक ऐसा सोच सकता है कि दुष्यन्त शकुन्तला को नज़दीक से देख सके उस लिए बकुलवृक्ष ने शकुन्तला को अपने पास बुलाई थी! बकुल वृक्ष ने अपने पीछे खड़े दुष्यन्त के पास में शकुन्तला को बुलाने के लिए जो पल्लवाङ्गुलियाँ हिलाई थी, वह इस बात की व्यंजना करती है कि शकुन्तला यथार्थ में निसर्ग-कन्या है!

इस प्रसंग में, एक नया बिन्दु जोड़ेंगे कि काश्मीरी वाचना में पल्लवाङ्गुलि हिलाने वाला वृक्ष बकुल है ऐसा कहा गया है, किन्तु मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में वह चूतवृक्ष यानि आम्रवृक्ष है ऐसा पाठभेद किया गया है। (तथा देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में वह केसरवृक्ष के नाम से निर्दिष्ट है।) यहाँ, ये तो केवल नामान्तर मात्र ही है ऐसा सोच कर इन पाठभेदों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि काश्मीरी वाचना में बकुलवृक्ष के उपरांत सहकारवृक्ष का भी अलग से उल्लेख है। मतलब कि कण्वाश्रम में दो वृक्षों एवं दो लताओं का अलग अलग अस्तित्व नामशः दिखाया गया है। अतः काश्मीरी वाचना के दृश्य में, एक ओर बकुलवृक्ष के पीछे दुष्यन्त खड़ा है, दूसरी ओर नवमालिका लता सहकारवृक्ष के साथ लिपट कर खड़ी है। यहाँ प्रियंवदा शकुन्तला को बकुलवृक्ष के पास ही मूहुर्त भर के लिए खड़ा रहने को कहती है, क्योंकि वह जब बकुलवृक्ष के पास खड़ी है तो बकुलवृक्ष लतासनाथ हो ऐसा लगता है। प्रियंवदा ने शकुन्तला को एक लता की उपमा दी तब उसी बकुलवृक्ष के पीछे खड़े रहे दुष्यन्त को लता के रूप में शकुन्तला को वर्णित करने का मौका मिलता है॥ किन्तु मैथिली एवं बंगाली वाचना के दृश्य में दुष्यन्त किस वृक्ष के पीछे छीप कर खडा था, वह अज्ञात रहता है। उसका फलितार्थ यही है कि कहीं दूर पादपान्तर्हित हुआ दुष्यन्त अब शकुन्तला को बिना नज़दीकी से देखे ही लता के रूप में निरूपित करेगा॥ सारांशतः मैथिली एवं बंगाली पाठ में उपर्युक्त पाठान्तर के कारण यह प्रथम क्षति पैदा हुई है॥

तदनन्तर मैथिली एवं बंगाली पाठ में एक दूसरी क्षति भी दाखिल हुई है।जैसे कि, जिस सहकार वृक्ष के साथ लिपट कर नवमालिका लता खड़ी है, उसके मूल में शकुन्तला ने कलश से जलसिंचन कर दिया। बाद में अनसूया ने माधवीलता, जिसको तात काश्यप ने अपने हाथों से संवर्धित की थी, उसकी ओर ध्यान आकर्षित किया। अब तीनों सहेलियों के बीच में बारह उक्तिओं के विस्तार में माधवीलता सम्बन्धी बातचीत चलती रहती है। और उस बीच में शकुन्तला ने माधवीलता को भी जलसिंचन

कर दिया। तब जाकर नवमालिका लता पर से एक मधुकर उडता है और शकुन्तला के वदनकमल पर मंडराना शूरू करता है। यहाँ, मैथिली वाचना के पाठ को देख कर प्रश्न होता है कि नवमालिका पर तो जलसिंचन कब का हो गया था, तत्पश्चात् माधवीलता पर भी जल सिंचन किया गया है। क्या इतनी देरी के बाद, भ्रमर नवमालिका से उडता है–ऐसा कहना उचित है? समय की इस विसंगति को देखते हुए अनुमान करने का मन होता है कि माधवीलता सम्बन्धी जो विस्तृत संवाद सहेलियों के बीच हुआ है उसका पाठ्यांश प्रक्षिप्त हो सकता है।

काश्मीरी वाचना में भी माधवीलता का उल्लेख है, लेकिन प्रियंवदा और शकुन्तला के एक एक वाक्यों में ही उस संवाद सिमट लिया जाता है। जैसे कि,

प्रियंवदा : *हला शकुन्तले, एषा तातकाश्यपेन त्वमिव संवर्द्धितालिन्दके माधवीलता। प्रेक्षस्वैनम्। किं विस्मृता ते॥ शकुन्तला-आत्मापि विस्मरिष्यते। (इति तत्समीपं गच्छति)*

उसके प्रतिपक्ष में देखा जाए तो मैथिली और बंगाली वाचनाओं में माधवीलता से सम्बद्ध संवाद कुल 12 उक्तियों में फैला हुआ है।

माधवीलता से सम्बद्ध यह संवाद, भले ही वह दो वाक्यों में हो, या फिर बारह वाक्यों में हो, लेकिन उभयत्र उसकी मौलिकता संदेहास्पद है। क्योंकि यहाँ दो प्रश्न उपस्थित हो रहे हैः-1. कण्व मुनि के आश्रम में माधवीलता थी या नहीं? तथा 2. जैसे प्रियंवदा ने (मैथिली एवं बंगाली में) कहा है कि शकुन्तला आसन्न-पाणिग्रहणा है ऐसा कण्व ने बताया है, तो क्या सचमुच में ऐसा कहा होगा? विचार करने से लगता है कि ये दोनों बात प्रक्षिप्त होनी चाहिए। क्योंकि (1) प्रथमांक के वृक्षसिंचनवाले दृश्य में जब शकुन्तला ने पहले कह दिया है कि, *हला अनुसूये, न केवलं तातनियोगः, ममापि सहोदरस्नेहः एतेषु। (इति वृक्षसेचनं नाटयति)*। अर्थात् शकुन्तला के लिये तो आश्रम के छोटे बड़े सभी वृक्ष एवं लतायें सहोदर समान ही है, तो फिर कण्व ने अपने हाथों से संवर्द्धित की हुई केवल माधवीलता को ही शकुन्तला अपनी “भगिनी” कहे वह उचित नहीं है।

क्योंकि उससे पूर्वापर कथन में विरोध आता है। एवञ्च, कवि ने शकुन्तला का विशेष पक्षपात तो नवमालिका लता के प्रति पहले दिखाया है। शकुन्तला ने उसका वनतोषिणी (वनज्योत्स्ना) ऐसा विशेष-नामकरण भी किया है। अतः माधवीलता सम्बद्ध यह संवाद प्रक्षिप्त होने की पूरी सम्भावना दिख रही है। किन्तु (अज्ञात) प्रक्षेपकर्ता व्यक्ति ने सावधानी भी दिखाई है। चतुर्थांक में शकुन्तला-विदाय प्रसंग में भी इस माधवीलता का पुनरुल्लेख जोड़ दिया गया है। जैसे कि (मैथिली एवं बंगाली पाठ में)—

शकुन्तला : *(स्मृत्वा) ताद, लदावहिणिअं दाव माहविं आमन्तइस्सं।*
(तात, लताभगिनीं तावत् माधवीमामन्त्रयिष्यामि।)

कण्व : *वत्से, अवैमि ते तस्यां सौहार्दम्। इयं सा दक्षिणे। पश्य।*

शकुन्तला : *(उपेत्य लतामालिङ्गूय) लदावहिणिए। पच्चालिङ्ग मं साहामईहिं बाहाहिं। अज्ज पहुदि*
दूरवत्तिणी खु दे भविस्सं। ताद,अहं विअइअं तए चिन्तणीआ।
(लताभगिनि, प्रत्यालिङ्ग मां शाखामयैः बाहुभिः। अद्यप्रभृति दूरवर्तिनी खलु ते भविष्यामि। तात,अहमिव इयं त्वया चिन्तनीया।)

कण्व : *वत्से,*

सङ्कल्पितं प्रथममेव मया त्वदर्थे
भर्तारमात्मसदृशं स्वगुणैर्गतासि।
अस्यास्तु सम्प्रति वरं त्वयि वीतचिन्तः
कान्तं समीपसहकारमिमं करिष्ये॥4-15॥
तदितः पन्थानं प्रतिपद्यस्व।

शकुन्तला : *(सख्यावुपेत्य) हला, एसा दोण्णं पि वो हत्थे णिक्खेवो।*
(सखि, एषा द्वयोः अपि वां हस्ते निक्षेपः।)॥

यहाँ दो बातें खटकती हैः (1) शकुन्तला ने पतिगृह जाते समय कण्व को इस माधवीलता के बारें में चिन्ता करने को बीनति की है और अपनी सहेलियों से भी वही बीनति की है। इसमें न केवल पुनरुक्ति है,

उसमें पिता जी ने पहले दिये वचन पर अविश्वास है ऐसा भी सूचित होता है। दूसरा वदतोव्याघात जैसा बिन्दु यह है कि पिता कण्व ने जो वचन श्लोक : 15 के माध्यम से कहे है वह प्रथमांक में कही गई बातों से विरुद्ध है। प्रथमांक में शकुन्तला ने ही कहा है कि सहकार वृक्ष के साथ तो नवमालिका का व्यतिकर हो चूका है, उसके बाद अब कण्व कैसे इस माधवीलता को सहकार वृक्ष के साथ विवाहित करेंगे? इस विरोधपूर्ण बात को देखते हुए कहना होगा कि माधवीलता से सम्बद्ध जो वचन प्रथमांक में एवं चतुर्थांक में है वह दोनों ही प्रक्षिप्त है। एक तीसरा विचारणीय बिन्दु यह भी है कि माधवीलता के सन्दर्भ में जो "इति कलशमावर्जयति" ऐसी रंगसूचना है, वह भी "इति वृक्षसेचनं नाटयति" से हट के नये स्वरूप की है। यह भी माधवीलता से सम्बद्ध संवादमाला की प्रक्षिप्तता का सबूत बनता है। (2) जैसे प्रियंवदा बताती है कि शकुन्तला आसन्नपाणिग्रहणा है, ऐसा कण्व ने कहा है। तो यह संवाद भी प्रक्षिप्त इस लिये होगा कि पहले तो तापसों ने दुष्यन्त को ऐसा कहा है कि–*इदानीमेव दुहितरम् अतिथिसत्कारायादिश्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः॥* अर्थात् शकुन्तला के संभवित प्रतिकूल दैव के शमन के लिये कण्व तीर्थयात्रा पर चल पड़े है। यदि उन्होंने जान लिया था कि शकुन्तला आसन्नपाणिग्रहणा है, तो वे आश्रम से क्यों चल पड़े है? ऐसा सवाल पैदा होता है। तथा यह बात उन्होंने अकेली प्रियंवदा को ही क्यों कही थी? ऐसा दूसरा सवाल भी ऊठता है। महाकवि कालिदास जैसे परिणतप्रज्ञ नाट्यकार से ऐसी परस्पर विसंगतताओं से भरी प्रस्तुति सम्भव ही नहीं है। अतः सभी वाचनाओं में आये इस माधवीलता से सम्बद्ध संवादों को प्रक्षिप्त मानना ही उचित होगा। हाँ, उसमें पौर्वापर्य भी देखा जा सकता है। जैसे कि, काश्मीरी वाचना में माधवीलता से सम्बद्ध संवाद दो उक्तियों में सीमित है, वही मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में बारह उक्तियों तक विस्तारित किया गया है। ऐसा विस्तार उत्तरकाल में ही हुआ होगा। जो आगे चल कर, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में केवल चतुर्थांक में ही एक बार उल्लिखित होती है। इस तरह पाठ की

पूर्वापर संगति सोचने से उसमें यदि कोई प्रक्षिप्त अंश होता है तो वे उजागर होते ही हैं, लेकिन उसके साथ साथ पाठविचलन का क्रम भी दृश्यमान होने लगता है।

[7]

पाठपरिवर्तन की प्रवृत्ति का इतिहास दो हजार वर्षों के कालखण्ड में फैला हुआ है। मूल में क्या होगा और हम आज क्या पढ रहे है? यह जानना कदाचित् सम्भव न भी हो, तो भी प्राचीनतम काश्मीरी पाठ से शूरू करके देवनागरी वाचना पर्यन्त के विशाल पट पर दृष्टिपात करने का मौका मिल जाए तो वह भी रोमांचकारी हो सकता है। उसका एक निदर्श प्रथमांक में से द्रष्टव्य है :- कण्वाश्रम के वृक्षों को जलसिञ्चन कर रही सहेलियाँ आपस में बातें कर रही है। वहाँ सहकार यानि आम्रवृक्ष के साथ लिपट कर जो नवमालिका नामक लता खड़ी है, उसका शकुन्तला ने एक विशेष नाम दिया है : "वनतोषिणी"। यह जानकारी हमें मैथिली एवं बंगाली वाचना से मिली हैं। तथा देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में उसी लता का नाम "वनज्योत्स्ना" है। अद्यावधि ऐसी द्विविध जानकारियाँ मिली हैं उससे भिन्न, और विचारप्रेरक जानकारी काश्मीरी वाचना में से मिल रही है। शारदा पाण्डुलिपियों के पाठानुसार, शकुन्तला ने उस लता का तो कोई विशेष नाम नहीं दिया है। किन्तु जो सहकार वृक्ष है उसको "वनतोषिन्" ऐसा विशेष नाम दिया है! इस सन्दर्भ में, काश्मीरी वाचना की जो संवाद-शृंखला है वह निम्नोक्त हैः-

अनसूया : हला सउन्तले, इअं स्वअंवरवहूस्सहआरस्स तए किदणामधेअस्स वणदोसिणो णवमालिका।
(हलेशकुन्तले, इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेयस्य वनतोषिणः नवमालिका।)

शकुन्तला : (उपगम्यावलोक्य च) हला रमणीये काले इमस्स पादवमिहुणस्य वदिअरो संवुत्तो। इअं णवकुसुमजोव्वणा अअं वि बद्धफलदाए उवभोअक्खमो सहआरो। (हले, रमणीये काले अस्य

पादपमिथुनस्य व्यतिकरस्संवृत्तः, इयं नवकुसुमयौवना, अयमपि बद्धफलतयोपभोगक्षमस्सहकारः।) (पश्यन्ती तिष्ठति)

प्रियंवदा : हला अणसूए, जाणासि किं णिमित्तं सउन्तला वणदोसिणं अधिमेत्तं पेक्खदि त्ति।
(हले अनसूये, जानासि किं निमित्तं शकुन्तला वनतोषिणम् अधिमात्रं प्रेक्षत इति।)

अनसूया : ण खु विभावेमि। (न खलु विभावयामि।)

प्रियंवदा : जधा वनदोसिणा अणुसदिसेण पादपेण सङ्गदा णवमालिआ। अवि णाम एवं अहम्पि अत्तणो अणुरूवं वरं लभेमि त्ति। (यथा वनतोषिणानुसदृशेन पादपेन संगता नवमालिका, अपि नाम एवमहम् अप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभ इति।)

शकुन्तला : एस णूणं अत्तणो दे चित्तगदो मणोरह। (एष नूनम् आत्मनस्ते चित्तगतो मनोरथः।) (इति कलशम् आवर्जयति)

इस काश्मीरी वाचना के पाठ में सहकारवृक्ष को "वनतोषिन्" ऐसा दिया गया नाम यानि विशेषण आन्तरिक सम्भावना की दृष्टि से इसलिए सटीक बैठता है कि शकुन्तला ने उसे "बद्धफलतया उपभोगक्षम" कहा है। पूरे वन में खड़े सारें वृक्ष एवं लताओं में से केवल आम्रवृक्ष ही वन में परितोष देनेवाला होता है। स्त्री-सहज दृष्टि भी पहले प्रायः पुरुष की ओर ही आकृष्ट होती है। इस नैसर्गिक जैविक प्रवृत्ति को यदि प्रमाण माना जाए तो शकुन्तला ने प्रस्तुत प्रसंग में अनिमेष नेत्रों से जिसको देखा है, और जिसका "वनतोषिन्" ऐसा विशेष नाम दिया है वह सहकार वृक्ष ही होगा। अतः काश्मीरी पाठ ही यहाँ सन्दर्भोचित एवं तर्कसंगत प्रतीत हो रहा है।

अब मैथिली वाचना में "वनतोषिन्" शब्द में परिवर्तन करके जो "वनतोषिणी" बनाया गया है, तथा उसे नवमालिका का विशेषण बना लिया है उन संवादों को देखना होगा। "अनुसूया–हला सउन्तले, इअं सअंवरवहू सहआरस्स तए किदणामधेआ वणदोसिणी णोमालिआ।....॥ प्रियंवदा–अणुसूए जाणासि किं णिमित्तं सउन्तला वणदोसिणिं अदिमेत्तं

पेक्खदि॥ अनुसूया—ण क्खु विभावेमि॥ प्रियंवदा—जधा वणदोसिणी सरिसेण पादवेण सङ्गदा णोमालिआ, अवि णाम एवं अहं पि अत्तणो अणुरूअं वरं लहेअ त्ति॥" इस अन्तिम संवाद में वनतोषिणी और नवमालिका के बीच में सहकारवृक्ष से सम्बद्ध अन्य पदों की उपस्थिति अस्वाभाविक लगती है। वही इस संवाद की मौलिकता को संशय में डाल रही है॥ इस तरह की विसंगति को दूर करने के लिए बंगाली वाचना में प्रियंवदा की उक्ति में से "णोमालिआ" शब्द को हटाया गया है! जैसे कि, प्रियंवदा—जधा वणदोसिणी सरिसेण पादवेण संगदा तधा अवि णाम अहं पि अत्तणो अणुरूवं वरं लहेअं ति॥ इस तरह, काश्मीरी वाचना में संचरित हुआ पाठ (जिसमें सहकारवृक्ष के लिए प्रयुक्त हुआ वनतोषिन् शब्द है) जब मैथिली वाचना में परिवर्तित किया जाता है, तब उसमें उपर्युक्त दोष प्रविष्ट होता है। फिर तीसरे क्रम में बंगाली वाचना के पाठशोधकों ने उस विसंगति को हटा कर उस नवीन पाठ को व्यवस्थित बनाया है॥ तत्पश्चात् देवनागरी वाचना में जब वह पाठ पहुँचता है तब किसी अज्ञात पाठशोधक के मन में प्रश्न उठा होगा कि नवमालिका के लिए यह "वनतोषिणी" नाम कैसे सार्थक हो सकता है? इसलिए शायद उन लोगों ने नवमालिका के सौन्दर्य को स्थानापन्न करते हुए "वनज्योत्स्ना" ऐसा पाठान्तर दाखिल कर दिया। परिणामतः उस उक्ति पर चौथा परिवर्तन आरूढ होता है। जैसे कि, शकुन्तला—हला रमणीए खु काले इमस्स लदापाअवमिहुणस्स वइअरो संवुत्तो। णवकुसुमजोवणा वणजोसिणी, सिणिद्धपल्लवदाए उवभोअक्खमो सहआरो॥ ....॥ प्रियंवदा—जह वणजोसिणी अणुरूवेण पाअवेण संगदा, अवि णाम एवं अहं वि अत्तणो अणुरूवं वरं लहेअत्ति। यहाँ दो बिन्दुएँ ध्यानास्पद है। (क) राघवभट्ट ने वणजोसिणी प्राकृत शब्द की छाया ज्योत्स्ना शब्द से की है। तथा (ख) बद्धफलतया उपभोगक्षम सहकार को "स्निग्धपल्लवतया उपभोगक्षम सहकार" कहा गया है। पाँचवे क्रम में दाक्षिणात्य वाचना में, प्रायः उसी तरह का पाठ प्रसारित किया गया है। किन्तु दो स्थान में छोटा सा परिवर्तन किया गया है। जैसे कि, (क) "वनज्योत्स्ना" शब्द में एक नया संस्कार करके "वनज्योत्स्नी" शब्द (वनतोषिणी जैसा दीर्घ

ईकारान्त शब्द) रखा जाता है। तथा (ख) बद्धफलवाले सहकार को बद्धपल्लववाला बालसहकार कहा गया हैः शकुन्तला—सहि, रमणीए क्खु काले इमस्स लदापाअवमिहुणस्स वइअरो संवुत्तो, जं णवकुसुमजोव्वणा वणजोसिणी बद्धपल्लव-दाए उवभोअक्खमो बालसहआरो। (यहाँ पर टीकाकार काटयवेम लिखते हैं कि जोसिणीति ज्योत्स्नाशब्दस्य देश्यां रूपम्। (पृ. 16) देवनागरी के ज्योत्स्ना शब्द को बदल कर दाक्षिणात्य परम्परा ने ज्योत्स्नी शब्द को क्यूं रखा है? उसका उत्तर काटयवेम से मिलता है।) इस पाठपरिवर्तन में एक दूसरी दृष्टि भी कार्यरत है। पहली तीनों वाचनाओं में सहकार को "बद्धफलतया उपभोगक्षम" कहा गया है, उसमें से शृङ्गारिक ध्वनि प्रस्फुटित होती है, अन्य दो वाचनाओं में उसको क्रमशः मन्द की जा रही है। एवं अन्त में दाक्षिणात्य वाचना में तो "बालसहकार" कह कर, उस ध्वनि को बीलकुल शान्त की गई है। इस सन्दर्भ की पूरी पाठयात्रा देखने से काश्मीरी पाठ ही अधिक श्रद्धेय है ऐसा प्रतीत होगा।

[8]

प्रथमांक की पाठपरम्पराओं में शकुन्तला के वल्कलवस्त्र को लेकर भी लिपिकारों या पाठशोधकों के द्वारा संक्षेप-प्रक्षेप की लीला खेली गई हैः- काश्मीरी की प्राचीनतम वाचना में राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला के वल्कल से सम्बद्ध एक ही श्लोक का उच्चारण किया है : "सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं"(1-17)। लेकिन मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठ में निम्नोक्त दो श्लोक उपलब्ध हो रहे हैं।

"**प्रियंवदा** : *(विहस्य)* *एत्थ दाव पओहरभारवित्थारइत्तकं अत्तणो जोव्वणारम्भं उआलहस्स।*

(अत्र तावत् पयोधरभारविस्तारयितृकमात्मनो यौवनमुपालभस्व।)

राजा : *सम्यगियमाह प्रियंवदा—*

इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे
स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन।
वपुरभिनवमस्याः पुष्यति स्वां न शोभां
कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण॥1-18॥

अथवा काममप्रतिरूपमस्य वयसो वल्कलं न पुनरलङ्कारशोभां न पुष्यति। कुतः-

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥1 19॥''

रिचार्ड पिशेल ने बंगाली वाचना के समीक्षित पाठ में भी उपर्युक्त दोनों ही श्लोकों का स्वीकार किया हैं।[10] किन्तु उसी बंगाली पाठ पर टीका लिखनेवाले चन्द्रशेखर चक्रवर्ती ने अपनी सन्दर्भदीपिका टीका (पृ. 107) में वल्कल वस्त्र से सम्बद्ध एक तीसरा श्लोक भी दिया है। जैसे कि,

''अपि च–

कठिनमपि मृगाक्ष्या वल्कलं कान्तरूपं
न मनसि रुचिभंगं स्वल्पमप्यादधाति।
विकचसरसिजायाः स्तोकनिर्मुक्तकण्ठं
निजमिव कमलिन्याः कर्कशं वृन्तजालम्॥ 1 19 बी॥''

यहाँ देवनागरी पाठ के टीकाकार राघवभट्ट ने भी, काश्मीरी वाचना की तरह, केवल सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं वाले एक ही श्लोक पर टीका लिखी है। अतः चर्चा करनी आवश्यक हो जाती है कि मैथिली और बंगाली पाठ्यांश में प्रक्षेप है या फिर काश्मीरी एवं देवनागरी पाठ में संक्षेप हुआ है?। यहाँ सब से पहले कालिदास के "अथवा" निपात के प्रयोग का स्वारस्य विचारणीय है। कालिदास जब एक विचार की प्रस्तुति करते हैं तो वहाँ तर्क की दृष्टि से प्रतिपक्ष में भी कोई विरोधी विचार प्रस्ताव के योग्य होगा तो उसको तुरन्त "अथवा" निपात से अवतारित कर ही देते हैं। उदाहरण के रूप में–क्व सूर्यप्रभवो वंशः, क्व चाल्पविषया मतिः। इत्यादि (रघुवंशम् 1-2) लिखने के बाद तो, काव्यसर्जन के लिये उद्यत हुए कवि को उस कर्म से विरत ही हो जाना चाहिये। लेकिन हमारे कवि यहाँ तुरन्त "अथवा" निपात का प्रयोग करते हुए पक्षान्तर को प्रस्तुत कर देते हैं कि

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः। (रघुवंशम् 1-4)

इस तरह से, सूर्यवंश अतिमहान् होते हुए भी उनके द्वारा रघुवंश का वर्णन कैसे सम्भव है वह लिख देते हैं।[11]

(मैथिली एवं बंगाली पाठ के अनुसार) शकुन्तला की सहेलियों के ऐसे उपर्युक्त संवाद को सून कर वृक्ष के पीछे खड़े दुष्यन्त ने दो (18 एवं 19) श्लोकों का उच्चारण किया है। और इन दोनों के बीच में "अथवा" निपात का विनियोग किया है। श्लोक–18 में पहले कहा गया है कि स्तन-युगल के विस्तार को वल्कल से बांधा गया है, जिससे शकुन्तला का अभिनव शरीर अपनी निजी शोभा को नहीं बढ़ाता है। जैसे कि पाण्डु पर्णों के अन्दर बांधे गये पुष्प शोभा नहीं देते हैं। इतना कह देने के बाद नायक को अपने विचार में रहा एक सूक्ष्म दोष भी दिखाई देता है। अभी जो कहा गया है उसका मतलब तो यही होगा कि शकुन्तला के सौन्दर्य को निखारने के लिए वल्कल नहीं, किन्तु कुछ अन्य वस्त्र होने चाहिये। नायक तुरन्त अपने वाग्दोष को सुधार ने के लिए, (स्वोक्तिम् आक्षिपति–अथवेति।) "अथवा" शब्द का प्रयोग करता हुआ, इस सन्दर्भ में एक नया पक्षान्तर प्रस्तुत करता है कि शकुन्तला के वल्कल भी उसकी शोभा नहीं बढ़ाते हैं ऐसा नहीं है। क्योंकि जो मधुर आकृतिवाले लोग होते हैं उसको तो सब कुछ अच्छा ही लगता है। इस तरह से पूरे नाटक में, जहाँ जहाँ पर अमुक विचार को प्रस्तुत करने के बाद पक्षान्तर में दूसरा विचार भी कहना तर्क की दृष्टि से अनिवार्य लगता है तो कवि ने वहाँ "अथवा" का प्रयोग किया ही है। अर्थात् "अथवा" निपात से अवतारित किये दो दो श्लोकों का जो भी सन्दर्भ है वह यदि सही अर्थ में पक्षान्तर को प्रस्तुत करता है तो वह मौलिक होने की सम्भावना बहुत है। तथा काश्मीरी एवं देवनागरी (एवं दाक्षिणात्य) वाचना के पाठ को संक्षिप्त करनेवालों ने ऐसे "अथवा" निपात से जूड़े दो दो श्लोकवाले सन्दर्भों को ही कटौती करने के लिए प्रायः पसंद किये है। काश्मीरी वाचना में तथा राघवभट्ट के द्वारा स्वीकृत देवनागरी पाठ में उपर्युक्त

"इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे" वाला श्लोक इसी कारण से नहीं मिलता है।

यद्यपि मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में उपलब्ध हो रहे वल्कल-सम्बन्धी उपर्युक्त दो श्लोकों की अवतरणिका रूप में दुष्यन्त के मुख में जो वाक्य *(सम्यगियमाह प्रियंवदा)* मैथिली वाचना में प्राप्त होता है वह दूषित प्रतीत होता है। क्योंकि मैथिली वाचना के किसी अज्ञात पाठशोधक ने दुष्यन्त से कहलाया है कि, "सम्यगियमाह प्रियंवदा" उसका मतलब यह होगा कि प्रियंवदा ने जो कहा है कि "शकुन्तला को अपने पयोधर के विस्तार करनेवाले यौवन को उपालम्भ देना चाहिए" वह कहेना सम्यग् है। वस्तुतः राजा तो शकुन्तला के कहने के साथ सम्मत हो रहा है कि प्रियंवदा ने उसके वल्कल को जो कस के बांधे (अतिपिनद्ध) है, वह ठीक नहीं है। फिर नायक को लगता है कि शकुन्तला को जो वल्कल में बांधी गई है वह तो किसी पुष्प को जैसे पाण्डुपर्णों में कस के बांधे हो ऐसा भद्दा लगता है। और ऐसा कहने पर ही तुरन्त उसको पक्षान्तर प्रस्तुत करने की आवश्यकता पडती है कि, "अथवा काममप्रतिरूपमस्य वयसो वल्कलं न पुनरलंकारशोभां न पुष्यति। कुतः, सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं" इत्यादि। इस तरह वल्कल-सम्बन्धी दोनों श्लोकों की रचना कालिदासीय प्रतीत होती है, जिसकी सही स्वरूप में सुरक्षा बंगाली पाठ में हुई है। लेकिन मैथिली वाचना के पाठशोधकों ने राजा की उक्ति में प्रियंवदा का नाम जोड़ कर परम्परागत पाठ को गलत दिशा में घुमा दिया है।

चन्द्रशेखर चक्रवर्ती की टीका के अनुसार "सरसिजमनुविद्धं''। श्लोक के नीचे जो "कठिनमपि''। शब्दों वाला श्लोक है, उसे "अपि च" निपात से बांधा गया है। लेकिन यहाँ सरसिजम्। श्लोक से जो विचार प्रस्तुत किया गया है उसी का पुनरुच्चारण दूसरे शब्दों में किया जा रहा है। अतः नाटक में, (वह भी शाकुन्तल जैसे कालिदास के नाटक में) पुनरुक्ति रूप संवाद प्रक्षिप्त होने की पूरी सम्भावना है। तथा टीकाकार चन्द्रशेखर ने भी इस कठिनमपिमृगाक्ष्या वल्कलं कान्तरूपंवाले श्लोक (1-20) के लिए कहा है कि, "पद्यमिदं दाक्षिणात्य–तीरभुक्तीय ग्रन्थेषु न दृश्यते।" तीरभुक्तीय

अर्थात् मैथिली पाठ में, एवमेव देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में भी वह श्लोक संचरित नहीं हुआ है। इससे भी इस श्लोक का मौलिक न होना सिद्ध हो जाता है। इस श्लोक को बंगाली पाठ में प्रक्षिप्त मानना होगा। यहाँ पर बृहत्पाठ प्रस्तुत करनेवाली तीनों वाचनाओं की कोई समान पूर्वज प्रतिलिपि (जिसको "ज्ञ" नाम देकर पहचानी जायेगी ऐसा हमने पहले कहा है) होने की सम्भावना करनी आवश्यक बन जाती है। तभी हम मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में दिख रहे शकुन्तला के वल्कल वस्त्र सम्बन्धी दो श्लोकों की उपलब्धि, जो मौलिक होने की सम्भावना दिख रही है, उसे समझा सकते हैं। और काश्मीरी वाचना में उस श्लोक का न होना वह संक्षेप का कारण हो सकता है ऐसा कह सकते हैं।

[9]

कण्वाश्रम में शकुन्तला अपनी दो सहेलियों के साथ वृक्षों को जलसिंचन कर रही थी। तब दोनों सहेलियाँ शकुन्तला के विवाह सम्बन्धी बातचीत छेड़ कर आनन्द ले रही थी। पादपान्तर्हित दुष्यन्त का मन भी शकुन्तला के प्रति आकृष्ट हो रहा है। तब वह एक क्षण के लिए सोचने में पड़ जाता है कि क्या यह शकुन्तला कुलपति कण्व की असवर्णक्षेत्रसम्भवा कन्या होगी? किन्तु दूसरी ही क्षण में उसका मन एक पक्षान्तर प्रस्तुत करता है:-

"**राजा** : *अपि नाम कुलपतेरियम् असवर्णक्षेत्रसम्भवा स्यात्। अथ वा,*
असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदेवम् अस्याम् अभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणन्तःकरणप्रवृत्तयः॥ (1-19)"

यहाँ, काश्मीरी वाचना में जो श्लोक मिलता है उसका पाठ देखने से मालूम होता है कि उसमें दुष्यन्त ने अपने मन को "आर्यम्" ऐसे शब्द से विशेषित नहीं किया है। मैथिली एवं बंगाली पाठ में इसी श्लोकसहित का पाठ्यांश निम्नोक्त है:-

"**राजा** : *अपि नाम कुलपतेरियम् असवर्णक्षेत्रसम्भवा भवेत्। अथवा*
कृतं सन्देहेन, असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यद् आर्यम् अस्याम्

अभिलाषि मे मनः। सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥''

इस मैथिली पाठ में स्पष्ट रूप से दुष्यन्त ने अपने मन के लिए "आर्यम्" ऐसे शब्द का प्रयोग किया है। इसी तरह से बंगाली पाठ में, और देवनागरी आदि वाचनाओं में भी "आर्यम्" शब्द का विनियोग किया गया है। अतः प्रश्न होता है कि दो तरह की पाठपरम्पराओं में से किस का पाठ श्रद्धेय माना जाय? नाटक जैसी समयबद्ध कला में पुनरुक्ति सामान्यतः असह्य एवं अग्राह्य मानी जाती है। इस मानदण्ड से सोचा जाए तो उपर्युक्त श्लोक में राजा दुष्यन्त ने उत्तरार्ध में जो अर्थान्तरन्यास का प्रयोग किया है उसमें "सताम्" शब्द को तो रखा हि है। अतः लगता है कि "आर्यम्" शब्द की जरूरत नहीं है। "सताम्" ऐसे बहुवचन वाचक शब्द में दुष्यन्त का अन्तर्भाव होता ही है। इस दृष्टि से काश्मीरी वाचना का पाठ, जो प्राचीनतम भी है, वह अधिक श्रद्धेय प्रतीत होता है।

इस प्रसंग में यह भी कथनीय है कि काश्मीरी वाचनानुसारी पञ्चमांक में शकुन्तला को जब परभृतिका कही जाती है, तब उसके मुँह से दुष्यन्त के लिए "अनार्य" शब्द नहीं निकला है। मैथिली और बंगाली वाचनाओं के प्रथमांक में दुष्यन्त ने अपने आपको "आर्य" कहा है, तो उसके विरोध में, पञ्चमांक में जब शकुन्तला उसको "अनार्य" शब्द से सम्बोधित करती है तो उसमें नाट्यात्मक वक्रोक्ति आकारित होती है। किन्तु काश्मीरी वाचना में "आर्य" एवं "अनार्य" इन दोनों का स्थान नहीं है, यह ध्यातव्य है। क्योंकि तापस ने दुष्यन्त को चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त करने के आशीर्वाद दिये थे, तब काश्मीरी वाचना के पाठ में, दुष्यन्त ने सप्रणाम कहा है कि प्रतिगृहीतं तपोधनवचनम्। लेकिन इसी सन्दर्भ में मैथिली (और तदनुगामिनी बंगाली) वाचना के पाठ में दुष्यन्त के मुँह से "प्रतिगृहीतं ब्राह्मणवचनम्" ऐसा पाठान्तर मिलता है। उसी तरह से काश्मीरी वाचना के तृतीयांक के पाठ में "गान्धर्वेण विवाहेन" वाला श्लोक ही नहीं है। किन्तु मैथिली (और तदनुगामिनी बंगाली) वाचना के पाठ में वह श्लोक उपलब्ध होता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मैथिली वाचना के

पाठशोधकों ने काश्मीरी वाचना के प्राचीनतम पाठ में स्मृतिशास्त्र से प्रभावित हो ऐसे नये पाठपरिवर्तन सार्वत्रिक रूप से किये होंगे। जो आज हमें पाठान्तर के रूप में मिल रहे हैं।

[10]

प्रथमांक में भ्रमरबाधा प्रसंग का निरूपण करते हुए कवि कालिदास ने कितने श्लोक लिखे होंगे? यह चर्चा का बिन्दु है। क्योंकि सब से प्राचीनतम काश्मीरी वाचना के पाठ में केवल "चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीम्" (1-21) श्लोक उपलब्ध होता है। लेकिन मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठ में "यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते" वाला एक अधिक श्लोक भी मिलता है। देवनागरी वाचना के कुछ संस्करण में भ्रमरबाधा से सम्बद्ध एक ही श्लोक मिलता है, तो कुछ संस्करण ऐसे भी है कि जिसमें इस प्रसंग के दो श्लोक पढ़ने को मिलते हैं। अतः यहाँ भी प्रश्न होता है कि मूल पाठ में एक नये श्लोक का प्रक्षेप हुआ होगा या संक्षेप किया गया होगा?। प्राचीनतम काश्मीरी (एवं राघवभट्ट द्वारा स्वीकृत देवनागरी) वाचना, जिसमें एक ही श्लोक उपलब्ध होता है, हम पहले उसका पाठ्यांश देखते हैंः

शकुन्तला : *(भ्रमरसम्पातं नाटयति) अम्मो, सलिलसेअसंवुत्तो णोमालिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अणुवत्तदि। (भ्रमरबाधां निरूपयति)*

राजा : *(विलोक्य सस्पृहम्)*
चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं, रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकगतः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं, वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥(1-19)

शकुन्तला : *परित्राध्वम् मामनेन कुसुमपाटच्चरेणाभिभूयमानाम्॥*

उपर्युक्त काश्मीरी वाचना के पाठ के सामने, मैथिली एवं बंगाली वाचना में भ्रमरबाधा प्रसंग का दो श्लोकोंवाला पाठ निम्नोक्त स्वरूप का हैः

शकुन्तला : *(ससंभ्रमम्) अम्मो, सलिलसेअसंभन्तो णोमालिअं उज्झिअ वअणं मे महुअरो अहिभोदि।* (भ्रमरबाधां निरूपयति)

राजा : (सस्पृहम्)

यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते ततस्ततः प्रेरितवामलोचना।
विवर्तितभ्रूरियमद्य शिक्षते भयादकामापि हि दृष्टिविभ्रमम्॥ (1-22)

अपि च, (सासूयमिव)

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं, रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करं व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं, वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥(1-23)

शकुन्तला : *हला परित्ताअध परित्ताअध मं इमिणा दुट्ठमहुअरेण अहिहूयमाणिं।*

यहाँ दो तरह के उपर्युक्त पाठभेदों का तुलनात्मक अभ्यास करने से प्रथम वाचना में एक श्लोक कम है, और दूसरी वाचना में एक श्लोक अधिक है इतना ही ध्यान में नहीं आता है। लेकिन जहाँ (मैथिली एवं बंगाली में) दो श्लोकोंवाला पाठ मिलता है वहाँ उनका अवतार करने के लिए जो रंगसूचनायें दी गई है, उसमें भी कुछ परिवर्तन दिखता है। मैथिली एवं बंगाली पाठ में "सस्पृहम्" शब्द से "यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते" श्लोक का अवतार किया गया है। किन्तु काश्मीरी पाठ में तो "सस्पृहम्" शब्द से "चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं" का अवतार किया गया है। इस तरह का पाठान्तर क्यूं होगा? ऐसी जिज्ञासा पैदा होती है। पहले श्लोक का वाक्यार्थ देखते हैं तो मालूम होता है कि भ्रमरबाधा से पीडित शकुन्तला की आँखें यहाँ वहाँ घूम रही है उसको दुष्यन्त सस्पृहा देख रहा है। शकुन्तला के चंचल नेत्रों की रमणीयता देखने में नायक को आनन्द मिल रहा है। तथा दूसरे श्लोक के वाक्यार्थ को ध्यान पर लेते हैं तो मालूम होता है कि राजा अब भ्रमर की ईर्ष्या कर रहा है, इस लिए वहाँ पर "सासूयम्" ऐसी रंगसूचना दी गई है। यह रंगसूचना

यहीं पर समुचित प्रतीत होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि काश्मीरी वाचना में संक्षेप करने के आशय से "यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते" श्लोक को हटाया गया होगा, लेकिन उस श्लोक के साथ जूड़ी "सस्पृहम् "जैसी रंगसूचना को भी हटाना जरूरी था, वह बात पाठशोधक के ध्यान में आयी ही नहीं! परिणामतः जिस श्लोक को "सासूयम्" शब्दों से प्रस्तुत करना था, वह "चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं" श्लोक "सस्पृहम्" शब्दों से प्रस्तुत हो गया! इस नाटक के पाण्डुलिपियों में संचरित हुए पाठ में जहाँ जहाँ पर ऐसी विसंगतियाँ दिखाई रही है, वे स्थान ही हमारे लिए मूल पाठ की गवेषणा करने में सहायक होते हैं। काश्मीरी पाठ में उपर्युक्त जो विसंगति है वह कालान्तर में देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं की पाण्डुलिपियों में (और वर्तमान संस्करणों में) भी एक समान रूप से अद्यावधि सर्वत्र संचरित होती रही है।[13]

उपर्युक्त चर्चा से एक निष्कर्ष निकाला जा सकता है। जैसे कि, अभिज्ञानशाकुन्तल में अनेक स्थानों में वर्णनात्मक श्लोकों का संनिवेश किया गया हैं, वहाँ पर दो दो श्लोकों को समुच्चयार्थक "अपि च" अव्यय से परस्पर सम्बद्ध किये गये हैं। लेकिन ऐसे स्थान ही प्रक्षेप एवं संक्षेप के सम्भवित स्थान भी हो सकते हैं। अतः शाकुन्तल में प्रयुक्त इस समुच्चयार्थक "अपि च" के प्रयोग का स्वारस्य सर्व प्रथम गवेषणीय बनता है। इसी भ्रमरबाधा प्रसंग को हम उदाहरण के रूप में लेते हैं। यहाँ "यतो यतः षट्चरणोभिवर्तते" और "चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं" इन दो श्लोकों को "अपि च" निपात से सम्बद्ध किये गये हैं। उक्त श्लोकों के शब्दों से वर्णित भ्रमरबाधा प्रसंग में, पहले श्लोक में भ्रमर से संत्रस्त हो रही शकुन्तला का चित्र खिंचा गया है।[14] तत्पश्चात् दूसरे श्लोक में शकुन्तला के मुखारविन्द पर मंडरा रहे ईर्ष्याजनक भ्रमर का चित्र खिंचा गया है।[15] यहाँ एक ही दृश्य की द्विपार्श्वी रमणीयता को दो अलग अलग श्लोक में वर्णित करने की आवश्यकता है। यहाँ एक श्लोक में शकुन्तला के चंचल नेत्रों का चित्र दिया है, तथा दूसरे श्लोक में भ्रमर की हरकतें दिखाई जा रही है। अतः कवि कालिदास ने यहाँ समुच्चयार्थक "अपि

च" का प्रयोग करके इन दोनों वर्णनों को परस्पर बांधे हैं। नायक के द्वारा भ्रमरबाधा प्रसंग की प्रथम क्षण में नायिका के लोचन का सौन्दर्य प्रेक्षणीय है, इसी लिये कवि ने "सस्पृहम्" ऐसी रंगसूचना लिखी है। दूसरी क्षण में, नायक के मन में भ्रमर के प्रति प्रतिस्पर्धा का भाव जाग ऊठता है, इस लिए उस भाव को भी अभिव्यक्त करने के लिए "सासूयम्" जैसी रंगसूचना लिखी है।यहाँ दोनों श्लोकों में दृष्टिकोणों का भेद होने से उसमें पुनरुक्ति का कोई अवकाश ही नहीं है। अतः दो श्लोकों से प्रस्तुत हुआ यह वर्णन मूलगामी पाठ हो सकता है, जो बंगाली एवं मैथिली वाचना में सुरक्षित रहा है। लेकिन समय-मर्यादा की बाधा से पीडित काश्मीर के सूत्रधारों ने उन दोनों श्लोकों में से पहलेवाले श्लोक को हटा दिया होगा। परिणामतः देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना की पाठपरम्पराओं में भी केवल चलापाङ्गां वाला श्लोक ही "सस्पृहम्" जैसी विसंगत रंगसूचना के साथ संचरित होता रहा है। सारांशतः "अपि च" से सम्बद्ध दो दो श्लोकवाले वर्णन में यदि पुनरुक्ति दिखती है तो वह प्रक्षेप का स्थान हो सकता है। किन्तु यदि एक ही दृश्य में द्विपार्श्वी रमणीयता वर्णित करने का सन्दर्भ दिखता है तो वहीं पर दोनों ही श्लोक मौलिक हो सकते हैं, और अनुगामी काल में सूत्रधारों ने उनमें से किसी एक को हटा के संक्षेप किया गया होगा–यह बात सिद्धान्त के रूप में स्वीकारनी चाहिए।

[11]

भ्रमरबाधा प्रसंग के पश्चात् दुष्यन्त और तीनों सहेलियाँ एक वृक्ष की छाया में बैठते हैं। उनकी आपस में बातचीत शूरू होती है। परस्पर के परिचय को प्राप्त करने के लिए अनसूया कुछ प्राथमिक प्रश्न पूछती है :- सहि, ममावि कोदूहलम् अत्थि य्येव। ता पुच्छिसं दाव णम्। (प्रकाशम्) अय्यस्स णो महुरालावजणिदो विसम्भो मन्तावेदि। कदमं अय्यो वण्णं अलंकरेदि। किं णिमित्तं वा सुउमारेण अय्येण तवोवणागमणपरिसमस्स अत्ता पत्थिकदो। *(सखि, ममापि कौतूहलम् अस्त्येव। तत् प्रक्ष्यामि तावदेनम्। आर्यस्य नो मधुरालापजनितो विस्रम्भो मन्त्रयति। कतमं पुनरार्यो वर्णम्*

अलंकरोति। किं निमित्तं वा सुकुमारेण आर्येण तपोवनगमन-परिश्रमस्यात्मा पात्रीकृतः॥)

इसमें (काश्मीरी वाचना में) अनसूया ने, दुष्यन्त ने किस वर्ण में जन्म लिया है? ऐसा शब्द-प्रयोग किया है। मैथिली वाचना के पाठ भी में "... कदरो उण वण्णो अज्जेण अलंकरीअदि। (कतरः पुनः वर्णः आर्येण अलंक्रियते।)" ऐसा ही शब्द उपलब्ध होता है। किन्तु बंगाली पाठ में "..... कदरो उण अज्जेण राएसिवंसो अलंकरीअदि। (कतरः पुनः आर्येण राजर्षिवंशः अलंक्रियते।)" इस तरह के पाठपरिवर्तन में पाठविचलन का क्रम भी दिखाई रहा है। जैसे कि प्राचीनतम काश्मीरी पाठ का मैथिली वाचना में अनुगमन हुआ है, किन्तु तृतीय स्तर पर बंगाली वाचना में पाठपरिवर्तन किया गया है॥ काश्मीरी वाचना के प्राकृत पाठ्यांश में देखा जाए तो संस्कृत आर्य शब्द का ध्वनि परिवर्तन होकर शौरसेनी में "अय्य" रूप होता है, वह बराबर बना रहा है। किन्तु मैथिली और बंगाली वाचना में उसी "आर्य" शब्द के संयुक्ताक्षर ''र्य" का समीकरण की प्रकिया से "ज्ज" ऐसा ध्वनि परिवर्तन किया गया है। इस एक शब्द रूप में भी पाठविचलन का क्रम देखा जा सकता हैः-आर्य –अय्य–अज्ज। इससे भी निश्चित होता है कि काश्मीरी वाचना का पाठ उपलब्ध वाचनाओं के सभी पाठों में से सब से पहला है, तथा उत्तरवर्ती काल में ही मैथिली एवं बंगाली वाचना का पाठ परिवर्तित होकर हम तक पहुँचा है।

[12]

राजा ने जब अपनी अङ्गुठी से शकुन्तला को प्रियंवदा के दो पानी भरे घट के ऋण से मुक्त करवाई तब काश्मीरी वाचना में,अनसूया की निम्नोक्त उक्ति हैः-

''(**प्रियंवदा** : *तेन हि नार्हतीदम् अन्योऽङ्गुलीयकवियोगकारणम्। आर्यस्य तव वचनेनैषानृणैव मम।)*

अनसूया : *(परिवृत्यापवार्य च) हला सउन्तले, मोआविदासि अनुकम्पिणा अय्येण, अध वा महाणुभावेण। कदण्णा दाणिं भविस्ससि।*

(हला शकुन्तले, मोचितास्यनुकम्पिनार्येणाथ वा महानुभावेन। कृतज्ञेदानीं भविष्यसि।)

शकुन्तला : *(अपवार्य निःश्वस्य) ण इदं विसुमरिस्सदि जइ अत्तणो पहवे। (नेदं विस्मरिष्यते, यद्यात्मनः प्रभवामि।)''*

इसमें अधो रेखाङ्कित पाठ्यांश की मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठ्यांश के साथ तुलना करने से भी पाठविचलन का क्रम देखा जा सकता है। मैथिली वाचना में लिखा है कि,

''**अनुसूया** : *हला सउन्तले, मोआविदासि अणुकम्पिणा अज्जेण। (स्वगतम्) अहवा महाराएण। (प्रकाशम्) ता कदत्था दाणि सि तुमं। (हला शकुन्तले, मोचितासि अनुकम्पिना आर्येण। अथवा महाराजेन। ततः कृतार्था इदानीमसि त्वम्।)*

शकुन्तला : *(आत्मगतम्) ण एदं विसुमरिस्सं जइ अत्तणो पहवे। (नेदं विस्मरिष्यामि, यदि आत्मनः प्रभवामि।)*

इस मैथिली पाठ में, "कृतज्ञा" शब्द में परिवर्तन करके, "कृतार्था" ऐसा पाठान्तर बनाया गया है। और दूसरे अधोरेखाङ्कित वाक्य में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। लेकिन बंगाली पाठ में दोनों ही वाक्यों में भारी परिवर्तन हुआ है। जैसे कि,

''**अनसूया** : *हला सउन्तले, मोआविदासि अणुकम्पिणा अज्जेण। अहवा महाराएण। ता कहिं दाणिं गमिस्ससि। (सखि शकुन्तले, मोचितासि अनुकम्पिना आर्येण, अथवा महाराजेन। तत्कुत्र इदानीं गमिष्यसि।)*

शकुन्तला : *(आत्मगतम्) ण एदं परिहरिस्सं जइ अत्तणो पहवे। (न एतत् परिहरिष्यामि, यदि आत्मनः प्रभवामि।)*

इस तरह से तीसरे क्रम में बंगाली पाठ में परिवर्तन होने के साथ साथ दोनों ही अधोरेखाङ्कित वाक्यों की प्रश्नोत्तर के रूप में परस्पर में संगति ही नहीं बैठती है। जिसके कारण चतुर्थ क्रम में देवनागरी वाचना में जो पाठपरिवर्तन हुआ है, वह भी द्रष्टव्य हैः-

प्रियंवदा : *तेण हि णारिहदि एदं अंगुलीअअं अंगुलीविओअं। अज्जस्स वअणेण अणिरिणा दाणिं एसा। (किंचिद्विहस्य) हला सउदंले,*

मोइदासि अणुअंपिणा अज्जेण, अहवा महाराएण, गच्छ दाणिं।
(तेन हि नार्हत्येतदङ्गुलीयकमङ्गुलीवियोगम्। आर्यस्य वचनेनानृणेदानीमेषा। हला शकुन्तले, मोचितास्यनुकम्पिनार्येण, अथवा महाराजेन, गच्छेदानीम्।)

शकुन्तला : *(आत्मगतम्) जइ अत्तणो पहविस्सं। (यदि आत्मनः प्रभविष्यामि।)''*

यहाँ, देवनागरी पाठ में पहले तो जो मूल में (काश्मीरी में) अनसूया की उक्ति थी उसे प्रियंवदा के मुँह में रखी गई है। दूसरा बंगाली पाठ की तरह अनसूया अथवा प्रियंवदा के मुख में से कृतज्ञा या कृतार्था जैसे शब्द को भी हटा दिये गये हैं। तीसरा परिवर्तन यह किया गया कि प्रियंवदा ने उसे अनृणा हो जाने के बाद जो "गच्छ इदानीम्" कहा है, उसके साथ शकुन्तला की "यदि आत्मनः प्रभविष्यामि" उक्ति को जोड़ दी गई है। जिसके कारण बंगाली पाठ की क्लिष्टता का परिहार हो जाता है! यहाँ तुलनात्मक अभ्यास का फल सीधा यही मिलता है कि काश्मीरी वाचना से प्रवहमान हुई पाठपरम्परा मैथिली में थोड़ी विकृति प्राप्त करके, जब वह बंगाली वाचना में पहुँचती है तो वहाँ अधिक विकृत होती है। तत्पश्चात् देवनागरी में किसी पाठशोधक के हाथ से उसे नये रूप से दुरस्त की जाती है। जिसके कारण शकुन्तला के मनोगत भावों का दूसरे ढंग से प्रकटीकरण होता है। पाठविचलन का ऐसा क्रम जब हमारे सामने उद्घाटित होता है तब "कहाँ थे, और कहाँ आज आ गये?" ऐसी आश्चर्यजनक प्रतीति होने लगती है। ऐसी प्रतीति ही, ''किसी भी कृति की साहित्यिक आलोचना शूरू करने से पहले, अनिवार्य रूप से, पाठालोचना होनी ही चाहिए''—ऐसे हमारे अभिमत को परिपुष्ट करती है।

[13]

कवि ने प्रथमांक का समापन करने के लिए हस्तिसंभ्रम का प्रसंग आयोजित किया है। इसमें काश्मीरी वाचना का पाठ शायद क्षतिग्रस्त हुआ है, ऐसा

मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठ को देखने से प्रतीत हो रहा है। काश्मीरी वाचना के पाठ में, नेपथ्य से उक्ति सुनाई पड़ती हैः-

(नेपथ्ये) *भो भोस्तपस्विनः, अवहितास्तपोवने सत्त्वरक्षायै भवन्तु भवन्तः। पर्याप्लुतं स्त्रीकुमारम्। प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवः।*

तुरगखुरहतस्तथा हि रेणुर्विटपविषक्तजलार्द्रवल्कलेषु।
पतति परिणतारुणप्रकाशः शलभसमूह इवाश्रमद्रुमेषु॥(1-28)

राजा–अहो धिक्। एष खलु तथा निभृतचारी भूत्वा,

तीव्रापातप्रतिहततरुस्कन्धलग्नैकदन्तः प्रौढासक्तव्रततिवलया सङ्गसञ्जातपाशः।
मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारंगयूथो धर्मारण्यं विरुजति गजस्स्यन्दनालोकभीतः॥(1-29)

राजा : *(स्वगतम्) अहो धिक् प्रमादः। मदन्वेषिणः सैनिकाः तपोवनमुपरुन्धन्ति। तदपराद्धम् तपस्विनाम् अस्माभिः। भवतु, गमिष्यामि तावत्। (सर्वाः कर्णं दत्त्वा ससंभ्रमम् उत्तिष्ठन्ति)*

यहाँ पर नेपथ्योक्ति के बाद राजा की उक्ति में जो "तीव्रापातप्रतिहततरु स्कन्धलग्नैकदन्तः" श्लोक है, वह राजा के मुख से निकलता है, जो किसी तरह के संक्षेप का परिणाम हो सकता है। वस्तुतः मैथिली वाचना में तो वह भी नेपथ्य में से आ रही दूसरी सूचना है। अतः दूसरे श्लोक का दुष्यन्त के मुख में होना ठीक नहीं लगता है॥ इस सन्दर्भ का मैथिली एवं बंगाली पाठ द्रष्टव्य हैः-

(मैथिली में)। **(नेपथ्ये)** *भो भोस्तपस्विनः, तपोवनसंनिहिताः। सत्त्वरक्षायै सज्जीभवन्तु भवन्तः। प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी राजा दुष्म(ष्य)न्तः।*

तुरगखुरहतस्तथा हि रेणुर्विटपनिषक्तजलार्द्रवल्कलेषु।
पतति परिणतारुणप्रकाशः शलभसमूह इवाश्रमद्रुमेषु॥ (1-31)

राजा : *(स्वगतम्) धिक्कष्टम्। कथं मदन्वेषिणः सैनिकास्तपोवन मुपरुन्धन्ति। (पुनर्नेपथ्ये) भो भोस्तपस्विनः।*

पर्याकुलयन् स्त्रीवृद्धकुमारानेष हस्ती संप्राप्तः।
तीव्राघातादभिमुखतरुस्कन्धभग्नैकदन्तः प्रौढाकृष्टव्रततिवलया सञ्जनाज्जातपाशः।
मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारंगयूथो धर्मारण्यं विरुजति गजः स्यन्दनालोकभीतः॥(1-32)

(सर्वाः कर्णं दत्त्वा ससंभ्रमम् उत्तिष्ठन्ति)

राजा : *धिक्कथमपराद्धस्तपस्विनाम् अस्मि। भवतु, प्रतिगच्छामि तावत्॥*

इस मैथिली पाठ में क्रमिक रूप से दो बार नेपथ्योक्ति सुनाई पड़ती है, जिससे नायक-नायिका के मिलन-प्रसंग में बदलाव आता है। प्रथम नेपथ्योक्ति से राजा को अपने सैनिकों का अपराध ध्यान में आता है। तथा दूसरी नेपथ्योक्ति से शकुन्तला सहित की सहेलियों में जो संभ्रम पैदा होता है उसमें क्रमिकता पूर्वक परिस्थिति में बदलाव आता है वह प्रतीतिजनक है। (बंगाली पाठ में भी इसी तरह की दो नेपथ्योक्तिवाली योजना दिखाई देती है।) इस तुलनात्मक अभ्यास से काश्मीरी पाठ यहाँ खण्डित अवस्था में विद्यमान है ऐसा स्पष्ट होता है। जैसे पहले बताया है यहाँ काश्मीर के रंगकर्मिओं ने संक्षेपीकरण के आशय से कुछ परिवर्तन किये होंगे, या किसी अज्ञात प्रतिलिपि-कर्ता के प्रमाद से काश्मीर में उपर्युक्त दूषित पाठ ने जन्म लिया होगा॥ ऐसी स्थिति में समानपूर्वजप्रति में से अवतारित वाचनावाले मैथिली एवं बंगाली पाठों की साहाय्य से यहाँ काश्मीरी वाचना का पाठ दुरस्त करना होगा।

[14]

प्रथमांक के अन्त भाग में शकुन्तला किस व्याज के साथ रंगभूमि से बाहर निकती है? उसका निरूपण परीक्षणीय है। काश्मीरी वाचना में, इस प्रसंग का पाठ्यांश कुछ अंश में क्षतिग्रस्त हुआ या संक्षिप्त किया गया हो ऐसी प्रतीति होती है। मैथिली और बंगाली वाचनाओं में इस सन्दर्भ के पाठ्यांश में ऐसे कोई दोष नहीं हैं। इस विषय की चर्चा करने से पहले उपलब्ध पाठ्यांश की तुलना करेंगे।

(क) **काश्मीरी वाचना के अनुसार–**

राजा : *मा मैवम्। दर्शनेन भवतीनां पुरस्कृतोऽस्मि।*

उभे : *हला सउन्तले, एहि सिग्घदरं। आउला अय्या गोदमी भविस्सदि। (हला शकुन्तले, एहि शीघ्रतरम्। आकुला आर्या गौतमी भविष्यति।)*

शकुन्तला : *(सव्याजविलम्बितं कृत्वा आत्मगतम्) हद्धि ऊरुत्थम्भेण विअलम्हि संवुत्ता। (हा धिक। ऊरुस्तम्भेन विकलास्मि संवृत्ता।)*

राजा : *स्वैरं स्वैरं गच्छन्तु भवत्यः। वयम् आवेगम् आश्रमस्यापनेष्यामः। (शकुन्तला सव्याजविलम्बितं कृत्वा परिक्रम्य च सखीभ्याम् सह निष्क्रान्ता।)*

राजा : *(उत्थाय सखेदम्) मन्दौत्सुक्योस्मि नगरं प्रति, यावद् अनुयात्रिकजनं समेत्य .....॥*

इस पाठ के मुताबिक शकुन्तला ने पहले अपने मुँह से कहा है कि मैं ऊरुस्तम्भन से विकल हुई हूँ, (अतः जल्दी से मैं नहीं चल पा रही हूँ।) तदनन्तर केवल रंगसूचना ही दी गई है कि शकुन्तला किसी बहाने जाने से विलम्ब करती है, फिर रंगमंच से चली जाती है॥

(ख) **मैथिली वाचना में,**

अनुसूया : *हला सउन्तले, पज्जाउला अज्जा गोदमी भविस्सदि। ता एहि सिग्घं एकत्था होम्ह।*

शकुन्तला : *(गतिरोधं रूपयित्वा) हद्धी हद्धी ऊरुत्थम्भविअल म्हि संवुत्ता।*

राजा : *स्वैरं स्वैरं गच्छन्तु भवत्यः। आश्रमबाधा यथा न भवति तथाहं यतिष्ये।*

सख्यौ महाभाअ, अविदिदभूइट्ठो सि। णं संपदं जं उअआरमज्झत्थदाए अवरद्ध म्ह, तं दाणि मरिसेसि। असंभाविअसक्कारं भूओ वि पज्जवेक्खणणिमित्तं सपरिहारं अज्जं विण्णवेम्ह।

राजा : *मैवम्। दर्शनेनैव भवतीनां संभृतसत्कारोऽस्मि।*

शकुन्तला : *अहिणव-कुस-सूई-परिक्खदं मे चरणं, कुरुवअसाहा-परिलग्गं*

च मे वक्कलं। ता पलिवालेध मं जाव णं मोआवेमि।
(राजानमवलोकयन्ती सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता।)

राजा : *(निःश्वस्य) गताः सर्वाः। भवतु, अहमपि गच्छामि। ....॥*

मैथिली वाचना के इस पाठ में भी ऊरुस्तम्भन के कारण शकुन्तला के गतिरोधन का उल्लेख है। किन्तु विशेष में, शकुन्तला के मुँह से कहलाया जाता है कि अभिनव कुश घास की सूचि से उसका चरण परिक्षत हुआ है, और साथ में उसका वल्कल भी कुरबक के पौधे की शाखाओं में संलग्न हो गया है। इस लिए वो अपनी सहेलियों को उसके आने की प्रतीक्षा करने की बीनति करती है। इस बहाने वो राजा का दूबारा अवलोकन कर लेती है। प्रेक्षकों को अङ्क के अन्त भाग में ऐसे प्रकट रूप से एक शृङ्गारिक झलक देखने को मिलती है।

(ग) बंगाली वाचना में,

अनुसूया : *(शकुन्तलां प्रति) हला सउन्तले, आउला अज्जा गोदमी भविस्सदि। ता एहि सिग्घं एक्कत्थाओ होम्ह।*

शकुन्तला : *(गतिसंरोधं रूपयित्वा) हद्धी हद्धी ऊरुत्थम्भविअल म्हि संवुत्ता।*

राजा : *स्वैरं स्वैरं गच्छन्तु भवत्यः। वयम् अपि आश्रमबाधा यथा न भवति तथा प्रयतिष्यामहे।*

सख्यौ : *महाभाअ, अविदिदभूइट्ठो सि। णं संपदं जं उवआरमज्झत्थदाए अवरद्धाओ म्ह, तं मरिसेसि। असंभाविदसक्कारं भूओ वि पच्चवेक्खणणिमित्तं सपरिहारं अज्जं विण्णवेमो।*

राजा : *मा मैवम्। दर्शनेनैवात्रभवतीनां संभृतसत्कृतोऽस्मि।*

शकुन्तला : *अहिणव-कुस-सूइ-परिक्खदं मे चलणं, कुरुवअसाहा-परिलग्गं च मे वक्कलं। ता पडिवालेध मं जाव णं मोआवेमि।*
(इति राजानमवलोकयन्ती सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता।)

राजा : *(निःश्वस्य) गताः सर्वाः। भवतु, अहमपि गच्छामि। ....॥*

बंगाली वाचना में भी, मैथिली वाचना के उपर्युक्त (ख) पाठ का अनुगमन किया गया है। अलबत्ता, उसमें कुछ आंशिक परिवर्तन हुआ है,

किन्तु बहुशः तो मैथिली जैसा ही पाठ चलता है। उपरि निर्दिष्ट तुलना से स्पष्ट होता है कि मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठ में शकुन्तला के मुख में जैसा द्वितीय वाक्य रखा गया है, वैसा काश्मीरी (और देवनागरी तथा दाक्षिणात्य) वाचना में शकुन्तला के मुख में नहीं रखा है। वहाँ तो केवल "शकुन्तला राजानमवलोकयन्ती सह सखीभ्यां निष्क्रान्ता" इतनी रंगसूचना से ही दृश्य को समाप्त किया गया है। अतः अब विचारणीय बनता है कि, इस सन्दर्भ में जो दो तरह के पाठभेद मिल रहे हैं उसमें से कौन सी वाचना का पाठ अधिक श्रद्धेय माना जाये? तो यहाँ दो-तीन कारणों से मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं की पाठपरम्परा को अधिक श्रद्धेय माननी चाहिए। जैसे कि, (1) आगे चल कर हम द्वितीय अङ्क में दुष्यन्त के मुख से निकला हुआ एक श्लोक सुनते हैं कि–*सखीभ्यां मिथःप्रस्थाने पुनस्तत्रभवत्याः मयि भूयिष्ठमाविष्कृतो भावः। तथा हि,*

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।

आसीद्विवृतवदना च विमोचयन्ती शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्॥

तब लगता है कि इसका अनुसन्धान तो प्रथमांक के अन्तभाग में शकुन्तला ने जो कहा था कि "अभिनव कुश घास की सूचि से मेरे चरण परिक्षत हुए है, और कुरबक की शाखा में मेरा वल्कल संलग्न हो गया है, उसको में बाहर निकालुँ तब तक मेरी प्रतीक्षा करो" उसके साथ है! इस तरह द्वितीय अङ्क में जो उपर्युक्त श्लोक है वह हमारे लिए कृतिनिष्ठ आन्तरिक प्रमाण बनता है। जिससे सिद्ध होता है कि मैथिली और बंगाली वाचनाओं में जो एक अधिक वाक्य शकुन्तला के मुख में से निकला मिलता है वह सम्भवतः मूलगामी हो सकता है॥ (2) काश्मीरी वाचना के प्रथमांक का जो पाठ है वह कुत्रचित् क्षतिग्रस्त हुआ है ऐसा हमने पहले एक-दो स्थानों[16] में देखा है। तो प्रकृत स्थल में भी सम्भव है कि काश्मीर के किसी अज्ञातरंगकर्मी ने शकुन्तला के मुख में रखी गई उपर्युक्त उक्ति का संक्षेप करके, उस प्रकार के अभिनय के लिए केवल एक रंगसूचना को ही पर्याप्त समझी होगी॥ (3) मैथिली और बंगाली वाचनाओं की गंगोत्री

तो वही "ज्ञ" संज्ञक पूर्वजप्रति है कि जिसमें से काश्मीरी वाचना का पाठ भी अवतारित हुआ है। यानि बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं को हमने समान पूर्वजवाली वाचनाएं कही है, अतः अन्य प्रमाणों के साहचर्य में तो हम मैथिली और बंगाली वाचनाओं में समानतया संचरित हुए पाठ को भी अधिक श्रद्धेय मान ही सकते हैं।

[15]

निष्कर्ष : कालिदासप्रणीत अभिज्ञानशकुन्तला के प्रथमांक में उपलब्ध हो रहे विभिन्न पाठभेदों का उपर्युक्त तुलनात्मक अभ्यास से निष्कर्ष निकलता है कि,

(1) काश्मीरी वाचना में कुछ पाठभेद ऐसे मिलते हैं कि जो अद्यावधि अज्ञात या अल्पज्ञात रहें हैं। उदाहरण के लिए नान्दी श्लोक का "पिबति'', और अन्तिम श्लोक में आया "चिह्नांशुकमिव''।

(2) काश्मीरी वाचना में आन्तरिक सम्भावना युक्त पाठान्तर मिलते हैं, जो मौलिक पाठ होने का दावा करते हैं। उदाहरण के लिए सूत्रधार की उक्ति में–प्रकरणम्।

(3) काश्मीरी वाचना में शौरसेनी प्राकृत की शब्दरूपावली सुरक्षित रही मिल रही है, जो अन्यत्र नहीं है। उदाहरण के लिए, अपुरवम्। अय्य।

(4) कण्वाश्रम में मृगानुसारी दुष्यन्त का प्रवेश होने पर तापस की उक्ति से लेकर आशीर्वाद-प्रदान तक का पाठ्यांश काश्मीरी वाचना में जो मिलता है वही नाट्यानुकूल एवं आन्तरिक सम्भावना युक्त है। किन्तु कालान्तर में उसमें मैथिली वाचना ने कुछ नवीन श्लोक जोड़े हैं। और बंगाली वाचना ने उस नवीन अंश (प्रक्षेप) का स्वीकार करते हुए मैथिली पाठ का अनुगमन किया है। उदाहरण के लिए, न खलु न खलु बाणः इत्यादि।

(5) काश्मीरी वाचना में, डॉ. बेलवालकर जी के अभिमत से, जिस

क्रम से शकुन्तला के वल्कल का शिथिलीकरण निरूपित है, वह अधिक समुचित प्रतीत होता है। किन्तु वह चिन्त्य ही है।

(6) काश्मीरी वाचना में कुत्रचित् संक्षेपीकरण भी हुआ है, लेकिन उसके कुछ संकेत अद्यावधि उपलब्ध पाण्डुलिपियों में संचरित होकर हम तक पहुँचे है। देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं की सभी पाण्डुलिपियों, एवं वर्तमान संस्करणों में भी यह संक्षेप के संकेत विद्यमान है! लेकिन उन कटौती किये गये अंशों की पुनः प्राप्ति समान पूर्वजवाली मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठ में से हो सकती है। उदाहरण के लिए 1. इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे। तथा 2. यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते। शब्दों से शूरू होनेवाले दो श्लोक।

(7) कण्वाश्रम के प्राङ्गण में माधवीलता के होने का सन्दर्भ प्रक्षिप्त सिद्ध होता है। जो प्रथम आंशिक रूप से काश्मीरी वाचना में मिलता है। और बाद में वह अंश मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में नवीन प्रक्षिप्त वाक्यों से वृद्धिंगत होता गया है। लेकिन यह माधवीलता का पूरा अंश आन्तरिक सम्भावना से विरुद्ध होने के कारण सर्वथा प्रक्षिप्त ही सिद्ध होता है। इस सन्दर्भ में डॉ. बेलवालकर जी एवं डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल के मत ग्राह्य नहीं हो सकते हैं।

(8) इस नाट्यकृति में जहाँ जहाँ "अपि च" तथा "अथवा" जैसे निपातों का विनियोग हुआ है, उसके स्वारस्य की समीक्षा करने से श्लोकात्मक वर्णनात्मक भागों में किसी अज्ञात पाठशोधकों के द्वारा किये गये प्रक्षेप या संक्षेप को हम सयुक्तिक ढूँढ सकते हैं।

[16]

उपसंहार :- महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशकुन्तला नाटक का पाठ दो हजार वर्षों की सुदीर्घ कालावधि में प्रतिलिपि-कर्ताओं और रंगकर्मिओं

के हाथ से गुजरता हुआ हम तक पहुँचा है। जिसके कारण स्वाभाविक रूप से उसमें अनेक तरह के परिवर्तन, संक्षेप एवं प्रक्षेपादि होते रहे हैं। उनमें से पहले पाठविचलन का क्रम निश्चित करने से ही हम प्राचीन से प्राचीनतर, एवं प्राचीनतर से प्राचीनतम पाठ को अलग कर सकेंगे। ऐसा करने से जो पाठ्यांश प्राचीनतम सिद्ध होगा, वह मूल कवि के नजदीक का पाठ होने से अधिक श्रद्धेय माना जा सकता है। तथा कुत्रचित् आन्तरिक सम्भावना से समर्थित कोई पाठ्यांश मिल जाता है तो हम दावे के साथ कह सकते हैं कि अमुक पाठ मौलिक होगा। एवमेव, प्राचीनतम वाचना में यदि कदाचित् कोई पाठ्यांश त्रुटित या संक्षिप्त किया गया हो तो, उसका शुद्धिकरण भी समानपूर्वजवाली अन्य वाचनाओं के आधार पर किया जा सकता है।

सन्दर्भ

1. जैसे कि, 1. समान पाठ्यांश लुप्त या अशुद्ध होना, 2. समान पाठ्यांश की पुनरुक्ति होना, 3. समान श्लोकों का क्रमपरिवर्तन होना, 4. समान श्लोक या गद्य वाक्यों का आधिक्य मिलना–उन सब को "अमुक प्रकार" का साम्य एवं वैषम्य कहना अभीष्ट है।
2. मैथिलपाठानुगम् अभिज्ञानशकुन्तलम्। (शङ्कर-नरहरिकृत-व्याख्याद्वयसमलंकृतम), सं. रमानाथ झा, प्रका. मिथिलाविद्यापीठ, दरभङ्गा, 1957, तथा बंगाली वाचनानुसारि अभिज्ञानशकुन्तल, सं. रिचार्ड पिशेल, प्रका. हार्वर्ड युनि. प्रेस, 1922, द्वितीय संस्करण का सर्वत्र विनियोग किया गया है।
3. See : The application of a few canons of textual & Higher criticism to Kaildasa's Saakuntalam, Verlag Dr Asia Major, vol. 2, fasc. 1, Leipzig, Germany, 1923, pp. 79-104.
4. As none of the extant readings is quite satisfactory here is a good case for conjectural emendation, provided it is an emendation. provided it is an ecendation. Now, I propose changing *uaha to ua*, making the word two-syllabic, as it is in fact preserved by two sets of Mss. otherwise I accept the reading of Pischel. Ua is a Desi word for pasya, and many a scribe or student must have stumbled upon the unfamiliar word. The suggested emendation has much transcriptional probability.–lbid, p.80

5. The Orginal S'akuntala, Dr. Belvalkar, pub. In Sir Ashutosh Mookhaerjee Silver Jubilee, Vol. 3, Orienalia, part-2, Calcutta, 1925, pp- 349-359.
6. श्री एस. के. बेलवालकर जी ने यहाँ पाठपूर्ति करने के लिए "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" ऐसा शीर्षक जोड़ा है।
7. किन्तु यह भी कहना चाहिए कि श्री पी. एन. पाटणकर, श्री शारदा रञ्जन राय, गौरीनाथ शास्त्री आदि के देवनागरी वाचनावाले संस्करणों में भी "अभिज्ञानशकुन्तलम्" ऐसा ही शीर्षक स्वीकारा गया है!
8. देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना के टीकाकार राघवभट्ट एवं काटयवेम ने भी प्रकरणम् ऐसे पाठभेद को ही मान्य किया है। अलबत्ता राघवभट्ट ने उपरि-निर्दिष्ट व्यञ्जना को समझा नहीं है। इस लिए उन्होंने "प्रकरणम् रूपकम्" इतना ही व्याख्यान किया है। उनके मत में यहाँ कवि ने जो प्रकरण शब्द रखा है, वह कोई रूपक-विशेष का वाचक नहीं है, किन्तु वह तो रूपक-सामान्य का वाचक मानना चाहिए—ऐसा समझना है।
9. मैथिली वाचना में यहाँ सर्वथा परिवर्तित पाठान्तर मिलता है:- अहिरूअ-णालअं, अभिरूपनाटकम्। पृ. 4।
10. मैथिलीवाचनानुसारी इस पाठ में राजा की "सम्यगियमाह प्रियंवदा" उक्ति में जो प्रियंवदा का नाम दिया है वह ठीक नहीं है। उसकी समीक्षा आगे की गई है।
11. टीकाकार चन्द्रशेखर ने ऐसे सन्दर्भों के लिए लिखा है कि—स्वोक्तिम् आक्षिपति-अथवेति॥
12. अभिज्ञानशकुन्तलम्, चन्द्रशेखर-चक्रवर्तिनः सन्दर्भदीपिकया समेतम्। सं. वसन्तकुमार म. भट्ट, राष्ट्रिय पाण्डुलिपि मिशन, नव देहली, 2013, पृ. 107
13. देवनागरी पाठ के टीकाकार राघवभट्ट, दाक्षिणात्य पाठ के टीकाकार काटयवेम और प्रॉफेसर शारदा रञ्जन राय, पं. श्रीरेवाप्रसाद द्विवेदी आदि के संस्करणों में यह विसंगति विद्यमान है।
14. यह श्लोक वंशस्थबिल वृत्त में लिखा गया है।
15. यह श्लोक शिखरिणी वृत्त में लिखा गया है।
16. पेरेग्राफ : 12 में, और "इदमुहितग्रन्थिना" श्लोक तथा "यतो यतः षट्चरणोऽभि''। श्लोक को संक्षेपीकरण के आशय से हटाया गया है।

(ख) अभिज्ञानशकुन्तला
(अंक-2) के पाठभेदों की समीक्षा एवं पाठविचलन क्रम की गवेषणा

भूमिका : महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशकुन्तला नाटक की रचना की, लेकिन उसके बाद वह रचना उनकी नहीं रही। क्योंकि कोई भी नाट्यकृति अभिनेय-काव्य होने के कारण वह ज्यों ही रंगकर्मिओं के हाथ में चली जाती है, वैसे ही वह कृति उनके हाथों से नया रूप धारण करती है। इस हकीकत को ध्यान में रखते हुए अभिज्ञानशकुन्तला नाटक की पाँचों वाचनाओं का तुलनात्मक अभ्यास करने से मालूम होगा कि एक ही नाटक का विदूषक रंगभूमि पर एकाधिक स्वरूप में प्रस्तुत हुआ है। यद्यपि नर्मसचिव की भूमिका निभानेवाला विदूषक, नायक के सहायक अन्यान्य पात्रों की अपेक्षा से, निश्चित रूप से नाट्यकार्य के निर्वहण में भी कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य करता ही है। तथापि कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नाटक में विदूषक को जिस आशय से प्रस्तुत किया है, इससे बहुत भिन्न आशय से अभिज्ञानशकुन्तला में पेश किया है। विदूषक की अदाकारिता (यानि आङ्गिक एवं आहार्य) जरूर हास्यकारी होती ही है। किन्तु इसके अलावा उसके मुख में रखी गई उक्तियाँ प्रसंग-विशेष को (नाट्यकार्य को) ठीक तरह से समझने के लिए उपयोगी भी सिद्ध होती हैं। एवमेव, वह बीच बीच में नायक के मनोगत भावों की जिस विशिष्ट रीति से समीक्षा करता है वह भी मनुष्यजीवन को समझने की कदाचित् चावी भी बन जाती है। इस दृष्टि से भी, मूल कवि ने विदूषक के मुख में जो वाक्य रखे होते

हैं, उनमें रंगकर्मिओं के द्वारा प्रायः सदाकाल नये पाठान्तर पैदा किये जाते हैं। इस सन्दर्भ में, (द्वितीयांक में) विदूषक के मुख में से जो वाक्य निकले हैं, वे सभी वाचनाओं में एक समान नहीं है। अतः काश्मीरी वाचना के पाठ की तुलना में अन्य वाचनाओं में जो भिन्न भिन्न पाठान्तर उपलब्ध होते हैं, उनका परस्पर तुलनात्मक अभ्यास करना आवश्यक है। जिससे कौन सा पाठभेद प्रसंगोचित प्रतीत होता है?, एवमेव पाठान्तरों में अन्तर्निहित हो ऐसा पाठविचलन का कोई क्रम दृष्टिगोचर होता है कि नहीं? वह जाना जायेगा।

[1]

इस नाटक के द्वितीयांक में दुष्यन्त की उक्तियों के सामने विदूषक की उक्तियाँ का हिस्सा भी बराबरी का है। मतलब कि नायक और नर्मसचिव की बातचीत से ही इस अङ्क को आकारित किया गया है। प्रणयप्रधान कथानक वाले नाटक में शृंगार रस का प्राधान्य होता है, और उसका परिपोष करनेवाला हास्य रस प्रायः पार्श्वभूमि में होता है। इस दृष्टि से विदूषक के संवादों का विश्लेषण करेंगे तो उसका कथन ही प्रेक्षकों के लिए हास्य-प्रेरक होता है। तथा कथाप्रवाह में यथाप्रसंग उसके द्वारा नायक की प्रेमाविष्ट मनःस्थिति का परीक्षण एवं परिस्फुरण भी किया जाता है। रंगकर्मिओं के द्वारा कदाचित् विदूषक के परम्परागत चरित्र निरूपण में नये नये उन्मेष प्रस्तुत किये जाते हैं। इस लिए विदूषक की हास्यजनक कामगीरी में वैविध्य लानेवाले एवं प्रणयकथा के मार्मिक विश्लेषण में नवीनता लानेवाले पाठभेद कौन कौन से है, उसका सोदाहरण अभ्यास किया जाना चाहिएः-

(1) अङ्क के आरम्भ में विदूषक के प्रवेश-सम्बन्धी एक रंगसूचना है। काश्मीरी वाचना में लिखा है कि "ततः प्रविशति परिश्रान्तो विदूषकः"। तथा "श्रमं नाटयति, निःश्वस्य।" विदूषक इस लिये थका हुआ है कि वह मृगयाविहारी राजा के साथ अरण्य में आया है। और वह निःश्वासपूर्वक इस लिए बोलता है कि वह शरीरयात्रा चलानेवाली भोजनादि की सुविधाओं

से कुछ दिनों से वंचित है, और उसे निरन्तर कष्टदायक परिस्थितियों से गुजरना पड़ता है। किन्तु मैथिली वाचना के पाठ में, विदूषक थका हुआ है ऐसा नहीं कहा है। हाँ, वह निःश्वास-पूर्वक जरूर बोलता है, लेकिन उसके आङ्गिक अभिनय में परिश्रान्त होने का भाव मिश्रित नहीं है। इसी तरह से बंगाली वाचना के पाठ में भी विदूषक परिश्रान्त है ऐसा नहीं कहा गया है।[1] यहाँ पूर्वापर सन्दर्भ को देखा जाए तो, आगे चल कर राजा जब रंगमंच पर आते हैं तब विदूषक कहता ही है कि मेरा हाथ ऊँचा उठा कर मैं आपका अभिनन्दन या अभिवादन नहीं कर पाता हूँ। इसी लिए, मैं तो केवल वाणी मात्र से ही आपका स्वागत करुँगा। विदूषक का यह कथन तो सभी वाचनाओं में एक समान ग्राह्य बना है। अतः इस वाक्य को ध्यान में रख कर देखेंगे तो काश्मीरी वाचना का पाठ पूर्वापर सन्दर्भ में सुसंगत लगता है।

(2) द्वितीयांक के आरम्भ में विदूषक की सुदीर्घ उक्ति है। काश्मीरी वाचना के पाठ में उसको तीन खण्ड में विभाजित की गई है। प्रथम खण्ड में विदूषक का पहला ही कथन है कि, *भो दिढो म्हि। एदस्स मिअआ-सीलस्स रण्णो वअस्सभावेण णिव्विण्णो। (भोः, दृढोऽस्मि। एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णः।)* इसमें विदूषक अपने आपको स्थगित हो गया हो ऐसा महसूस करता है। वह शिकायत कर रहा है कि मृगया के आदती राजा की मित्रता से वह विषण्ण हो गया है॥ इस तरह के पाठ के सामने मैथिली वाचना में लिखा है कि, हीमाणहे भो हद म्हि। *एतस्स मिअआसीलस्स रञ्ञो वअस्सभावेण निव्विण्णो।* एवं रिचार्ड पिशेल ने बंगाली वाचना में इसमें थोड़ा सा परिवर्तन करके जो पाठ दिया है उसमें लिखा है कि, *ही माणहे भो। हदो म्हि एदस्स मिअआसीलस्स रण्णो वअस्सभावेण णिव्विण्णो। (ही माणहे, भोः हतः अस्मि। एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञः वयस्यभावेन निर्विण्णः।)* इसमें "ही माणहे" ऐसे (पृथक्कृत किये गये) निपात से आश्चर्य अथवा निराशा का अर्थ व्यक्त होता है ऐसा पिशेल ने कहा है। तथा "भो दृढोऽस्मि" के स्थान में "भो हतोऽस्मि" ऐसा पाठभेद मिलता है। किन्तु देवनागरी वाचना में काश्मीरी पाठ की छाया प्रतिबिम्बित

हो रही है। जैसे कि, *भो दिट्ठं। एदस्स मअआसीलस्स रण्णो वअस्सभावेण णिव्विण्णो म्हि।* इस तरह के पाठ से रंगमंच पर खड़ा विदूषक अपने सामने बैठे प्रेक्षकों को पूछता है कि क्या, आपने देखा (मेरा कैसा हाल हुआ है)?। लेकिन "भो दृढोऽस्मि" के स्थान में "भो दृष्टम्" जैसा पाठपरिवर्तन वह लिपिकारों के दृष्टिभ्रम के कारण आकारित हुआ होगा, वह निर्विवाद है। और इसको अनुलेखनीय सम्भावनाजनित पाठभेद कहते हैं। एवञ्च, मैथिली तथा बंगाली में जो "भो हतोऽस्मि" ऐसा पाठान्तर मिलता है वह अनुगामी काल में सरलीकरण के आशय से किया गया होगा।

(3) विदूषक की उक्ति का दूसरा वाक्य हैः-*अअं मओ, अअं वराहो त्ति। मज्झंदिणे वि गिम्हविरल-पादवच्छाआसु वणराईसु आहिण्डीअदि।(अयं मृगः, अयं वराह इति। मध्यंदिनेऽपि ग्रीष्मविरलपादपच्छायासु वनराजिसु भ्रम्यते।)* इसी सन्दर्भ में मैथिली वाचना के पाठ में कुछ विशेष पाठभेद जैसा नहीं है। *"अअं मिओ अअं वराहो त्ति, मज्झंदिणे वि गिम्हे विरलपादवच्छाआसुं वणराइसुं आहिण्डीअदि।"* एवमेव, बंगाली वाचना में भी अन्तर नहीं है। वहाँ केवल "आहिण्डीअदि" क्रियापद के स्थान में "आहिण्डिअ" ऐसा ल्यबन्त रूप रखा है। किन्तु देवनागरी वाचना में दो नये शब्द विशेष रूप से दिख रहे है। जैसे कि, "अअं मओ अअं वराहो अअं सद्दूलो त्ति मज्झण्णे वि गिम्हविरलपाअवच्छाआसु वणराईसु आहिंडीअदि अडवीदो अडवी।" इसमें "अयं शार्दूलः'', तथा "अटवीतो अटवी [म्]''[2] इतने दो शब्द अधिक है। यहाँ विदूषक के आङ्गिक अभिनय को विशेष स्थान देने के लिए "अयं शार्दूलः" तथा "अटवीतो अटवीम्" ऐसे शब्द नये जोड़े गये होंगे।

(4) विदूषक की उक्ति के तीसरे खण्ड में एक महत्त्वपूर्ण वाक्य हैः *एसो राआ बाणासणहत्थाहिं जवणिहिं परिवुदो वणपुप्फमालाधारी इदो य्येवागच्छदि। (एष राजा बाणासनहस्ताभिः यवनिभिः परिवृतो वनपुष्पमालाधारी इत एवागच्छति।)* इस वाक्य के अनुसार रंगमंच पर वनपुष्पों की माला को पहना हुआ राजा अनेक यवनिकाओं से घीरा हुआ आ रहा है, और उन यवनिओं ने अपने हाथों में बाणासन को ले रखा है। किन्तु इसी वाक्य

का मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में पाठ देखते हैं तो उसमें से यवनिकायें गायब हो गई है। जैसे कि, (मैथिली) *एस बाणासणहत्थो हिअअ-णिहिद-पिअअणो वणपुप्फमालाधारी इदो ज्जेव आअच्छदि पिअवअस्सो। (एष बाणासनहस्तो हृदयनिहितप्रियजनो वनपुष्पमालाधारी इत एव आगच्छति प्रियवयस्यः।)* इसमें राजा का धनुष्य पकड़नेवाली यवनिकायें तो नहीं है, लेकिन राजा ने स्वयं अपने हाथ में बाणासन ले रखा है। तथा, राजा के लिए एक नया विशेषण जोड़ा गया है कि उसने अपने हृदय में प्रियजन (शकुन्तला) को धारण की है। मतलब कि मिथिला के रंगमंच पर अकेला राजा ही प्रवेश करता है, तथा वह अपने मुख पर प्रेम का मनोगतभाव प्रकट कर रहा है। यहाँ काश्मीरी पाठ से हट कर जो नया पाठ्यांश मिलता है, उसमें इस दृश्य की रंग सजावट बदल जाती है॥ बंगाली वाचना में भी मैथिली जैसा ही पाठ संचरित हुआ है॥ इस सन्दर्भ में डॉ. एस. के. बेलवालकर जी ने कहा है कि *"हिअअ-णिहिद-पिअअणो (हृदयनिहितप्रियजनो)"* जैसा नया शब्द कहाँ से मूल पाठ में प्रविष्ट हुआ होगा? वह विचारणीय है। उन्होंने जो चर्चा की है उसका सार इस तरह का हैः- मोनीयर विलियम्स ने "जवनिहिं" शब्द को मान्य किया है, किन्तु कैप्लर ने उसको हटा दिया है, और "हृदय-निहित-प्रियजनो" शब्द को भी अमान्य किया है। कैप्लर के द्वारा, राजा के लिए प्रयुक्त किये इस विशेषण को अमान्य करने का सम्भवतः एक कारण यह हो सकता है कि विषण्ण विदूषक के मुख से ऐसा विशेषण निकलना अस्वाभाविक लगता होगा। डॉ. रिचार्ड पिशेल ने इस वाक्य में से "यवनिका" शब्द को हटाया है और "हृदय-निहित-प्रियजनो" शब्द को मान्य किया है। जिससे राजा दुष्यन्त के ही हाथ में बाणासन होगा, और वही वन पुष्पों की माला को धारण करके रंगमंच पर आयेगा। रिचार्ड पिशेल ने (अपने शोध-प्रबन्ध में) इसका कारण ऐसा दिया है कि रघुवंश (9-50) में "विपुलकण्ठनिषक्तशरासन" एवं "वनमालया ग्रथितमौलिः" जैसे विशेषणों से दशरथ को विशेषित किया है। इन दोनों ही प्रसंगों में समान सन्दर्भ है और दोनों का रचयिता कवि एक ही व्यक्ति है। अतः दुष्यन्त ही बाणासनहस्त और वनपुष्पमालाधारी

हो सकता है। मतलब कि बाणासन को पकड़ रखने के लिए यवनिकाओं की जरूरत नहीं है॥ किन्तु जब काश्मीर की भूर्जपत्रवाली पाण्डुलिपि में लिखे शारदा-पाठ में *“एसो राआ बाणासनहत्थाहिं जवणिहिं परिवुदो वणपुप्फमालाधारी इदो व्येवागच्छदि”* ऐसे पाठ में यदि यवनिकाओं का स्पष्ट निर्देश है तो वह विचारणीय है ही। भूर्जपत्रवाली इस पाण्डुलिपि को डॉ. बेलवालकर जी मूलादर्श-प्रति कह कर उसमें लिखे पाठ को सर्वोच्च प्रमाणिक पाठ मानने के पक्ष में है। एवमेव, उन्होंने लम्बे कालावधि में फैली प्रतिलेखन की प्रक्रिया के दौरान कैसे “जवनिहिं” शब्द निकल गया, तथा उसके स्थान में “हिअअ-णिहिद-पिअअणो” शब्द दाखिल हो गया होगा? यह भी समझाया है। जैसे कि, पाण्डुलिपिओं में पूरे वाक्य में दो पदों के बीच में जगह नहीं छोडी जाती थी। सभी वर्ण एक साथ में लगातार लिखे जाने के कारण, तथा पृष्ठमात्रायें या अग्रमात्रायें कदाचित् स्थानान्तरित हो जाने के कारण, एवमेव लिपिकारों के प्रमाद के कारण भी वर्णव्यत्ययादि हो जाने से नया पाठान्तर आकारित होता है। बस ऐसा ही प्रकृत उदाहरण में हुआ होगा। “त्ताह-हिं-ज-व-णि-हिं-प-रि-वु-दो'', में से दूसरे स्तर में “थो-हि-अ-व-णि-हिं-अ-प-रि-वु-दो” बना होगा। तत्पश्चात् “त्थो-हि-अ-?-णि-हि-?-प-?-?-दो” जैसा अशुद्ध एवं अस्पष्ट पाठ बना होगा। जिसमें से अन्त में जा कर “त्थो,-हि-अ-अ-णि-हि-द-पि-अ-अ-णो” जैसे अपूर्व पाठान्तर ने जन्म लिया होगा। परिणामतः किसी ने उसे “त्थो हिअअ-णिहिद-पिअअणो” शब्द के रूप में देख कर राजा का विशेषण बना दिया होगा! इस तरह के प्रतिलेखन के इतिहास की कल्पना करने से, अब समझ में आता है कि “जवणिहिं” (यवनिकाभिः) तृतीयान्त पद मूल पाठ में से कैसे गायब हुआ होगा॥ डॉ. बेलवालकर जी ने यह भी कहा है[3] कि यवनिकाभिः पद को नहीं स्वीकारने का कारण यह भी नहीं है कि उसमें किसी तरह का कालव्युत्क्रम हो रहा है। क्योंकि कैप्लर एवं रिचार्ड पिशेल जैसे दोनों ही विद्वान् पाठसम्पादकों ने इसी नाटक के सप्तमांक में एक जगह पर “प्रतिहारी” जैसा पाठान्तर उपलब्ध होते हुए भी “यवन” शब्द को स्वीकारा है।

[2]

काश्मीरी वाचना के पाठानुसार राजा रंगमंच पर आकर विदूषक से पूछते हैं कि यह तेरे गात्रों में आघात कैसे पैदा हुआ है? तब विदूषक राजा को कहता है :

"विदूषकः-कुदो किल। सअं येव अच्छी आउली-कदुअ अंसुकारणं पुच्छसि।

(कुतः किल, स्वयमेवाक्षीण्याकुलीकृत्य अश्रुकारणं पृच्छसि।)

राजा : *वयस्य, न खल्वगच्छामि।*

विदूषक : *(सरोषमिव) भो तए णाम राअ-कय्याइं उज्झिअ तादिसे . ..॥"*

यहाँ विदूषक अपनी बेहाली के लिए राजा को ही जिम्मेवार बताना चाहता है और उसके लिए एक ही दृष्टान्त पेश करता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी की आँख को आकुलित करके, उससे पूछे कि तुम्हारी आँख से क्यूं अश्रु निकल रहे है? वैसे ही तुम ही मेरी बेहाली के कारण होते हुए भी क्यूं पूछते हो कि मैं क्यूं रो रहा हूँ?। किन्तु इसी सन्दर्भ का पाठ्यांश जब तुलनात्मक दृष्टि से मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में देखते हैं तो वह निम्नोक्त स्वरूप का हैः-

राजा : *(विलोक्य सस्मितम्) कुतोऽयं गात्रोपघातः।*

विदूषक : *कुदो किल। सअं जेव अच्छिं आउलीकदुअ अस्सुकारणं पुच्छसि।*

राजा : *न खल्वगच्छामि। भिन्नार्थमभिधीयताम्।*

विदूषक : *जं वेदसो कुज्जअस्स लीलं विडम्बेदि, तं किल अत्तणो पहावेण अध णदीवेअस्स।*

राजा : *नदीवेगस्तत्र कारणम्।*

विदूषक : *ममावि भवं।*

राजा : *कथमिव।*

विदूषक : *जुत्तं णाम एवं तए राजकज्जाइं उज्झिअ च .....॥*

यहाँ अधोरेखांकित वाक्यावली नवीन है, प्रक्षिप्त है। क्योंकि जो बात

अक्षि-आकुलीकरण के दृष्टान्त से कही गई है, उसे ही नदी वेग और वेतस के दृष्टान्त से पुनरपि विस्तारित की गई है। यद्यपि यह नया उदाहरण रोचक है, किन्तु उसके प्रस्ताव में राजा अमन्दमति नहीं लगता है। जब विदूषक ने "सअं जेव अच्छिं आउली-कदुअ" शब्दों से, स्वयं राजा ने ही विदूषक की आँखे आकुलित की है ऐसा सीधा आक्षेप कर ही दिया है, फिर भी राजा को कहना पड़ता है कि जरा खुल कर बताओ (भिन्नार्थमभिधीयताम्), तब वह बुद्धिमान्ध सूचित करता है। अतः मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में आयी हुई उपर्युक्त नवीन वाक्यावली सम्भवतः प्रक्षिप्त होगी ऐसा लगता है। यह पाठ्यांश प्रक्षिप्त ही होगा ऐसा मानने का दूसरा कारण ऐसा है कि विदूषक ने शूरू में राजा को मध्यम पुरुष के क्रियापदों (पुच्छसि) से उद्‌बोधित किया है, वही विदूषक उपर्युक्त नवीन वाक्यावली में "ममापि भवान्" ऐसे सम्मान सूचक शब्दों से उद्‌बोधित करता है, जो वह परस्पर में विरुद्ध है॥ देवनागरी वाचना ने इस सन्दर्भ में काश्मीरी पाठ का अनुगमन छोड़ कर, मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के प्रक्षिप्तांश को स्वीकार लिया है। अतः उस देवनागरी वाचना को "संक्षिप्त की गई वाचना" कहने के साथ साथ "संमिश्रित वाचना" भी कहनी होगी।

[3]

काश्मीरी वाचना में प्राप्त हो रही विदूषक की अन्य उक्तियाँ भी पाठान्तरों का स्थान बनी है। जैसे कि, (1) राजा ने जब कहा कि तुम्हें मुझे एक अनायास कर्म में साहाय्य करनी है, उस प्रसंग का संवाद निम्नोक्त हैः

राजा : *विश्रान्तेन भवता ममान्यस्मिन्ननायासे कर्मणि सहायेन भवितव्यम्।*

विदूषक : *(साभिलाषम्) अवि मोदअखज्जिआए। (अपि मोदकखादिकायाम्।)*

राजा : *यत्र वक्ष्यामि।*

विदूषक : *गहिदो खणो। (गृहीतः क्षणः।)*

मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में इसी सन्दर्भ का पाठ्यांश तुलनीय

है। मैथिली में विदूषक के मुख में "किं मोदअखज्जिआए।'', एवं "गहिदो पणओ" (गृहीतः प्रणयः) ऐसे पाठभेद मिलते हैं। किन्तु बंगाली वाचना में "किं मोदअखज्जिआए।'', एवं "गहिदो खणो" ऐसे काश्मीरी पाठ का अनुसरण दिखता है। देवनागरी वाचना में विदूषक के इन दोनों वाक्यों को एक ही उक्ति में पिरोये गये हैं। "विदूषकः किं मोदअखंडिआए। तेण हि अअं सुगहीदो खणो।" तथा दाक्षिणात्य वाचना के प्रथम टीकाकार काटयवेम ने "किं मोदकखण्डनेषु" ऐसा पाठभेद माना है। इसमें सरलीकरण का आशय दिखता है।

(2) काश्मीरी वाचना के पाठ में राजा सेनापति को कहते हैं, "भद्र सेनापते, मन्दोत्साहः कृतोऽस्मि मृगयापवादिना माधव्येन।" दूसरी ओर मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठ में "मन्दोत्साह" के स्थान में "भग्नोत्साह" ऐसा पाठान्तर मिलता है। लेकिन देवनागरी वाचना में तो काश्मीरी वाचना जैसा ही "मन्दोत्साह" शब्द स्वीकारा गया है।

(3) काश्मीरी वाचना में सुरक्षित रहा पाठ ही प्राचीनतम है और आनुक्रमिकतया मैथिली, बंगाली और देवनागरी, दाक्षिणात्य वाचनाओं में पाठविचलन होता रहा है। इस तरह की पाठयात्रा को समझने के लिए द्वितीयांक में ही उपलब्ध हो रहे नानाविध निदर्श देखना आवश्यक है। राजा ने जैसे ही सेनापति को कहा कि इस विदूषक ने मुझे मृगया के लिए मन्दोत्साह कर दिया है, वैसे ही सेनापति विदूषक के पास जा कर उसके कान में कहता है कि विदूषक, अपनी बात पर स्थिर (अविचलित) रहो। यहाँ कवि कालिदास ने दो निम्न वर्ग के पात्रों की आन्तरिक पहचान देने के आशय से जो संवादमाला बनाई है वह (काश्मीरी पाठ में कैसी सुरक्षित रही है, वह) द्रष्टव्य हैः-

1. **राजा** : *भद्र सेनापते, मन्दोत्साहः कृतोऽस्मि मृगयापवादिना माधव्येन।*
2. **सेनापति** : *(जनान्तिकम्) माधव्य, स्थिरप्रतिबन्धो भव। अहमपि तावत्स्वामिनश्चित्तमनुवर्तिष्ये।*
   (प्रकाशम्) देव, प्रलपत्वेष वैधेयः। ननु प्रभुरेव निदर्शनम् मृगया-गुणानाम्।

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः, सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
उत्कर्षस्स च धन्विनां यदिषवः सिद्ध्यन्ति लक्ष्ये चले, मिथ्या हि वदन्ति मृगयाम् ईदृग्विनोदः कुतः॥

3. **विदूषक** : *(कृतकरोषम्) अत्थभवं दाव पइदिं आवण्णो। तुमं पुणो अडवीदो अडविं आहिण्ड जाव सीमासिआलो विअ जुण्णरिक्खस्स मुहे पडिस्ससि। (अत्रभवांस्तावत् प्रकृतिमापन्नः। त्वं पुनरटवीतोटविं भ्रम, यावत् मृगयालुरिव जीर्णर्क्षस्य मुखे पतिष्यसि।)*

इसमें दोनों पात्र इकठ्ठे हो कर जनान्तिक उक्ति से जो आपसी समझौता करते हैं उसमें राजाओं के आसपास रहनेवालें निम्न वर्ग के पात्रों की मानसिकता का एक अन्तरङ्ग चित्र कवि ने पेश किया है। विदूषक तो पहले से ही राजा की मृगया में सम्मिलित होना नहीं चाहता था, लेकिन सेनापति भी उसी दिशा में सोचता है, फिर भी बाहर से कुछ भिन्न ही वर्ताव करता है। प्रकृत में, सेनापति ने विदूषक को जैसा सिखाया वैसे ही उसने कृतकरोष के साथ दूसरा वाक्य कहा है। यहाँ उपरि निर्दिष्ट दोनों ही रंगसूचनायें परस्पर में सुसंगत है। किन्तु हम मैथिली वाचना के पाठ को देखते हैं तो पाठविचलन के प्रकट चिह्न मिलते हैं। किसी अज्ञात लिपिकार के प्रमाद से उपर्युक्त विदूषक की तीसरी उक्ति स्थानान्तरित हो जाती है, और वह दूसरे क्रम पर चली जाती है। तथा वहाँ से "कृतकरोषम्" जैसी रंगसूचना भी गायब हो जाती है। फिर सेनापति की उक्ति, जो काश्मीरी पाठ में द्वितीय क्रमांक पर थी वह मैथिली पाठ में तीसरे क्रम में रखी गई है। अब सेनापति की उक्ति के प्रस्ताव से पहले, "जनान्तिक" ऐसी रंगसूचना निरर्थक बन जाती है। मैथिली पाठ में यह दूषित स्थान सिद्ध होता है। (रमानाथ झा, पृ. 29)

अब बंगाली वाचना का पाठ परीक्षणीय है। जिसमें भी एक अशास्त्रीय रंगसूचना है एवं कुछ नये शब्दों का प्रक्षेप हुआ है। पहले डॉ. रिचार्ड पिशेल द्वारा सम्पादित पाठ्यांश देखना जरूरी हैः-

राजा : भद्रसेन, भग्नोत्साहः कृतोऽस्मि मृगयापवादिना माधव्येन।

सेनापति : (अपवार्य) सखे माधव्य, दृढप्रतिज्ञो भव। अहं तावत्स्वामिनश्चित्तमनुवर्तिष्ये। (प्रकाशम्) देव, प्रलपत्वेष वैधेयः। ननु प्रभुरेव निदर्शनम्। पश्यतु देवः, मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः॥ (1-5)

विदूषक : (सरोषम्) अवेहि रे उच्छाहइत्तआ अवेहि। अत्थभवं पइदिं आवण्णो। तुमं दाव दासीए पुत्तो अडईदो अडइं आहिण्ड जाव सिआलमिअलोलुवस्स कस्स वि जुण्णरिच्छस्स मुहे णिवडिदो होसि॥

इस बंगाली पाठ में 1. "जनान्तिक" के स्थान में जो "अपवार्य" ऐसी रंगसूचना दी गई है, वह अशास्त्रीय प्रतीत हो रही है। क्योंकि जब कोई पात्र रंगभूमि के किनारे पर आकर प्रेक्षकों से सीधी बात करना चाहता है तब त्रिपताका की हस्तमुद्रा के साथ बोलता है। यहाँ तो सेनापति इस "अपवार्य" प्रकार की उक्ति से विदूषक के साथ बातचीत करता है ऐसा सन्दर्भ दिया है। अतः यहाँ बंगाली में दी गई "अपवार्य" प्रकार की उक्ति सुसंगत नहीं लगती है। तथा 2. काश्मीरी एवं मैथिली के "स्थिरप्रतिबन्धो भव" जैसे शब्दों के स्थान में, बंगाली वाचना ने "दृढप्रतिज्ञो भव" ऐसा पाठान्तर किया है। 3. काश्मीरी पाठ में सेनापति को "दास्याः पुत्रः" शब्द से गाली नहीं दी गई थी, जिसका प्रस्ताव पहली बार मैथिली में हुआ, और वह बंगाली में भी अनुसृत की गई। एवमेव, काश्मीरी पाठ में सेनापति को सीमाशृगाल की उपमा दी गई थी, जिसमें परिवर्तन करके मैथिली वाचना में उसको जीर्ण ऋक्ष का विशेषण बनाते हुए "वृद्धशृगाललोलुपस्य कस्यापि जीर्णर्क्षस्य" शब्दों में ढ़ाल दिये है। इस तरह की विकृति लिपिकार के प्रमाद के कारण पैदा नहीं हो सकती है। यह विकृति बंगाली पाठ में संचरित हुई, लेकिन उसमें बुढ़े भालु के लिए प्रयुक्त विशेषण में एक परिवर्तन हुआ हैः- "शृगालमृगलोलुपस्य"। अब देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में इस सन्दर्भ का पाठ देखते हैंः-

सेनापति : *(जनान्तिकम्) सखे, स्थिरप्रतिबन्धो भव। अहम् तावत्*

स्वामिनश्चित्तवृत्तिम् अनुवर्तिष्ये। (प्रकाशम्) प्रलपत्वेष वैधवेयः।
ननु प्रभुरेव निदर्शनम्। मेदश्छेदकृशोदरं॥ (2-5)

विदूषक : *अत्तभवं पकिदिं आपण्णो। तुमं दाव अडवीदो अडवीं आहिडंतो णरणासिकालोलुवस्य जिण्णरिच्छस्स कस्स वि मुहे पडिस्ससि। (अत्रभवान् प्रकृतिमापन्नः। त्वं तावदडवीतोटवीमाहिण्डमानो* नरनासिकालोलुपस्य जीर्णऋक्षस्य कस्यापि मुखे पतिष्यसि।)

इसमें काश्मीरी पाठ का प्रायः अनुसरण दिख रहा है। जैसे कि, यहाँ जनान्तिक की रंगसूचना है, तथा उसके लिए "दास्याः पुत्रः" जैसी गाली का प्रयोग नहीं है। किन्तु कुछ स्थानों में मैथिली एवं बंगाली पाठ का भी अनुसरण किया गया है। जैसे कि, सेनापति के लिए कोई विशेषण नहीं है, किन्तु रींछ के लिए विशेषण रखा है। यद्यपि उसमें पहलेवाले सभी शब्दों को बदला गया है। और सन्दर्भोचित "नरनासिकालोलुप" शब्द से हास्य को नया रंग चढ़ाया गया है। यहाँ निदर्श के रूप में रखी गई पूरी चर्चा को देखने से पाठविचलन के साथ साथ भारतीय रंगभूमि पर इस नाटक के खेल में कैसा आनुक्रमिक रूप से परिवर्तन आता रहा है वह भी समझ में आता है।

[4]

विदूषक के कहने से राजा ने मृगया-कर्म से विरत होने का सोच लिया और अपने सेनापति को बुलाया। दुष्यन्त सूचना देना चाहता है कि मृगया के लिए एकत्र किये जंगल के प्राणिओं को मुक्त किये जाये। दौवारिक जा कर सेनापति को ले आता है। रंगमंच पर आकर सेनापति ने राजा के शरीर की ओर देखा। मृगया के कारण राजा को जो शारीरिक लाभ हुआ था उनका वह गुण-वर्णन शूरू करता है। जैसे कि, "अनवरतधनु-र्ज्यास्फालन-क्रूरपूर्वम्''। काश्मीरी वाचना में यहाँ पर दौवारिक की एक उक्ति हैः *अय्य, एसो क्खु अणुवअणदिण्णकण्णो इदो दिण्णदिठ् येव भट्टा तुमं पडिवालेदि। ता उवसप्पदु अय्यो। (आर्य, एष खल्वनुवचनदत्तकर्ण इतो दत्तदृष्टिरेव भर्ता त्वां प्रतिपालयति। तस्माद् उपसर्पत्वार्यः।)* पूर्वापर

सन्दर्भ में इस उक्ति को देखेंगे तो मालूम होगा कि राजा जी ने सामने से आ रहे सेनापति के मृगया की प्रशंसा करते हुए शब्दों को ध्यान से सुने थे, और वे उसकी प्रतीक्षा भी कर रहे थे। मतलब कि यहाँ राजा के लिए प्रयुक्त "अनुवचनदत्तकर्ण" एवं "इतो दत्तदृष्टि" ये दोनों विशेषण राजा के आङ्गिक अभिनय के साथ ही जुड़े हुए है। नाट्य प्रयोग के दौरान ही राजा के आङ्गिक अभिनय से समझ में आयेगा कि ये दोनों शब्द सर्वथा उपयोगी है।

इसी उक्ति का मैथिली वाचना में जो स्वरूप है वह निम्नोक्त हैः एदु एदु अज्जो। एसो अणुवअण-दिण्णकण्णो भट्टा तुमं जेव्व पडिवालेदि। ता उअसप्पदु अज्जो॥ यहाँ मैथिली पाठ में "इतो दत्तदृष्टिः" इतने शब्द नहीं है। अर्थात् नाट्य प्रयोग के दौरान राजा के आङ्गिक अभिनय से स्पष्ट होगा कि राजा जी केवल सेनापति के शब्दों को सुन रहे थे, किन्तु उनकी दृष्टि सेनापति के आने की दिशा में नहीं घुमाई गई थी॥

बंगाली वाचना में इस सन्दर्भ की उक्तियाँ परीक्षणीय है। जिसमें सब से पहले यह ज्ञातव्य है कि राजा की आज्ञा से दौवारिक जब सेनापति को लेकर रंगमंच पर आता है तो वहाँ किसी रंगकर्मी ने समय की बचत करने के लिए "निष्क्रम्य-प्रविश्य" की युक्ति का विनियोग किया है, और सेनापति की उक्ति को स्थानान्तरित करके पीछे ले ली है। अतः बंगाली पाठ का सन्दर्भ प्रथम द्रष्टव्य हैः-

राजा : रैवतक, सेनापतिस्तावदाहूयताम्।

दौवारिक : तधा। (इति निष्क्रम्य पुनः सेनापतिना सह प्रविश्य) एदु एदु अज्जो। एस आलावदिण्णकण्णो भट्टा इदो ज्जेव चिट्ठदि। उवसप्पदु णं अज्जो। (तथा। एतु एतु आर्यः। एष आलापदत्तकर्णो भर्ता इत एव तिष्ठति। उपसर्पतु एनम् आर्यः॥)

सेनापति : राजानमवलोक्य स्वगतम्। कथं दृष्टदोषापि मृगया स्वामिनि केवलं गुणायैव संवृत्ता।

तथा हि देवः,

अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरकर्मा, रविकिरणसहिष्णुः स्वेदलेशैरभिन्नः।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं, गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति॥(2-4)

इसमें सेनापति के मुख में रखा गया जो श्लोक है, वह अन्य सभी वाचनाओं में दौवारिक उसको बुला कर साथ में ला रहा है तब सेनापति के मुख में है। वह आते समय रास्ते में ही इस श्लोक के द्वारा राजा का शरीर, जो मृगया के व्यायाम से कसा गया है, उसका निरूपण करता है। इस श्लोक का उच्चारण (या गान) पूरा हो जाने पर ही दौवारिक उसको कहता है कि राजा आपके कथन को सुन ही रहे है, अतः आप उसके निकट में जा सकते हो। लेकिन बंगाली पाठ में इस श्लोक को पीछे कर देने से दौवारिक जब कहता है कि राजा, जो आलापदत्तकर्ण है, वह यहीं खड़े है और अब आप उसके निकट जा सकते हैं, तो वह वाक्य विसंगत बन जाता है। क्योंकि इस बंगाली पाठ में तो अभी तक सेनापति ने रास्ते में आते समय यह श्लोक बोला (या गाया) ही नहीं है! तो फिर दौवारिक कैसे कह सकेगा कि राजा आपके आलाप की ओर ध्यान देकर सुन रहे है? बंगाली पाठ की इस तरह की नवीन पाठयोजना असम्बद्ध है उसमें कोई शक नहीं है॥ काश्मीरी और मैथिली पाठों में इस तरह की विसंगति नहीं है। तथा देवनागरी वाचना ने यद्यपि बंगाली वाचना के नवीन पाठयोजना का अनुसरण किया है, किन्तु उपर्युक्त विसंगति से बचने के लिए दौवारिक की पूर्वोक्त उक्ति में "आलापदत्तकर्ण" शब्द को बदल के, उसके स्थान में [''एसो अण्णावअणुक्कंठो भट्टा इदो दिण्णदिट्ठी एव्व चिठ्ठदि। उवसप्पदु अज्जो। (एष आज्ञावचनो-त्कण्ठो भर्ता इतो दत्तदृष्टिरेव तिष्ठति। उपसर्पतु आर्यः।)"] ''आज्ञावचनोत्कण्ठ" शब्द से एक नया ही (चौथा) पाठान्तर अवतारित किया है।

उपर्युक्त चर्चा में पाठविचलन की यात्रा भी स्पष्टतया उद्‌भासित हो रही है कि उपलब्ध प्राचीनतम काश्मीरी वाचना के शारदा पाठ में पहले "अनुवचनदत्तकर्णः, इतो दत्तदृष्टिः" ऐसे दो शब्द थे।, द्वितीय क्रम में, मैथिली वाचना ने काश्मीरी पाठ का अनुसरण जरूर किया, लेकिन एक शब्द को कम करके केवल "अनुवचन-दत्तकर्णः" शब्द चालु रखा। तथा

सेनापति के श्लोक को, राजा के सामने लाने से पहले, प्रस्तुत करवानेवाली मूल योजना को नहीं बदली। तीसरे क्रम में, बंगाली पाठ में सेनापति के मुख में रखे श्लोक को स्थानान्तरित किया गया। तथा "आलापदत्तकर्णः" जैसे तीसरे पाठान्तर को प्रस्तुत किया। लेकिन उसमें पूर्वोक्त प्रकार की विसंगति आने के कारण देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में एक चौथे पाठान्तर ने जन्म लिया, जिसमें "आज्ञावचनो-त्कण्ठः" शब्द आ गया।

[5]

काश्मीरी वाचना में कुत्रचित् ऐसे पाठ भी मिलते हैं कि जो अद्यावधि अल्पज्ञात या अज्ञात ही रहे हैं। उदाहरण के लिए, राजा ने पहले सेनापति को रंगभूमि से बाहर भेज दिया और उसके बाद रेवक (रैवतक) सहित अन्य परिजन को भी निवृत्त कर दिया। तब विदूषक बोलता है कि, कदो भवदा णिद्धूमो दंसपडीआरो। (कृतो भवता निर्धूमको दंशप्रतिकारः।) यहाँ मैथिली वाचना में विदूषक के मुख में "किदं भवदा णिम्मक्खिअं। (कृतं भवता निर्मक्षिकम्।)" ऐसा पाठान्तर है, जो बंगाली में भी अनुसृत हुआ है। देवनागरी और दाक्षिणात्य में भी शब्द तो वही है, लेकिन शौरसेनी प्राकृत (णिम्मक्खिअं) के स्थान में महाराष्ट्री-प्राकृत का "णिम्मच्छिअं" रूप रखा गया है।

[6]

विदूषक राजा की शकुन्तला विषयक मनोभावना पर रोक लगाने के लिए कोशिश करता है। दूसरी ओर से राजा भी अपना प्रेम समुचित स्थान पर ही मण्डित है ऐसा सिद्ध करने का प्रयास करता है। इस सन्दर्भ को क्रमिक रूप से देखेंगे कि उसमें कैसे कैसे पाठभेदों ने प्रवेश किया है?। (1) पहला वाक्य विदूषक का हैः भोदु, ण से पसरं वड्ढइस्सं। *(प्रकाशम्) जदा दाव सा तावस-कण्णआ अप्पत्थणीआ, ता किं ताए दिट्ठाए। (भवतु, नास्य प्रसरं वर्धयिष्यामि। यदा तावत् सा तापसकन्यका अप्रार्थनीया, तत् किं तया दृष्टया।)* यहाँ विदूषक कहना चाहता है कि शकुन्तला तापस

की कन्या होने से ही अप्रार्थनीय सिद्ध होती है, तो फिर उसे देखने से क्या लाभ?। इस जगह पर मैथिली और बंगाली वाचनाओं में पाठभेद करके "अप्रार्थनीया" के स्थान में "अनभ्यर्थनीया" शब्द रखा गया है। किन्तु देवनागरी वाचना के पाठशोधकों ने इस वाक्य का काकु ही बदल दिया है। जैसे कि, *भो वअस्स, ते तावसकण्णआ अब्भत्थणीआ दृश्यते। (भो वयस्य, ते तापसकन्यका अभ्यर्थनीया दृश्यते।)* मतलब कि "अरे वयस्य, अब तो तुम्हारे लिए तापस कन्या भी अभ्यर्थनीय बन गई है''। तथा दाक्षिणात्य वाचना में इसी को प्रश्नार्थक वाक्य के रूप में परिवर्तित किया गया है। जैसे कि, *भो वयस्स, अज्ज तावसकण्णआ किं अब्भत्थणीआ दीसइ। (भो वयस्य, अद्य तापसकन्यका किम् अभ्यर्थनीया दृश्यते।)* अर्थात् अरे मित्र, आज तापसकन्या भी क्या अभ्यर्थनीय लगने लगी है?। यह बात तो सुप्रसिद्ध है कि रंगकर्मियों के द्वारा अलग अलग काकु से अमुक वाक्यों की अर्थच्छाया बदल दी जाती है। प्रकृत में जो पाठान्तर मिलते हैं वे उसी तरह के हैं। किन्तु महत्त्व की बात यह है कि काश्मीरी वाचना का पाठ प्राचीनतम होने के साथ साथ आन्तरिक सम्भावना की दृष्टि से देखा जाए तो भी वही प्रकृत में सब से अधिक सुसंगत है। क्योंकि विदूषक ने *"भवतु, नास्य प्रसरं वर्धयिष्यामि।"* ऐसे संकल्प के साथ राजा को उनकी शकुन्तला-विषयक प्रवृत्ति से हताश करने का जो सोच रखा था, उस उपक्रम के साथ तो "अप्रार्थनीया" वाला काश्मीरी पाठ ही सम्बद्ध लगता है।

(2) उपर्युक्त सन्दर्भ में, राजा और विदूषक के बीच में प्रश्न एवं उत्तर से भरा लम्बा संवाद चलता है। काश्मीरी वाचना में उस संवाद का पाठ निम्नोक्त शृंखला में उपलब्ध होता हैः-

राजा : मूर्ख, परिहार्येऽपि वस्तुनि दुष्यन्तस्य मनः प्रवर्तते?

विदूषक : ता कधं एदम्। (तत् कथमेतत्।)

राजा : ललितान्यसम्भवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम्।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालतीकुसुमम्॥ (2-8)

विदूषक : जइ वि ण कस्सवस्स महेसिणो ओरसा धूदा तधा वि किं ताए दिट्ठाए।

(यद्यपि न काश्यपस्य महर्षे-रौरसा दुहिता, तथापि किं तया दृष्टया? ।)

राजा : अविशेषज्ञ,

चिरं गतनिमेषाभिर्नेत्रपङ्क्तिभिरुन्मुखः नवामिन्दुकलां लोकः केन भावेन पश्यति।
न च सा मादृशानाम् अप्रार्थनीया, समासतः समिन्मध्यकालागुरुखण्डवत्॥(2-9)

इसमें हम देख सकते हैं कि विदूषक ने जो संकल्प किया था कि "नास्य प्रसरं वर्धयिष्यामि" (मैं उसकी शकुन्तला विषयक मनःप्रवृत्ति को आगे नहीं बढ़ने दूँगा।) उसीको वह दृढ़ता के साथ पकड़ कर रखता है। जिसके लिए राजा को भी उदाहरण-प्रत्युदाहरण से बार बार सिद्ध करना पड़ता है की शकुन्तला किसी भी तरह से उसके लिए अप्रार्थनीय नहीं है॥ किन्तु जब इसी संवाद को अन्यान्य वाचनाओं में देखते हैं तो उसमें क्रमशः विकृतियाँ पैदा होती चली है, और प्राचीनतम काश्मीरी पाठ से हम दूर हटते जा रहे हैं। जैसे कि, मैथिली पाठ में उपर्युक्त श्लोकों का क्रम उलटा-सूलटा हो गया है। इन दोनों श्लोकों के कुछ शब्दों में भी नये पाठान्तर को स्थान मिला है। तथा विदूषक का दूसरा प्रश्न भी सर्वथा हटा दिया है, इसलिए उपर्युक्त दूसरे श्लोक के उत्तरार्ध की भी जरूरत नहीं रही। अतः उसको निकाल देने में सरलता हो गई। एवञ्च, राजा के प्रश्नार्थक वाक्य को निषेधार्थक बनाया गया हैः-

राजा : मूर्ख,

निराकृतनिमेषाभिर्नेत्रपङ्क्तिभिरुन्मुखः।
नवामिन्दुकलां लोकः केन भावेन पश्यति॥ (2-8)
न च परिहार्ये वस्तुनि दुष्मन्तस्य मनः प्रवर्तते।
ललिताप्सरोभवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम्।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालतीकुसुमम्॥ (2-9)

इस मैथिली में राजा बहुत जल्दी से यह सिद्ध कर रहा है कि शकुन्तला उसके लिए अभ्यर्थनीया है। यहाँ राजा ने शकुन्तला के लिए "ललिताप्सरोभवम्" शब्द का प्रयोग करके, सामने से यह भी बता दिया कि वह एक अप्सरा की पुत्री है॥ मैथिली वाचना के अज्ञात पाठशोधकों

ने यद्यपि परम्परागत पाठ का नव संस्करण किया, किन्तु वह बंगाली वाचना के पाठशोधकों को सर्वांश में अनुसरणीय नहीं लगा है। इस लिए उन्होंने भी अपनी ओर से पुनः संस्कार करने की कोशिश की है। जैसे कि,

कण्व : *वत्से,*

राजा : मूर्ख,

निराकृतनिमेषाभिर्नेत्रपङ्क्तिभिरुन्मुखः।
नवामिन्दुकलां लोकः केन भावेन पश्यति॥(2-8)
न च परिहार्ये वस्तुनि दुष्यन्तस्य मनः प्रवर्तते।

विदूषक : ता कधेहि। (तत् कथय)

राजा : ललिताप्सरोभवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम्।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम्॥ (2-9)

बंगाली वाचना में हम देख सकते हैं कि विदूषक के दूसरे प्रश्न को पुनरपि स्थान दिया गया है। जिससे "शकुन्तला एक अप्सरा की पुत्री है" ऐसा विदूषक के प्रश्न के उत्तर में कहना समुचित बनता है। तथा च, बंगाली पाठ में नवमालती कुसुम के स्थान में नवमालिका कुसुम को पाठान्तरित किया गया है। तदनन्तर, देवनागरी वाचना में देखते हैं तो उसमें परम्परागत पाठ में संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति सक्रिय हो चुकी है ऐसा स्पष्ट मालूम होता है। जैसे कि, यहाँ निम्नोक्त पाठ मिलता हैः-

राजा : सखे, न परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्तते।
सुरयुवतिसम्भवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम्।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम्॥ (2-8)

इसमें से विदूषक के दूसरे प्रश्न को हटाया गया है और "चिरं गतनिमेषाभिः, या निराकृतनिमेषाभिः" वाला श्लोक हटाया गया है। जो मूल में बात थी कि शकुन्तला को विदूषक ने जब तक नहीं देखी है तब तक वह "अनवाप्त-चक्षुःफल" ही है, वह प्रसंग छुट जाता है। और शकुन्तला तो किसी के भी लिए सर्वथा दर्शनीय है, स्पृहणीय है जैसे नव इन्दुकला होती है, वह सुन्दर बात भी सदा काल के लिए अन्धेरे में चली जाती है॥ काश्मीरी वाचना में उपलब्ध हो रहे पाठ में जो इस तरह का

क्रमिक परिवर्तन होता रहा है, उसमें एक बात स्पष्टतया सुनिहित है कि मैथिली वाचना से, यानि शूरू से ही पाठशोधकों के मन में नाट्य प्रयोग के दौरान मुख्य बात कैसे सरलता से और कम समय में पेश की जाए उसकी ही कोशिश की गई है।

(३) उपर्युक्त सन्दर्भ में ही, विदूषक की निम्नोक्त उक्ति में भी एक महत्त्वपूर्ण पाठान्तर मिलता है। "(विहस्य) *भो जधा कस्सा वि पिण्डखज्जुरीहिं उव्वेजिदस्स तिन्तिलिआणं अहिलासो भोदि तधा इत्थीरअण-परिभाविणो भवदो इअं पत्थना। (भोः यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरिभिरुद्वेजितस्य तिन्तिलिकानाम् अभिलाषो भवति, तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयं प्रार्थना।)"*—यह काश्मीरी वाचना का पाठ है। मैथिली वाचना में, एक शब्द का पाठान्तर है:-- *"इत्थीरअणपरिभाविणो भवदो इअं पत्थना*। इसके स्थान में *"इत्थीरअण-परिभोइणो भवदो इअं अब्भत्थना" (स्त्रीरत्न-परिभोगिणः भवतः इयमभ्यर्थना)*। जिसके अनुसन्धान में बंगाली वाचना के पाठशोधकों ने अधिक स्पष्टता करते हुए "अन्तेउर-इत्थी-रअण-परिभोइणो भवदो इअं पत्थणा" ऐसा पाठान्तर प्रस्तुत किया है। लेकिन देवनागरी वाचना में काश्मीरी वाचना का अनुसरण करते हुए "इत्थिआ-रअणपरिभाविणो भवदो इअं अब्भत्थणा" ऐसा ही पाठ रखा है। इस तरह के द्विविध पाठान्तरों में से किस एक पाठ को आन्तरिक सम्भावना का समर्थन मिल सकता है? वह विचारणीय है। यहाँ प्रकरण-संगति को देखा जाए तो, विदूषक ने पहले शकुन्तला के सन्दर्भ में कहा कि वह तो तापसकन्या होने से ही आपके लिए अप्रार्थनीय होनी चाहिए। किन्तु राजा वह "अन्यसम्भवा" है ऐसा हेतु देकर हाथ से निकल गये। तो दूसरा पक्ष लेकर अब विदूषक अन्तःपुर की रानियों का स्मरण कराता है। राजा के द्वारा वे स्त्रीरत्नस्वरूपा रानियों का स्पष्ट तया परिभावन (यानि तिरस्कार) हो रहा है ऐसी चेतावनी देता है। यदि "स्त्रीरत्नपरिभोगिनः" ऐसा पाठान्तर लेंगे तो राजा की केवल विषयिता ही उजागर होगी। लेकिन काश्मीरी पाठ के अनुसार स्त्रीदाक्षिण्य दिखानेवाले राजा को यदि "स्त्रीरत्नपरिभाविनः" कहा जायेगा तो उसमें राजा का अपराधभाव उजागर होगा। अतः ऐसा सूचित करने से कदाचित्

राजा अपने नये प्रेम-प्रसंग से विमुख हो सकता हो, और जो स्थिति विदूषक के लिए अपेक्षित थी॥ इस दृष्टिकोण से सोचा जायेगा तो काश्मीरी पाठ, न केवल प्राचीनतम होने से, किन्तु आन्तरिक सम्भावना से समर्थित होने के कारण अधिक श्रद्धेय और ग्राह्य लगेगा।

[7]

विदूषक ने राजा से पूछा कि आपके लिए शकुन्तला का चित्तानुराग कैसा है, तब राजा ने "अभिमुखं मयि संहृतमीक्षितं (2-12)" एवं "दर्भाङ्कुरेण चरणः (2-13)" इन दो श्लोकों से शकुन्तला भी दुष्यन्त के प्रति प्रेमाविष्ट हुई है उसके कुछ प्रमाण वर्णित करता है। जिसको सुन कर विदूषक ने ठीक तरह से जान लिया कि दोनों ही परस्पर में समान रूप से अनुरक्त हो गये हैं। तब वह तुरंत कहता है कि,

''भो गहीदपाधेयो होसि। कधं पुणो उण तवोवणगमणं ति पेक्खामि।
(भोः गृहीतपाथेयो भवसि। कथं पुनः पुनस्तपोवनगमनमिति प्रेक्षे।)''

मतलब कि शकुन्तला और दुष्यन्त यदि परस्परानुरक्त हुए है तो फिर दुष्यन्त को बारबार कण्वाश्रम में जाना होगा। और उसके लिए वह पहली सलाह यही देता है कि राजा तुम पाथेय साथ में लेलो। तथा वह स्वयं भी एक मित्र होने के नाते से सोचना शूरू करता है कि आप कैसे पुनः पुनः तपोवन में जा पायेंगे?। विदूषक की प्रसंगोचित बात सुन कर राजा ने भी तुरंत कहा कि, हे सखा, तो फिर तुम ही कोई उपाय ढूँढ़ निकालो कि कैसे मैं आश्रम में जा पाउँगा। विदूषक ने उपाय खोजने की तत्परता दिखाते हुए समाधि लगाने की चेष्टा शूरू की, व राजा से विज्ञप्ति भी की कि तुम निरर्थक रोना-धोना शूरू करके, मेरी समाधि में विक्षेप नहीं ड़ालना। इस सन्दर्भ की संवादमाला इन शब्दों में (काश्मीरी वाचना में) उपलब्ध होती हैः

राजा : सखे, चिन्तय तावत् केनोपायेन पुनराश्रमपदं गच्छामः।
विदूषक : एसो चिन्तेमि। मा खु से अलीअपरिदेविदेहिं समाधिं भञ्जिहिसि।
(एष चिन्तयामि, मा खलु अस्यालीकपरिदेवितैः समाधिं भाङ्क्षीः।)

मैथिली वाचना में उपर्युक्त सन्दर्भ का पाठ बहुत कुछ परिवर्तित किया गया है। जिसमें विदूषक के द्वारा रंगमंच पर समाधि लगाने की चेष्टा का न कोई अभिनय है, और उसका कोई नाम निर्देश नहीं है। यहाँ विदूषक राजा को पाथेय भर लेने की सलाह नहीं देता है। किन्तु उसको ऐसा लगता है कि शकुन्तला ने राजा के प्रति अनुराग दिखा कर उसका पाथेय भर दिया है! जैसे कि,

विदूषक : गहिदपाधेओ भवं किदो तए। अणुरञ्जिदं तवोवणं ति तक्केमि। (गृहीतपाथेयो भवान् कृतः तया। अनुरञ्जितं तपोवनम् इति तर्कयामि।)

राजा : सखे, चिन्तय तावत्। केनापदेशेन पुनराश्रमपदं गच्छामः।

विदूषक : को अवरो अवदेसो। णं भवं राआ। (क अपरोऽपदेशः। ननु भवान् राजा।)

इस मैथिल पाठ में चित्ताकर्षकता को बढ़ावा जरूर दिया गया है, लेकिन उसमें कुछ विसंगति अन्तर्निहित है। तद्यथा "अनुरञ्जितं तपोवनम्" इस वाक्य में विधेय पद को प्राथम्य दिया गया है, और उद्देश्य वाचक पद को द्वितीय क्रम पर रखा गया है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से यह दोषपूर्ण है। उपर्युक्त काव्यशास्त्रीय दोष को दूर करने के लिए बंगाली पाठशोधकों ने "गहिदपाधेओ किदो सि ताए। ता अणुरक्तं तवोवणे तुमं तक्केमि। (गृहीतपाथेयो कृतोऽसि तया। तत् अनुरक्तं तपोवने त्वाम् तर्कयामि।)" ऐसा पाठान्तर प्रस्तुत किया है। इसमें विदूषक राजा को कहता है कि इस तपोवन में तुम अनुरक्त हुए हो, यानि तपोवन में तुम प्रेमासक्त हुए हो ऐसा मुझे लगता है। इस तरह के पाठान्तर से अब यहाँ उद्देश्य-विधेय वाचक पदों में क्रमभङ्ग होने का सवाल ही पैदा नहीं होता है। किन्तु वर्तमान में प्रचलित देवनागरी वाचना के पाठ में भी ऐसे ही दोषपूर्ण पाठान्तर ने पुनः जन्म ले लिया है। "तेण हि गहीदपाहेओ होहि। किदं तुए उववणं तवोवणं ति पेक्खामि।(तेन हि गृहीतपाथेयो भव। कृतं त्वया उपवनं तपोवनमिति पश्यामि।)" इस वाक्य पर राघवभट्ट ने टीका लिखी है कि, कृतं त्वयोपवनं तपोवनमिति पश्यामि। उद्देश्यविधेयभावे व्यत्ययो

ज्ञेयः॥ यहाँ यह द्रष्टव्य है कि काश्मीरी वाचना का प्राचीनतम पाठ अपने मूल रूप में से विचलित होने के बाद अनुगामी काल में बारबार बदलता रहा है, और फिर भी बेचेन ही रहा है!

एवमेव, मैथिली का अनुसरण करते हुए बंगाली, देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में से भी विदूषक के द्वारा समाधि लगाने का उल्लेख हटाया गया है। किन्तु कालिदास ने विक्रमोर्वशीय नाटक में विदूषक के पास रंगमंच पर समाधि लगाने का अभिनय करवाया है, अतः वही दृश्य इस नाटक में भी हो सकता है। अतः उपर्युक्त दोनों सन्दर्भों में काश्मीरी वाचना का पाठ प्राचीनतम होने के नाते अपना महत्त्व रखता ही है, उसे अमान्य करने से पहले दो बार सोचना तो आवश्यक ही है।

[8]

विदूषक की उक्तिओं में हुए परिवर्तनों का एक-दो उदाहरण अभी अवशिष्ट है। जैसे कि, (1) अङ्क के अन्तभाग में दो आश्रमकुमार राजा के पास आकर यज्ञ-रक्षार्थे कुछ दिनों के लिए आश्रम में रुक जाने की विज्ञप्ति करते हैं। तब, काश्मीरी वाचना के पाठ के अनुसार, विदूषक की एक अपवार्य उक्ति हैः—इयं दाणिं अणुऊल-गलत्था। (इयमिदानीमनुकूल प्रेरणा।) इसमें प्रेरणार्थक 'गलत्था' देशी-प्राकृत शब्द था। जिसको नहीं समझने के कारण मैथिली में 'गलहत्थो' (गलहस्त) में परिवर्तित किया गया है। जैसे कि—अअं दाणिं अणुऊल-गलहत्थो। (अयमिदानीम् अनुकूलगलहस्तः।) राजा और विदूषक इसी विषय को लेकर तो अभी तक यही मनोमंथन करते रहे हैं कि किस बहाने आश्रम में पुनः जाये। तो जब सामने से आश्रमवासिओं की ओर से बुलावा आता है, तो वह राजा के लिए तो अभिलषित था ही, किन्तु विदूषक के लिए ऐसी दैववशात् उपस्थित हुई परिस्थिति पर टीका करने का एक मौका बन जाती है। अतः उपर्युक्त उक्ति से, वह कहता है कि अब तेरी गर्दन को पकड़नेवाला यह हाथ तो मुझे अनुकूल ही है! यद्यपि ऐसी टीका ग्रामीण भाषा में होने से कवि ने उसे "अपवार्य उक्ति" के नाम से प्रस्तुत की है॥ बंगाली वाचना में

भी मैथिली जैसा ही पाठ स्वीकारा गया है। किन्तु देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में से ग्रामीण भाषा का स्वरूप हटा कर, "एसा दाणिं अणुऊला ते अब्भत्थणा। (एषा इदानीं ते अनुकूला अभ्यर्थना।)" ऐसा पाठान्तर रखा गया है॥

(2) विदूषक ने सुना था कि कण्वाश्रम में राक्षसों का उपद्रव होता है, अतः राजा ने जब उसको कहा कि क्या शकुन्तला को देखने का कुतूहल है? (यदि है, तो चलो मेरी साथ में।) इस सन्दर्भ में विदूषक और राजा के बीच में जो संवाद होता है वह परीक्षणीय है :

राजा : माधव्य, अप्यस्ति शकुन्तलादर्शनकौतुकम्।

विदूषक : पढमं अपरिबाधं आसि। (सभयम्) रक्खसवुत्तान्तेण उण सम्पदं विसाददंसिणा विसेसिदं। (प्रथमं अपरिबाधमासीत्। राक्षसवृत्तान्तेन पुनस्साम्प्रतं विषाददर्शिना विशेषितम्।)

राजा : मा भैषीः। ननु मत्समीपे भविष्यसि।

विदूषक : एसो चक्काकी भूदो म्हि। (एषः चक्राकीभूतोऽस्मि।)

इसमें मैथिली वाचना ने दो स्थानों में पाठभेद किया है। जैसे कि, **विदूषकः**—पढुमं अपरिबाधं आसि। सम्पदं रक्खसवुत्तन्तेण सपरिबाधं। **राजा**—मा भैषीः। ननु मत्समीप एव वर्तिष्यसे। **विदूषकः**—एस तव रक्खीभूदम्हि॥ बंगाली वाचना ने भी मैथिली के पाठ का प्रायः अनुसरण तो किया है। किन्तु एक जगह पर विदूषक की उक्ति में "चक्करक्खी भूदो म्हि।" शब्दों से काश्मीरी पाठ को सुगम बनाने का प्रयास किया है॥

[9]

इस अङ्क के अन्तभाग में, हस्तिनापुर से राजमाताओं का सन्देश लेकर करभक आता है, उसकी उक्ति में एक महत्त्वपूर्ण पाठभेद मिलता है। "जयदु जयदु भट्टा। देविओ आणवेन्ति, जधा आगामिनि चउत्थे दिअसे पुत्तपिण्डओ णाम उववासो भविस्सदि। तत्थ दीहाउणा अवस्सं सण्णिहिदेण होदव्वम्। (जयतु जयतु भर्ता। देव्य आज्ञापयन्ति यथागामिनि चतुर्थे दिवसे पुत्रपिण्डको नामोपवासो भविष्यति। तत्र दीर्घायुषाऽवश्यं सन्निहितेन

भवितव्यम् ।)''॥ दुष्यन्त को अनेक रानियाँ होने के बावजुद भी वह अनपत्य है, अतः राजमहल की राजमाताएँ चिन्तित है। इसलिए उन्होंने पुत्रपिण्डक नाम का उपवास रखा है, ऐसा काश्मीरी वाचना का पाठ कहता है। इसके स्थान में मैथिली वाचना में जो पाठपरिवर्तन किया गया है, उसमें "पुत्तपिण्डपज्जुपासणो" ऐसा शब्द रखा गया है। एवं बंगाली वाचना में "पुत्तपिण्डपारणो" नामक व्रत का निर्देश है॥ किन्तु देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में अनुक्रम से "प्रवृत्तपारणो'', और "निवृत्तपारणो" ऐसे नये पाठान्तरों ने प्रवेश किया है॥ यहाँ ऐसा लगता है कि इस नाटक के आरम्भ में राजा को चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त होगा ऐसा आशीर्वाद दिया गया है, जिससे इस नाटक का अन्तिम लक्ष्य पुत्रप्राप्ति है ऐसा सूचित किया ही गया है। तथा नाटक के सभी अङ्कों में राजा की अनपत्यता या उनके पुत्र का किसी न किसी प्रकार से उल्लेख होता ही रहता है, इस लिए बृहत्पाठ की सुरक्षा करनेवाली तीनों, काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में आंशिक परिवर्तन के साथ भी जो पुत्रपिण्ड शब्दवाला पाठ मिलता है, वही मौलिक होने की सम्भावना है।

[10]

उपसंहार : अभिज्ञानशकुन्तला नाटक की बृहत्पाठ परम्परा जिसमें सुरक्षित रही मिलती है ऐसी तीन वाचनायें हैं। लेकिन इन तीनों में से काश्मीरी वाचना का पाठ ही सब से प्राचीनतम है। क्योंकि वह काश्मीर की शारदा लिपि में लिखी पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ है। लिपियों के इतिहास की दृष्टि से सोचा जाए तो ब्राह्मी लिपि में से विकसित हुई अन्यान्य लिपियों में शारदा लिपि का स्थान ही प्रथम आता है। अतः इस नाटक की जो मैथिली एवं बंगाली वाचनायें जिन लिपियों में लिखी गई हैं वे मैथिली एवं बंगाली लिपियों का उद्भव-क्रम स्वाभाविक रूप से शारदा लिपि के बाद ही रखा जाता है। अब गवेषणीय यही था कि काश्मीरी वाचना में संचरित हुआ इस नाटक का पाठ किस क्रम में विचलित हुआ है? प्रस्तुत परामर्श में, इस नाटक के द्वितीयांक में जो जो पाठान्तर मिलते

हैं, प्रायः उन सब का विश्लेषण करके पाठविचलन-क्रम दिखाया गया है, तथा विदूषक की उक्तियों में पैदा हुए पाठान्तरों में से काश्मीरी वाचना का पाठ ही किस दृष्टि से सब से अधिक प्रामाणिक एवं ग्राह्य लगता है उसका निरूपण किया गया है।

सन्दर्भ

1. मैथिली वाचनानुसारी पाठ मिथिला से प्रकाशित हुआ है, और बंगाली वाचना का पाठ रिचार्ड पिशेल ने तैयार किया है। इन सभी वाचनाओं के ग्रन्थों के प्रकाशनादि का निर्देश इस ग्रन्थ के अन्त में दिया गया है।
2. यहाँ राघवभट्ट ने लिखा है कि, अटवीमिति "सप्तम्य द्वितीया" इति सूत्रे "प्रथमाया अपि" इति वार्तिकम् तेन प्रथमार्थे द्वितीया। (पृ. 55)। किन्तु अटव्याम् ऐसे सप्तम्यन्त पद के स्थान में अटवी ऐसे प्रथमान्त प्रयोग के साधुत्व-बोधन के लिए कोई आयास करने की आवश्यकता ही नहीं थीं। क्योंकि "आहिण्ड्यते" कर्मणि-वाच्य के साथ "अटवीतो अटवीम्'', ऐसा द्वितीयान्त प्रयोग ही "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" सूत्र से समुचित सिद्ध होता है।
3. द्रष्टव्य हैः- The application of a few canons of textual criticism to Kalidasa's Sakuntala, by S.K. Belvalkar, Verlag Der Asia Major, Vol. 2, Leipzig, Germany, 1923, (pp. 79-104)
4. इस तरह की असम्बद्धता समान रूप से डॉ. रिचार्ड पिशेल (पृ. 19) एवं डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल (पृ. 223) द्वारा सम्पादित बंगाली के पाठ में दृष्टिगोचर हो रही है।
5. राघवभट्टकृतार्थद्योतनिकाव्याख्यया सनाथीकृतम् अभिज्ञानशाकुन्तलम्। सं. नारायण राम, प्रकाशकः राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नव देहली, 2006, (पृ. 76)

(ग) कुसुमशयना शकुन्तला

अभिज्ञानशकुन्तला (अङ्क - 3) के पाठविचलन का क्रम

भूमिका : अभिज्ञानशकुन्तला नाटक के पाठ को लेकर सामान्य रूप से विद्वानों ने जो रवैया अपनाया है वह ऐसा है कि देवनागरी पाठ-परम्परा में संचरित हुआ पाठ, (जिस पर राघवभट्ट ने अर्थद्योतनिका टीका लिखी है) वही मौलिक पाठ है, (या अधिक श्रद्धेय पाठ है)। साथ में, इन विद्वानों ने ऐसा मान लिया है कि इस नाटक का जो बृहत्पाठ बंगाल या मिथिला में प्रचलित है वह अनेक प्रक्षेपों से भरा पड़ा पाठ है, और उसमें बहुत जगहों पर अश्लील पाठ्यांश भी आते हैं। ऐसा पाठ मौलिक नहीं हो सकता है, उसे सर्वथा त्याज्य पाठ ही मानना चाहिए। देवनागरी पाठ (और बहुशः तदनुसारी दाक्षिणात्य पाठ) के पक्षधर विद्वानों ने उपर्युक्त पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर बंगाल या मिथिला के बृहत्पाठ की ओर देखना भी छोड़ दिया है। जैसे छाछ और मख्खन को अलग कर लिया हो! दूसरा बिन्दु : पूरे भारत वर्ष के विद्वानों के हाथ में जिन टीकाओं का प्रचार-प्रसार हुआ है वे (देवनागरी पाठ पर लिखी गई) राघवभट्ट की टीका, एवं (दाक्षिणात्य पाठ पर लिखी गई) काटयवेम, श्रीनिवास, अभिराम, घनश्याम, चर्चा, नीलकण्ठादि की टीकायें (जिन सब का प्रणयन 15वीं शती में एवं उसके बाद हुआ है,) ही हैं। अतः टीकाकारों के संसार में भी अभिज्ञानशाकुन्तल का लघुपाठ ही "मान्य पाठ" के रूप में प्रसिद्ध था। (और उनमें से किसीने भी बृहत्पाठ की ओर दृष्टिपात किया हो उसका कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता है। तीसरा बिन्दु यह भी है कि बृहत्पाठ परम्परा में (बंगाली और मैथिली

पाठ के अलावा) एक तीसरा पाठ भी था, जो काश्मीर की शारदा पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रहा है। लेकिन वह उनके सही स्वरूप में हमारे सामने सम्यक् रूप से[1] अद्यावधि नहीं आया था। अतः शारदा लिपि में लिखी हुई पाँच पाण्डुलिपियाँ एकत्र की गई हैं। जिनके तुलनात्मक अभ्यास से कुछ महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ हाँसिल हुई हैं। तदनुसार अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक (अङ्क-3) के मूल पाठ में रंगकर्मियों के द्वारा कैसे क्रमिक परिवर्तन होता रहा है? उसका यहाँ प्रथम बार परामर्शन किया जा रहा है।

[1]

अभिज्ञानशाकुन्तल की पाठालोचना में मुख्य रूप से तीसरे अङ्क को लेकर ही बड़ा भारी विवाद है, अतः इदंप्रथमतया यदि इसको ही सुलझाया जाए तो कवि कालिदास के द्वारा प्रणीत जो मौलिक पाठ होगा उसकी गवेषणा का सही मार्ग प्रशस्त हो सकता है। डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी जी, (सागर) द्वारा सम्पादित "नाट्यम्" (अंकः 71-74, पृ. 27 से 57, डिसे. 2012) पत्रिका में "अभिज्ञानशाकुन्तल की देवनागरी वाचना में संक्षेपीकरण के पदचिह्न" शीर्षक से हमारा जो शोध-आलेख प्रकाशित हुआ है, उसमें देवनागरी वाचना का पाठ संक्षिप्त किया गया है यह बात अनेक आन्तरिक प्रमाणों से सिद्ध की गई है। (उक्त चर्चा का फलितार्थ यह भी होता है कि अभिज्ञानशाकुन्तल के द्विविध पाठों में से पुरोगामी पाठ के रूप में बृहत्पाठ ही रहा होगा, जिसमें कालान्तर में संक्षेप किया गया है। ऐसा नहीं है कि कवि कालिदास ने मूल में लघुपाठ ही लिखा था, और बाद में किसी ने उसमें अन्यान्य श्लोकों का प्रक्षेप करके, उसको बृहत्पाठ में परिवर्तित किया है।) अब दूसरा कर्तव्य यह भी है कि इस नाटक का बृहत्पाठ जो बंगाली, मैथिली एवं काश्मीरी वाचनाओं में सुरक्षित रहा है उसकी पाठालोचना की जाये। ऐसा लगता है कि बृहत्पाठ परम्परा में संचरित हुए पाठ की नितान्त उपेक्षा होने का मुख्य कारण उसमें दाखिल हुए एकाधिक अश्लील पाठ्यांश ही हैं। अतः ऐसे अंश प्रविष्ट होने का मूलगामी कारण क्या है? और उसमें क्रमशः कैसे विकार दाखिल होते गये है? इसकी खोज किये बिना, हम कदापि इस नाटक के पाठ की संशुद्धि नहीं कर पायेंगे।

बृहत्पाठ परम्परा की मौलिकता पर प्रश्न चिह्न लगाने वाले दो ही मुख्य बिन्दु हैं : 1. उसके तृतीयाङ्क में, जहाँ दुष्यन्त और शकुन्तला का गान्धर्व-विवाह निरूपित किया गया है, अनेक स्थानों पर अश्लील पाठ्यांश आते हैं। तथा 2. इन परम्पराओं में नाटक का शीर्षक "अभिज्ञानशकुन्तला" या "अभिज्ञानशकुन्तल" है, "अभिज्ञानशाकुन्तल" नहीं है। इन दोनों का समुचित समाधान करने के लिए, कालिदास ने इस नाटक को लिखने की प्रेरणा जहाँ से प्राप्त की है उस महाभारत के उपाख्यान की कहानी की ओर एक दृष्टिपात करना आवश्यक होगा : महाभारत के आदिपर्वान्तर्गत शकुन्तलोपाख्यान में दुष्यन्त[2] और शकुन्तला का गान्धर्व विवाह वर्णित किया है, जिसमें मृगयाविहारी दुष्यन्त के दृष्टिपथ में कण्व मुनि की पाल्या दुहिता शकुन्तला आती है और वह उसके सौन्दर्य से लुलोभित होता है। दुष्यन्त शकुन्तला से सद्यो विवाह का प्रस्ताव रखता है। किन्तु शकुन्तला पिता कण्व की अनुमति मिलना आवश्यक बताती है। तब मालिनी नदी के तट पर फलाहार लेने गये पिता कण्व की कुछ समय के लिए प्रतीक्षा करने को भी दुष्यन्त तैयार नहीं था। यहाँ दुष्यन्त शकुन्तला को प्राप्त करने के लिए उतावला हो गया है ऐसा चित्र मिलता है।[3] ऐसी कामुकता से भरी अस्वाभाविक विवाह-कहानी आगे चल कर दुरवस्था के गर्त में जाकर गिरती है। दुष्यन्त के पुत्र भरत को लेकर शकुन्तला जब हस्तिनापुर में पहुँचती है तो दुष्यन्त बिना कोई शाप ही उसे पहचानने से इन्कार करता है।[4] (सुकथंकर, 1933) शकुन्तला अकेली ही दुष्यन्त से वाद-विवाद करती है। इत्यादि॥ महाभारत में वर्णित ऐसी अभद्र कहानी में, (क) भावनात्मक परिवर्तन ला कर विवाह से पूर्व एक नैसर्गिक प्रेमसहचार का हृद्य चित्र उपस्थापित करने के लिए, महाकवि कालिदास ने यह "अभिज्ञानशकुन्तला" नामक नाटक लिखा है। यहाँ हिरण, गज, बालमृगेन्द्र,शिरीष, कमल, भ्रमर, चक्रवाक, हंस, मयूर, सहकार, केसरवृक्ष, नवमालिका, माधवीलता जैसे पशु, पक्षी, पुष्प, वृक्षादि जैसे सार्वभौम नैसर्गिक प्रतीकों को पार्श्वभूमि में रख कर निसर्गकन्या शकुन्तला की

प्रेमकहानी को प्रस्तुत की गई है। तथा (ख) महाभारत में पुत्र भरत की पैतृक पहचान जो आकाशवाणी से सिद्ध की जाती है,वह कृत्रिम प्रतीत होती है। अतः उसके स्थान में कालिदास ने इस नाटक में अभिज्ञान की समस्या निर्मूल करने के लिए अनेक प्रतीतिकर साक्ष्यों की उपस्थापना की है, तथा उसकी प्रस्तुति बड़े नाटकीय ढंग से की है और इन्हीं कारणों से यह नाटक विश्वनाट्यसाहित्य की प्रथम पङ्क्ति में विराजमान बना है।

अभिज्ञानशकुन्तला नाटक को लिखने के पूर्वोक्त दो मुख्य प्रेरक परिबल ध्यान में रख कर ही हम बृहत्पाठ की पाठालोचना में प्रवेश करेंगे। क्योंकि,महाभारत की उपर्युक्त कहानी में बदलाव लाने के लिए कालिदास ने मूल नाटक में तो नायक-नायिका के नैसर्गिक प्रेमसहचार का गरिमामय चित्र उपस्थित करने का सोचा होगा। किन्तु इस नाटक का जो देवनागरी पाठ आज सार्वत्रिक रूप से प्रचलित हुआ है उसमें से तो वह विशुद्ध प्रेम का चित्र गायब सा हो गया है। लघुपाठ परम्परा के देवनागरी और दाक्षिणात्य पाठों में संक्षेपीकरण के कारण (तृतीयांक से) सच्चे प्रेमसहचार के दो दृश्यों की ही कटौती की गई है। दूसरी ओर, प्रकट रूप से दिखता है कि बृहत्पाठ की तीनों (काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली) वाचनाओं में कालिदासप्रणीत न हों ऐसे अनेक श्लोकों एवं अश्लील संवादों का प्रक्षेप किया गया है। अतः आज का पाठक यदि देवनागरी वाचना के लघुपाठ से अभिज्ञानशाकुन्तल पढ़ता है तो मूल पाठ में भारी कटौती हुई है उनसे अनभिज्ञ रहता है, अथवा बृहत्पाठ की किसी भी वाचना के पाठ को लेकर इस नाटक का रसास्वाद लेना चाहता है तो वह अश्लील पाठ्यांशों को देख कर उद्विग्न हो जाता है। इस तरह इन दोनों पाठपरम्पराओं में इस नाटक का जो पाठ है वह महाकवि कालिदास का सच्चा परिचय नहीं दे रहा है। सर विलियम जोन्स (1789) ने जब से आधुनिक जगत् को अभिज्ञानशकुन्तल का परिचय करवाया है तब से लेकर (225 वर्षों के बाद भी) आज तक का पाठक या प्रेक्षक कविप्रणीत मूलपाठ की स्थिति क्या रही होगी? इस विषय में सर्वथा अनजान ही है॥

प्रस्तुत नाटक के तीसरे अङ्क में, कवि ने नायक-नायिका का गान्धर्व-विवाह वर्णित करने का उपक्रम स्वीकारा है। कवि ने इस प्रेमप्रसंग को रंगमंच पर प्रस्तुत करने के लिए जो योजना मूल में बनाई होगी वह इस तरह की दिख रही है : तपोवनकन्या शकुन्तला ने जब से इस राजर्षि को देखा है तब से वह उसके प्रति प्रेमाकृष्ट हुई है। यौवन में आई नायिका को प्रेम की प्रथम अनुभूति ने धीर धीरे पूर्ण रूप से कामाविष्ट कर दिया है। कामज्वर की ऐसी दशा को दिखाने के लिए कवि ने उसे पुष्पों से सजाई शय्या पर सुलाया है और आसपास में बैठी दो सहेलियाँ उसे नलिनीदल से पवन झल रही हैं। यज्ञशाला की रक्षा करने का कर्तव्य निभा कर राजा जब वहाँ से निवृत्त होता है तो उसे भी अपनी प्रियतमा की याद आती है। वह उसे ढूँढने के लिए मध्याह्न में लतावलय से घिरे मालिनी के तटों पर आता है। राजा : अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम्। एषा मे मनोरथप्रियतमा सकुसुमास्तरणं शिलापट्टम् अधिशयाना सखीभ्याम् अन्वास्यते। भवतु, श्रोष्याम्यासां विस्रम्भकथितानि॥ (देवनागरी पाठ)॥ अब पुष्पमयी शय्या पर लेटी हुई नायिका को खड़ी करने की क्षण, कवि ने जो सोच रखी है, वह भी द्रष्टव्य है। जब दोनों सहेलियाँ राजा के मुख से सुन लेती हैं कि परिग्रहबहुत्वेपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे। समुद्रवसना चोर्वी सखी च युवयोरियम्॥ (3-17)। (देवनागरी पाठ)॥ तब वे दोनों "निर्वृते स्वः।" बोल कर तुरन्त मृगपोतक को उनकी माँ के साथ संयोजित करने के बहाने वहाँ से विदा लेती हैं। शकुन्तला अपने को अकेली, अशरणा महसूस करने लगती है। तब नायक उसे कहता है कि, अलमावेगेन। नन्वयमाराधयिता जनस्तव समीपे वर्तते। किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातान् संचारयामि नलिनीदलतालवृन्तैः। अङ्के निधाय करभोरु यथासुखं ते संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ॥ (3-18)। (देवनागरी पाठ)॥ तब शकुन्तला "न माननीयेषु आत्मानम् अपराधयिष्ये।" कह कर, पुष्पों की शय्या का त्याग करके खड़ी हो जाए—यह कवि का सोचा हुआ क्षण था। (जिसका गर्भितार्थ यह भी होता है कि शकुन्तला ने नलिनीपत्र पर अपने नाखूनों से जो मदनलेख

लिखा था वह भी पुष्पशय्या में लेटी हुई अवस्था में ही लिखा था।) लेकिन विभिन्न कालखण्ड में आये अनेक रंगकर्मियों ने कवि की उपर्युक्त मूल योजना में बहुविध परिवर्तन कर दिया है। इन सब परिवर्तनों के कारण पाण्डुलिपियों में संचरित हुए पाठ में (रंगसूचनाओं से सम्बद्ध मंचनयोजना में) अनेक विसंगतियाँ खड़ी हुई हैं।

उदाहरण के लिए देवनागरी (और दाक्षिणात्य) पाठ को देख लीजिए : तीसरे अङ्क के आरम्भ में दुष्यन्त के मुख से कहा गया है कि शकुन्तला कुसुमास्तरणवाले शिलापट्ट पर अधिशयाना है। शकुन्तला को यह भी मालूम नहीं होता है कि उसकी सहेलियाँ क्या उसे पवन झल रही हैं। नायिका कामावस्था के विविध सोपान पार करके कहीं आगे निकल गई है। वह बोलती है कि यदि उस राजर्षि के साथ मेरा समागम नहीं होगा तो सहेलियों को मेरे शरीर पर तिलोदक ही छिड़क देना पड़ेगा। तत्पश्चात् प्रियंवदा ने सुझाव दिया कि शकुन्तला दुष्यन्त को उद्देश्य कर एक मदनलेख लिखे, और वह उसे पुष्पों के बीच में छिपा कर, देवताशेष (देव प्रसाद) के बहाने उसके पास पहुँचा देगी। तब शकुन्तला कहती है : (सस्मितम्) णिओइआ दाणिं म्हि। (नियोजितेदानीम् अस्मि।) (रंगसूचना—इत्युपविष्टा चिन्तयति।) अर्थात् देवनागरी पाठ के अनुसार शकुन्तला ने शय्या से उठ कर, वहीं शिलापट्ट पर बैठ कर मदनलेख में क्या लिखा जाए वह सोचने की क्रिया की है। और फिर शकुन्तला ने कहा है कि "हला, चिन्तिदं मए गीदवत्थु। ण खु सण्णिहिदाणि उण लेहसाहणाणि। (हला, चिन्तितं मया गीतवस्तु। न खलु संनिहितानि पुनर्लेखसाधनानि।)" तत्पश्चात् प्रियंवदा ने ही बतलाया कि "एतस्मिन् शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु''। अतः शकुन्तला ने वहीं बैठ कर ही अपने नाखून से नलिनीपत्र में "तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवापि रात्रावपि" इत्यादि शब्दों से उस गीतिका को लिख दिया है।अब उस गीतिका को सुन कर एकान्त में खड़ा दुष्यन्त सहसा शकुन्तला के सामने "तपति तनुगात्रि" बोलता हुआ उपस्थित होता है। सखियों ने अविलम्ब से उपस्थित हुए मनोरथों का, अर्थात् राजा का स्वागत किया। तब रंगसूचना दी गई है कि शकुन्तला अभ्युत्थातुमिच्छति।

इस खड़े होने की चेष्टा को रोकता हुआ राजा कहता है कि अलमलमायासेन, संदष्टकुसुमशयनान्याशुक्लान्तबिसभङ्गसुरभीणि। गुरुतापानि न ते गात्राण्युपचारम् अर्हन्ति॥ (3-15)॥ अनसूया—इतः शिलातलैकदेशम् अलङ्करोतु वयस्यः। राजा जब सामने आ ही गये हैं, तो समुदाचार अनुसार उसको बैठने के लिए कहा भी जाना चाहिए। यहाँ तीसरी रंगसूचना दी गई हैः- *राजोपविशति। शकुन्तला सलज्जा तिष्ठति।* राजा जब उसी शिलातल पर आसन ग्रहण करते हैं, तो स्त्रीसहज लज्जा से शकुन्तला तुरन्त शिलातल से उठ कर पास में खड़ी हो जाती है।

पाठक या प्रेक्षक देख रहा है कि अङ्क के आरम्भ में शकुन्तला कुसुमास्तरण पर लेटी थी। बाद में, वह मदनलेख के शब्दों को सोचने और लिखने के लिए बैठती है। तत्पश्चात् राजा प्रकट होते हैं और उसको शिलातल पर बैठने के लिए कहा जाता है, तब वह सलज्जा खड़ी हो जाती है। इस तरह देवनागरी पाठ में, रंगमंच पर शकुन्तला की तीन स्थितियाँ बताई गई हैं। किन्तु आगे चल कर, जब सहेलियाँ मृगपोतक को उनकी माँ के पास संयोजित करवाने के बहाने रंगमंच से चली जाती है, और राजा नायिका का समाराधन करने के लिए "संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ" इत्यादि शब्दों से तत्परता दिखाता है, तब रंगसूचना के माध्यम से हमें कहा जाता है कि "इत्युत्थाय गन्तुमिच्छति''। जिसको देख कर तुरन्त प्रश्न होता है कि जो शकुन्तला पहले से ही सलज्जा खड़ी हो गई है (सलज्जा तिष्ठति), तो अब "खड़ी होकर जाने की इच्छा कर रही है" ऐसी रंगसूचना कैसे दी जा रही है? यहाँ पर रंगसूचनाओं में परस्पर विरोध आ रहा है! दूसरा बिन्दु यह है कि जब राजा शिलातल पर बैठे हैं और उसके पास में शकुन्तला खड़ी है, तो उसको उद्देश्य कर राजा ऐसा कहे कि "क्या मैं तुम्हें शीतल नलिनीदल से पवन झलुं, अथवा क्या तुम्हारे पद्म जैसे ताम्रवर्णवाले पाँवों को मेरे अङ्क में रख कर उसका संवाहन करूँ।" तो इन (अङ्के निधाय—जैसे) शब्दों का सन्दर्भगत औचित्य देखा जाए तो वह अनुचित ही लगता है।

तीसरा बिन्दु : रंगसूचना से जब कहा जा रहा है कि खड़ी हो कर

शकुन्तला जाने की इच्छा कर रही है, तो उसके बाद राजा के मुख में–

"उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम्।
कथमातपे गमिष्यसि परिबाधापेलवैरङ्गैः॥(3-19)"

ऐसे शब्दों का होना भी अनुचित ही है। क्योंकि पहले तो कहा गया है कि शकुन्तला खड़ी होकर जाने की इच्छा कर रही है। अर्थात् वह वहाँ से गई ही नहीं है तो "कुसुमशयन को छोड़ कर ऐसे उग्र आतप में तुम बाहर कैसे जाओगी?" यह कहना भी विसंगत है!! बल्कि, श्लोक के आरम्भिक दो शब्द सूचित करते हैं कि नायिका को लेटे रहना था।

इन विसंगतियों से भरी रंगयोजनायें केवल राघवभट्ट जैसे टीकाकारों के द्वारा स्वीकृत पाठ में ही है ऐसा नहीं है। मोनीयर विलियम्स(विलियम्स, 1855-1961, तृतीय संस्करण), प्रोफेसर एम. आर. काळे,(काळे, 1898 प्रथमावृत्ति, दशवी आवृत्ति, 1969), श्री पी. एन. पाटणकर, (पाटणकर, 1902), प्रोफेसर शारदा रञ्जन रॉय (रञ्जन, 1908), गौरीनाथ शास्त्री(शास्त्री, 1983) एवं प्रोफेसर श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी जी (द्विवेदी, 1976, 1986) आदि सभी की आवृत्तियों में भी यही विसंगति समान रूप में दिखाई दे रही है। इसका मतलब यह हुआ कि अभिज्ञानशाकुन्तल के गणमान्य सम्पादकों के भी ध्यान में यह विसंगति आई ही नहीं होगी। और फलतः देवनागरी पाठ मौलिक है या नहीं? यह बात उनको सोचने की आवश्यकता भी नहीं रही। लगता है कि कालिदास की यह "अभिरूप-भूयिष्ठा परिषद्" गजनिमीलिका न्याय से शृंगार रस का आस्वाद ले रही है!!

[4]

काश्मीर की शारदा लिपि में लिखी हुई पाण्डुलिपियों में से चार पूर्ण पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हुई हैः 1. ऑक्सफर्ड युनि. से 1247 क्रमांकवाली, 2. ऑक्सफर्ड युनि. से 159क्रमांकवाली, 3. श्रीनगर की 1435 क्रमांक वाली तथा 4. ब्युल्हर ने काश्मीर से भूर्जपत्र पर लिखी हुई एक प्रति प्राप्त की थी, जिसका बोम्बे गवर्नमेन्ट कलेक्शन, क्रमांक 192 था, (जो आज भाण्डारकर ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट, पुणें में उपलब्ध नहीं है,[5] किन्तु) ई.

स. 1884 में कार्ल बुरखड ने जर्मनी से इसी का रोमन स्क्रिप्ट में रूपान्तरण प्रकाशित किया था॥ इन चारों पाण्डुलिपियों में से, डॉ. एस. के. बेलवालकर जी ने भूर्जपत्र पर लिखी हुई (192 क्रमांकवाली) शारदा पाण्डुलिपि को "मूलादर्श प्रति" (Archetype) मानी थी,[6] वही सब से पुरानी शारदा प्रतिलिपि है। अन्य तीन प्रतियाँ उत्तरकाल में लिखी गई वंशज प्रतियाँ हैं ऐसा प्रतीत हो रहा है। इन चारों शारदा पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ इस नाटक का काश्मीरी पाठ एक ओर है, तथा दूसरी ओर मैथिली एवं बंगाली परम्परा का पाठ है।[7]

कालिदासप्रणीत मूलपाठ आज कालग्रस्त हो चुका है।(कवि ने स्वहस्तलेख के रूप में लिखा हुआ पाठ हमारे लिए केवल अनुमानगम्य ही हो सकता है।) दूसरे क्रम में, उस कालग्रस्त हुए स्वहस्तलेख से जो सब से पहली प्रतिलिपि बनाई गई होगी, वह "मूलादर्शप्रति" (Archetype) कहलायेगी। उसमें संक्रान्त हुआ पाठ कैसा होगा? उसको जानने के लिए भी हमारे पास कोई मूर्त प्रमाण नहीं है। मतलब कि उसका पाठ भी हमारे लिए केवल अनुमानगम्य ही होगा।किन्तु वही हमारा गवेषणीय पाठ होगा। समीक्षित पाठसम्पादक का लक्ष्य ऐसा पाठ होता है।

अब बृहत्पाठ में संचरित हुए पाठ की विचलन-यात्रा की चर्चा शुरू करते ही यह कहना होगा कि बृहत्पाठ (की साक्षीभूत तीनों वाचनाओं) में अश्लील पाठ्यांशों की उपस्थिति प्रायः एक समान है। अर्थात् आज उपलब्ध हो रही सभी पाण्डुलिपियों[8] के साक्ष्यों में विचलित हुआ पाठ ही विरासत में मिल रहा है। फिर भी इन तीनों वाचनाओं की पाठपरम्पराओं में यदि पौर्वापर्य निश्चित करना है तो काश्मीरी वाचना के पाठ को ही आद्य स्थान दिया जाना चाहिए। क्योंकि 1. लिपियों के इतिहास में शारदालिपि ही बंगाली और मैथिली लिपि की अपेक्षा से पहले आती है। 2. केवल काश्मीरी वाचना के पास ही भूर्जपत्र पर लिखे हुए पाठ का साक्ष्य है। 3. (तीसरे अङ्क के) श्लोकों की संख्या की तुलना की जाए तो भी अन्य दो वाचनाओं की श्लोकसङ्ख्या की अपेक्षा से काश्मीरी वाचना में संचरित हुए श्लोकों की संख्या ही कम है।[9] और, समीक्षित पाठ सम्पादन

के जो अधिनियम हैं उनमें से एक नियम यह कहता है कि बृहत् याने विस्तृत, (या अलङ्कृत) पाठ की अपेक्षा से जो अबृहत् या अनतिविस्तृत पाठ हो (जैसा काश्मीरी वाचना में है) वही मौलिक या अधिक श्रद्धेय पाठ मानना चाहिए।[10] इन कारणों से प्रेरित हो कर हमने ऐसी पूर्वावधारणा (hypothesis)बनाई है कि बृहत्पाठानुसारी तीनों वाचनाओं में से काश्मीरी वाचना का पाठ ही कालानुक्रम की दृष्टि से, सर्वप्रथम आता है।

अतः काश्मीरी वाचना की उपलब्ध हो रही पाँच पाण्डुलिपियों में से जो भूर्जपत्र पर लिखी गई पाण्डुलिपि है, उसमें से आरम्भ हो रहे पाठविचलन का क्रम आगे चल कर, कैसे वृद्धिंगत हुआ है वह सोचना चाहिए। प्रथम सोपान पर, भूर्जपत्रवाली शारदा पाण्डुलिपि में परम्परा से चला आ रहा पाठ, जो विरासत में मिला है, वह भी अश्लीलांशों से भरा पाठ है। (क) सब से पहले प्रक्षिप्त अंश के रूप में उन सब की पहचान की जायेगी। साथ में ही इन अश्लीलांशों को प्रक्षिप्त करने के लिए जो बीजभूत संकेत मिलते हैं उसकी चर्चा की जायेगी। तथा (ख) इसी पाठ में रंगसूचनाओं से सम्बद्ध विसंगति पैदा करनेवाला एक स्थान जो मिलता है, उसकी भी प्रक्षेप के रूप में पहचान की जायेगी। तदनन्तर, दूसरे सोपान पर, अन्य तीन शारदा-पाण्डुलिपियों में कैसी गिरावट आई? वह देखा जायेगा। तीसरे सोपान पर मैथिली पाठ खड़ा है, जिसमें काश्मीरी-वाचना के पाठ की छाया बहुशः प्रतिबिम्बित हो रही है। किन्तु उसमें पाँच नवीन श्लोकों का आधिक्य दिखता है। आन्तरिक सम्भावना की दृष्टि से वे प्रक्षिप्त किये गये हैं ऐसा सिद्ध होता है। चतुर्थ सोपान पर बंगाली वाचना का पाठ है। जिसमें मैथिली पाठ का अनुसरण किया गया है ऐसा स्पष्टतया दिखता है। तथापि यह भी कहना होगा कि काश्मीरी परम्परा से चले आ रहे अश्लीलांशों की उपस्थिति यथावत् बनाये रखने के साथ साथ, इस परम्परा के पाठशोधकों ने रंगसूचनाओं से सम्बद्ध जो विसंगतियाँ मैथिली पाठ में थी उसका प्रमार्जन कर दिया है। और इसी कारण से बंगाली पाठ रंगसूचना-सम्बन्धी विसंगतियों से मुक्त है, तथापि उनके प्रमार्जन करने का कार्य तो उत्तरवर्ती काल में हुआ है, उसके संकेत भी

मिल रहे है। एवमेव, मैथिली वाचना के पाठशोधकों ने जिन पाँच श्लोकों को प्रक्षिप्त किये थे, उनका स्वीकार करते हुए बंगाली वाचना के पाठशोधकों ने एक श्लोक नया जोड़ने का कार्य भी किया है ऐसा साफ दिख रहा है॥ सब के अन्त में, यानि पंचम सोपान पर देवनागरी वाचना (एवं दाक्षिणात्य पाठ) में संक्षेपीकरण का कार्य किया गया है। जिसमें मृणाल-वलय पहेनाने का दृश्य, तथा पुष्परज से कलुषित हुई शकुन्तला की दृष्टि का वदनमारुत से प्रमार्जन कर देने का दृश्य हटाया गया है। परिणामतः तीसरे अङ्क में काश्मीरी वाचना में जो 35 श्लोक थे, वे मैथिली में 40 हो गये, तथा बंगाली वाचना में 41 श्लोक हुए, और वे आगे चल कर देवनागरी में, घट कर 24 या 26 श्लोक अवशिष्ट रह गये हैं। इस तरह, काश्मीरी वाचना की साक्षीभूत बनी उपर्युक्त पाँचों शारदा-पाण्डुलिपियों के पाठ का विश्लेषण करने से, एवं उसीका मैथिली एवं बंगाली पाठ के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से पाठविचलन के उपर्युक्त पाँचों सोपान स्पष्ट हो जाते हैं। तथा तीसरे अङ्क में कुसुमशयना शकुन्तला की लेटी हुई अवस्था को रंगकर्मियों के द्वारा बदलते रहने के कारण सार्वत्रिक रूप से जिस पूर्वोक्त विसंगति ने जन्म लिया है, वह अन्त तक कैसे टिकी रही है उसका उत्तर मिल जाता है।

[5]

तीसरे अङ्क के दृश्य को रंगमंच पर प्रस्तुत करने की कालिदास की मूल योजना तो यही रही होगी कि शकुन्तला पुष्पमयी शय्या पर लेटी हो, मदनलेख लिखते समय भी वह लेटी रहे और मदनलेख को सुन कर राजा प्रकट हो जाये, उसके बाद भी वह लेटी रहे। जब दोनों सहेलियाँ रंगमंच से बिदा लें और नायक नायिका से कहे कि "संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ।" तब, वह अपनी मदनावस्था के अनुरूप धीरे से, कष्ट के साथ कुसुमास्तरण से उठ कर चलने का आरम्भ करे। (''अवस्थासदृशम् उत्थाय प्रस्थिता'')। लेकिन कवि ने नायिका को रंगमंच पर लेटी हुई अवस्था में प्रस्तुत करने का जो सोचा है वही मूल पाठ के विचलन का उद्गम बिन्दु

बन गया! रंग पर लेटी हुई नायिका को देख कर रंगकर्मी लोग अपनी रुचि के अनुसार शृङ्गारातिरेक को प्रदर्शित करने के लिए लालायित हो गये हैं। और ऐसे स्थानों के ज्ञापक-चिह्न केवल इन शारदा पाण्डुलिपियों में ही विद्यमान है, जो हम आज भी पहचान सकते हैं। तद्यथा (1) कुछ रंगकर्मियों को दुष्यन्त के मुख में अश्लील संवाद रखना था, इस लिए उन्होंने पहले एक पूर्वभूमिका बनाई है : सहेलियों के पूछने पर जब शकुन्तला बताती है कि "एवं यदि वोऽभिमतं तत्तथा मन्त्रयेथां मां यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि। अन्यथा मां सिञ्चतम् इदानीम् उदकेन।" इस वाक्य को सुन कर नायक प्रतिभाव प्रकट करता है कि *विमर्शच्छेदि वचनम्। एतावत् कामफलं, यत्फलम् अन्यत्।* इन दो वाक्यों में से पहला वाक्य तो सभी वाचनाओं में मिलता है। लेकिन जो दूसरा वाक्य है वह केवल काश्मीरी पाण्डुलिपियों में ही मिलता है। जिसका सूचितार्थ यह है कि कामदेव की कृपा से नायिका मदनाविष्ट हो गई है, किन्तु अब नायक दुष्यन्त सोच रहा है कि नायिका से रति-सुख प्राप्त करने के लिए कुछ प्रयास भी करना होगा! आगे चल कर दुष्यन्त नायिका से जो सहशयन की मांग करता है, उसका बीजनिक्षेप यहाँ देख सकते हैं।

शकुन्तला का मदनलेख सुन कर राजा नायिका के सामने सहसा प्रकट होता है। अनसूया राजा का स्वागत करती है और उसको शिलातल के एकदेश पर बैठने की विनती करती है। रंगमंच पर एक ही शिलातल है, जिस पर शकुन्तला पहले से ही लेटी हुई है। अतः, जिन रंगकर्मियों ने लेटी हुई शकुन्तला की स्थिति का उपयोग करने का सोचा है, उन्होंने अनसूया की विनती के बाद नाटक के मूलपाठ में एक नवीन रंगसूचना जोड़ी है : *"शकुन्तला पादावपसारयति"*। यह रंगसूचना सब से प्राचीन भूर्जपत्रवाली पाण्डुलिपि क्रमांक 192 में और ऑक्सफर्ड की पाण्डुलिपि क्रमांक 159 में नहीं है। वह केवल ऑक्सफर्ड की पाण्डुलिपि क्रमांक 1247 एवं श्रीनगर की 1345 में ही है। उसका मतलब यह हुआ कि काश्मीर की शारदा पाठ परम्परा के मूल में आरम्भ में तो "शकुन्तला पादावपसारयति" जैसी कोई रंगसूचना नहीं थी। लेकिन नया प्रक्षेप करने के इच्छुक रंगकर्मियों

ने उसको कालान्तर में निवेशित किया है। अब यह देखना है कि "एतावत्कामफलं, यत्नफलमन्यत्।" एवं "शकुन्तला पादावपसारयति" जैसे दो प्रक्षेपों के अनुसन्धान में कौन सा संवाद प्रवेश करता है। अनसूया ने राजा से प्रार्थना की है–''सुना जाता है कि राजाओं की वल्लभायें अनेक होती है, फिर भी हमारी सखी (शकुन्तला) स्वजनों के लिए चिन्ता का कारण न बन जाए ऐसा खयाल कीजिएगा''। तब राजा ने "परिग्रहबहुत्वेपि" इत्यादि शब्दों से उनको आश्वस्त किया कि आप दोनों की सहेली ही मेरे कुल की प्रतिष्ठा बनेगी। जिसको सुन कर दोनों सहेलियाँ शकुन्तला के भाग्य को लेकर पूर्ण रूप से निःसन्देह हो जाती है। उसके बाद केवल यही होना था कि दोनों सहेलियाँ वहाँ से चली जायें और नायक-नायिका को एकान्त की सुविधा जताये। किन्तु राजा को अपने पास में बैठने की जगह देने के लिए जिसने अपने पाँव सिकोड़ लिए थे वह लेटी हुई शकुन्तला जिन रंगकर्मियों की दृष्टि में थी उन्होंने यहाँ अश्लीलता से भरा निम्नोक्त संवाद दाखिल किया हैः-

शकुन्तला : *हला मरिसावेध लोअवालं जं किं च अम्हेहिं उवआरादिक्कमेण बीसम्भपलाविणीहिं भणिदं।*
(हले, मर्षयतं लोकपालं यत् किञ्चास्माभिरुपचारातिक्रमेण विस्रम्भप्रलापिनीभिः भणितम्।)

सख्यौ : *(सस्मितम्) जेण तं मन्तिदं सो मरिसावेदु। अणस्स जणस्य को अच्चओ। परोक्खं को वा किं ण मन्तेदि। (येन तन्मन्त्रितं स मर्षयतु। अन्यस्य जनस्य कोऽत्ययः। परोक्षं को वा किं न मन्त्रयति।)*

राजा : (सस्मितम्)
अपराधमिमं ततः सहिष्ये यदि रम्भोरु तवाङ्गरेचितार्द्धे।
कुसुमास्तरणे क्लमापहं मे सुजनत्वादनुमन्यसेऽवकाशम्॥319॥

प्रियंवदा : *एत्तिएण उण दे तुट्ठि भवे। (एतावता पुनस्ते तुष्टिर्भवेत्।)*

शकुन्तला : *(सरोषमिव) विरम दुल्ललिदे। एदावत्था एवि मे कीलसि। (विरम दुर्ललिते, एतावदवस्थयापि मे क्रीडसि।)*

यहाँ पर “तवाङ्गरेचितार्धे” शब्दों के प्रयोग से ही मालूम होता है कि यह “पादावपसारयति” वाली पूर्वनिर्दिष्ट रंगसूचना की परिणति के रूप में यह सहशयन की मांग करने की बात प्रस्तुत हुई है, प्रक्षिप्त हुई है। एवमेव, इसी बातचीत के सन्दर्भ में प्रियंवदा के मुख में जो वाक्य रखा गया है, वह निर्लज्जतायुक्त है। वह भी इस पूरे संवाद का प्रक्षिप्तत्व सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

काश्मीरी पाठपरम्परा के “तवाङ्ग-रेचितार्द्धे” शब्दों को बदल कर मैथिली पाठपरम्परा में “तवाङ्ग-सङ्गसृष्टे” ऐसा पाठभेद किया गया है। पहलेवाले शब्दों के स्थान में आया हुआ यह नया पाठभेद उत्तरवर्ती काल की रचना है उसमें कोई सन्देह नहीं है। इस मैथिल पाठभेद का अनुसरण बंगाली पाठ में भी हुआ है।

[6]

भूर्जपत्र पर लिखी गई शारदा पाण्डुलिपि, जिसका क्रमांक 192 है, (और कार्ल बुरखड ने रोमन स्क्रिप्ट में रूपान्तरण प्रकाशित किया है) उसमें परम्परा से चले आ रहे, अर्थात् विरासत के रूप में मिले दो-तीनअन्य अश्लील संवादों का परिचय भी करना जरूरी है : (1) दुष्यन्त ने शकुन्तला के चरणों का संवाहन करने की तत्परता दिखाई तब लेटी हुई नायिका तुरन्त ही खड़ी हो जाती है और वहाँ से प्रस्थान करने लगती है। उस समय दुष्यन्त कहता है कि अभी दिवस पूरा नहीं हुआ है, और इतनी कड़ी धूप में तुम कोमल अङ्गोंवाली कैसे जाओगी? यहाँ पर, कुछ रंगकर्मियों ने एक लम्बे संवाद का प्रक्षेप किया है। जैसे कि,

शकुन्तला : *सहिमेत्तसरणा, कं वा सरणइस्सम्। (सखीमात्रशरणा, कं वा शरणयिष्यामि।)*

राजा : *इदानीं व्रीडितोऽस्मि।*

शकुन्तला : *ण क्खुअय्यं,देव्वं उवालहामि। (न खल्वार्यम्, दैवमुपालभे।)*

राजा : *किम् अनुकूलकारिण उपालभ्यते दैवस्य।*

शकुन्तला : *कधं दाणिं उवालभिस्सं जो अत्तणो अणीसं परगुणेहिं मं ओहासेदि।*

(कथमिदानीम् उपालप्स्ये य आत्मनोऽनीशां परगुणैर्माम् उपहासयति।)

राजा : *(स्वगतम्)*
अप्यौत्सुक्ये महति न वरप्रार्थनासु प्रतार्याः
काङ्क्षन्त्योऽपि व्यतिकरसुखं कातराः स्वाङ्गदाने।
आबाध्यन्ते न खलु मदनेनापि लब्धास्पदत्वाद्
आबाधन्ते मनसिजमपि क्षिप्तकालाः कुमार्यः॥ 3 22॥
(शकुन्तला प्रस्थितैव)

राजा : (स्वगतम्) कथमात्मनः प्रियं न करिष्ये। (उत्थायोपसृत्य पटान्तादवलम्बते)

इस संवाद को ध्यान से देखेंगे तो उसमें नायक ने "काङ्क्षन्त्योऽपि व्यतिकरसुखं कातराः स्वाङ्गदाने" इत्यादि शब्दों से कुमारिकाओं की जो मानसिकता मुखर रूप से वर्णित की है वह भी सुरुचि का भङ्ग करनेवाली है। (यद्यपि कालिदास ऐसे कामोत्तेजक वर्णन कभी नहीं करते हैं ऐसा नहीं है। हमारे सामने कुमारसम्भव के शृङ्गारातिरेक के शब्दचित्र अवश्य हैं, लेकिन वह प्रसंगोचित नहीं है ऐसा नहीं है।) किन्तु यहाँ जो वाक्य रखे गये हैं वे पूर्वापर सन्दर्भ में सुसंगत और सुग्रथित प्रतीत नहीं होते हैं। यह वाक्यावली प्रक्षिप्त ही है उसका विशेष विमर्श करने से पहले, उपर्युक्त अश्लील शब्दों के साथ साथ, उसके ही नीचे जो दूसरा अतिरेक मिलता है, वह भी देख लेते हैंः-

(2) उपरि निर्दिष्ट वाक्यों में दुष्यन्त की मानसिकता ऐसी प्रकट हो रही है कि वह अब बलात्कार करने की हद तक भी जा सकता है। इस मानसिकता का प्रमाण निम्नोक्त संवाद में हैः-

शकुन्तला : *पोरव, मुञ्च मं। (पौरव, मुञ्च माम्।)*

राजा : *भवति, मोक्ष्यामि।*

शकुन्तला : *कदा।*

राजा : *यदा सुरतज्ञो भविष्यामि।*

शकुन्तला : *मअणावट्ठद्धो वि ण अत्तणो कण्णआअणो पहवदि। भूओ वि*

दाव सहिअणं अणुमाणइस्सम्।

(मदनावष्टब्धोऽपि नात्मनः कन्यकाजनः प्रभवति। भूयोऽपि तावत् सखीजनम् अनुमानयिष्यामि।)

राजा : (मुहूर्तम् उपविश्य) ततो मोक्ष्यामि।

यहाँ पर, भूर्जपत्र पर लिखी पाण्डुलिपि में आये हुए "सुरतज्ञो भविष्यामि" शब्दों के स्थान में, कालान्तर में ऑक्सफर्ड की दोनों पाण्डुलिपियों में, और श्रीनगर की पाण्डुलिपि में "सुरतरसज्ञो भविष्यामि" जैसा पाठभेद भी किया गया है।

(3) उपर्युक्त अश्लीलांशों का प्रक्षेप करनेवालों ने इस अङ्क के उपान्त्य श्लोक में भी एक श्लोक जोड़ा है। शकुन्तला को ले कर गौतमी चली गई। दुष्यन्त प्रियापरिभुक्त लतावलयाच्छादित वेतसगृह में खड़ा रह कर उसका मन्मथलेख इत्यादि पर सानुराग दृष्टि से झाँक रहा है। और कहता है कि मेरा इस वेतसगृह से बाहर निकलना आसान नहीं है। ऐसी प्रेमासक्त दशा में फँसे नायक को रंगमंच से बाहर निकाल ने के लिए नाट्यकार कालिदास उसके वीरत्व को ही टटोलते हैं। अतः नेपथ्योक्ति से कहा जाता है कि "भो भो राजन्, सायन्तने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते" (श्लोक-35) अर्थात् सायंकाल होते ही यज्ञकर्म में बाधा डालने के लिए काले-पीले वर्ण के राक्षसों की छायायें आकाश में मंडराने लगी हैं। जिसको सुनते ही दुष्यन्त के वीरत्व को चुनौती मिलती है और वह रंग से बाहर दौड़ जाता है। शाकुन्तल के षष्ठांक के अन्तभाग में भी दिखनेवाली यही पद्धति पूर्ण रूप से नाटकीय भी है, और कालिदासीय भी।[11] किन्तु काश्मीरी वाचना की चारों पाण्डुलिपियों में दुष्यन्त की "निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाद् ईशोऽस्मि शून्यादपि॥ (3-33)" जैसी उक्ति और अनुगामी नेपथ्योक्ति में व्यवधान बननेवाला निम्नोक्त अश्लील श्लोक 34 अस्वाभाविक लगता है। जिसमें भोगवंचित दुष्यन्त कहता है कि–

हा हा धिक्, न सम्यग् आचेष्टितं मया प्रियामासाद्य कालहरणं कुर्वता। इदानीम्,

रहः प्रत्यासत्तिं यदि सुवदना यास्यति पुन-

र्न कालं हास्यामि प्रकृतिदुरवापा हि विषयाः।
इति क्लिष्टं विघ्नैर्गणयति च मे मूढहृदयं
प्रियायाः प्रत्यक्षं किमपि च तथा कातरमिव॥ 3-34॥

नाटकीयता की दृष्टि से सोचा जाए तो प्रियासम्बद्ध तीन तीन चीजों को वेतसगृह में ही छोड़कर बाहर निकलना मुश्किल है ऐसा बोले जाने पर ही परिस्थितिवशात् नायक को (प्रेमासक्त दशा को तत्क्षण छोड़ कर,) अपनी क्षत्रियता को ललकारने वाली परिस्थिति के सामने लड़ने के लिए रंगभूमि से बाहर निकालने में ही नाटकीयता है। किन्तु जिन रंगकर्मियों ने दुष्यन्त के मुख से पहले भी भोगेच्छा को अश्लील रूप में प्रस्तुत करवाया है, उन्हों ने इस अङ्क के अन्त भाग में भी, मूलपाठ को दूषित करने की चेष्टा की है। वस्तुतः सोचा जाए तो राजा दुष्यन्त के लिए तो सच्चा नैसर्गिक प्रेम ही दुरवाप्य और दुरवाप्त था, विषयोपभोग नहीं। अतः उपर्युक्त श्लोक की दूसरी पङ्क्ति को देख कर ही लगता है कि यह मौलिक श्लोक नहीं है। अस्तु।

काश्मीरी पाठ में परम्परा से चले आ रहे इन अश्लीलांशों को प्रक्षिप्त मानने का कारण अब विशद करना चाहिए : (1) प्राचीनतम काश्मीरी वाचना के तृतीयांक के केवल पूर्वार्ध में ही ऐसे अश्लील संवाद मिलते हैं। इसी अङ्क के बीच में कहीं पर भी ऐसे सुरुचि का भङ्ग करनेवाले संवाद, एक उपान्त्य श्लोक को छोड कर, अन्यत्र नहीं मिलते हैं। साधारण तर्क से भी यह बात समझ में आती है कि जिस दृश्य के आरम्भ में ही नायक उपर्युक्त शब्दों से एक बार नहीं, तीन बार अपनी भोगेच्छा प्रकट करता हो उसके उत्तरवर्ती दृश्यों में तो बलात्कार का दृश्य ही आना चाहिए। किन्तु वस्तुतः यहाँ तो उत्तरार्ध में नायक-नायिका के बीच सुशील एवं स्वाभाविक प्रेमसहचार ही वर्णित हुआ है। जिसमें अपनी प्रियतमा के हाथ में मृणालवलय पहनाने के दृश्यादि का समावेश है। इसमें कहीं पर भी सुरुचि का भङ्ग नहीं होता है। अर्थात् पूर्वार्ध में आये हुए उक्त अश्लील संवादों और उत्तरार्ध में आनेवाले संवादों के बीच सामञ्जस्य नहीं बनता है।

(2) प्रासंगिकता की दृष्टि से सोचा जाए तो रंगमंच से सहेलियों के चले जाने के बाद कुछ ज्यादा समय तो बीता नहीं है और शकुन्तला के साथ कोई प्रेमगोष्ठियाँ भी अभी हुई नहीं हैं, उससे पहले दुष्यन्त की उपर्युक्त श्लोकोक्ति नायक की अधीरता प्रकट करनेवाली है। प्रेमकथाओं में प्रणयि-युगल के बीच जो संवनन स्वाभाविक रूप से क्रमशः विकसित होता है और जो इस अङ्क में आगे मृणालवलय प्रसंग में दृश्यमान होनेवाला है, उसकी प्रस्तुति होने से पहले दुष्यन्त की भोगेच्छा इस तरह खुल कर बाहर आये वह असम्बद्ध है, कृत्रिम है। और इस अङ्क के उपान्त्य श्लोक में भी दुष्यन्त से विषयोपभोग की ही बात कही जाये, वह असमञ्जस है। इन कारणों से उपर्युक्त अश्लील संवादों को प्रक्षिप्त कहना होगा। (3) तथा, मूल महाभारत के उपाख्यान में दुष्यन्त शकुन्तला से संयोग करने के लिए जिस तरह उतावला हो गया है, और फलाहार के लिए बाहर नजदीक में गये पिता कण्व की प्रतीक्षा भी नहीं कर सकता, उसीका पुनरावर्तन पूर्वोक्त अश्लीलांशों से इस नाटक में हो रहा है ऐसा लगता है। सच तो यही है कि कालिदास एक नैसर्गिक प्रेम का निरूपण करना चाहते हैं, महाभारत की कहानी का पुनरावर्तन नहीं।

[7]

अब दूसरे सोपान पर, रंगसूचना सम्बन्धी जो गिरावट आने की शुरू हुई है उसको समझना है :- कवि की मूलयोजना के अनुसार तो,तीसरे अङ्क के पहले दृश्य में शकुन्तला को कुसुमास्तरण पर लेटी हुई अवस्था में प्रस्तुत करना है। और जब दोनों सहेलियाँ चली जायें, राजा उसके पाँव का संवाहन करने की तत्परता दिखावे तब उसे लेटी हुई अवस्था से खड़ा होना था। लेकिन किसी अज्ञात पाठशोधक / रंगकर्मी ने नवीन रंगसूचनायें जोड़ कर कवि की मूलयोजना को विफल कर दिया। जिसके कारण रंगसूचनाओं में पूर्वापर में विसंगतता आ गई है। आश्चर्य है कि यह परिवर्तन सार्वत्रिक रूप से पूरे भारत वर्ष की प्रायः सभी पाण्डुलिपियों में फैल गया है, और दुर्भाग्य से इसकी ओर किसी का ध्यान भी नहीं गया है।

रंगसूचना सम्बन्धी प्रक्षेप से आई विसंगति का प्राचीनतम उदाहरण भूर्जपत्र पर लिखी गई शारदा पाण्डुलिपि में मिलता है। लेटी हुई शकुन्तला के मुख से मदनलेख का वाचन होता है, जिसको सुन कर राजा सहसा "तपति तनुगात्रि।" इत्यादि शब्दों को बोलता हुआ शकुन्तला के सामने उपस्थित हो जाता है। यहाँ, शकुन्तला को राजा की सन्निधि में नाट्यात्मक शैली से खड़ी करने के लिए, काश्मीरी पाठशोधक ने एक संवाद प्रक्षिप्त किया है। वह द्रष्टव्य है : जब अनसूया ने राजा को उसी शिलातल पर बैठने के लिए विनती की और राजा वहाँ बैठते भी हैं। तब बैठने के बाद (लेटी हुई)शकुन्तला के बारे में वे प्रश्न करते हैं कि "(उपविश्य) प्रियंवदे, कच्चित् सखीं वो नातिबाधते शरीरसंतापः।" तब प्रियंवदा प्रत्युत्तर देती है कि "लब्धौषधस्साम्प्रतम् उपशमं गमिष्यति कालेन।" इसके पीछे निम्नोक्त संवाद प्रक्षिप्त किया गया हैः-

अनसूया : (जनान्तिकम्) प्रियंवदे, कालेन इति किम्। प्रेक्षस्व, मेघनादाहताम् इव मयूरीं निमेषान्तरेण प्रत्यागताम् प्रियसखीम्।

शकुन्तला : (सलज्जा तिष्ठति।)

अर्थात् मेघगर्जन (बादल की आवाज) सुन कर जैसे मयूरी में नवजीवन का संचार होता है वैसे देखो हमारी सखी भी नवजीवन प्राप्त कर रही है। अनसूया के इस वाक्य के बाद, (लेटी हुई) शकुन्तला के लिए कहा गया है कि वह लज्जा के साथ खड़ी होती है॥ (इस प्रक्षिप्त अंश की विशेष चर्चा तृतीय सोपान रूप मैथिली पाठ में आये परिवर्तनों को दिखाते समय प्रस्तुत की जायेगी।) लेकिन इस तरह के नाट्यात्मक संवाद से नायिका को रंगभूमि पर खड़ी कर देने का जो दृश्य-परिवर्तन किया गया है उसके कारण दो तरह की विसंगतियों ने जन्म लिया।

जैसे कि, (1) दोनों सहेलियों के रंगमंच से निकल जाने के पश्चात्, राजा शिलातल पर बैठे हो और वह पास में खड़ी हुई शकुन्तला को कहे कि मैं नलिनीदल से तुम्हें पवन झलुं या कहो तो तुम्हारे पद्मताम्र चरणों का संवाहन करूँ! तो ऐसी स्थिति में प्रेमाचार का गौरव नहीं है। क्योंकि जिसकी सेवाशुश्रूषा करनी हो वह व्यक्ति खड़ी हो और आराधयिता व्यक्ति

बैठा हो, वह तो बहुत भद्दा लगता है। (2) और दूसरी विसंगति यह है कि राजा ने जब शकुन्तला को कहा कि "मैं तुम्हारे चरणों का संवाहन करूँ" तो उसको सुन कर शकुन्तला कहती है कि "न माननीयेषु आत्मानम् अपराधयिष्ये।" उसके बाद वहाँ एक रंगसूचना दी गई है कि "इत्यवस्थासदृशम् उत्थाय प्रस्थिता।'', जिसको देख कर प्रश्न होता है कि जिस शकुन्तला को पहले से ही खड़ी रखी गई है, उसके लिए यहाँ कैसे कहा जाता है कि वह अवस्था के सदृश खड़ी होकर[12] जाने लगती है! इस तरह की विसंगति ही अपने आप में प्रमाण बनती है कि इस दृश्य को प्रस्तुत करने की कवि की मूलयोजना कुछ भिन्न थी। और ऐसी (सलज्जा तिष्ठति। जैसी) रंगसूचना और उससे पहले रखा गया मेघनादाहत मयूरी का उपमान तो रंगकर्मिओं का खिलवाड़ है, जिसको प्रक्षेप ही मानना होगा॥

[8]

रंगसूचनाओं से सम्बद्ध जो जो प्रक्षेप है उनका पौर्वापर्य भी सोचना चाहिए। "मेघनादाहत मयूरी की तरह शकुन्तला (लेटी हुई अवस्था से) सलज्जा खड़ी हो जाती है" यह अंश भूर्जपत्र पर लिखी गई पाण्डुलिपि में भी विद्यमान है। अर्थात् रंगसूचना से सम्बद्ध यह प्राचीनतम पहेला प्रक्षेप कहा जा सकता है। उसके बाद, मदनलेख लिखते समय शकुन्तला ''बैठ कर सोचती है" वाली रंगसूचना द्वितीय क्रम में प्रक्षिप्त हुई होगी। क्योंकि ऐसी रंगसूचना भूर्जपत्रवाली प्राचीनतम पाण्डुलिपि में नहीं है। ऑक्सफर्ड की 1247 क्रमांकवाली और श्रीनगर की 1345 क्रमांकवाली दो ही शारदा पाण्डुलिपियों में "आसीना चिन्तयति" ऐसी रंगसूचना है। जिसके फल स्वरूप, मंचन के समय "लेटी हुई शकुन्तला" से पहले "बैठ कर सोचती हुई शकुन्तला'', और तत्पश्चात् "सलज्जा खड़ी रहनेवाली शकुन्तला" प्रस्तुत की जायेगी। यहाँ पर (अर्थात् ऑक्सफर्ड 1247 एवं श्रीनगर 1345 में) एक दूसरी (''पादावपसारयति" वाली) रंगसूचना भी अधिक होने से मंचन-योजना बदल जाती है। जैसे कि, मदनलेख लिखते समय जो शकुन्तला बैठी थी, उसने राजा को बैठने के लिए जगह बनानी थी, जिसके

लिए उसने जो पाँव सिकोड़ लिए थे, वो बैठे बैठे ही सिकोड़े थे ऐसा मानना होगा। परिणामतः इस दृश्य का मंचन करते समय, तीन सहेलियां और चौथे राजा को भी एक ही शिलातल पर बिठाना होगा। और सहेलियों के चले जाने के बाद, राजा ने जब शकुन्तला के पद्मताम्र चरणों का संवाहन करने की तत्परता दिखाई है तब शकुन्तला उसके पास में बैठी ही होगी। यहाँ एक विचित्रता यह भी है कि "शकुन्तला सलज्जा तिष्ठति" वाली रंगसूचना भी ऑक्सफर्ड की 1247 एवं श्रीनगर की 1345 क्रमांकवाली पाण्डुलिपियों में मिलती है, जिसके कारण प्रश्न होगा कि शकुन्तला के पद्मताम्र चरणों का संवाहन करने की तत्परता दिखाते समय शकुन्तला को राजा के पास में बिठाना है या फिर राजा के सामने उसको खड़ी रखना है? रंगकर्मी लोग इन दोनों में से जो भी मार्ग पसंद करेंगे उसमें पूर्वोक्त विसंगति आयेगी ही।

इस विवरण का निष्कर्ष ऐसा निकलता है कि (1)शारदा पाण्डुलिपियों में अश्लील अंशों की उपस्थिति विरासत में मिली है। (2) लेटी हुई शकुन्तला को खड़ी करने की, अथवा बिठा कर मदनलेख लिखवाने की सभी मंचन-योजनायें पश्चाद्वर्ती काल की योजनायें हैं। तथा इनमें से एक भी नवीन योजना ऐसी नहीं है कि जिसका अनुसरण करने से दृश्य-प्रस्तुति में विसंगतता या पूर्वापर में विरोध पैदा न होता हो। (3) तीसरे अङ्क के प्रथम दृश्य का मंचन करने के लिए कवि ने जो मूलयोजना सोची थी, उसका पुनःस्थापन करने के लिए उपर्युक्त सभी रंगसूचनायें (''पादावपसारयति'', "सलज्जा तिष्ठति'', "आसीना / उपविष्टा चिन्तयति'') यदि हटाई जाये, और उनसे सम्बद्ध सभी काव्यात्मक संवादों को भी प्रक्षिप्त सिद्ध करके हटाया जाए तो "कुसुमशयना शकुन्तला" का सन्दर्भोचित दृश्य, जो कवि ने मूल में संकल्पित किया होगा उसकी पुनःप्रतिष्ठा हो सकती है। ऐसा करने से ही "संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ" शब्दों को सुनने के बाद ही, शकुन्तला के लिए "अवस्थासदृशमुत्थाय प्रस्थिता" जैसी रंगसूचना के शब्दों का औचित्य सिद्ध हो सकेगा।

उक्त नवीन रंगसूचनाओं के कारण प्रकृत दृश्य की प्रस्तुति में जो विसंगति आ रही है उसकी चर्चा करने के बाद, काश्मीरी पाण्डुलिपियों में (तीसरे अङ्क का) चौथा स्थान भी ध्यानास्पद है, जिसमें किसी अज्ञात पाठशोधक ने अपनी काव्यात्मक शैली का कमाल दिखाया है। जैसे कि,

अनसूया : *(अपवार्य) जधा भणासि। (प्रकाशम्) सखि, दिष्ट्या अनुरूपस्तस्या अभिलाषः। सागरं वर्जयित्वा कुत्र वा महानद्या गन्तव्यम्।*

प्रियंवदा : *क इदानीं सहकारम् अतिमुक्तलतया पल्लवितुं नेच्छति।*

राजा : *किमत्र चित्रम्। यदि चित्राविशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते। अयमत्रभवतीभ्याम् क्रीतो जनः॥*

यहाँ पर विचारणीय है कि जब शकुन्तला ने कह दिया हो कि उस राजर्षि से मेरा संगम करवाओ, अन्यथा मुझे जलाञ्जलि दे देना। अर्थात् शकुन्तला इतनी मदनाविष्ट दशा में है कि वह अब किसी तरह के कालक्षेप को सहन नहीं कर पायेगी, ऐसा प्रियंवदा का वाक्य सुन कर अनसूया उसी के कहने का स्वीकार कर ले, वही समीचीन प्रतीत होता है। "अक्षमेयं कालहरणस्य" कहने बाद अनसूया के मुख में, सागर और महानदी के संगम का एक उपमान शायद सन्दर्भोचित लगता है, किन्तु वह भी काल हरण करनेवाला वाग्-विलास ही लगता है। कविंमन्यमान पाठशोधक को इतने से भी तृप्ति नहीं थी। अतः उसने बात आगे बढ़ाते हुए, प्रियंवदा के मुख में नायक-नायिका के लिए सहकार और अतिमुक्तलता का दूसरा उपमान भी रखा है। और, नायक के मुख में तीनों सहेलियों के लिए शशाङ्कलेखा और चित्राविशाखा नामक नक्षत्र युग्म का एक तीसरा उपमान भी जोड़ दिया। इस तरह के उपमानों का मौलिक नहीं होना इससे भी प्रमाणित होता है कि भूर्जपत्र पर लिखी गई प्राचीनतम पाण्डुलिपि में (और ऑक्सफर्ड की 159 क्रमांकवाली पाण्डुलिपि में) अनसूया की उक्ति को "अपवार्य" उक्ति के रूप में प्रस्तुत करने का कहा गया है। अर्थात् वह

अकेली ही दर्शकों के सामने देख कर प्रियंवदा की बात स्वीकार कर लेती है ऐसा सूचित कर रही है। इसके बाद उसको कुछ अधिक कहने की आवश्यकता ही नहीं रहती है। अतः इसके पीछे जितने भी उपमानों की हारावली प्रस्तुत की गई है, वह निश्चित रूप से प्रक्षिप्त ही होगी। (ऑक्सफर्ड की 1247 एवं श्रीनगर की पाण्डुलिपियों में दी गई सूचना के अनुसार यदि अनसूया कि उक्ति "जनान्तिक" है, और उसके पीछे "प्रकाशम्" शब्द से जो रंगसूचना मिलती है, वह नितान्त विसंगत प्रतीत होती है। इस विसंगति को देख कर भी तीनों उपमानों की हारमाला वाला संवाद प्रक्षिप्त सिद्ध होता है॥) तथा च, भगवान् शङ्कर पार्वती की तपश्चर्या से प्रसन्न हो कर कहें कि मैं तप से खरीदा गया तुम्हारा दास हूँ,[13] तो वह औचित्यपूर्ण है, क्योंकि वह नायक ने नायिका को उद्देश्य करके सीधे उसे ही कहा है। लेकिन यहाँ दुष्यन्त नायिका की सहेलियों को कहे कि मैं इन दोनों सहेलियों के द्वारा खरीदा गया व्यक्ति हुँ, तो वह धीरोदात्त नायक की गरिमा का अपकर्ष करनेवाला वाक्य बनता है। इस दृष्टि से भी यह संवाद प्रक्षिप्त मानना होगा। इस सन्दर्भ में, ऐसे प्रक्षिप्त संवाद की अनुगामी वाचनाओं में क्या स्थिति होती है वह भी द्रष्टव्य बनता है।

[10]

काश्मीरी पाठपरम्परा में उपर्युक्त सन्दर्भो के अलावा, अन्य जो भी प्रक्षिप्त श्लोक विरासत के रूप में मिले है, उनकी अब चर्चा करनी आवश्यक है। तीसरे अङ्क के आरम्भ में नायक का मदनावस्था में प्रवेश होता है। काश्मीर की उपरि निर्दिष्ट चारों शारदा पाण्डुलिपियों में निम्नोक्त एक श्लोक हैः-

राजा : *भगवन् मन्मथ, कुतस्ते कुसुमायुधस्य सतस्तैक्ष्ण्यमेतम्।*
(स्मृत्वा) आं ज्ञातम्।
अद्यापि नूनं हरकोपवह्निस्त्वयि ज्वलत्यौर्व इवाम्बुराशौ।
त्वमन्यथा मन्मथ मद्विधानां भस्मावशेषः कथमेवमुष्णः॥ (3-3)

इस श्लोक में, शङ्कर के कोप से मन्मथ (कामदेव) भस्मावशेष हुआ था ऐसा कुमारसम्भवोक्त सन्दर्भ अनुस्यूत है। अतः यह श्लोक कालिदास-प्रणीत होने की सम्भावना दिखती है। किन्तु, इसी अङ्क में हम जैसे जैसे आगे बढ़ते हैं तो इसी तरह का एक दूसरा श्लोक भी दृष्टिगोचर होता है। जैसे कि–

दुष्यन्त : (शकुन्तलाया हस्तमादाय) अहो स्पर्शः।
हरकोपाग्निदग्धस्य दैवेनामृतवर्षिणा।
प्ररोहः संभृतो भूयः किं स्वित् कामतरोरयम्॥ (का03 28)

शकुन्तला : (हर्षरोमाञ्चं रूपयति) तुवरअदु अय्यउत्तो॥

इन दोनों श्लोकों में "हरकोपवह्निः" एवं "हरकोपाग्निः" शब्दों में स्पष्ट पुनरुक्ति है। अतः दोनों में से कोई एक प्रक्षिप्त होगा ही। तीसरे अङ्क के मध्य भाग में आये हुए 3 : 28 श्लोक का सन्दर्भ यदि देखा जाए तो दुष्यन्त ने शकुन्तला का हाथ अपने हाथों में लिया है और वह शकुन्तला को (कङ्कण के रूप में) मृणालतन्तु का वलय पहनाने जा रहा है। तब वह शकुन्तला के हाथ का रोमांचकारी प्रथम स्पर्शानुभव करता हुआ 28 वाँ श्लोक बोलता है। दुष्यन्त को लगता है कि हरकोपाग्नि से भस्मीभूत हुए कामतरु का मानो एक प्ररोह (अङ्कुर) ही शकुन्तला के हाथ के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। यह श्लोक इस प्रसंग में सर्वथा सुसंगत है। अर्थात् तीसरे अङ्क के उत्तरार्ध में आनेवाले श्लोक के शब्दों को देखते हैं तब, लगता है कि इस अङ्क के आरम्भ में रखा गया 3 : 3 श्लोक पुनरुक्ति ही है, अतः उसे प्रक्षिप्त मानना होगा। (इस अङ्क का उपान्त्य श्लोक भी जो प्रक्षिप्त है, उसकी चर्चा पेरा –6 में रखी है।)

[11]

अब सारांशतः कहें तो, काश्मीरी वाचना के पाठ को हानि पहुँचाने वाले द्विविध रंगकर्मी लोग ध्यान में आ रहे हैः (क) पहलेवाले रंगकर्मी ऐसे थे जिन्होंने इस नाटक की उत्कृष्ट प्रणयकथा में निम्नतम कोटि के अश्लीलांश दाखिल किये। जिसमें 1. एतावत् कामफलम्, यत्नफलमन्यम्।,

2. शकु पादावपसारयति।, 3. अपराधमिमं सहिष्ये ... तवाङ्ग-रेचितार्धे।, 4. कांक्ष्यन्त्योऽपि व्यतिकरसुखं कातराः स्वाङ्गदाने।, 5. सुरतरसज्ञो भविष्यामि। (इतने प्रक्षेप तीसरे अङ्क के पूर्वार्ध में आते हैं) और 6. अङ्क के अन्तिम भाग में, रहः प्रत्यासत्तिं यदि सुवदना यास्यति पुनः। वाले श्लोक का समावेश होता है। (ख) दूसरे जो रंगकर्मी लोग आये शायद उन्होंने मूल पाठ में अश्लीलांश दाखिल हो रहे हैं ऐसा देख कर शकुन्तला की लेटी हुई अवस्था में परिवर्तन लाना उचित समझा होगा। उन्होंने तथाकथित पाठसुधार का कार्य शुरू किया। जिसके फल स्वरूप 1. प्रथम क्रम में, मेघनादाहत मयूरी वाले उपमान का विनियोग करके शकुन्तला को रंगमंच पर पहले सलज्जा खड़ी कर दी। और 2. सागर और महानदी आदि के तीन उपमानों का प्रक्षेप किया। 3. दूसरे क्रम में, मदनलेख लिखवाते समय पर शकुन्तला को "आसीना चिन्तयति" जैसी रंगसूचना से शिलातल पर बैठी भी की गई। (इन रंगसूचनाओं के दाखिल होने से शायद नये प्रक्षेप होना बंद हो गये होंगे, किन्तु इन सब ने नाट्यकार कालिदास की मंचन-सम्बन्धी मूल योजना में भारी विसंगतता पैदा कर दी।) एवमेव, 4. अद्यापि नूनं हरकोपवह्नि। वाला श्लोक प्रक्षिप्त किया होगा। (ग) शारदा पाण्डुलिपियों की साक्षी के आधार पर हम कह सकते हैं कि "गान्धर्वेण विवाहेन"। वाला श्लोक मौलिक नहीं है। यह काश्मीरी पाण्डुलिपियों में कहीं पर भी नहीं है। इस दृष्टि से, तीसरे अङ्क के मौलिक पाठ को ढूँढने के लिए यह एक प्रबलतम प्रमाण बनता है।

[12]

काश्मीरी पाठ की बहुशः च्छाया मैथिल पाठपरम्परा में प्रतिबिम्बित हुई है, लेकिन उसमें कुछ अन्य नवीन प्रक्षेप हुए हैं, संक्षेप भी हुए हैं, वाक्यक्रम भी बदले गये हैं, तथा कुत्रचित् कुछ शब्दों में पाठभेद भी किये गये हैं। तीसरे सोपान पर, इस तरह के जिन विकारों ने मैथिल पाठ में प्रवेश किया हैं, अब उनका परिचय करना है। सब से पहले यह ज्ञातव्य है कि अभिज्ञानशकुन्तला का प्राचीनतम पाठ, जो शारदा पाण्डुलिपियों में संचरित

हो कर आज हम तक पहुँचा है, उसी का बहुशः अनुसरण मिथिला की परम्परा में हुआ है ऐसा दिख रहा है। काश्मीरी वाचनानुसारी तृतीयांक के पाठ में आज कुल 35 श्लोक उपलब्ध होते हैं। किन्तु वही पाठ जब मैथिली परम्परा में जाता है तब उसमें "गान्धर्वेण विवाहेन" श्लोकसहित नवीन पाँच श्लोकों का आधिक्य दिख रहा है। यहाँ कुल श्लोकों का योग 40 होता है। नाटक के पाठ में हुई यह वृद्धि ही मैथिली पाठ का उत्तरवर्तित्व सूचित कर रही है। (और बंगाली पाठपरम्परा में, इन पाँच श्लोकों में एक और नया श्लोक जोड़ कर 41 श्लोकोंवाला अतिविस्तृत पाठ बनाया गया है। अतः बृहत्पाठ वाले इस नाटक की तीसरी बंगाली वाचना का जन्म मैथिल पाठ के बाद, तृतीय क्रम में हुआ होगा ऐसा अनुमान किया जाता है।)

काश्मीरी पाठ को, (उनमें विरासत के रूप में मिले अश्लीलांश और अन्यान्य प्रक्षेपादि, जिसका उपरि भाग में निरूपण किया गया है, उसी को) अपने समक्ष रखते हुए, जब मैथिली पाठ की समीक्षा करते हैं तो उसी में अनेक स्थान में परिवर्तन और परिवर्धनादि मिलते हैं। और जो भी नवीन विकृतियाँ दाखिल हुई हैं या उनमें पाठसुधार की जो कोशिशें की गई हैं वह निम्नोक्त स्वरूप की हैः-

1. काश्मीरी पाठ में विरासत में मिले जिन अश्लीलांशों का परिचय ऊपर दिया गया है, उनका मैथिल परम्परा में बहुशः स्वीकार किया गया है। केवल "शकु–कदा। राजा–यदा सुरतरसज्ञो भविष्यामि" वाला तृतीय अश्लील संवाद हटाया गया है।
2. रंगसूचनाओं के सन्दर्भ में जिन विसंगतियों का निरूपण ऊपर किया गया है, वे भी बहुशः यथातथ रूप में इस मैथिली पाठ में प्रतिबिम्बित हुई है। यद्यपि मदनलेख लिखते समय शकुन्तला को बिठाया नहीं गया है। यहाँ केवल "चिन्तयति" ऐसी ही रंगसूचना है। इसमें "आसीना चिन्तयति" नहीं कहा है। किन्तु मदनलेख के अक्षरों को सुन कर राजा जब शकुन्तला के सामने आ जाते हैं, और अनसूया राजा को शिलातल पर बैठने का

कहती है, तब रंगसूचना रखी है कि—''शकुन्तला किंचित् पादावपसारयति''। उसके बाद, अनुसूया कहती है कि, "मेघवादाहदं विअ गिम्हमोरिं" मेघों के वायु से जैसे ग्रीष्म काल की मयूरी में जीवन का पुनः संचार होता है वैसे प्रियसखी शुद्धि में (भान में) आ रही है। तब रंगसूचना "शकुन्तला सलज्जा तिष्ठति" आती है। अब शकुन्तला खड़ी है, तब उसको कहा जाता है कि "अङ्के निधाय चरणावुत पद्मताम्रौ संवाहयामि करभोरु यथासुखं ते॥" और फिर रंगसूचना से कहा जाता है कि "इति अवस्थासदृशम् उत्थाय प्रस्थिता''। इस तरह से कुसुमशयना शकुन्तला के दृश्य की जो मंचन-योजना कवि ने मूल में सोची थी, (जिसमें शकुन्तला को मदनलेख लिखते समय भी लेटे रहना है और राजा शिलातल पर बैठे तब भी लेटे रहना है), उनमें से केवल द्वितीय सोपान पर, मैथिली पाठ में परिवर्तन किया गया है।

3. शकुन्तला जब कहती है कि राजा की मैं अनुकम्पनीया होऊँ ऐसा कुछ करो, अन्यथा मुझे जलाञ्जलि दे देना। जिसको सुन कर राजा कहता है कि "अहो विमर्शच्छेदि वचनम्। एतदवस्थापि मां सुखयति।" यहाँ काश्मीरी वाचना के "एतावत्कामफलम्, यत्फलमन्यत्" वाले वाक्य में सुधार किया गया है ऐसा स्पष्ट दिखता है।

4. प्रियंवदा ने जब कहा कि हमारी सखी नायक से मिले बिना नहीं रह सकेगी, "अक्षमा इयं खलु कालहरणस्य'', तब मैथिल पाठ में तुरन्त ही दोनों का समागम कैसे करवाया जाए उसकी ही चिन्ता प्रस्तुत होती है। यहाँ काश्मीरी शारदापाठ के अनुसार "सागर और महानदी'', तथा "सहकार और अतिमुक्त लता'', या "चित्राविशाखा एवं शशाङ्कलेखा" जैसे तीन में से एक ही उपमान दिया गया है, लेकिन उसको स्थानान्तरित किया गया है। मैथिली पाठ में इतना संक्षेप हुआ है। (अथवा

काश्मीरी पाठ में उक्त उपमानवाले संवादों का प्रक्षेप पश्चात्काल में हुआ होगा।)

5. जिन पाँच अधिक श्लोकों का प्रक्षेप हुआ है वे इस तरह से है:-

(1) अनिशमपि मकरकेतुर्मनसो रुजमावहन्नभिमतो मे।
यदि मदिरायतनयनां तामधिकृत्य प्रहरतीति॥ (मै. 3-5)

(2) वृथैव संकल्पशतैरजस्रमनङ्ग नीतोऽसि मयातिवृद्धिम्।
आकृष्य चापं श्रवणोपकण्ठं मय्येव युक्तस्तव बाणमोक्षः॥
(मै.3-6)

तीसरे अङ्क के आरम्भ में, मदनावस्थ दुष्यन्त का प्रवेश होते ही उसने कामदेव को कोसना शुरू किया है। जिसके लिए "तव कुसुमशरत्वं" वाला श्लोक पर्याप्त है। किन्तु जब उसी विचार की पुनरुक्ति उपर्युक्त दोनों श्लोकों से होती है तो उसकी मौलिकता शङ्का के दायरे में आ जाती है। क्योंकि नाटक जैसी समयबद्ध कला में विशेष प्रयोजन के अभाव में पुनरुक्ति असह्य होती है। तथा च, जब काश्मीर की शारदापाठ परम्परा का इन श्लोकों को समर्थन नहीं है, तब तो उनको प्रक्षिप्त मानने का कारण बनता है।

(3) संमीलन्ति न तावद् बन्धनकोषास्तयाऽवचितपुष्पाः।
क्षीरस्निग्धाश्चामी दृश्यन्ते किसलयच्छेदाः॥ (मै. 3-7)

इस श्लोक की मौलिकता संदिग्ध है। क्योंकि इस श्लोक में कहा गया है कि शकुन्तला ने जिस पौधे से पुष्पचयन किया है उसके बन्धनकोश अभी बन्द नहीं हुए है। तथा किसलय के छेदों में से अभी भी दूध निकलने से वे स्निग्ध दिख रहे हैं। इससे नायक को लगता है कि शकुन्तला थोड़ी ही देर पहले यहाँ से गई है॥ लेकिन यह श्लोक आन्तरिक सम्भावना की दृष्टि से देखा जायेगा तो मौलिक नहीं है। क्योंकि कवि ने शकुन्तला का वनस्पति-प्रेम वर्णित करते हुए कहा है कि उसको सभी वृक्ष एवं लताओं के प्रति सहोदर जैसा स्नेह है। और, उसको मण्डन करना प्रिय होते हुए भी वह कभी भी वृक्षों से एक पल्लव भी नहीं तोड़ती थी।[16] अतः इसी

कृति में शकुन्तला का जो प्रकृति-प्रेम प्रदर्शित किया गया है उसके अनुसार तो वह रास्ते में आते-जाते पुष्पों और किसलयों को तोड़ती हुई नहीं जा सकती है। इससे प्रमाणित होता है कि मैथिली पाठ में प्रथम बार प्रविष्ट हुआ यह श्लोक प्रक्षिप्त ही है।

(4) अयं स यस्मात् प्रणयावधीरणाम् अशङ्कनीयां करभोरु शङ्कसे।
उपस्थितस्त्वां प्रणयोत्सुको जनो, न रत्नमन्विष्यति, मृग्यते हि तत्॥
(मै. 3-16)

शकुन्तला ने मदनलेख लिखने से पहले अपने प्रेमप्रस्ताव का स्वीकार होगा या नहीं? इस विषय में एक आशङ्का व्यक्त की है। जिसको सुन कर नायक दुष्यन्त ने निम्नोक्त श्लोक उच्चारा हैः

अयं स ते तिष्ठति संगमोत्सुको विशङ्कसे भीरु यतोऽवधीरणाम्।
लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं, श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत्॥
(मै. 3-15)

इस श्लोक के बाद, उपर्युक्त 3-16 श्लोक की क्या आवश्यकता थी? ऐसा सहज प्रश्न होता है। दूसरा,इन में "अवधीरणा" शब्द की पुनरुक्ति हो रही है। जिसको देख कर भी लगता है कि इन दोनों में से कोई एक श्लोक मौलिक नहीं होगा। काव्यशास्त्रियों ने (और उनका अनुसरण करनेवाले टीकाकारों ने) श्लोक 3 : 16 में उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्य का प्रक्रमभङ्ग[17] हो रहा है, जो एक काव्य दोष है ऐसा कहा है। तथा पूर्वापर चरणों का व्यत्यय करके पाठ प्रस्तुत करने का सुझाव दिया है। और "कथं न लभ्येत नरः श्रियार्थितः" ऐसा नया पाठ भी सूचित किया है, जिससे पर्यायप्रक्रमभङ्ग का दोष नहीं आयेगा। इस तरह काव्यदोष के परिहार करने के दो दो सुझाव प्रस्तुत करने के बाद भी किसी काव्यरसिक ने तीसरे उपायान्तर के रूप में एक नया श्लोक ही लिख कर उसे "अपि च" के द्वारा प्रक्षिप्त कर देने की चेष्टा की है। "अवधीरणा" शब्द की पुनरुक्ति के साथ जो दूसरा श्लोक हमारे सामने आ रहा है उसका रहस्य सम्भवतः उपर्युक्त काव्यदोष है। और इस दूसरे श्लोक की मौलिकता की आशङ्का को दृढ करनेवाला "प्रणय" शब्द है, जो दो बार इसमें प्रयुक्त

हुआ है। पूर्व श्लोक (3-15) में संगम की उत्सुकता व्यक्त करने के बाद प्रणय की उत्सुकता दिखाना वह भी एक तरह का क्रमभङ्ग ही है। प्रणय एक लम्बी राह है, जिसमें संगम अन्तिम लक्ष्य है। अतः संगमोत्सुक बोल देने के बाद नायक अपने को प्रणयोत्सुक कहे वह अनुचित सा लगता है। तीसरा बिन्दु यह भी है कि इन दोनों श्लोकों को "अपि च" जैसे निपात से बांधा गया हैं। "अपि च" निपात से बांधे गये श्लोक से ऐसी अपेक्षा रहती है कि वह कुछ नये अर्थ, नये दृश्य का समुच्चय प्रस्तुत करे। सारभूत बात यही निकलती है कि "अपि च" से प्रस्तुत हुआ दूसरा (3-16) श्लोक प्रक्षिप्त है॥

(5) गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो हि मुनिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चानुमोदिताः॥ (मै0 3-27)

मैथिली पाठ में ही सब से पहली बार इस श्लोक को दाखिल किया गया है। क्योंकि यह श्लोक काश्मीर की एक भी शारदा पाण्डुलिपि में आता ही नहीं है। तृतीयांक में, जब मृगबाल को उनकी माता के पास पहुँचाने का बहाना बना कर प्रियंवदा और अनुसूया लतामण्डप से दूर चली जाती है, तब रंगमंच पर दुष्यन्त और शकुन्तला अकेले हैं। सखीजनों की भूमिका पर अब दुष्यन्त खड़ा है। मध्याह्न का समय होने से वह शकुन्तला को नलिनीदल से आर्द्र वायु का संचार करने का इच्छुक है, और शकुन्तला कहे तो उसके चरणों का संवाहन करने को भी तैयार है! किन्तु शकुन्तला माननीय व्यक्ति से ऐसी सेवा लेना उचित नहीं समझती है। अतः वहाँ से ऊठ कर चली जाती है। दुष्यन्त उसके पीछे चल पड़ता है और उसका पल्लू पकड़ कर उसे रोकने की चेष्टा करता है। शकुन्तला कहती है कि "पौरव, रक्ष अविनयम्। इतस्ततः ऋषयः संचरन्ति॥" इस संवाद के बाद राजा की जो उक्ति है, उसकी मौलिकता संदेहास्पद हैः-

राजा : सुन्दरि, अलं गुरुजनाद् भयेन। न ते विदितधर्मा तत्रभवान् कण्वः खेदमुपयास्यति।
गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो हि मुनिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चानुमोदिताः॥ (मै0 3-27)

(दिशोवलोक्य) कथं प्रकाशं निर्गतोस्मि। (ससंभ्रमं शकुन्तलां हित्वा तेनैव पथा पुनर्निवर्तते।)

यहाँ, लतामण्डप से बाहर निकल कर दुष्यन्त शकुन्तला का पल्लू पकड़ कर रोकता है। तब उसको सावधान करने के लिए शकुन्तला ने "यहाँ वहाँ ऋषिमुनि लोग घूम रहे होगें" ऐसा कहा है। इस सन्दर्भ में दुष्यन्त कहता है कि गुरुजनों से भय रखने की आवश्यकता नहीं है, कण्व भी (तुझे प्रेमासक्त या विवाहित जान कर) खेद का अनुभव नहीं करेंगे। अर्थात् तेरे पर नाराज नहीं होंगे। दुष्यन्त यहाँ विशेष में यह भी कहता है कि गान्धर्व-विवाह से विवाहित हुई बहुत सी मुनिकन्यायें है, जो (बाद में) पिताओं के द्वारा अनुमोदित भी हुई हैं। इस श्लोक पर किसी विद्वान् ने नुकताचीनी शायद नहीं की है। लेकिन सम्भव है कि किसी साहित्यरसिक की दृष्टि में, दुष्यन्त ने यहाँ शकुन्तला को गान्धर्व-विवाह के लिये उकसाया है—ऐसा भाव उठ सकता है। ऐसी संवित्ति मुखर हो कर सामने आये या न आये, लेकिन शकुन्तला जब कह रही है कि आसपास में ऋषि-मुनि घूम रहे होंगे, तब तो विनीत बर्ताव की ही अपेक्षा है। उससे विपरीत दुष्यन्त गुरुजनों से डरने की कोई जरूरत नहीं है ऐसा समझाने का उपक्रम शुरू करे वह दुष्यन्त के चरित के अनुरूप नहीं है। किन्तु दुष्यन्त के मुख में रखा गया प्रथम वाक्य एवं "गान्धर्वेण विवाहेन" वाला श्लोक बीच में से हटाया जाए तो, जो रंगसूचना सहित अनुगामी वाक्य है, "(दिशोऽवलोक्य) कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि। (शकुन्तलां हित्वा पुनस्तैरेव पदैः पुनर्निवर्तते।)" वह बिल्कुल सही सिद्ध होता है। इसमें विचार-सातत्य भी है, और दुष्यन्त का लतामण्डप में वापस चला जाना भी शकुन्तला की उक्ति से सुसम्बद्ध है। तथा च, महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान में दुष्यन्त ने ही गान्धर्व-विवाह का प्रस्ताव रखा है[18] और शकुन्तला को प्राप्त करने के लिए बहुत उतावला हो गया है। उस मूल कथा में सुधार करने के लिये उद्यत हुए महाकवि के लिए प्रेम का उदात्त चित्र खींचना मुनासिब है, तो फिर वह अपनी कलम से गान्धर्व-विवाह का प्रस्ताव क्यूं करायेगा? ऐसे श्लोक से किसी मुग्धा मुनिकन्या को उकसाने की जरूरत ही नहीं थी। इसे, अर्थात् गान्धर्वेण

विवाहेन वाले श्लोक को प्रक्षिप्त मान कर हटा देने से उदात्त और अभीष्ट प्रेम की गरिमा का स्वरूप पुनःप्रतिष्ठित होगा, जो महाकवि कालिदास को अभिप्रेत होगा।

यद्यपि यह श्लोक प्रथम बार मैथिली में, तदनन्तर बंगाली में, और अन्त में देवनागरी एवं दाक्षिणात्य जैसी चारों वाचनाओं में संचरित हुआ है। तथापि सभी शारदा पाण्डुलिपियों में उसका न होना भी अनुपेक्ष्य है, पुनर्विचारणीय है।[19]

6. मैथिली पाठ के तीसरे अङ्क में अनेक स्थान पर नवीन पाठभेद किये गये है। ऐसे स्थानों का काश्मीरी और मैथिली पाठों का परस्पर तुलनात्मक अभ्यास करने से लगता है कि काश्मीरी वाचना की शारदा पाण्डुलिपियों में (ही) मौलिक या श्रद्धेय पाठ अधिकतर सुरक्षित रहे हैं।

उदाहरण के लिए,

(1) अङ्क के आरम्भ में, प्रवेशक के बाद नायक का प्रवेश होता है। वहाँ काश्मीरी वाचना में "ततः प्रविशति कामयानावस्थो राजा" ऐसा लिखा गया है। किन्तु "कामयान" शब्द दुरधिगम होने से मैथिली वाचना के किसी अज्ञात पाठशोधक ने ''ततः प्रविशति मदनावस्थो राजा" ऐसा पाठपरिवर्तन कर दिया है॥ यहाँ पर काश्मीरी वाचना का पाठ ही मौलिक हो सकता है। उसके दो प्रमाण मिलते हैंः- (क) वामन ने (सम्भवतः 7वीं शती में) "कामयानशब्दः सिद्धोऽनादिश्चेत्। 5-2-82" सूत्र से कामयान शब्द का समर्थन किया है। एवं (ख) कालिदास ने स्वयं इस शब्द का रघुवंश (19-50) में विनियोग किया है॥

(2) दुष्यन्त प्रातःसवन के बाद मन बहलाने के लिए शकुन्तला को ढूँढता हुआ, शकुन्तला की पदपङ्क्ति का अनुसरण करता हुआ, मालिनी नदी के लतावलयों में जाता है। और उसे जब प्रिया का दर्शन होता है, तब (मैथिली पाठ में) उसके मुख में आनन्दोद्गार हैः अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम्। किन्तु काश्मीरी

वाचना में "अये लब्धं खलु नेत्रनिर्वापणम्।" ऐसा शब्द उपलब्ध होता है॥ इन दोनों पाठभेदों की अन्तःसाक्ष्यों से परीक्षा की जाए तो "नेत्रनिर्वापणम्" शब्द ही मौलिक है ऐसा प्रमाणित होता है। जैसे कि, प्रवेशक में ही हमें कहा गया है कि जो उशीरानुलेप ले जाया जा रहा है, वह शकुन्तला के शरीरनिर्वापण के लिए है। (तस्याः दाहे निर्वापणायेति। तस्याः शरीरनिर्वापणायेति।), एवमेव, राजा एक श्लोक में कहता है कि "स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता स एव मे जातः। (मै. 3-13)" इसमें भी निर्वापण क्रिया का ही उल्लेख है। अतः आन्तरिक सम्भावना से सिद्ध होता है[20] कि काश्मीरी वाचना में जो पाठ मिलता है, वही मौलिक है। और पाठसंचरण के दौरान जो अनुलेखनीय क्षतियाँ प्रविष्ट होती है, तदनुसार यहाँ निर्वापण शब्द में से एक प-कार विगलित हो गया होगा, जिसके कारण निर्वापण से निर्वाण बन गया होगा।

(3) काश्मीरी वाचना में सखी का नाम "अनसूया" है, किन्तु मंचन के दौरान किसी नट की उच्चारणगत क्षति होने से, मैथिली वाचना में वह "अनुसूया" बन गया है। किन्तु उपर्युक्त प्रमाणों से यदि अन्यत्र काश्मीरी वाचना का पाठ मौलिक या प्राचीनतम सिद्ध होता है तो, यहाँ पर भी "अनसूया" शब्द ही मूल में रहा होगा ऐसा हम मान सकते हैं॥ (बंगाली पाठ में भी मैथिली पाठ का अनुगमन करते हुए अनुसूया शब्द रखा गया हैं।)

(4) काश्मीरी वाचना में शकुन्तला की एक उक्ति इस तरह की है : "(सलज्जम्) यतः प्रभृति सः तपोवनरक्षिता राजर्षिर्मम दर्शनपथं गतः, तत आरभ्योद्गतेनाभिलाषेणैतदवस्थास्मि संवृत्ता।" किन्तु मैथिली वाचना में इसी एक वाक्य को दो भागों में विभाजित करके नाटकीयता के साथ प्रस्तुत किया जाता है। जैसे कि, "शकु–यतः प्रभृति स तपोवनरक्षिता राजर्षिः मम दर्शनपथं गतः, ... (इत्यर्धोक्तेन लज्जां नाटयति)। उभे कथयतु

प्रियसखी। शकु—तत आरभ्य तद्गतेन अभिलाषेण एतावदवस्था अस्मि संवृत्ता।" और मैथिली पाठ के अनुसार शकुन्तला बोलते समय बीच में लज्जित हो कर रुक जाती है, उसमें अवश्य ही नाटकीयता है। तथा अन्य सभी वाचनाओं में इसी तरह का ही पाठ है, अतः मैथिली पाठ बहुशः रंगकर्मियों का, अथवा कदाचित् ही मौलिक पाठ हो सकता है। (इसका समर्थन निम्नोक्त बिन्दु से होगा।)

(5) काश्मीरी वाचना के पाठ में प्रविष्ट हुए प्रक्षेपों की चर्चा करते समय हमने देखा है कि नायिका का प्रेमभाजन दुष्यन्त है ऐसा जान कर दोनों सहेलियों ने "सागर और महानदी", तथा "सहकार और अतिमुक्त लता" के उपमान प्रयुक्त किये हैं। तथा वहाँ पर राजा ने भी तीनों सखियों के लिए "चित्राविशाखा नक्षत्र और शशाङ्कलेखा" के उपमान का विनियोग किया है। लेकिन शकुन्तला की स्थिति "अक्षमा कालहरणस्य" है ऐसा प्रियंवदा का निरीक्षण प्रस्तुत होने के बाद इन काव्यात्मक उपमानों का होना भी असह्य बनता है—ऐसा निष्कर्ष कहा गया है। अतः इस सन्दर्भ में मैथिली पाठ की क्या स्थिति है वह परीक्ष्य हैः मैथिली पाठ में उपर्युक्त काश्मीरी पाठ का अनुगमन नहीं किया गया है। अनुसूया ने "अक्षमा इयं खलु कालहरणस्य" ऐसा प्रियंवदा से सुन कर तुरन्त "सखी का मनोरथ सम्पादित करने के लिए कौन सा उपाय किया जाये, जो अविलम्बी हो और निभृत भी हो?" उसकी ही चिन्ता व्यक्त की है। ऐसा पाठ बिल्कुल सन्दर्भोचित प्रतीत होता है। किन्तु, काश्मीरी पाठ में प्रविष्ट हुए उपर्युक्त तीनों उपमान चित्ताकर्षक तो थे ही, और उनके मोह से छूटना भी तो सरल नहीं था। अतः, काश्मीरी पाठ में शकुन्तला जब कहती है कि "ततः आरभ्य तद्गतेनाभिलाषेण एतावदवस्थास्मि संवृत्ता"। तब इस बात को सुन कर राजा "(सहर्षम्) श्रुतं श्रोतव्यम्।" ऐसा तुरन्त

प्रतिभाव प्रकट करता है, जो अत्यन्त स्वाभाविक लगता है। किन्तु मैथिली पाठ में, शकुन्तला और राजा की उपर्युक्त उक्तियों के बीच में दोनों सहेलियों ने एक साथ में शकुन्तला के अनुराग का समर्थन किया है। "उभे-दिष्ट्या इदानीं ते अनुरूपवराभिलाषः। अथवा सागरं वर्जयित्वा कुत्र वा महानद्या प्रवेशितव्यम्।" यहाँ राजा की उक्ति से उनका जो झटिति उत्साहित हो जाना दिखता है उसमें बीच में प्रविष्ट हुई सहेलियों की संयुक्त उक्ति से बाधा डाली गई है ऐसा साफ दिख रहा है। अतः मैथिली पाठ में, उत्तरवर्ती काल में पाठशोधन की कुछ प्रवृत्ति हुई है ऐसा स्पष्ट लगता है।

यहाँ काश्मीरी पाठ का एक गुणपक्ष शब्दबद्ध करना जरुरी है। शकुन्तला ने जब कहा कि मेरा उस राजर्षि से समागम करवाओ, अन्यथा मेरा जीना मुश्किल हो जायेगा। तब प्रियंवदा ने "अक्षमा इयं खलु कालहरणस्य" इतना ही नहीं कहा है। काश्मीरी पाठ कहता है कि प्रियंवदा ने यहाँ दो अन्य वाक्य भी कहे हैं। जैसे कि, "यस्मिन् बद्धभावा सोऽपि ललामभूतः पौरवाणाम्, तत् त्वरितव्यम् एवास्या अभिलाषम् अनुवर्तितुम्।" अर्थात् प्रियंवदा ने शकुन्तला के अनुराग के पात्रीभूत व्यक्ति को नाप कर ही उसके अभिलाष का अनुवर्तन करने का औचित्य भी स्पष्ट किया है। जिसमें अनसूया को और कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं थी॥ लेकिन मैथिली पाठ का शोधन करनेवाले किसी अज्ञात व्यक्ति ने प्रियंवदा के उपर्युक्त दो वाक्यों को मैथिली वाचना में से हटा दिये है। और उसी तरह के पाठ का अनुसरण बंगाली पाठ में भी हुआ। जिसके कारण प्रियंवदा के उपर्युक्त दोनों वाक्य बंगाली वाचना के पाठ में से भी गायब हो गये हैं। (हाँ, देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचना की पाठधारक पाण्डुलिपियों में काश्मीरी वाचना का अनुवर्तन हुआ है, इस लिए ये दोनों वाक्य उनमें मिलते हैं तथा काश्मीरी पाठ में दाखिल हुए सागर और महानदी आदि के तीनों उपमान भी देवनागरी में संचरित हुए हैं।)

(6) काश्मीरी पाठ में, प्रियंवदा जब राजा को निवेदन करती है

कि आपको उद्देश्य करके कामदेव ने हमारी सखी को ऐसी अवस्था में पहुँचाया है। तो आप उसके जीवन को अवलम्बन दीजिए। तब शकुन्तला सतर्क हो कर बोलती है कि "हला, अलं वोऽन्तःपुरविहारपर्युत्सुकेन राजर्षिणोपरोधेन।" यहाँ पर मैथिली पाठ में "अन्तःपुरविरह" ऐसा भिन्न पाठ मिलता है। जिसमें प्रतिलिपिकरण के दौरान विहार में से विरह ऐसा शब्दभेद आकारित हुआ होगा। लेकिन प्रकृत प्रसंग में दोनों शब्दों का अर्थगाम्भीर्य अलग दिखता है। यहाँ काश्मीरी पाठ प्राचीनतम होने की सम्भावना है, इसी लिए "अन्तःपुरविहार" जैसे पाठान्तर का ही आदर करना चाहिए ऐसा हम झटिति निर्णय नहीं देंगे। एवमेव, काश्मीरी वाचना को छोड़ कर अन्य सभी वाचनाओं में तो "अन्तःपुरविरह" है, इस लिए बहुसंख्यक पाण्डुलिपियों के समर्थन को अग्रेसर करके भी निर्णय नहीं देंगे। क्योंकि दोनों पाठान्तरों में अपनी अपनी चमत्कृति बराबर है। अतः यहाँ सर्वतो बलीयान् प्रमाण के रूप में आन्तरिक सम्भावना का प्रमाण ही उपस्थित करना होगाः- शकुन्तला के वचन का अर्थवाद करते हुए अनसूया ने आगे चल कर कहा है कि "वयस्य, बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते। "उसमें, और इसी तरह से, राजा ने भी सभी को आश्वस्त करते हुए "परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे" ऐसे जो वचन कहे हैं उसमें बहु-शब्द का सन्निवेश महत्त्वपूर्ण है। इससे सिद्ध होता है कि काश्मीरी पाठानुसारी "अन्तःपुरविहार" पाठान्तर ही यहाँ मौलिक हो सकता है।

(7) काश्मीरी पाठ के अनुसार राजा ने सखियों को कहा है कि, "परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे। धर्मेणोल्लिखिता लक्ष्मीस्सखी च युवयोरियम्॥ "इसमें परिवर्तन करके, मैथिली वाचना में श्लोक का तृतीय चरण बदल दिया गया हैः-- "समुद्ररसना चोर्वी''॥ तथा बंगाली वाचना में इसी परिवर्तित

पाठ का अनुगमन किया गया है। (कालान्तर में यहाँ "समुद्ररशना चोर्वी" एवं "समुद्रवसना चोर्वी" जैसे पाठभेद भी उद्भावित किये गये हैं, जो देवनागरी वाचना की पाण्डुलिपियों में प्रतिबिम्बित हुए हैं॥)

(8) काश्मीरी पाठ में, दुष्यन्त जैसे ही प्रिया का अधरपान करने को व्यवसित होता है, कि तुरन्त नेपथ्य से कहा जाता हैः- "आर्या गौतमी''। इस तरह से आसपास में छिप कर बैठी सखियों ने इन दोनों नायक-नायिका को सावधान कर दिया है। किन्तु मैथिली वाचना में जो नेपथ्योक्ति है वह नितराम् व्यञ्जनापूर्ण है। उसमें कहा जाता है कि, "अयि चक्रवाकवधु, आमन्त्रयस्व सहचरम्। उपस्थिता रजनी।" मैथिली पाठ के अनुसार ही बंगाली और देवनागरी आदि वाचनाओं में पाठ संचरित हुआ है। यहाँ, मैथिली पाठ मौलिक होने का दावा इस लिए करता है कि उसमें शकुन्तला के लिए चक्रवाक पक्षी का प्रतीक उपयोग में लिया गया है। इस तरह के निसर्ग से लिए गये अन्यान्य प्रतीकों से नाट्य का प्रवर्तन करने की "अपूर्व" प्रयुक्ति ही इस नाटक में शुरू से ही प्रयुक्त की गई है।

(9) गौतमी शकुन्तला को ले कर रंगमंच से निकल जाती है। दुष्यन्त अब प्रिया का स्मरण करता हुआ एक श्लोक बोलता हैः-

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिधानम्।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं, न चुम्बितं तु॥
(का. 3-32)

इस काश्मीरी पाठ में परिवर्तन करके मैथिली वाचना के किसी अज्ञात पाठशोधक ने अन्तिम चरण में "न चुम्बितं तत्" ऐसा पाठभेद किया है। इस श्लोक के अन्तिम पद के रूप में आये "तु" अव्यय को जिसने निरर्थक पादपूरक निपात समझा है, उसीने उसको बदल कर, "मुखम्" जैसे नपुंसकलिंग नाम के साथ सम्बन्ध रखनेवाला "तत्" सर्वनाम रख दिया

है। किन्तु कालिदास ने बड़ी चातुरी के साथ “तु” का प्रयोग किया है, और वह भी चरण के अन्तिम पद के रूप में। क्योंकि दुष्यन्त अपनी प्रियतमा का अधरोष्ठपान करने के लिए उद्यत तो हुआ था, लेकिन गौतमी के आगमन के कारण वह उससे वंचित रह गया है। अतः कवि ने “तु” का प्रयोग करके चुम्बन की मुद्रा वाले नायक को ही नाटकीय ढंग से मंच पर उपस्थित कर दिया है! अभिनयन की इस विशेष योजना मैथिली वाचना के पाठशोधक के ध्यान में नहीं होगी, अतः उसने “तत्” पद रखा होगा॥ (बंगाली वाचना की पाण्डुलिपियों में भी इसी तत्-पदवाला पाठान्तर स्वीकारा गया है।)

7. काश्मीरी वाचना में शौरसेनी प्राकृत भाषा का विनियोग दिखाई रहा है। कालान्तर में वही पाठ जब मैथिली वाचना में संक्रान्त हुआ होगा तब उसमें कुछ हद तक शौरसेनी का स्वरूप बदलता गया है, और उसके स्थान में (उत्तरवर्ती काल की) महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव मिलना शुरू हो जाता है। निदर्शनात्मक एक-दो स्थान द्रष्टव्य है : (1) शौरसेनी में थकार का धकार होता है। जिसमें कालान्तर में हकार का परिवर्तन आ गया है। 1. मनोरथ मणोरध मणोरह। अथवा अधवा अहवा। (2) रेफोत्तरवर्ती यकार जब संयुक्ताक्षर के रूप में प्रयोग होता है, तो शौरसेनी में समीकरण की प्रक्रिया से उसका “य्य” में परिवर्तन होता है।किन्तु मैथिली वाचना में उस य्य- का ज्ज में परिवर्तन कर दिया गया है। उदाहरण के लिए, आर्यपुत्र अय्यउत्त अज्जउत्त।, (3) काश्मीरी पाठ में धकार का धकार में ही प्रयोग मिल रहा है। किन्तु वही पाठ जब मैथिली में जाता है, तब उसका हकार में परिवर्तन हुआ है ऐसा दिखता है। अपराध-अपराध—अपराह। इन उदाहरणों के बल पर कह सकते हैं कि, काश्मीरी पाठ में शौरसेनी-प्राकृत का संरक्षण हुआ है और मैथिली पाठ में (तथा उसी तरह से बंगाली में भी) उत्तरवर्ती काल की महाराष्ट्री-प्राकृत का प्रभाव शुरू हुआ है। यह बात भी काश्मीरी पाठ का

प्राचीनतमत्व भी सिद्ध करती है, और मैथिली पाठ का उत्तरवर्तित्व बताती है।

8. काश्मीरी पाठ में किसी भी अङ्क का नामकरण नहीं मिलता है। लेकिन मैथिली पाठ में तीसरे अङ्क का नाम शृङ्गारभोग दिया गया है। यह भी उत्तरवर्ती काल का उपक्रम हो सकता है। क्योंकि काश्मीरी पाठ में ऐसे नाम नहीं मिलते हैं, और उसका सार्वत्रिक अनुसरण भी नहीं हुआ है।

[13]

अब, चतुर्थ सोपान पर, बंगाली वाचनानुसारी तीसरे अङ्क के पाठ में जो परिवर्तन आये हैं उसकी चर्चा करना अभीष्ट है। बंगाली वाचना ने मैथिली वाचना के पाठ का बहुशः स्वीकार किया है। जैसे कि, 1. अश्लीलांशो का अनुसरण किया है। और उसमें भी मैथिली पाठ की तरह "सुरतरसज्ञो भविष्यामि" वाले तीसरे अश्लीलांश का स्वीकार नहीं किया है। 2. मैथिली पाठ में जो पाँच नये श्लोक प्रक्षिप्त किये हैं, उनका बंगाली वाचना में यथावत् स्वीकार किया गया है। किन्तु इसके साथ में एक नया (षष्ठ) श्लोक प्रक्षिप्त किया है ऐसा दिखता है। जैसे कि, अनुसूया शकुन्तला की मदनावस्था को देख कर बोलती है कि शकुन्तला को जो अङ्गसंताप हो रहा है वह बलवान् है। अतः शकुन्तला को कुछ पूछना चाहती है। यह सून कर दुष्यन्त के मन में भी होता है कि शकुन्तला को पूछ ही लेना चाहिए। क्योंकि–

शशिकरविशदान्यस्यास्तथा हि दुःसहनिदाघशंसीनि।
भिन्नानि श्यामिकया मृणालनिर्माणवलयानि॥ (बं. 311)॥

''शकुन्तला ने अपने हाथों में मृणालतन्तुओं से बनाये वलय पहने हैं वे चन्द्र–किरण जैसे शुभ्र होते हुए भी श्याम हो गये हैं, जो शकुन्तला के अङ्गसंताप को कह रहे हैं।" इस श्लोक में "मृणालनिर्माणवलयानि" शब्द बहुवचन में है, वह पूर्व श्लोक (3 : 10) के "प्रशिथिलितमृणालैकवलयम्" के साथ असम्बद्ध सिद्ध होता है। पहले जब कहा जाता है कि शकुन्तला

ने हाथ में पहना एक मृणाल का वलय प्रशिथिल है, तब तुरन्त ही अनुगामी श्लोक में कहा जाए कि शकुन्तला ने मृणाल से बने अनेक वलय पहने हैं, तो वह वदतोव्याघात है। अतः 3 : 11 श्लोक को प्रक्षिप्त मानना ही उचित होगा। इस नाट्यकृति के प्रत्येक शब्द, वाक्य को स्मृतिपट पर रखते हुए पुनरुक्ति या परस्पर विसंगतता है या नहीं? इस आन्तरिक सम्भावना के दृष्टिबिन्दु से परीक्षण करेंगे तो अनेक प्रक्षिप्त स्थानों को हम पहचान पायेंगे।

3. उपर्युक्त दो बिन्दुओं को देखने के बाद, रंगसूचनाओं सम्बन्धी जो विसंगतियाँ मैथिली पाठ में है उस सन्दर्भ में बंगाली पाठ में कैसी स्थिति प्रवर्तमान है? वह मुख्य रूप से देखना है। यहाँ प्रथमतः यह ज्ञातव्य है कि इन विसंगतियों का अनुसरण बंगाली वाचना में नहीं हुआ है। कुसुमशयना शकुन्तला को यहाँ मदनलेख लिखते समय, एवं राजा को शिलातल पर साथ में बिठाया जाता है तब भी लेटी हुई ही रखी है! लगता है कि बंगाली वाचना के पाठशोधकों के ध्यान में रंगसूचना-सम्बन्धी पूर्वोक्त विसंगतियाँ आई होंगी, जिसके कारण उन्होंने उसमें सुधार कर लिया है। यहाँ पाठालोचक को यह विचार करना सहज रूप से अनिवार्य है कि यदि रंगसूचनाओं सम्बन्धी कोई विसंगति बंगाली पाठ में है ही नहीं, तो उसी वाचना के पाठ को ही प्राथम्य क्यों न दिया जाये? अर्थात् बिना कोई विसंगतिवाला पाठ, जो मूल में कवि ने स्वयं ही लिखा होगा, वही पाठ इस बंगाली वाचना में सुरक्षित रहा है, और कालान्तर में काश्मीर और मिथिला के रंगकर्मियों ने उसी (मूल) बंगाली पाठ में विकार पैदा किये होंगे—ऐसा क्यूं नहीं मानते हैं? प्रश्न तो उचित ही है। किन्तु यहाँ एक अन्य प्रश्न उठाना चाहिए। जैसे कि, "यदि इस बंगाली पाठ में रंगसूचना से सम्बद्ध कोई विसंगति नहीं है तो, उस विसंगति को जन्म देनेवाला वह संवाद, जिसमें मेघनादाहत/ मेघवाताहत मयूरी का उपमान प्रयुक्त किया गया है, क्या बंगाली पाठ में से निकाल ही दिया गया है? या मिलता ही नहीं है?" क्योंकि इस संवाद के अनुसन्धान में ही तो शकुन्तला धीरे धीरे स्वस्थ होती हुई लज्जा के साथ खड़ी होती है। (इस

संवाद को हटाने के बाद ही "सलज्जा तिष्ठति" जैसी रंगसूचना को हटाया जाना सम्भव था।) कहने का तात्पर्य यह है कि, विसंगतियों के अभाव में बंगाली वाचना का पाठ मौलिक होने का कहने के लिए उपर्युक्त "मेघनादाहत मयूरी" वाला संवाद भी बंगाली पाठ में अनुपस्थित होना आवश्यक है। किन्तु ऐसा तो है नहीं।

काश्मीरी वाचना के पाठशोधकों को कुसुमशयना शकुन्तला रंगमंच पर लम्बे समय तक लेटी रहे यह अनुकूल नहीं था, अतः उन्होंने काव्यात्मक शैली में मेघनादाहत मयूरी के उपमान का आश्रयण (प्रक्षेपण) किया। इस तरह का संवाद जोड़ कर (लेटी हुई शकुन्तला को राजा के सामने खड़ी करने के लिए) "सलज्जा तिष्ठति" जैसी रंगसूचना दी है। उस काव्यात्मक शैली में रखे गये संवाद के मोहपाश में बंगाली वाचना के पाठशोधक भी बद्ध हो गये हैं। उन्हों ने भी इस संवाद में कुछ काट-छांट करके, तथा उसकी प्रस्तुति का स्थान परिवर्तन करके उसे रखा है। उन्हों ने शकुन्तला की लेटी हुई अवस्था का विनियोग करते हुए, "अपराधमिमं ततः सहिष्ये यदि रम्भोरु तवाङ्गसङ्गसृष्टे। कुसुमास्तरणे क्लमापहं मे सुजनत्वादनुमन्यसेऽवकाशम्॥(बं0 3-24)" इस अश्लील श्लोक को प्रस्तुत तो करना ही था, इस लिए जब राजा ने "यद्यपि मैं ने रानिवास में बहुत रानियाँ इकठ्ठी की है, किन्तु आप दोनों की सखी ही मेरे कुल की प्रतिष्ठा बनेगी।''—कहा तब दोनों सहेलियों ने "निर्वृते स्वः।" शब्दों से परितोष जताया है। किन्तु बंगाली पाठशोधकों ने यहाँ एक नयी रंगसूचना जोड़ी है:-''शकुन्तला हर्षं सूचयति''। (यह रंगसूचना अपूर्व है, अन्य किसी भी वाचना में नहीं है।) उसके पीछे, प्रियंवदा बोलती है कि "अनुसूये, प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व, मेघवाताहतामिव ग्रीष्मे मयूरीं क्षणे क्षणे प्रत्यागतजीवितां प्रियसखीम्।" तब शकुन्तला कहती है कि इस लोकपाल की क्षमा-याचना करो, तुम दोनों ने जो विस्रब्ध हो कर प्रलाप किया है उसके लिए... इत्यादि॥ यहाँ पर, मेघवाताहत मयूरी के उपमान का विनियोग करते हुए भी शकुन्तला को रंगमंच पर खड़ी करने की रंगसूचना नहीं दी गई है। किन्तु जो नवीन रंगसूचना जोड़ी है कि (राजा ने शकुन्तला को "अपने कुल की प्रतिष्ठा"

उद्घोषित की है, उसको सुन कर केवल दो सहेलियाँ ही संतुष्ट नहीं हुई हैं,) शकुन्तला भी अपने मन का हर्ष सूचित करने लगती है—वह विचारणीय बिन्दु बनता है। यह नयी रंगसूचना ही सूचित करती है कि बंगाली पाठ में (भले ही रंगसूचना से सम्बद्ध पूर्वोक्त विसंगतियां नहीं है, फिर भी) खिलवाड़ करने में रंगकर्मी लोग सक्रिय थे। क्योंकि, शकुन्तला हर्ष सूचित कर रही है उसका ध्वनि तो ऐसा निकलता है कि मूल महाभारत में जो शकुन्तला ने अपने (ही) पुत्र को गादी मिले, उस समय को लेकर गान्धर्व विवाह के लिए सम्मति प्रदान[21] की थी वही बात कालिदास की शकुन्तला के दिमाग में भी प्रकट रूप से थी। उसके मन में सही अर्थ में जो प्रेमावेश सुव्याप्त था, जिसका कथन "अन्यथा सिञ्चत में उदकम्" शब्दों से पहले किया गया है, उससे तो यह नयी रंगसूचना बिल्कुल विरुद्ध है। अतः बंगाली पाठ में भी सुधार ही हुआ है, और वह भी मैथिली वाचना के पाठ के "अनुयायी पाठ" के रूप में हुआ है ऐसा कहने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

सारांशतः कहें तो, इस नाटक की बृहत्पाठ परम्परा के चतुर्थ सोपान पर बंगाली वाचना का पाठ आता है। जिसमें 1. काश्मीरी वाचना को विरासत में मिले जो अश्लील पाठ्यांश थे, वे मैथिली वाचना से गुजरते हुए बंगाली वाचना के पाठ तक संचरित हुए हैं। 2. मैथिली वाचना ने प्रक्षिप्त किये पाँच श्लोकों का स्वीकार करते हुए बंगाली वाचना के पाठशोधकों ने एक छठा श्लोक भी नया जोड़ा है। 3. बंगाली वाचना के पाठ में कुसुमशयना शकुन्तला को कवि की मूल योजनानुसार "अङ्के निधाय चरणावुत पद्मताम्रौ संवाहयामि करभोरु यथासुखं ते" श्लोक के शब्दों को सुन कर ही खड़ी की गई है, उससे पहले नहीं, फिर भी "शकुन्तला हर्षं सूचयति" जैसी नयी रंगसूचना जोड़ कर अनिष्टार्थ का आविष्कार भी कर दिया है। 4. काश्मीरी पाठ में जिन उपमानों (चित्राविशाखे और शशाङ्कलेखा आदि) का संनिवेश किया गया है, वह जैसे मैथिली पाठ में अग्राह्य बने है, वैसे बंगाली पाठ में भी अग्राह्य ही रहे है। 5. बंगाली पाठशोधकों ने प्राकृत उक्तियों के सन्दर्भ में शौरसेनी का मूल स्वरूप

सुरक्षित रखते हुए भी, मैथिली पाठ की तरह अमुक नये ध्वनि परिवर्तन (उदाहरण के लिए—आर्यपुत्र—अज्जउत्त, जो उत्तरवर्ती काल का है, उन्हें) तो स्वीकार ही लिये हैं।

[14]

अभिज्ञानशकुन्तला नाटक के तृतीयाङ्क के पाठ में पञ्चम सोपान पर जो पाठविचलन हुआ है वह दाक्षिणात्य और देवनागरी वाचनाओं के पाठ में देखा जाता है। इन दोनों वाचनाओं के पाठशोधकों ने परापूर्व से चले आ रहे अश्लील पाठ्यांशों को हटाने के लिए संक्षेपीकरण का मार्ग अपनाया। और इसके लिए, मैथिली पाठपरम्परा ने जो "गान्धर्वेण विवाहेन" वाला श्लोक प्रक्षिप्त किया था उसका विनियोग करके परम्परागत पाठ में कटौती कर दी। जिसमें अश्लील अंशों की कटौती करने के साथ साथ, तीसरे अङ्क के बहुमूल्य दो दृश्यों (1. शकुन्तला के हाथ में मृणाल-वलय पहनाना और 2. पुष्परज से कलुषित हुए शकुन्तला के नेत्र को वदनमारुत से निर्मल कर देने का समावेश होता है) की भी कटौती की गई है। किन्तु उक्त अश्लीलांशों की कटौती होने के बाद भी रंगसूचना सम्बन्धी जो विसंगति काश्मीरी वाचना से प्रविष्ट हुई थी, और जो मैथिली पाठ में संचरित हुई थी, वह भी दाक्षिणात्य तथा देवनागरी वाचना के पाठों में यथातथ बनी रही। अर्थात् कुसुमशयना शकुन्तला को रंगमंच पर कब तक प्रस्तुत करना कवि को मूल में अभीष्ट था? इस बात की ओर दाक्षिणात्य के पाठशोधकों का भी ध्यान नहीं गया है।

[प्रस्तुत विमर्श में जो विचारणा प्रस्तुत की गई है, वह विद्वान् डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल की अवधारणा से पूर्ण रूप से विपरित है। यद्यपि उन्होंने भी ऑक्सफर्ड की बोडलियन लाईब्रेरी में संगृहीत इन शारदा पाण्डुलिपियों का प्रत्यक्ष विनियोग किया था, लेकिन उनका अश्लील पाठ्यांशों के प्रक्षेप तथा रंगसूचना सम्बन्धी उपर्युक्त विसंगति की और ध्यान नहीं गया है यह हकीकत है। तथा गान्धर्वेण विवाहेन वाला श्लोक मैथिली एवं बंगाली पाठ में प्रक्षिप्त हुआ है वह भी पहचाना नहीं है।

इस विषय में यदि किसी विद्वान् के द्वारा पुनःपरामर्शन होगा तो, "दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता कालिदास की भारती" पर महान् उपकार ही होगा।]

उपसंहार : अभिज्ञानशकुन्तला की समग्र पाठालोचना में तीसरे अङ्क का पाठविचलन ही केन्द्रवर्तिनी चुनौती है। इस अङ्क में, मंचन के दौरान मदनाविष्ट शकुन्तला को लेटी हुई अवस्था में प्रस्तुत करने की योजना मूल में कवि कालिदास की ही है। किन्तु लेटी हुई नायिका को मंच पर प्रस्तुत करने का ऐसा मौका मिलने पर विभिन्न कालखण्ड के रंगकर्मियों ने उसमें दो-तीन स्थानों में अश्लील पाठ्यांशों का प्रक्षेप किया है। तथा ऐसे अन्यान्य अश्लील प्रक्षेपों को रोकने के लिए, शायद दूसरे रंगकर्मिओं ने उसमें नवीन रंगसूचनाओं को जोड़ कर शकुन्तला को लेटी हुई अवस्था में से खड़ी भी की है और बैठी भी कर दी है। किन्तु ऐसा करने से इस दृश्य की मंचन-योजना में विसंगति पैदा हुई है। इस विरासत में मिली विसंगति को हम आज भी ढो रहे है। हमें उपलब्ध हो रही पाण्डुलिपियों में शारदालिपि-निबद्ध उक्त चार पाण्डुलिपियाँ ही प्राचीनतम है, जिनमें ऐसे अश्लील अंश विरासत में मिले हैं। अतः इससे अधिक पुराने समय की पाण्डुलिपियाँ जब तक खोजी नहीं जाती है तब तक हमें इदंप्रथमतया दो कार्य सिद्ध करना जरूरी है : 1. इन तीनों अश्लील पाठ्यांशों का मौलिक न होना सिद्ध करने के लिए (उच्चतर समीक्षा को मान्य हो ऐसे) आन्तरिक सम्भावनायुक्त तर्कों को स्वीकारना होगा। तथा 2. ऐसे अंशों दाखिल होने के बीजभूत कोई कारण हो तो उसको पहचान कर, कवि ने सोची हो ऐसी कृतिनिष्ठ मंचन-योजना की पुनःस्थापना करनी होगी।

इस नाटक की जो बृहत्पाठ परम्परा काश्मीरी, मैथिली और बंगाली वाचनाओं में संचरित हुई है उसकी पाठयात्रा का क्रम भी निर्धारित करना आवश्यक है। जिससे इन तीनों वाचनाओं में बिखरे हुए विभिन्न पाठभेदों और प्रक्षेप-संक्षेप का बुद्धिगम्य चित्र हमारे सामने उद्‌भासित हो सके। तथा वर्तमान में सर्वमान्य एवं सुप्रचलित बने देवनागरीवाचना के पाठ का आविर्भाव तो सब से अन्त में, पञ्चम सोपान पर हुआ है, इस बात की सप्रमाण उपस्थापना हो जाने के बाद, प्राचीन से प्राचीनतर, और प्राचीनतर

से प्राचीनतम पाठ के रूप में काश्मीरी वाचना के पाठ की महिमा प्रतिष्ठित हो सकेगी। एवमेव, उसमें न केवल प्राचीनतम पाठ मिलता है, किन्तु उसमें ही अधिकतर मौलिक पाठ्यांश सुरक्षित रहे हैं—यह बात भी अब उजागर हो चूकी है ॥ यह भी उल्लेखनीय है कि कश्मीर के रंगकर्मियों ने जो एक रंगावृत्ति (Stage-Script) का पाठ बनाया था, उसी की ही पाण्डुलिपि-परम्परा आगे बढ़ती दिखाई रही है। (तथा कविप्रणीत पाठ की कोई पाण्डुलिपि-परम्परा अभी तक मिली ही नहीं है!) काश्मीरी रंगकर्मियों की पाठपरम्परा में ही बारंबार 'संशोधन' होता रहा है। जिसके कारण रंगसूचना-संबंधी पूर्वोक्त विसंगतियों का खिचड़ा पैदा हुआ है—उसके साथ आज के पाठालोचक को निपटना है, लड़ना है; और अन्त में कालिदास तक पहुँचना है ॥ शिवम् अस्तु ॥

सन्दर्भ

1. प्रोफेसर श्री एस. के. बेलवालकर जी द्वारा सम्पादित काश्मीरी पाठानुसारी अभिानशाकुन्तल साहित्य अकादेमी, दिल्ली ने 1965 में प्रकाशित किया है, उसमें कौन सी शारदा पाण्डुलिपियों का विनियोग हुआ है वह नहीं बताया है। तथा उसमें एक भी पाठभेद पादटीप में नहीं दिया है। उसमें जो तथाकथित काश्मीरी पाठ प्रकाशित किया है, वह भी पूर्ण रूप से शारदा पाठ को प्रस्तुत नहीं करता है। वार्धक्य के कारण श्रद्धेय डॉ. बेलवालकर जी उसकी प्रस्तावना नहीं लिख पाये थे। अतः साहित्य अकादेमी के उस प्रकाशन को हम समीक्षित आवृत्ति के रूप में स्वीकार नहीं सकते हैं। अस्तु॥
2. महाभारत में दुष्यन्त, बंगाली में भी दुष्यन्त, मैथिली में दुष्मन्त, काश्मीरी में दुष्स्यन्त और देवनागरी में दुष्यन्त है।,
3. शकुन्तलोवाच—फलाहारो गतो राजन्पिता मे इत आश्रमात्। तं मुहूर्तं प्रतीक्षस्व, स मां तुभ्यं प्रदास्यति॥ महाभारतस्यादिपर्वान्तर्गते सम्भवपर्वणि अध्यायः-67 (5 एवं)॥
4. दुष्यन्त उवाच-सो ऽथ श्रुत्वैव तद्वाक्यं तस्या स्मरन्नपि। अब्रवीन् न स्मरामीति कस्य त्वं दुष्टतापसि॥
5. निसर्गकन्या शकुन्तला—शीर्षक वाले आलेख में श्री बेलवालकर जी ने लिखा है कि यह हस्तप्रत बि.ओ.आर.इ. में जमा करवाई गई है। (कालिदास ग्रन्थावली, सं. सीताराम चतुर्वेदी अलिगढ़ वि.सं. 2019 के परिशिष्ट में), किन्तु न्यू केटलोगस केटलोगरम, (पृ. 125) में लिखा है कि यह प्रति आज पुणें में नहीं है॥ किन्तु अभी है।

6. लेकिन हम वैसा नहीं मान सकते हैं। क्योंकि भूर्जपत्र पर लिखी शारदा पाण्डुलिपि में भी अश्लीलांशों की उपस्थिति है। हाँ, ऐसा कहने में शायद कोई आपत्ति नहीं होगी कि उपलब्ध हो रही चारों शारदा पाण्डुलिपियों में से इस भूर्जपत्र पर लिखी गई पाण्डुलिपि का पाठ अन्य तीन शारदा प्रतियों के लिए उपमूलादर्शभूत बना होगा।
7. देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में इस नाटक का लघुपाठ है, तथा काश्मीरी, मैथिली और बंगाली वाचनाओं में मिल रहा जो पाठ है वह बृहत्पाठ है।
8. उपर्युक्त बृहत्पाठ की साक्षीभूत तीनों वाचनाओं की सभी पाण्डुलिपियों में ऐसा कहने का आश्य है।
9. तीसरे अङ्क में, काश्मीरी वाचना में 35 श्लोक है, मैथिली में 40 श्लोक हैं और बंगाली में 41 श्लोक हैं।
10. Textus simplicior is earlier than the textus ornatior.
11. ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते।
    प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात् प्रतिपद्ये हि जनः॥ अभि. शाकु, 6-31॥
12. देवनागरी और दाक्षिणात्य पाठ में 'इत्युत्थाय गन्तुमिच्छति।" ऐसा पाठभेद करके रंगसूचना लिखी गई है, वह भी विसंगतियुक्त है।
13. अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ। कुमारसम्भवम् (5 एवं 85)
16. पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या, नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्॥ (4 : 11)
17. यहाँ (त्वं श्रीः) विशङ्कसे—यह उद्देश्य दल है, किन्तु तृतीय चरण में प्रतिनिर्देश के रूप में प्रार्थयिता (नरः) हैं इसको प्रक्रमभङ्ग दोष कहते हैं, जिसके कारण इसका अर्थ समझना थोड़ा विलम्बित हो जाता है।
18. सुव्यक्तं राजपुत्रि त्वं यथा कल्याणि भाषसे। भार्या मे भव सुश्रोणि, ब्रूहि किं करवाणि ते॥ गान्धर्वेण मां भीरु विवाहेनैहि सुन्दरि। विवाहानां हि रम्भोरु श्रेष्ठ उच्यते॥ महाभारतस्यादिपर्वणि सम्भवपर्वणि, (अ. 67-1, 4)
19. डॉ. दिलीप कुमार काञ्जीलाल ने इस गान्धर्वेण विवाहेन श्लोक के सन्दर्भ में उच्चतर समीक्षा के नाम पर कुछ भी निर्देश नहीं किया है। (द्रष्टव्य—A Reconstruction of the S'akuntalam, Introductory chapter-2, page-68)
20. इस तरह की आन्तरिक सम्भावना की ओर श्री बेलवालकर, श्रीपाटणकर, श्रीदिलीपकुमार काञ्जीलाल आदि का ध्यान नहीं गया है।
21. यदि धर्मपथस्त्वेष यदि चात्मा प्रभुर्मम। प्रदाने पौरवश्रेष्ठ शृणु मे समयं प्रभो॥ सत्यं मे प्रतिजानीहि यत्त्वां वक्ष्याम्यहं रहः। मम जायेत यः पुत्रः स भवेत्त्वदनन्तरः॥ युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीहि मे। यद्येतदेवं दुष्यन्त अस्तु मे संगमस्त्वया॥ सम्भवपर्वणि, अ. 67 (15-17)

(घ) शकुन्तला-प्रस्थान के साथ साथ शाकुन्तल का पाठ-प्रस्थान

भूमिका ः अभिज्ञानशकुन्तला के चतुर्थाङ्क में नायिका शकुन्तला पिता कण्व के आश्रम में से निकल कर पतिगृह की ओर प्रस्थान करती है। (अतः मैथिली और बंगाली पाठपरम्परा में इस अङ्क का नाम "शकुन्तला-प्रस्थान" रखा गया है।) यहाँ कन्या-विदाई के प्रसंग में कालिदास ने पितृवात्सल्य का हृदयस्पर्शी आलेखनकिया है। स्त्री-पुरुष के प्रेम का निरूपण करनेवाले कवियों अनेक हुए हैं। लेकिन पिता-पुत्री का प्रेमालेखन करनेवाले कालिदास अभूतपूर्व एवं अद्वितीय है। अतः शताब्दिओं से इस अङ्क की महिमा सुप्रसिद्ध है। लेकिन हम जब इस नाट्यकृति के पाठ की तुलनात्मक दृष्टि से समीक्षा करते हैं तो उसमें रंगकर्मिओं के द्वारा किये गये पाठ-परिवर्तनों का चित्र द्विविध या कुत्रचित् त्रिविध स्वरूप में हमारे सामने आता है। प्रस्तुत अङ्क के, इस तरह के पाठ-प्रस्थान को देख कर मालूम होगा है कि अद्यावधि जितने भी सहृदय पाठकों या दर्शकों ने जो भी नाट्यशास्त्रीय एवं साहित्य-शास्त्रीय मूल्याङ्कन प्रस्तुत किया होगा उसको पुनः पर्यालोचित करने की आवश्यकता है। क्योंकि प्रायः सभी सहृदयों ने अभिज्ञानशाकुन्तल के केवल देवनागरी वाचना में प्रकाशित हुए पाठ को लेकर ही अपनी लेखनी चलाई है। अतः नाटक के मूल पाठ की (या प्राचीनतम एवं अधिक श्रद्धेय पाठ की) गवेषणा के अभाव में प्रस्तुत किया गया कोई भी साहित्यिक मूल्यांकन भविष्य में अन्यथासिद्ध होनेवाला ही होता है। **अतः कृतिसमीक्षा से पहले पाठसमीक्षा ही अनिवार्य**

रूप से प्रवर्तित करनी चाहिए। एवमेव, अभिज्ञानशाकुन्तल जैसे नाटक की पाठपरम्परा जब बहुविध स्वरूप में हमारे सामने विद्यमान है तब उसमें पाठविचलन का तर्कानुसारी क्रम भी प्रथमतया विवेचनीय बनता है। (जिससे इस नाटक के अभिनयन से सम्बद्ध कुछ अनुमान निकाले जा सकते हैं। निश्चित इतिहास के अभाव में ऐसा तर्कनिष्ठ अनुमान भी महत्त्व का होता है। क्योंकि नाटक जैसी कृति में पाठ-परिवर्तन करनेवालों में सब से ज्यादा जिम्मेवार रंगकर्मी लोग ही होते हैं।) पाठालोचना का यह प्रथम कर्तव्य निभाने के बाद ही इस नाटक का समीक्षित-पाठ निर्धारित हो सकेगा, जिसको हम "अधिकृत-पाठ" कहेंगे। इतना कार्य सम्पन्न होने के पश्चात् ही साहित्यशास्त्रीय मूल्यांकन करने का मार्ग प्रशस्त हो सकता है॥ अस्तु॥

[1]

चतुर्थाङ्क के आरम्भ में प्रवेशक[1] (या विष्कम्भक) आता है, जिसमें दुर्वासा महर्षि ने अन्यमनस्का शकुन्तला को शाप दिया है। काश्मीर की शारदालिपि में लिखी हुई पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रहे पाठ में शापमोचन की याचना करने के लिए अनसूया जाती है, और इस शाप को शकुन्तला से छिपा कर रखने का प्रस्ताव प्रियंवदा करती है। किन्तु इस तरह की आनुक्रमिकता वाले काश्मीरी-पाठ का जब मैथिली एवं बंगाली पाठपरम्पराओं में संक्रमण होता है तब पहली बात का अनुसरण यथावत् दिखता है। किन्तु शाप-वृत्तान्त को संगोपित रखने का प्रस्ताव प्रियंवदा नहीं करती है, अनसूया करती है—ऐसा व्युत्क्रम हो जाता है। तदनन्तर, देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में शाप-मोचन की याचना के लिए अनसूया स्वयं नहीं जाती है, किन्तु वही प्रियंवदा को जाने के लिए कहती है। ऐसा परिवर्तन होने पर मूल पाठ्यांश में तरह तरह की विसंगतियाँ प्रविष्ट होती है। इन विसंगतियों की ओर शायद किसी का ध्यान ही नहीं गया है। किन्तु यदि इस पर विचार किया जायेगा तो, वक्ष्यमाण विसंगतिओं के अभाव वाला पाठ जिसमें सुरक्षित रहा है वह काश्मीरी वाचना का पाठ अधिक श्रद्धेय है ऐसा निर्विवाद प्रतीत होने लगेगा।

(काश्मीरी पाठ में) प्रियंवदा ने पुष्पभाजन को देख कर कहा कि बलिकर्म के लिए पर्याप्त पुष्पों का चयन हो गया है। तब अनसूया कहती है कि शकुन्तला को भी सौभाग्य देवता की अर्चना करनी है, तो कुछ ज्यादा पुष्पों की आवश्यकता रहेगी। प्रियंवदा कहती है कि बात ठीक है। अब दोनों उसी काम में लग जाते हैं। वहाँ नेपथ्य से उक्ति आती है : "अयम् अहं भोः.... ।" अनसूया को ऐसा लगता है कि अतिथि पधारें हैं। प्रियंवदा बोलती है—*सखि, नन्वुटजसंनिहिता शकुन्तला। आम्, अद्य पुनर्हृदयेनासंनिहिता।* जिसको सुन कर अनसूया पुष्पचयन कर्म से तुरंत विरत हो जाती है और कहती है कि तेन हि भवतु, एतावन्ति कुसुमानि। अनसूया लौट जाती है। लेकिन किसी अज्ञात रंगकर्मिओं ने मैथिली पाठपरम्परा में, उपर्युक्त प्रियंवदा के दो वाक्यों को तोड़ कर, दूसरे वाक्य को अनसूया के मुँह में रख दिया है। प्रियंवदा ही अब कहती है कि इतने पुष्पों से हमारा प्रयोजन सिद्ध हो जायेगा। और दोनों वापस चल पड़ते हैं। किन्तु दुर्वासा ने जब अविलम्ब शाप दे ही दिया[2], तब उससे शाप-मोचन की प्रार्थना करने के लिए अनसूया को जाने का प्रियंवदा कहती है। और वह स्वयं अतिथि के अर्घ्योदक की व्यवस्था के लिए उद्यत होती है॥ शाप-वृत्तान्त का यह पूर्वार्ध बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में, (अर्थात् काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली में) एक समान है। (इसके बाद, नेपथ्य से दुर्वासा का शाप वचन सुनाई पड़ता है।) मैथिली पाठ में इस शाप-वृत्तान्त के उत्तरार्ध में, रंगकर्मिओं ने एक छोटा सा वाक्य नया जोड़ दिया है। जैसे कि, प्रियंवदा बताती है कि दुष्मन्त[3] ने जाते समय शकुन्तला को अपना नाम लिखी हुई एक अङ्गुठी स्मरणीय चीज के रूप में दे रखी है, वह अभिज्ञानाभरण बन जायेगी। अतः शाप को निवृत्त करने का उपाय सखी शकुन्तला को स्वाधीन ही है, अतः चिन्ता का कोई कारण नहीं है। अब दोनों सहेलियों को वापस लौट कर शकुन्तला के पास ही जाना था। लेकिन मैथिली रंगकर्मिओं को यहाँ पुष्पोद्यान से आश्रम के उटज तक जाने के लिए मार्ग संक्रमण दिखाना था। अतः उन लोगों ने रंग पर परिक्रमण के दौरान अनसूया के मुख में एक नया वाक्य जोड़ दिया

है : *एहि देवदाकज्जं दाव णिव्वुत्तम्ह। (एहि देवकार्यं तावत् निर्वर्तयावहे।) इति परिक्रामतः॥* (चलों हम दोनों देवकार्य को निपटावें।) ऐसा बोलती हुई वे दोनों रंग पर गोलाकार में घुमती है।) यह नवीन वाक्य शारदा पाण्डुलिपियों में नहीं था[4], लेकिन मैथिली पाठपरम्परा में इसका प्रक्षेप हुआ, जिसके कारण उत्तरवर्ती वाक्यों में वक्तृ-क्रम उलटा-पूलटा हो गया। अतः दुर्वासा का शाप वृत्तान्त शकुन्तला से छिपा कर रखना है ऐसा प्रस्ताव, जो मूल में प्रियंवदा का था, वह अब अनसूया के मुख में आ जाता है॥यह मैथिलीवाचना का पाठ जब कालक्रम से बंगाल की पाठपरम्परा में जाता है तब पूर्वोक्त नवीन वाक्य का प्रक्षेप बंगाली पाठ में भी यथावत् संक्रान्त हुआ मिलता है।

अब विचारणीय है कि मैथिली वाचना में मिल रहा उपर्युक्त वाक्य “प्रक्षिप्त” है ऐसा मानने का आधार क्या है? तो उसके एकाधिक समाधान है : (1) दुर्वासा का शाप मिलने की दुर्घटना आकारित हो जाने के बाद उसी के प्रभाव से बाहर निकलकर, क्या अनुसूया देवता-कार्य के निर्वर्तन की याद करने की मानसिकता में रहे सकती है? यह सम्भव ही नहीं है। अतः काश्मीरी वाचना के पाठ में जैसे प्रियंवदा कहती है कि हमारी सखी को राजा ने अङ्गुठी दे रखी है, उससे वह स्वाधीनोपाय है। तब दोनों सहेलियाँ रंगमंच पर परिक्रमण करके सीधी उसी कुटिर पर ही जाए (जहाँ शकुन्तला अपने प्रिय के विचारों में खोई खोई बैठी है) वही उचित है। (2) यह वाक्य प्रक्षिप्त होने का दूसरा प्रमाण यह भी है कि शुरू में बताया गया है कि शकुन्तला को (स्वयं) सौभाग्यदेवता की अर्चना भी करनी है, इस लिए कुछ ज्यादा पुष्पों का चयन किया जाये। इस पूर्वोक्त सन्दर्भ के विरुद्ध जब बोला जाता है कि—*एहि, देवकार्यं तावद् अस्याः (शकुन्तलायाः) निर्वर्तयावः।* तब वह असंगत सिद्ध होता है। क्योंकि शकुन्तला के बदले में सहेलियाँ ही उसके लिए देवकार्य सम्पन्न करने के लिए उद्यत हो जाए वह ठीक नहीं है। और (3) तीसरा बिन्दु यह है कि दोनों सखियों ने आरम्भ में बलिकर्म तथा सौभाग्यदेवता का ही निर्देश किया है। इन दोनों को छोड़ कर शब्दभेद से देवताकार्य का उल्लेख

कहाँ से आया? अर्थात् पूर्वापर सन्दर्भ में, देवताकार्य का नवीन उल्लेख प्रक्षिप्त मानने का आधार बनता है। (4) चौथा बिन्दु यह भी ध्यातव्य है कि वे दोनों देवता के पास न जा कर पहुँचती तो वहीं है कि जहाँ शकुन्तला अन्यमनस्क होके बैठी है! अतः, मैथिली वाचना में, रंगमंच पर दोनों सहेलियों के परिक्रमण को दिखलाते हुए जो एक अधिक वाक्य मिलता है, वह किसी अज्ञात रंगकर्मी का प्रक्षिप्त किया हुआ वाक्य ही है। कालान्तर में, प्रतिलिपिकरण के दौरान यह रंगसूचना का अनुसरण किया गया होगा, जिसके कारण बंगाली वाचना में, (और तदनन्तर देवनागरी इत्यादि में भी) प्रियंवदा की उक्ति अनुसूया की उक्ति बन जाती है॥

इस चर्चा से सारभूत बात यह निकलती है कि (1) शाप-मोचन माँगने के लिये अनसूया का जाना—वही पूर्वापर सन्दर्भ में सुसंगत सिद्ध होता है। तथा (2) शाप की बात छुपा कर रखने का प्रस्ताव अनसूया का नहीं हो सकता, वह प्रियंवदा का ही होगा। इन दोनों बातों का संरक्षण काश्मीरी पाठ में मिलता है। मैथिली एवं बंगाली पाठ में पहेली बात सुरक्षित रही है, लेकिन दूसरी अशुद्धि का प्रवर्तन मैथिली परम्परा में हुए रंगसूचना के प्रक्षेप के कारण हुआ है। जिसका अनुगमन बंगाली पाठ में भी किया गया। परिणामतः तीसरे स्तर पर देवनागरी और दाक्षिणात्य पाठों में दोनों तरह की अशुद्धियाँ संक्रान्त होकर सर्वत्र प्रसारित हो गई है।

अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रचलित पाठ में जहाँ जहाँ पर पूर्वापर सन्दर्भ में विसंगतियाँ दिखाई देती हैं उसका समाधान ढूँढ़ने के लिए, सब से पहले पाठालोचना करनी अनिवार्य है। जिससे प्राचीन से प्राचीनतर, एवं प्राचीनतर से प्राचीनतम पाठ की उपस्थापना की जायेगी, और अन्ततो गत्वा विसङ्गतियों से मुक्त हो एवं अधिक श्रद्धेय हो ऐसा पाठ हम निर्धारित कर पायेंगे।

[2]

चतुर्थाङ्क में श्लोक-संख्या 21 से 26 तक की मिलती है। जैसे कि, मैथिली वाचना में 26 श्लोक है, तो बंगाली वाचना में 24 श्लोक है। किन्तु राघवभट्ट

की देवनागरी वाचना में केवल 21 श्लोक प्राप्त होते हैं। इस तरह की कम-ज्यादा श्लोक संख्या ही हमें विचार करने के लिए प्रेरित/बाध्य करती है कि किस वाचना में मौलिक पाठ सुरक्षित रहा होगा, या किस में प्रक्षेप हुआ होगा, अथवा किस वाचना के पाठ में संक्षेप हुआ होगा? बंगाली वाचना के पाठ में, प्रभात वेला का आकलन करने के लिए शिष्य पर्णकुटिर से बाहर निकल कर जिन चार श्लोकों का गान करता है, वे निम्नोक्त हैं–

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनाम्,
आविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्यां,
लोको नियम्यत इवैष दशान्तरेषु[5]॥ 4-2॥

अपि च–

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनेन
दुःखानि नूनमतिमात्रदुरुद्वहानि[6]॥ 4-3॥

अपि च –

कर्कन्धूनामुपरि तुहिनं रञ्जयत्यग्रसन्ध्या
दार्भं मुञ्चत्युटजपटलं वीतनिद्रो मयूरः।
वेदिप्रान्तात् खुरविलिखिताद् उत्थितश्चैष सद्यः,
पश्चादुच्चैर्भवति हरिणः स्वाङ्गम् आयच्छमानः[7]॥ 4-4॥

अपि च–

पादन्यासं क्षितिधरगुरोर्मूर्ध्नि कृत्वा सुमेरोः
क्रान्तं येन क्षयिततमसा मध्यमं धाम विष्णोः।
सोऽयं चन्द्रः पतति गगनादल्पशेषैर्मयूखैर्,
अत्यारूढिर्भवति महताम् अप्यपभ्रंशनिष्ठा[8]॥ 4-5॥

बृहत्पाठ परम्परा की तीनों (काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली) वाचनाओं में, पूर्वनिर्दिष्ट चारों श्लोकों एक साथ में प्रस्तुत हुए हैं, लेकिन उनकी मौलिकता चिन्त्य है। क्योंकि नाटक जैसी समय की पाबन्दी को स्वीकारने

वाली कला में इतना लम्बा वर्णन असह्य होता है। एवमेव, यहाँ तो सुप्तोत्थित शिष्य प्रभातकाल का आकलन करता हुआ इन श्लोकों का गान करता है। इस सन्दर्भ को देखते हुए यहाँ चार चार श्लोकों का होना सम्भवित नहीं लगता है। अतः ये श्लोक पाठालोचना का विषय बनते हैं।

काश्मीरी वाचना और तदनुगामिनी मैथिली वाचना में इन चार श्लोकों का उपस्थिति क्रम पहले ध्यानार्ह है। "कर्कन्धूनाम्" और "पादन्यासं" के बाद, तीसरे एवं चौथे क्रम पर "याति" एवं "अन्तर्हिते" श्लोकों को रखे गये हैं। किन्तु इससे विपरीत बंगाली वाचना में "याति" एवं "अन्तर्हिते" श्लोकों को प्राथम्य दिया है, और "कर्कन्धूनाम्" और "पादन्यासं" श्लोकों का तीसरा एवं चौथा क्रम निर्धारित किया गया है। दूसरी ओर, लघुपाठवाली देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में उपर्युक्त चार श्लोकों में से केवल दो ही (''याति" एवं "अन्तर्हिते'') श्लोकों को मान्य किये गये हैं। अतः यहाँ विचारणीय दो बिन्दुयें हैं : 1. चार श्लोकों की आनुक्रमिकता कैसी होनी चाहिए? 2. इन श्लोकों में से किसकी मौलिकता संदिग्ध है? अर्थात् कौन से श्लोक प्रक्षिप्त होने की सम्भावना दिखती है?

इस सन्दर्भ में, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में जिन दो श्लोकों को ही स्थान मिला है, तथा बंगाली वाचना के पाठ में जिन दो श्लोकों को प्रथम एवं द्वितीय स्थान दिया गया है, वही परीक्षणीय है : इन (''याति" एवं "अन्तर्हिते'') दो श्लोकों में शकुन्तला के भावि दुर्दैव का सूचन रखा गया है। किन्तु किसी भी नाट्यकृति में विचारों की पुनरुक्ति करने से समय की हानि होती है, जो नाट्यमंचन में असह्य मानी गई है। दूसरा, इन श्लोकों को "अपि च" निपात से बांधे गये हैं। किन्तु "अपि च" के विनियोग के लिए जो समुच्चयार्थकत्व होना चाहिए, वह स्वारस्य यहाँ घटित नहीं होता है। क्योंकि इन दोनों के द्वारा दो अलग विचारों की प्रस्तुति नहीं होती है। तीसरा, इन श्लोकों में जो वसन्ततिलका छन्द का विनियोग हुआ है, वह विरह, करुणता, दुःखादि भावों की अभिव्यक्ति करने के लिए सुसंगत नहीं है। इन दो श्लोकों में तो शकुन्तला के भावि दुःख का सूचन किया जा रहा है। अतः यहाँ वसन्ततिलका जैसे छन्दः

को देख कर भी यह सूचित होता है कि यह दोनों श्लोक कालिदास-प्रणीत नहीं हो सकते हैं।

इसी तरह से, भूतकाल में आचार्य शरदरञ्जन राय (राय, 1908) ने भी इन दोनों को प्रक्षिप्त मानना चाहिए ऐसी बात कही थी। उनका कहना था कि पूर्वार्ध में जो वर्णन है वह प्राभातिक समय का आकलन करने के लिए उपयुक्त नहीं है। यदि सूर्य आविष्कृत हो ही गया है तो फिर "होमवेला हो गई है, चलो गुरु को उसका निवेदन किया जाये" ऐसा कहना सुसंगत नहीं है। यदि इस श्लोक में "आविष्कृतारुण" ऐसे सामासिक शब्द को पाठान्तर के रूप में लिया जाए तो व्यसनोदय के यौगपद्य का कथन दूषित होता है। तथा इस श्लोक में प्रक्रमभङ्ग दोष भी हो रहा है, इस लिए इन दोनों श्लोकों का मौलिक होना सम्भव नहीं है।

दूसरे पक्ष में, याने काश्मीरी वाचनानुसारी पाठ में जिन दो (कर्कन्धूनाम् एवं पादन्यासं) श्लोकों को प्राथम्य दिया गया है, वे प्रभातकाल का आकलन करने के लिए सर्वथा उपयुक्त है। उसकी मौलिकता के लिए कोई सन्देह नहीं होता है। इन दोनों श्लोकों में मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग हुआ है, जो शकुन्तला के भावि दुःखमय दिवसों को इङ्गित करने के लिए सुसंगत है। दूसरा, इन दोनों श्लोकों को भी "अपि च" निपात से बांधे गये है, तथापि इन दोनों श्लोकों की निरूप्यमाण विषय वस्तु में पुनरुक्ति नहीं है। क्योंकि कर्कन्धूनाम् वाले श्लोक की प्रासंगिकता जाँची जाए तो (= प्रभात के समय का आकलन करना) स्वयं स्पष्ट है, तथा पादन्यासं क्षितिधरगुरोः वाले दूसरे श्लोक से प्राकरणिक अर्थ (= शकुन्तला की भावि अवदशा) का सूचन हो रहा है। तथा, उसके साथ अनसूया की उक्ति का अनुसन्धान भी हो जाता है। परिणामतः यहाँ इन दोनों श्लोकों के बीच में जो "अपि च" का विनियोग हुआ है, वह भी समुच्चयार्थक के रूप में सुसंगत लगता है। कण्वाश्रम के शिष्य ने पहले श्लोक में, यज्ञवेदी के प्राङ्गण में अपने सम्मुख जो चहलपहल हो रही है उसका चित्र खिंचा है। दूसरे श्लोक में शिष्य ने ऊर्ध्व दृष्टि करके देखा तो चन्द्रमा का पतन हो रहा है, उसका वर्णन किया है। कालिदास किसी भी दृश्य की द्विपार्श्वी

रमणीयता को वर्णित करने के लिये "अपि च" का प्रयोग करते हैं, उस दृष्टि से इस निपात के प्रयोग का चारितार्थ्य इन दो श्लोकों में ही सिद्ध होता है। इस दृष्टि से इन (कर्कन्धूनाम् एवं पादन्यासं) दोनों श्लोकों की ही मौलिकता सिद्ध होती है। सारांशतः पूर्वोक्त चार श्लोकों में से (देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना में जिन दोनों को मान्यता मिली है वे) दो श्लोक प्रक्षिप्त होने के प्रमाण मिल रहे है और अन्य दो श्लोकों (जिनको काश्मीरी वाचना में प्राथम्य दिया गया है, उन) का मौलिक होना प्रतीत होता है।

बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में इन चारों श्लोकों का होना सब से पहले इस बात का द्योतक बनता है कि ये चारों श्लोक सुदूर अतीत काल से चले आ रहे होंगे, जो काश्मीरी पाठ में एक प्राचीनतम विरासत के रूप में संक्रान्त हुए है। लेकिन जिन दो श्लोकों की मौलिकता संदिग्ध बनी है, वे दोनों को तो तीसरे और चौथे क्रम पर स्थापित किये गये थे। काश्मीरी पाठ में मिल रहा श्लोकानुक्रम जब मैथिली पाठ में सुरक्षित दिखता है तो उस परम्परा का वंशज वाचना के रूप में द्वितीय स्थान निर्धारित किया जा सकता है। लेकिन बंगाली वाचना में उन श्लोकों का क्रम उलटा-पूलटा हो गया है, उससे यह सूचित होता है कि यह वाचना तीसरे क्रम पर आकारित हुई होगी।

अभी दो बिन्दुयें स्पष्ट करना जरूरी है। काश्मीरी और मैथिली पाठपरम्परा में संक्रान्त हुए इन चारों श्लोकों का क्रम (बंगाली पाठ में) बदल देने का प्रेरक परिबल कहाँ होगा? तथा इन चारों श्लोकों में से जो अमौलिक सिद्ध होते हैं वही दोनों श्लोकों को देवनागरी एवं दाक्षिणात्य में क्यूँ स्थान मिला होगा। इसका समाधान प्राप्त करने के लिए हमें शङ्कर जैसे टीकाकार के शब्दों को देखना पड़ेगा :- शङ्कर ने याति वाले श्लोक का ध्वन्यर्थ निकालते हुए लिखा है कि *"एतावता पतितः सौभाग्यगर्वितायाः शकुन्तलाया अग्रे दुःखं भविष्यति इति सूचितम्"। तथा अन्तर्हिते श्लोक का व्यंग्यार्थ बताते हुए उन्हों ने लिखा कि "अन्यापदेशेन शकुन्तला झटिति दुष्मन्तचित्ताहरणरूपेणात्यारोहेण विरहाम्बुधौ पतिष्यतीति सूचितम्।"*[9] इस

टीका ने प्रक्षिप्त श्लोकों में रही चमत्कृति उद्घाटित करके दिखाई है, किन्तु उसमें पुनरुक्ति हो रही है एवं उसमें प्रासंगिक सन्दर्भ (प्रभातकाल का बोध) छुट गया है—यह बात शङ्कर ने नहीं पहेचानी। परिणामतः, शङ्कर ने जिसका ध्वन्यर्थ दिखाया था इन दोनों (प्रक्षिप्त श्लोकों) को बंगाली वाचना में प्राथम्य मिल गया। अर्थात् शाकुन्तल की पाठपरम्परा में दो मौलिक श्लोकों के साथ दो नये श्लोकों का प्रक्षेप बहुत पुरातन काल से चला आ रहा है, किन्तु बंगाली वाचना में प्रथम बार इन चारों का क्रम उलटा-पूलटा किया गया है। जिसमें याति एवं अन्तर्हित को पहला-दूसरा स्थान मिला और कर्कन्धूनाम् एवं पादन्यासं को तीसरा-चौथा स्थान दिया गया। (यहाँ मैथिली पाठ से विपरीत क्रम जो बंगाली पाठ में दृश्यमान हो रहा है उससे भी पाठविचलन का पौर्वापर्य निर्धारित हो रहा है।) तदनन्तर, अल्प समय में इस नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करने के लिए जब मूल पाठ में कटौती करके इस नाटक का संक्षेपीकरण का कार्य हाथ पर लिया गया होगा तब, (बंगाली वाचना में) तीसरे एवं चौथे क्रम पर जो श्लोक थे उसको देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में से हटाया गया होगा।

इस तरह से, प्रातःकाल का वर्णन करने के बहाने चतुर्थाङ्क के प्रारम्भ में "अपि च" निपातों से जुड़ी चार श्लोकों वाली जो शृंखला मिल रही है उसका तुलनात्मक दृष्टि से अभ्यास करने से शाकुन्तल की पाठपरम्परा में जो विचलन हुआ है उसका पौर्वापर्य निर्धारित किया जा सकता है। यह एक स्थान ऐसा पहली बार ध्यान में आ रहा है कि जिसके सहारे हम शाकुन्तल के मौलिक पाठ के विचलन-क्रम को निर्धारित कर सकते हैं। (द्रष्टव्य : धीमहि, एर्णाकुलम्, 2012, पृ. 76-89)

[3]

शकुन्तला की विदाई के प्रसंग में कण्व मुनि ने सद्यो हुताग्नि की प्रदक्षिणा करने की सूचना दी है। यहाँ कालिदास ने यज्ञवेदी के अग्नि को प्रार्थना करने के लिए कण्व मुनि के मुख में निम्नोक्त श्लोक रखा है :

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्या-
स्समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्
वैतानास्त्वां वह्नयः पालयन्तु॥ 4-10॥

यहाँ, काश्मीरी पाठपरम्परा का अनुसरण करते हुए मैथिली एवं बंगाली वाचना के पाठ में इस श्लोक का अवतार कोई विशेष रंगसूचना के साथ नहीं किया गया है। किन्तु देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचना के पाठ में "ऋक्छन्दसाऽऽशास्ते" ऐसी रंगसूचना रखी गई है। यहाँ उक्त रंगसूचना से हमारा ध्यान आकृष्ट किया जाता है कि कालिदास ने ऋग्वेद में प्रयुक्त हुए छन्दः का अनुकरण करते हुए श्लोक लिखा है। तथा प्रोफेसर श्री एस. के. बेलवालकर जी जैसे परम श्रद्धेय विद्वान् ने अभिज्ञानशाकुन्तल के अपने संस्करण में इस श्लोक के प्रत्येक पद में अनुदात्त एवं स्वरित स्वरों के चिह्न भी दिये हैं।[10] अतः यह जानने की तीव्र जिज्ञासा होती है कि ऐसे स्वर-चिह्न जिसमें दिये हो ऐसी कौन सी पाण्डुलिपि डॉ. बेलवालकर जी के सामने थी? आज उपलब्ध हो रही पाँच शारदालिपि में उपनिबद्ध पाण्डुलिपियों में से एक में भी ऐसे स्वर-चिह्न तो मिलते ही नहीं है। इसी तरह से अन्यान्य लिपियों में लिखी किसी भी पाण्डुलिपि में भी ऐसे स्वर-चिह्न नहीं है। अतः डॉ. बेलवालकर जी ने इस श्लोक के पदों में जो स्वर चिह्न दिये हैं उसका मूल स्रोत गवेषणीय है। (आधुनिक पाठसम्पादकों के हाथ से भी शाकुन्तल का पाठ-प्रस्थान हुआ है उसका यह भी एक उदाहरण है।)

काश्मीरी पाठानुसारी इस श्लोक के शब्दों में मैथिली वाचना के पाठशोधकों ने परिवर्तन कर दिये है। जैसे कि, अमीं वेदीं परितः क्षिप्तधूमाः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः। (श्लोक के उत्तरार्ध में कोई परिवर्तन नहीं किया है।) बंगाली वाचना के पाठ में काश्मीरी वाचना के पाठ का सर्वथा अनुसरण किया गया है। तथा देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में बहुशः तो काश्मीरी पाठ का ही अनुगमन हुआ है, किन्तु अन्तिम क्रियापद में "पालयन्तु" के स्थान में "पावयन्तु" ऐसा पाठभेद किया गया है।

(आश्चर्यजनक रूप से साहित्य अकादेमी, दिल्ली के काश्मीरी पाठानुसारि संस्करण में, जिसका सम्पादन डॉ. एस. के. बेलवालकर जी ने किया है, उसमें भी "पावयन्तु" ऐसा पाठ स्वीकारा गया है, जो मूलतः देवनागरी का पाठ है! एवमेव, ऋक्छन्दसाशास्ते। ऐसी रंगसूचना भी उन्होंने देवनागरी-पाठ से लेकर यहाँ रखी है!)

[4]

कण्व मुनि ने शकुन्तला को बिदाई देते समय, "पातुं न प्रथमं" इत्यादि शब्दों से, तपोवन के तरुओं से कहा है कि आपको जल-सिञ्चन किये बिना जो जल नहीं पीती थी, स्वयं प्रियमण्डना होते हुए भी जो आपकी डालियों से एक पल्लव भी नहीं तोड़ती थी इत्यादि, ऐसी शकुन्तला आज पतिगृह जा रही है तो तुम सब उसको जाने की अनुज्ञा दो। यहाँ पर, काश्मीरी पाठ में तुरन्त नेपथ्य से उक्ति आती सुनाई पड़ती है कि रम्यान्तरः कमलकीर्णजलैस्सरोभिश्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः। इत्यादि (4-12) ॥ इस श्लोक के नीचे "सर्वे सविस्मयम् आकर्णयन्ति" ऐसी रंगसूचना है। तत्पश्चात् शाङ्र्गरव की उक्ति के रूप में निम्नोक्त श्लोक हैः-

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।
परभृतविरुतं प्रियं यदा प्रतिवचनीकृतम् एभिरात्मनः॥ (4-13)

यहाँ कहीं पर भी "कोकिलरवं सूचयित्वा" ऐसी रंगसूचना नहीं दी गई है। दूसरा ध्यानास्पद बिन्दु यह है कि यहाँ कण्व की उक्ति और शाङ्र्गरव की उक्ति के बीच में, नेपथ्योक्ति रूप "रम्यान्तरः कमलकीर्णजलैः" वाला श्लोक रखा गया है। इस तरह का श्लोकानुक्रम अन्यत्र कहीं पर भी नहीं है। कालानुक्रम से जो पाठ-विचलन शुरू होता है उसमें मैथिली पाठ में कण्व के "पातुं न प्रथमं" श्लोक के बाद "कोकिलरवं सूचयित्वा" ऐसी रंगसूचना प्रथम बार प्रस्तुत होती है। और इसी के अनुसन्धान में, "अनुमतगमना" शब्द में पाठभेद करके, "अनुमितगमना" ऐसा शब्द रखा है। तदनन्तर, मैथिली परम्परावालों ने यहाँ जो तीसरा परिवर्तन किया है वह श्लोकानुक्रम में किया है। जिससे कण्व की उक्ति के पीछे कोकिलरव

होने की रंगसूचना आती है और उसीके अनुसन्धान में शाङ्र्गरव का श्लोक दिया गया है। तीसरे क्रम पर, नेपथ्योक्ति रूप में "रम्यान्तरः कमल-कीर्णजलै" वाला श्लोक रखा गया है। (मैथिली वाचना में किये गये उपर्युक्त तीन तरह के पाठपरिवर्तनों में से दो परिवर्तनों का अनुसरण बंगाल की पाठपरम्परा ने किया है।) लेकिन यहाँ काश्मीरी पाठ का औचित्य विचारणीय है। कण्व मुनि ने जो श्लोक बोला था, वह तो तपोवन के तरुओं को उद्देश्य करके बोला था। अतः तपोवन के तरुओं के द्वारा नेपथ्योक्ति के रूप में पहले प्रत्युत्तर दिया जाना अपेक्षित है। (और शाङ्र्गरव के श्लोक की प्रथम पङ्क्ति में भी वही बात स्पष्ट रूप से कही गई है।) इस दृष्टि से सोचेंगे तो काश्मीरी परम्परा का श्लोकानुक्रम ही समुचित है ऐसा प्रतीत होगा। हाँ, इतना जरूर समझ लेना पड़ेगा कि नेपथ्योक्ति के बाद, मंचन के दौरान नेपथ्य से ही नटमण्डली के सदस्यों के द्वारा कोकिलरव प्रसारित करना होगा। यह सूचना प्रकट रूप से काश्मीरी पाठ में नहीं है, फिर भी मूल में तो वह कवि कालिदास को अभीष्ट है ही। क्योंकि शाङ्र्गरव के द्वारा जो श्लोक (तीसरे क्रम में) उच्चरित होता है, उसमें "परभृतविरुतं" शब्द का विनियोग किया गया है।

पाठपरिवर्तन का तीसरा आयाम देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में दृष्टिगोचर होता है। जैसे कि, काश्यप (कण्व) तपोवन के तरुओं को सम्बोधित करते हुए "पातुं न प्रथमं व्यवस्यति" श्लोक बोलते हैं, तत्पश्चात् "कोकिलरवं सूचयित्वा'' वाली रंगसूचना रखी गई है। और उसके नीचे, शाङ्र्गरव के द्वारा बोले जानेवाले (अनुमत-गमना वाले) श्लोक को कण्व की उक्ति के रूप में दिया है। और तीसरे क्रम में आकाशोक्ति के रूप में "रम्यान्तरः कमलकीर्णजलै" वाला श्लोक (जो काश्मीरी वाचना में नेपथ्योक्ति के रूप में दिया है,) वह रखा गया है।

[5]

प्रथमांक में आश्रमवृक्षों को जलसिञ्चन करने का दृश्य है। उस प्रसंग के काश्मीरी पाठ में (श्लोक 1-17 और 18 के बीच में) माधवीलता से

सम्बद्ध छह उक्तिओं का एक संवाद है, जो कालान्तर में मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठ में बहुत विस्तृत (ग्यारह उक्तिओं का) किया गया है। किन्तु उस वर्णन में इतनी पुनरुक्ति एवं आन्तर विरोध है कि जिसके आधार पर वह प्रक्षिप्त होने की आशङ्का है। जैसे कि,आश्रम के प्राङ्गण में नवमालिका एवं सहकार का निर्देश तो मौलिक होने में कोई सन्देहजनक बिन्दु मिलता नहीं है, बल्कि उसका विनियोग तो भविष्य में शकुन्तला स्वयंवर वधू बननेवाली है ऐसा सूचन देने के लिए ही है ऐसा साफ प्रतीत होता है। किन्तु कण्व के आश्रम में माधवीलता का होना वह हमारे लिए तो शङ्कास्पद बिन्दु है।[11] काश्मीरी पाठ में माधवीलता से सम्बद्ध छोटा सा सन्दर्भ प्रथम अङ्क में है उसीका स्मरण रखते हुए, किसी अज्ञात पाठशोधक ने चतुर्थाङ्क के बिदाई प्रसंग में भी माधवीलता को विशेष स्थान दिया है। लेकिन इस स्थान का भी मौलिक होना सन्देहास्पद ही है। क्योंकि (1) शकुन्तला पिता कण्व के हाथों से जिसका संवर्धन हुआ है उस माधवीलता को गले से लगा के बिदाई ले, और उसने खूद ने जिस नवमालिका का वनतोषिणी (वनज्योत्स्ना) ऐसा विशेष नाम दिया था उसको जाते समय याद भी न करे यह आश्चर्यजनक भी है, आघातजनक भी है। (2) शकुन्तला माधवीलता को गले से लगा लेती है, उसके बाद पिता कण्व ही कहते हैं कि “वत्से, इयमिदानीं चिन्तनीया मे”, फिर भी शकुन्तला दोनों सखियों से मिल कर कहती है कि “एषा द्वयोरपि हस्ते निक्षेपः” तो प्रश्न होता है कि क्या शकुन्तला को पिता के वचनों में भरोसा नहीं था, इसलिए इस माधवीलता की रक्षा करने का वो सहेलियों से कहती है?’ तथा (3) कण्व के द्वारा जो श्लोक उच्चरित है, “संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे भर्तारमात्मसदृशं स्वगुणैर्गता त्वम्। अस्यास्तु सम्प्रति वरं त्वयि वीतचिन्तः कान्तं समीपसहकारमहं करिष्ये॥ (4-17)” वह पूर्वापर सन्दर्भ में देखा जाए तो बीलकुल असंगत है। जैसे कि सहकार वृक्ष के साथ नवमालिका का स्वयंवरवधू के समान व्यतिकर तो हो चूका है ऐसा प्रथमांक में कहा गया है, तो फिर कण्व उस माधवीलता का विवाह सहकारवृक्ष के साथ कैसे करवायेंगे?! (4) एवमेव, जो भाव

इस अङ्क के अन्तिम श्लोक में "अर्थो हि कन्या परकीय" शब्दों से व्यक्त किया गया है, उसी भाव का कथन शकुन्तला जब अभी आश्रम में ही खड़ी है तब "त्वयि वीतचिन्तः" शब्दों से करना अनुचित सा लगता है। (5) पूर्वापर सन्दर्भ में इस माधवीलता के प्रसंग की परीक्षा करणीय है। जिसमें प्रियंवदा ने कहा है कि तेरे विरह में केवल तेरी सहेलियाँ ही दुःखी नहीं है, पूरे तपोवन की अवस्था बदल गई है। जैसे कि, "मृगी ने दर्भ घास के कवलों को उद्गीर्ण कर दिया है, मयूरी ने अपने नर्तन बन्ध कर दिया है, और लताओं ने अपने पाण्डुपत्रों को अपसृत करके मानों अपने अङ्गों में कम्पन किया है।" अब विचारणीय एक बात है : तपोवन की इतनी हृदयस्पर्शी वियोगावस्था को सुन कर, देख कर भी क्या शकुन्तला तुरन्त ही माधवीलता को आलिङ्गन देने के लिए मुड़ जाए वह उचित है? (और उसकी विशेष प्रीति पात्र नवमालिका नामक लता को याद ही न करें?) क्या यह सुसंगत है? इन पाँच कारणों से बिदाई प्रसंग में माधवीलता से सम्बद्ध पूरा संवाद प्रक्षिप्त किया गया (या इसके आगे पीछे आये हुए कुछ अज्ञात अंशो की कटौती होने के कारण विकृत किया गया) प्रतीत हो रहा है।

काश्मीरी वाचना के उपर्युक्त पाठ्यांश के लिए जो कहा गया है वह मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के लिए भी लागु होता है। केवल देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के सन्दर्भ में इस पाठ्यांश की आलोचना करने की रहती है। इन दोनों वाचनाओं के प्रथमांक में ही माधवीलता का निर्देश नहीं होने से प्रकृत (चतुर्थाङ्क के) पाठ्यांश में भी माधवीलता नहीं है। किन्तु उसके बदले में, जो नवमालिका शकुन्तला को विशेष प्रिय थी, उसे गले से लगा कर वह आश्रम से बिदाई लेती है। यहाँ पर कण्व मुनि के मुख में जो श्लोक है उसके शब्दों में परिवर्तन करके नवमालिका से सम्बद्ध बनाया गया है। जैसे कि,

> संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम्।
> चूतेन संश्रितवती नवमालिकेयम् अस्यामहं त्वयि च सम्प्रति वीतचिन्तः॥ (4-12)

इस तरह के परिवर्तित किये गये, (अर्थात् नवमालिका से सम्बद्ध) शब्दों के कारण उपरि भाग में निर्दिष्ट प्रथम एवं तृतीय दोष नहीं आते हैं। एवञ्च, इस पाठ में पिता काश्यप ने नवमालिका का वे स्वयं ध्यान रखेंगे ऐसा कुछ कहा नहीं है। जिससे उपरि भाग में निर्दिष्ट द्वितीय दोष नहीं आता है। किन्तु पूर्वनिर्दिष्ट चतुर्थ एवं पञ्चम दोष तो यथावत् बने रहते हैं। अतः यह पूरा पाठ्यांश अभी भी संशोधनार्ह ही रहता है।

[6]

शकुन्तला की बिदाई के समय कण्व मुनि क्षीरवृक्ष की छाया में बैठ कर सोच रहे है कि जामाता दुष्यन्त को कौन सा समुचित सन्देश भेजा जाये? तब तीनों सहेलियों के बीच बातचीत शुरू होती है। अनसूया कहती है कि शकुन्तला, तेरे विरह में सब लोग उत्सुक हो गये हैं। देख, मुख में मृणालदण्ड को उठा कर खड़े रहे चक्रवाक को, पद्मिनी के पत्र के पीछे खड़ी चक्रवाकी बुला रही है, लेकिन वह तेरी ओर उन्मुख होने के कारण अपनी चक्रवाकी को प्रत्युत्तर नहीं देता है। यहाँ शारदा-पाण्डुलिपियों में, मूल प्राकृत उक्ति इस तरह की है :

अनसूया : सहि, ण सो अस्समे चिन्तणिज्जो अत्थि। जो तए विरहअन्तीए ण उस्सुइकदो अज्ज, पेक्ख दाव—
पदमिणीपत्तन्तरिअं वाहरिअं णाणुवाहरदि जाअं।
मुहल्लव्वूढमुणालो तयि दिट्ठिं देइ चक्काओ॥ 4-18॥
(सखि, न स आश्रमे चिन्तनीयोऽस्ति, यस्त्वया विरहयन्त्या नोत्सुकीकृतोऽद्य। प्रेक्षस्व तावत् पद्मिनीपत्रान्तरितां व्याहृतां नानुव्याहरति जायाम्।
मुखोद्व्यूढ-मृणालस्त्वयि दृष्टिं ददाति चक्रवाकः॥)

शकुन्तला : (विलोक्य) सहि, सच्चं येव णलिणीपत्तन्तरिदं पिअं सहअरं अवेक्खन्ति आदुरं चक्कवाइ आरसदि, दुक्करं खु अहं करेमि। (सखि, सत्यमेव नलिनीपत्रान्तरितं प्रियं सहचरम् अप्रेक्षमाणातुरं चक्रवाकी आरसति। दुष्करं खल्वहं करोमि।)

प्रियंवदा : अज्ज वि विणा पिएण गमअदि राइं विसूरणादीहं।
हन्त, गुरुअं पि दुक्खं आसाबन्धो सहावेदि॥
(अद्यापि विना प्रियेण गमयति रात्रिं विसूरणादीर्घाम्।
हन्त गुरुकमपि दुःखम् आशाबन्धस्सहयति॥)

काश्मीरी परम्परा का यह पाठ मैथिली वाचना में प्रायः यथावत् संचरित हुआ है, (केवल एक-दो शब्दों में पाठभेद किये हैं, जो बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है।) (और टीकाकार शङ्कर ने उसमें अन्यापदेश के रूप में ध्वन्यर्थ भी निकाला है।[12]) लेकिन तीसरे क्रम में यही पाठ जब बंगाली वाचना में पहुँचता है तो उसमें आश्चर्यकारक रूप से संक्षेप किया गया है। डॉ. रिचार्ड पिशेल के द्वारा सम्पादित समीक्षित-पाठ में, उपरि भाग में निर्दिष्ट तीन उक्तियों में से केवल अनुसूया कि ही प्रथम उक्ति ग्राह्य रखी गई है। उसके पीछे आई हुई शकुन्तला और प्रियंवदा की उक्तियाँ निरस्त की गई है। बंगाली पाठ पर जो सन्दर्भ-दीपिका टीका लिखी गई है उसमें भी इन दो उक्तियों का कोई निर्देश नहीं है। सम्भवतः पिशेल ने इसी आधार पर इन उक्तियों को नहीं स्वीकारी होगी। (डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल के द्वारा पुनः सम्पादित बंगाली पाठ में इन दोनों उक्तियों का स्वीकार किया गया है। क्योंकि उन्होंने काश्मीरी पाठ का भी विनियोग किया है।) तथा देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना के संक्षिप्त किये गये पाठ में, उपर्युक्त अनसूया की प्रथम उक्ति की कटौती की गई है।

चक्रवाक पक्षिओं से सम्बद्ध उपर्युक्त तीन उक्तियों का पाठ-विचलन देखने से भी बृहत्पाठ का अनुसरण करनेवाली तीनों वाचनाओं में जो पौर्वापर्य (पहली काश्मीरी, दूसरी मैथिली और तीसरी बंगाली) है वह देखा जा सकता है। और अन्त में, याने चतुर्थ क्रम में देवनागरी-दाक्षिणात्य वाचना का उद्भव-क्रम आता है वह भी सूचित होता है।

इस तरह चक्रवाकी से सम्बद्ध तीनों उक्तियाँ काश्मीरी में सुरक्षित रही है। (तथा मैथिली वाचना में भी ये तीनों उक्तियाँ संक्रान्त हो कर हम तक पहुँची भी है।[13]) यद्यपि चक्रवाक की उक्तियों में कटौती हुई है इसकी ओर सब से पहले ध्यान आकृष्ट करनेवाले मूर्धन्यविद्वान् प्रोफेसर

श्री एस. के. बेलवालकर जी ही थे।(निसर्ग कन्या शकुन्तला, 1962 (वि. सं. 2019) उन्होंने शकुन्तला की एक "निसर्ग कन्या" के रूप में पहचान प्रस्थापित करके ऐसी अपेक्षा व्यक्त की है कि शकुन्तला जब पतिगृह की ओर प्रस्थान कर रही है तब भले ही सहेलियों ने एवं पिता कण्व ने दुर्वासा के शाप की जानकारी शकुन्तला को न दी हो, किन्तु प्रकृति-समस्त में से किसी वनस्पति ने या पशु-पक्षी ने क्यूँ शकुन्तला को इस शाप के सन्दर्भ में सावधान नहीं की? यही एक बड़ी समस्या है। ऐसा कुछ होना न केवल अपेक्षित था, अनिवार्य भी था। काश्मीरी वाचना में, चक्रवाकवाले प्रसंग में यह आकारित किया गया है। किन्तु दुर्भाग्य से बंगाली एवं देवनागरी वाचनाओं में कुल तीन उक्तिओं में से एक एवं दो उक्तियाँ ही हम तक संचरित हो कर आई है। यदि काश्मीरी वाचना की (तथा मैथिली वाचना की) पाण्डुलिपियाँ प्राप्त करके देखा जाए तो तीनों उक्तियाँवाला पूर्ण संवाद, जो उपर्युक्त अवतरण में दिया है वह हम तक संचरित होके आया ही है। टीकाकार शङ्कर के अभिप्राय से, चक्रवाक के इस प्रसंग में (तीनों संवादों के द्वारा) शकुन्तला को दुष्यन्त की ओर से नकारात्मक प्रतिभाव ही मिलेगा और शकुन्तला को कुछ कालावधि तक पुनर्मिलन की प्रतीक्षा करनी होगी ऐसा व्यंजित किया गया है।

श्री बेलवालकर जी के शब्दों में देखे तो—''यहाँ पर पूरी घटना शकुन्तला को यह समझाने के लिए लाई गई है कि आगे तुम्हारे भाग्य में क्या बदा है। चकवी पुकारती है किन्तु चक्रवाक उत्तर नहीं देता, क्योंकि उत्तर न देने के कारणों पर उसका कोई वश नहीं है, उसका हृदय शकुन्तला के वियोग से भरा हुआ है। इसी प्रकार शीघ्र ही शकुन्तला भी पुकारेगी और दुष्यन्त भी उसका उत्तर नहीं देगा। अनसूया अपनी सखी को सान्त्वना देती है और वह विश्वास के साथ सान्त्वना दे भी सकती थी, क्योंकि उसके हाथ में शाप का अन्त करानेवाली अँगूठी तो थी ही। इसीलिए ठीक इस घटना से अगले संवाद में ये सखियाँ शकुन्तला को अँगूठी का स्मरण करा देती है। दूसरी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि कण्व ने अपने जिस शोक को प्रकट नहीं होने दिया उसी को चक्रवाक ने एक प्रकार

के दैवी परिज्ञान से समझकर शकुन्तला को भावी विपत्ति और दुःख की चेतावनी दे दी।[14]" इस उच्च स्तरीय पाठालोचना से यह सुदृढ़ हो जाता है कि बंगाली वाचना में और देवनागरी वाचना में संचरित होके जितना पाठ हम तक पहुँचा है वह प्रकृत सन्दर्भ में संक्षिप्त किया गया पाठ है।

[7]

चतुर्थाङ्क में, शकुन्तला पहले निसर्ग से बिछड़ती है, तत्पश्चात् वह अपने पालक पिता कण्व मुनि से बिछड़ रही है। कवि के लिए इन दोनों का वियोग वर्ण्य विषय है, जिनको "दृश्य कथावस्तु" की कोटि में रखा गया है। किन्तु वियोग की ऐसी मार्मिक क्षणों का रंगमंच पर प्रदर्शन (सात्त्विकअभिनय) करना मुश्किल होता है। कवि कालिदास ने, शकुन्तला अपने पालक पिता कण्व को बार बार गले से लगाती है ऐसा रंगसूचनाओं के द्वारा कहा है। काश्मीरी पाण्डुलिपियों में संचरित हुए पाठ के अनुसार, शकुन्तला कण्व को दो बार गले से लगाती है। वहाँ पर जो रंगसूचनायें मिलती हैं उनमें लिखा है कि, *1. उत्थाय पितरमालिङ्ग्य। एवं 2. शकुन्तला पुनः पितरमाश्लिष्य।* काश्मीरी रंगमंच पर पिता-पुत्री का आश्लेष कैसे प्रदर्शित किया जाता होगा? इस विषय की कोई जानकारी हमारे पास नहीं है। हमारे लिए भी यह जिज्ञास्य है कि क्षीरवृक्ष की छाया में बैठे पिता कण्व को कैसे गले लगाया जा सकता है? लेकिन कालान्तर में, मैथिली रंगकर्मिओं ने इस स्थान पर अभिनयन-सौकर्यार्थ परम्परागत रंगसूचना में परिवर्तन करके "पितुरङ्कमाश्लिष्य" ऐसी रंगसूचना बनाई है। ऐसा करने पर रंगकर्मिओं के लिए एक स्पष्टता हो जाती है कि कण्व मुनि क्षीरवृक्ष की छाया में बैठे है, और वहीं पर जा कर शकुन्तला को उनके अङ्क में अपने मस्तक से स्पर्श करना है। (कण्व का पात्र लेनेवाले किसी नट को गले से नहीं लगाना है।) मैथिली पाठ में "पितुरङ्कमाश्लिष्य'' शब्दों से आई हुई रंगसूचना को हम ऐसे समझ सकते हैं। किन्तु यहाँ अभिनयन का बुद्धिगम्य सहज स्वरूप सोचने के बाद, जो दूसरा बिन्दु है वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। मैथिली पाठ के रंगकर्मिओं ने यहाँ करिसार्थपरिभ्रष्टा

करेणुका का उपमान बदल कर मलयपर्वतोन्मूलिता चन्दनलता का उपमान प्रस्तुत करनेवाला नया वाक्य ही पाठभेद के रूप में दाखिल कर दिया। जिससे, अभिनयन के दौरान शकुन्तला जैसे ही पिता के अङ्क में से अपना मस्तक उठा कर बोलना शुरू करे तब उसके मुँह से भी "कधं तादस्स अङ्कादो परिब्भट्ठा" इत्यादि शब्द निकले। इस दृश्य में इस तरह से नाटकीयता लाई जा सकती है। और कण्व बने नट को गले से लगाने से शकुन्तला का अभिनय कर रही नटी को मुक्त की जा सकती है! मध्यकालीन भारत में ऐसी संकुचितता अवश्य थी कि युवतियों के लिए पति से भिन्न किसी अन्य पुरुष को आलिङ्गन देना अनुचित माना जाता था। अतः मैथिली पाठ में "पितुरङ्कमाश्लिष्य" शब्दों से तत्कालीन भारतीय जनमानस की रुचि-अरुचि का संरक्षण भी कर लेना आवश्यक माना गया होगा।[15] इस नवीन रंगयोजना का अनुसरण बंगाल की पाठ परम्परा में हुआ है।

अब स्वाभाविक है कि देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में क्या स्थिति है? वह जानने की इच्छा होगी। इनमें जो रंगसूचना है वह तो "पितरमाश्लिष्य" ऐसी ही है, (अर्थात् उसमें काश्मीरी पाठ जैसी ही रंगसूचना मिलती है), किन्तु शकुन्तला के मुख में जो उक्ति है वह मैथिली वाचनानुसारिणी हैः कहं दाणिं तादस्स अंकादो परिब्भट्ठा मलअतरुम्मूविआ चंदणलदा विअ देसंतरे जीविअं धारइस्सं। [कथमिदानीं तातस्याङ्कात् परिभ्रष्टा मलयतरून्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्ये।] एवञ्च, दूसरी बार जब पिता को गले से लगाने की बात आती है तो वहाँ पर देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में रंगसूचना बदल कर लिखा गया है कि "आश्रमाभिमुखी स्थित्वा" आश्रम की ओर मुँह रख कर बोलती है। तत्पश्चात् शकुन्तला के मुख में इस तरह के शब्द हैः-ताद, कदा णु भूओ तवोवणं पेक्खिस्सं। *[तात, कदा नु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये।]* मतलब कि देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना को लेकर मंचन करनेवाले नटों ने शकुन्तला को तीन बार पिता के गले से लगाने के दृश्य में एक बार कटौती कर ली है। यहाँ हम शकुन्तला-प्रस्थान के साथ साथ

नाटक के मूल पाठ का भी मंचन के सन्दर्भ में जो त्रिस्तरीय प्रस्थान होता रहा है वह ठीक तरह से देख सकते हैं।

[8]

शकुन्तला ने जब जाना कि उनकी सहेलियाँ उसके साथ हस्तिनापुर नहीं जा रही है, उसको अकेले ही जाना है, तब वह पिताजी को गले लग कर एक वाक्य बोलती है : *(उत्थाय, पितरमालिङ्ग्य) कधं दाणिं तादेण विरहिदा करिसत्थपरिब्भट्ठा करेणुआ विअ पाणा धारइस्सं। (इति रोदिति) [कथमिदानीं तातेन विरहिता करिसार्थपरिभ्रष्टा करेणुकेव प्राणान् धारयिष्ये॥]* शारदालिपि में परम्परा से चले आ रहे इस काश्मीरी-पाठ में मैथिली रंगकर्मिओं ने इतना भारी परिवर्तन कर दिया है कि यदि हम उक्त शारदा पाठ से वञ्चित रह जाते तो हमें मूल पाठ का कदापि कोई निर्णय ही नहीं हो सकता था। जैसे कि हमने ऊपर कहा है, क्षीरवृक्ष की छाया में बैठे पिता कण्व को कैसे गले लगाया जा सकता है? ऐसा सोच कर, मैथिली रंगकर्मिओं ने इस स्थान पर अभिनयन-सौकर्यार्थ रंगसूचना में परिवर्तन करके "पितुरङ्कमाश्लिष्य" ऐसी रंगसूचना बनाई है। तथा करिसार्थपरिभ्रष्टा करेणुका का उपमान भी बदल दिया है। मैथिली वाचना में अब नवीन शब्दों ने स्थान लिया हैः- *"कधं तादस्स अङ्कादो परिब्भट्ठा मलअपव्वदुम्मूलिदा विअ चन्दणलदा देसन्तरे जीविदं धारइस्सं।"* यहाँ शकुन्तला बैठे हुए पिता की गोदी में आलिङ्गन देकर (अर्थात् माथा टिका कर) कहती है कि मलयपर्वत से उन्मूलित हुई चन्दनलता के समान मैं पिता की गोदी से परिभ्रष्ट हो कर, देशान्तर में कैसे जीवन को धारण कर पाऊँगी। यहाँ इस तरह का जो पाठपरिवर्तन मिलता है उससे शकुन्तला के कहने का गर्भितार्थ ही बदल जाता है। काश्मीरी पाठ का तात्पर्य ऐसा था कि शकुन्तला कण्व जैसे वयोवृद्ध तपोवृद्ध पिता की छत्रच्छाया, जिसमें अनेक ऋषिकुमार, तापस कन्यायें, माता गौतमी आदि भी आश्रय पा रहे है, उसमें से बाहर निकल कर, एकाकिनी बन कर वह कैसे प्राण धारण कर सकेगी? इसमें शकुन्तला अपनी निःसहायता को शब्दबद्ध कर रही

है। लेकिन जो मैथिली वाचना का पाठ है उसमें शकुन्तला के कहने का भावार्थ पूरा बदल जाता है। यहाँ शकुन्तला ने अपने आप की तुलना चन्दनलता के साथ की है। इसमें शकुन्तला की सुकुमारता केन्द्र में आ जाती है। इस चन्दनलता के नये उपमान से पिता की जो छत्रच्छाया पहले कथनीय बिन्दु था, वह अन्धेरे में चला जाता है। मैथिली वाचना के पाठ में प्रयुक्त हुई इस नवीन उपमा का प्रसार बंगाली पाठपरम्परा में होने के साथ साथ, क्रमशः देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में भी हुआ है। मतलब कि काश्मीरी पाठ में उपलब्ध हो रहे "करिसार्थ से परिभ्रष्ट करेणुका" के उपमान के सामने, अन्य चार पाठपरम्पराओं में "मलयपर्वतोन्मूलित चन्दनलता" का उपमान मिल रहा है। अतः बहुसंख्यक वाचनाओं में मिलने वाला यह दूसरा उपमान मान्य रहना चाहिए या फिर केवल एक काश्मीरी वाचना में ही मिलनेवाला पहला उपमान सम्मान्य रहना चाहिए? यह विचारणीय बिन्दु बनता है। पाठालोचना के क्षेत्र में अनेक पाठान्तरों में से किसी एक पाठान्तर का चयन करते समय, पाठविशेष की साक्षीभूत वाचनाओं की(या पाण्डुलिपियों की) संख्या कितनी अधिक या कम है, वह निर्णायक प्रमाण नहीं हो सकता। उसमें तो, किस पाठान्तर को कृतिनिष्ठ आन्तरिक सम्भावना का समर्थन मिल रहा है? वही देखना अनिवार्य होता है। प्रकृत में सोचेंगे तो मालूम होगा कि कण्व मुनि का आश्रम हिमालय की गोद में, मालिनी नदी के तट पर आया था, जहाँ हाथिओं का ही निवास हो सकता है। अतः आन्तरिक सम्भावना की दृष्टि से काश्मीरी वाचना का पाठ ही मौलिक हो सकता है। इस जगह पर मलयपर्वत के पास अङ्कुरित होनेवाली चन्दनलता का उल्लेख अमान्य ही होगा।

[9]

शकुन्तला पतिगृह की ओर प्रस्थान कर रही है तब (काश्मीरी वाचनानुसारी चतुर्थांक के पाठ में) इस तरह का संवाद हैः-शकुन्तला कण्व को पूछती है कि मैं पति के घर जा रही हुँ, लेकिन पिताजी आपका विरह कैसे सह

पाउँगी? तब पिता कण्व श्लोक 4-24 से उत्तर देते हैं कि कुलीन व्यक्ति के घर में गृहिणी पद प्राप्त होने के बाद तुँ बहुविध कार्यकलाप में व्यस्त हो जायेगी और तेरे अङ्क में पुत्र का आगमन हो जाने के बाद तो सुख ही सुख होने से तूं मेरे विरह से उत्पन्न होनेवाले दुःख को भूल जायेगी। इतना सूनने के बाद, बंगाली वाचना के पाठ में, शकुन्तला पिता के चरणों में प्रणाम करती है (ऐसी रंगसूचना है)। (अर्थात् बंगाली वाचना में, यहाँ कण्वमुनि एक ही श्लोक बोलते हैं। किन्तु इस सन्दर्भ का काश्मीरी पाठ (एवं तदनुगामी मैथिली पाठ) निम्नोक्त है, जिसमें कण्व दो श्लोक बोलते हैं :

कण्व : किमेवं कातरासि।
अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैरस्य प्रतिक्षणमाकुला।
तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजं न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि॥ 4-22॥
अपि च, इदमवधारय
यदा शरीरस्य शरीरिणश्च पृथक्त्वमेकान्तत एव भावि।
आहार्ययोगेन विभज्यमानः परेण को नाम भवेद् विषादी॥4-23॥

शकुन्तला : (पितुः पादयोः पतति)।

यहाँ श्लोक 22 के नीचे, "अपि च" निपात से बांधा गया एक श्लोक–23 दिख रहा है, जो केवल काश्मीरी एवं मैथिली वाचना के पाठ में ही उपलब्ध होता है। बंगाली, देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में वह नहीं मिलता है। (तथा डॉ. एस. के. बेलवालकर जी के द्वारा सम्पादित अभिज्ञानशाकुन्तल में भी यह श्लोक नहीं मिलता है, किन्तु) शारदा पाण्डुलिपियों में यह श्लोक "अपि च" निपात से अवतारित किया गया है। अतः विचारणीय है कि क्या "अपि च" के विनियोग से दूसरा श्लोक काश्मीरी-मैथिली में प्रक्षिप्त किया गया होगा? या फिर वह मौलिक होते हुए भी बंगाली, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में से उसे हटाया गया है? यहाँ पूर्वधारणा के रूप में यदि मान लिया जाए कि मूल पाठ

में पहलेवाला एक ही श्लोक रचा गया था। अब, पहले श्लोक 22 में शकुन्तला को पिता की याद नहीं आयेगी उसके बहुत प्रतीति कारक कारण पेश किये गये हैं। फिर भी यह चिन्त्य तो है ही कि एक पुत्री को ससुराल में कितना भी सुख मिल जाए तो भी क्या वह अपने पिता को भूला सकती है?। सब का अनुभवजन्य उत्तर यही है कि ढ़ेर सारे सुख में भी पुत्री अपने पिता को कदापि नहीं भूला सकती है। अतः प्रश्न होगा ही कि क्रान्तद्रष्टा महाकवि ने यहाँ सर्वजनानुभव-विरुद्ध क्यों लिखा है। क्या सचमुच में शकुन्तला सुखातिशय में भी पिता कण्व को भूला देगी? वृद्ध पिता की कोई चिन्ता उसे नहीं सताती रहेगी? इस प्रश्न का एक ही उत्तर सभी सहृदयों के मन में होगा कि शकुन्तला अपने पिता को हरगिझ नहीं भूल सकती है। यह बात कण्व भी जानते होंगे, अतः यहाँ उनको कुछ अधिक कहने की आवश्यकता होगी। यदि मूल पाठ में पहलेवाला एक ही श्लोक था ऐसी पूर्वधारणा को छोड़ कर, काश्मीरी और मैथिली वाचना में आया हुआ दूसरा श्लोक भी मूल में होगा ऐसा स्वीकारते हैं तो उपर्युक्त क्षति का विसर्जन होता है।

पहले कहा गया है कि इस नाट्यकृति में एक श्लोक के बाद "अपि च" से अवतारित किये गये दूसरे श्लोक में प्रवर्तमान दृश्य या विचार का दूसरा पहलु रखा जाता है। ऐसा होना अनिवार्य है, क्योंकि समुच्चयार्थक "अपि च" का प्रयोग तभी हो सकता है कि जब प्रस्तुत विचार का दूसरा पहलु भी सम्मीलित करना हो। इस दृष्टि से सोचा जायेगा तो पहले श्लोक में शकुन्तला को ससुराल में सुख मिलने पर वह पिता के विरह को भूल जायेगी ऐसा कहा जाता है। तत्पश्चात् दूसरे ही श्लोक में कहा जाता है कि इन ऐहिक सुखों के बीच में भी पुत्री शकुन्तला के हृदयाकाश में पिता के वार्धक्य को लेकर सदैव चिन्ता विद्यमान रहनेवाली है। तो उसका निरसन करने के लिए क्रान्तद्रष्टा कालिदास ने ऋषि कण्व से उपर्युक्त दूसरा श्लोक कहलाया है।

कण्व ने शकुन्तला को आश्वासन देते हुए "अपि च" से अवतारित 23 वें श्लोक से यह भी कह दिया है कि शरीर और शरीरी का पृथक्त्व

अवश्यंभावि है। जैसे कोई नट अपने पहने हुए मुकुटादि आहार्य चीजों का त्याग करते समय दुःखी नहीं होता, (वैसे ही कण्वमुनि के देहावसान की कल कदाचित् खबर मिले तो भी शकुन्तला को दुःखी नहीं होना चाहिए।) यहाँ समच्चयार्थक "अपि च" के प्रयोग का याथार्थ्य पूर्ण रूप से सिद्ध होता है। कण्व ने अपनी पुत्री को दो बातें कह के उसे दोनों दृष्टियों से स्वस्थ मनःस्थितिवाली बनाई है। एक तो ससुराल में निरतिशय सुख एवं नयी जिम्मेवारियाँ को लेकर पिता की याद नहीं आयेगी।और दूसरा पिता का शरीर आहार्य चीज रूप है, जो एक दिन नष्ट होनेवाला है। तो उसकी चिन्ता करना जरूरी नहीं है। आश्रम में पली ऋषिकन्या के लिए आरण्यक पिता का यह औपनिषदिक दर्शन इस स्थान पर बीलकुल सुसंगत प्रतीत होता है। इस दृष्टि से देखा जायेगा तो "अपि च" का विनियोग भी समुच्चयार्थक के रूप में यहाँ सर्वथा चरितार्थ हो रहा है। अतः काश्मीरी और मैथिली वाचना में दृश्यमान यह दूसरा श्लोक मौलिक होने में संदेह नहीं रहता है।

उपर्युक्त दो श्लोकोंवाला काश्मीरी पाठ जो पहले मैथिली पाठ में संक्रान्त हुआ होगा वह वहाँ पर सुरक्षित रहा है। लेकिन तीसरे स्तर पर बंगाली एवं देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में से, "अपि च" से अवतारित दूसरा श्लोक हटाया गया होगा। इस प्रकार के संक्षिप्तीकरण से चतुर्थाङ्क का एक विशेष सौन्दर्य, जो दार्शनिक पिता के वचनों में से झलक रहा था उससे हम वंचित रह जाते हैं॥ कालिदास ने अपने अन्य काव्यों में भी औपनिषदिक दर्शन व्यक्त किया है।

इस चतुर्थाङ्क में शकुन्तला जब पूछती है कि पिताजी इस तपोवन को मैं फिर से कब देख पाऊँगी? तब कण्व मुनि ने कहा है कि उत्तरावस्था में दौष्यन्ति (भरत) के कन्धों पर राज्यधुरा स्थापित करके इस शान्त आश्रम में प्रवेश करना।[16] यहाँ मैथिली पाठ में शान्ति शब्द के स्थान में पाठभेद करके शान्त्यै ऐसा शब्द रखा गया है। और बंगाली पाठ में उसका अनुगमन किया गया है। यहाँ पर शान्त्यै (शान्ति के लिए) को समझाते हुए टीकाकार चन्द्रशेखर ने लिखा है कि मोक्षार्थम्। दुष्यन्त-शकुन्तला जब आप्तकाम

हो जाए तब मोक्षार्थे इस आश्रम में वापस आने का कहनेवाले तपस्वी तात कण्व "अपि च" से पूर्वोक्त श्लोक द्वारा पुत्री को मरणोपरान्त शोक न करने की अनुदेशना दे वह सर्वथा मौलिक प्रतीत होता है। नाटक के अन्तिम भरत-वाक्य में भी कवि ने लिखा है कि "सरस्वती श्रुतिमहती/श्रुतिमहतां महीयताम्।" इसको देखते हुए भी काश्मीरी वाचना का उपर्युक्त श्लोक मौलिक प्रतीत हो रहा है। एवं मैथिली वाचना को छोड़ के अन्यत्र (बंगाली, देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में) उसको हटाया गया है, जो कालिदास के कवित्व एवं औपनिषदिक दर्शन को हानि करनेवाला है।

[10]

गौतमी कण्व मुनि को कहती है कि शकुन्तला तो आपको नहीं छोड़ पायेगी। अतः आप ही यहाँ से निवृत्त हो जाए वही उचित रहेगा। तब क्षीरवृक्ष की छाया में बैठे कण्व मुनि उठ कर शकुन्तला को कहते हैं कि *"वत्से, उपरुद्ध्यते मे तपोऽनुष्ठानम्। प्रतिनिवर्तितुमिच्छामि।"* यहाँ शकुन्तला पिता कण्व को आश्लेष देती हुई कहती है कि *"तपोव्यापारेण तातो निरुत्कण्ठो भविष्यति, अहं इदानीम् उत्कण्ठाभागिनी संवृत्ता॥"* (पिताजी आप तो तपोनुष्ठान में लग जाओगे और दुहिता की उत्कण्ठा से मुक्त हो जायेंगे, लेकिन मैं अकेली पिता को मिलने की उत्कण्ठा से घेरी रहुँगी।) इसको सुन कर कण्व कहते हैं कि,

अयि किं मां जडीकरोषि।
शममेष्यति मम वत्से कथमिव शोकस्त्वया रचितपूर्वम्।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः॥ (4-25)

कण्व का कहना यही है कि तपोनुष्ठान में मग्न होने पर भी मैं तेरी उत्कण्ठा से मुक्त होनेवाला नहीं हूँ। क्योंकि तूँ ने (शकुन्तला ने) पहले जो नीवारबलि की रचना की है, उनमें से उटज के द्वार पर जो अङ्कुर निकल आये हैं उसको देख देख कर जब मैं शोकाविष्ट हो जाऊँगा तो मुझे शान्ति कैसे मिलेगी? अर्थात् कन्या की बिदाई होने के बाद भी

पिता निरन्तर उत्कण्ठित ही रहनेवाले है।

काश्मीर का यह परम्परागत पाठ जब मैथिली वाचना में संक्रमण करता है तब केवल दो शब्दों के स्थान में पाठभेद जन्म लेता है। जैसे कि, उपर्युक्त श्लोक में "शममेष्यति" (मुझे शान्ति कैसे मिलेगी?) के स्थान में "अपयास्यति" (मेरा शोक कैसे दूर हो सकेगा?) ऐसा शब्द रखा गया है। और "उटजद्वारविरूढं" के स्थान में "उटजद्वारि विरूढं" शब्द रखा है। लेकिन बंगाली पाठ में तीसरे शब्द में भी पाठभेद किया गया है। जैसे कि, "अपयास्यति मे शोकः कथं नु वत्से त्वयाऽवचितपूर्वम्।" (अर्थात् शकुन्तला आश्रम में उटजद्वार पर नीवारबलि के दानें में से अङ्कुरित हुए तृणादि का अवचयन कर देती थी। अब शकुन्तला की बिदाई होने के बाद वह तृणादि संवर्धन होता ही रहेगा, और उसका अवचयन करनेवाला तो कोई होगा नहीं। इसको देख कर कण्व मुनि को शकुन्तला याद आयेगी और वे शोकाविष्ट रहेंगे।) "रचितपूर्वम्" के स्थान में "अवचितपूर्वम्" ऐसा पाठभेद होने से इतना वाक्यार्थ बदल जाता है। अब प्रश्न होगा कि तीनों में से किस पाठ का मौलिक होना सम्भवित लगता है? तो यह बंगाली पाठ में जो "अवचितपूर्वम्" ऐसा पाठभेद मिलता है वही तीसरे क्रम पर आया होगा ऐसा लगता है। क्योंकि कालिदास ने शकुन्तला के चरित्र चित्रण के सन्दर्भ में कहा है कि आश्रम के वृक्षों और लताओं के प्रति उसके मन में सहोदर जैसा भाव है। एवं वह प्रियमण्डना थी, फिर भी वनस्पतिओं से कदापि एक पल्लव भी तोड़ती नहीं थी। तथा उसी के फल स्वरूप जब शकुन्तला के बिदाई के समय उसका मण्डन करने के लिए वनस्पतिओं से पुष्पाहरण के लिए कण्व मुनि ऋषि कुमारों को भेजते हैं तब वनस्पति ने स्वयं ही क्षौम वस्त्र एवं अलंकारादि शाखामय बाहुओं से निकाल कर दिये है! यदि शकुन्तला और वनस्पति के बीच इतना आत्मीय सम्बन्ध है ऐसा जो अनेक स्थानों पर कहा गया हैं उसको याद करेंगे तो तुरन्त स्पष्ट हो जायेगा कि बंगाली पाठ में "रचितपूर्वम्" के स्थान में पैदा किया "अवचितपूर्वम्" जैसा पाठभेद तृतीय स्तर पर ही आया है। बृहत्पाठ परम्परा में पहला पाठ शारदा पाण्डुलिपिओं में जो मिलता

है वह है, और उसमें कुछ परिवर्तन हो कर दूसरे क्रम में मैथिली पाठ जन्म लेता है। सब से अन्त में, याने तीसरे क्रम में बंगाल का पाठ आकारित हुआ है ऐसा कहने का यह भी एक आधार है। (कृतिसमीक्षा के द्वारा पाठसमीक्षा करने का यह उदाहरण बनता है। कृति में ही अन्यत्र शकुन्तला का चरित्र चित्रण कैसा है? उसको ध्यान में लेकर जब दो तरह के पाठभेदों में से किसी एक पाठ का प्राचीनतरत्व या अधिक श्रद्धेयत्व सिद्ध किया जाता है तो उसे भी "आन्तरिक सम्भावना" के नाम से पहचाना जाता है।)

अब पाठ-संक्रमण के चतुर्थ सोपान पर, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में जब संक्षेपीकरण का काम किसी अज्ञात पाठशोधक ने किया है उसने प्रकृत स्थान में पाठसुधार का भी काम किया है। जैसे कि,

काश्यप : *वत्से, उपरुद्ध्यते तपोनुष्ठानम्।*

शकुन्तला : *(भूयः पितरमाश्लिष्य) तवच्चरणपीडिदं तादसरीरं। ता मा अदिमेत्तं मम किदे उक्कंठिदुं। [तपश्चरणपीडितं तातशरीरम्। तन्मातिमात्रं मम कृते उत्कण्ठितुम्।]*

काश्यप : *(सनिःश्वासम्) शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम्।* उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः॥420॥

यहाँ शकुन्तला ने पिता कण्व को ऐसा नहीं कहा है कि आप तो तपोव्यापार में मग्न हो जाने से निरुत्कण्ठ हो सकेंगे, और मैं अकेली आपके बिना उत्कण्ठित रहुँगी। यहाँ तो शकुन्तला पिता कण्व को कहती है कि पिताजी आपने तपश्चर्या से वैसे ही शरीर को पीड़ित कर रखा है, अब मेरे लिए अपने आप को बहुत उत्कण्ठित नहीं करना। इत्यादि। इसमें शकुन्तला अपने पिता के लिए अधिक चिन्तामग्न है ऐसा चित्र प्रस्तुत होता है। और श्लोक की आनुपूर्वी काश्मीरी पाठ का ही अनुगमन कर रही है, उस पर मैथिली एवं बंगाली पाठ का कोई प्रभाव नहीं है। यहाँ एक विशेष बात यह कहनी जरूरी है कि किसी सहृदय की दृष्टि से प्रस्तुत प्रसंग में देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना का पाठ काश्मीरी-आदि तीन वाचनाओं के पाठ की अपेक्षा से अधिक स्पृहणीय हो सकता है, लेकिन

यह एक अभिप्राय मात्र होगा। क्योंकि हमने अन्यत्र देवनागरी-दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ को बृहत्पाठ की तीनों वाचनाओं के पाठ की अपेक्षा से बहुत उत्तरवर्ती काल का है ऐसा सिद्ध किया है।

[11]

उपसंहार : उपर्युक्त चर्चामें तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किये गये उदाहरणों से जो बिन्दुयें हमारे सामने आ रहे हैं वह इस तरह के हैः 1. काश्मीरी पाठ की मौलिकता के समर्थक उदाहरण मिल रहे हैं, जिसके लिए निदर्श रूप से पेरा 1 एवं 9 द्रष्टव्य है। 2. शाकुन्तल के पाठ-प्रस्थान का अनुक्रम काश्मीरी, मैथिली, बंगाली, और तत्पश्चात् दाक्षिणात्य तथा देवनागरी वाचना का पाठ है ऐसा अनेकशः सिद्ध होता है। 3. उपलब्ध पञ्चविध वाचनाओं में शारदा पाण्डुलिपियों में संचरित काश्मीरी पाठ प्राचीनतम होते हुए भी, उसमें भी सुदूर अतीत काल में प्रविष्ट हुए प्रक्षेप मिलते हैं, जिसका शोधन कृतिनिष्ठ आन्तरिक सम्भावनाओं से किया जा सकता है। 4. काश्मीरी पाठ में सुरक्षित रहे कुछ श्लोकों की मौलिकता सिद्ध होने से चतुर्थाङ्क की अज्ञात अद्वितीयता हमारे सामने आती है, तथा उसमें छिपा कालिदास का औपनिषदिक दर्शन प्रथम बार अवगत होता है।

सन्दर्भ

1. बृहत्पाठ की तीनों वाचनाओं में प्रवेशक नाम दिया गया है, किन्तु लघुपाठ की दोनों (देवनागरी तथा दाक्षिणात्य) वाचनाओं में विष्कम्भक ऐसा नामकरण हुआ है।
2. काश्मीरी पाठ में लिखा है कि "विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा यतोऽतिथिं वेत्सि न मामुपस्थितम्। "इत्यादि। किन्तु उसमें कुछ परिवर्तन करके मैथिली पाठ में "विचिन्तयन्ती यम् अनन्यमानसा तपोनिधि वेत्सि न माम् उपस्थितिम्। "इत्यादि ऐसे शब्द रखे गये हैं कि। पहले में अतिथि के अनादर का दण्ड घोषित किया गया है, दूसरे मैथिल पाठ में तपोनिधि का अनादर करने का दण्ड है। लेकिन इसमें दुर्वासा का तपोनिधि होने का घमण्ड प्रकट होता है।
3. मैथिली पाठ में दुष्मन्त और अनुसूया ऐसे नाम दिये गये है। बंगाली पाठ में दुष्यन्त और अनुसूया ऐसा पाठभेद है। काश्मीरी पाठ में दुष्ष्यन्त और अनूसया नाम मिलते हैं।

4. वहाँ तो केवल "परिक्रामतः" रंगसूचना ही है।
5. **(अनुवाद)** एक ओर चन्द्रमण्डल अस्तशिखर को पहुँच रहा है और एक ओर अरुण को आगे किये उदित हो रहा है सूर्य। दो तेज और दोनों का एक साथ व्यसन (अस्त) तथा अभ्युदय। इनसे लोक को शिक्षा मिलती है अपनी दशा बदलने की॥-कालिदासग्रन्थावली, (भाग-2), अनु. पं. रेवाप्रसाद द्विवेदीजी, कालिदास आकदेमी, उज्जयिनी, 2008, पृ. 399
6. (अनुवाद) चन्द्र डूब गया तो वही कुमुद्वती अब आँखों को आनन्दित नहीं कर रही है। इष्ट (प्रिय) के प्रवास से उत्पन्न दुःख अबलाओं को अत्यन्त दुःसह होते है॥ कालिदासग्रन्थावली, (भाग-2), अनु. पं. रेवाप्रसाद द्विवेदीजी, कालिदास अकादेमी, उज्जयिनी, 2008, पृ. 399
7. **(अनुवाद)** और देखो बैरों के ऊपर पड़ी ओस को उषाकाल रंग रहा है, जागा मोर लकड़ी के उटज पटल को छोड़ रहा है, ये हरिण शिशु चारों ओर उपवन में निर्भयचर रहे है, क्योंकि इसमें दर्भाङ्कुर हटा दिए गए है॥—कालिदास ग्रन्थावली, (भाग-2), अनु. पं. रेवाप्रसाद द्विवेदीजी, कालिदास अकादेमी, उज्जयिनी, 2008, पृ. 398
8. **(अनुवाद)** जिस (चन्द्र) ने पर्वतराज सुमेरु के सिर पर पादन्यास पर अँधियारी दूर करते हुए भगवान् विष्णु के दूसरे धाम पर विचरण किया था वही चन्द्र अब बहुत कम बची किरणों के साथ आकाश से गिर रहा है। अत्यारूढि बड़ों को भी पतन का मुख दिखलाती है॥—कालिदास ग्रन्थावली, (भाग-2) अनु. पं. रेवाप्रसाद द्विवेदीजी, कालिदास अकादेमी, उज्जयिनी, 2008, पृ. 398
9. मैथिलपाठानुगम् अभिज्ञानशकुन्तलम्। (शङ्कर-नरहरिकृत-व्याख्यासमलंकृतम्), सं. श्री रमानाथ झा, मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा, 1957, (रसचन्द्रिका, पृ. 235)
10. अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्यास्समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः।
    अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर् वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु॥
11. द्रष्टव्य : अभिज्ञानशकुन्तलन् (चन्द्रशेखर चक्रवर्तिप्रणीत-सन्दर्भदीपिकया टीकया समलङ्कृतम्), सम्पादकः वसन्तकुमार म. भट्ट, प्रकाशक : राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मीशन, नई दिल्ली, 2013, (पृ. 37-40)
12. यथायमुद्व्यूढमृणालोपि प्रियामपहाय मय्यासक्तलोचनस्तथा मृणालवलयहरण रूपदर्शितप्रणयोपि राजा मामपहायाऽन्यकलत्रासक्तदृष्टिर्भविष्यतीति निजपरित्याग माशङ्कमाना शकुन्तलाह, सखि सत्यमेव नलिनीपत्रान्तरितं प्रियं सहचरम् अप्रेक्षमाणा आकुलं चक्रवाकी आरसति रौति। सत्रासं, ममाप्येवं मा भूदिति त्रासः। रसचन्द्रिका, पृ. 245।
13. द्रष्टव्य—मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा से प्रकाशित श्रीरमानाथ झा द्वारा संपादित—अभिज्ञानशकुन्तलम्, पृ. 75।

14. निसर्ग कन्या शकुन्तला—शीर्षकवाला आलेख, जो कालिदास-ग्रन्थावली, (तीसरा खण्ड, समीक्षा निबन्ध, पृ. 59 से 70), अनुवादक—सीताराम चतुर्वेदी ने अलीगढ़ से 1962 में प्रकाशित किया है वह द्रष्टव्य है।
15. द्रष्टव्य हैः- तथात्र अङ्कमाश्लिष्येत्यादिना युवत्याः पत्यतिरिक्तपुरुषस्य वक्षस्य वक्षस्यालिङ्गतमिति द्योत्यते। स्नेहवशात् सन्तानस्य जनक-जनन्यङ्काश्रयणस्य सार्वत्रिकत्वात्, तस्मादङ्गान्तरानुपादानम् इति बोध्यम्॥ किशोरकेलि-व्याख्यासमेतम् अभिज्ञानशाकुन्तलम्। सं. श्रीकान्तानाथशास्त्री तेलङ्गः, चौखम्बा संस्कृति सिरीझ, वाराणसी, 1960, पृ. 300।
16. भूत्वा चिराय सदिगन्तमहीसपत्नी, दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं प्रसूय। तत्सन्निवेशितधुरेण सहैव भर्त्रा, शान्त्यै करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्॥ अ. श. 4-22
17. अभिज्ञानशाकुन्तल की देवनागरी वाचना में संक्षेपीकरण के पदचिह्न॥ नाट्यम्, (अंख-71-74), सं. श्री राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर 2013, (पृ. 27 से 57)

(ङ) अभिज्ञानशाकुन्तल (अङ्क : 5) के पाठभेदों की आलोचना

भूमिका : अभिज्ञानशाकुन्तल के तीन-चार प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित संस्करणों को साथ में रख कर यदि उसके पाठ की परीक्षा की जाए तो तुरन्त मालूम होता है कि इस नाटक का पाठ सर्वत्र एक समान नहीं है। हमारे बीच में जो पाठ चल रहा है वह तो अनेक पाठान्तर, प्रक्षेप, संक्षेप, असमान रंगसूचनाएं एवं कुत्रचित् पूर्वापर सन्दर्भ में एकाधिक विसंगतियाँ से भरा हुआ पाठ है। फिर भी यह आश्चर्यजनक एवं आघातजनक हकीकत है कि अभिज्ञानशाकुन्तल की भूरि भूरि प्रशंसा करनेवाले असंख्य विद्वानों में से, विगत दो-ढाईसो साल के इतिहास में, केवल तीन-चार (या कदाचित् पाँच-छह) विद्वान् ही ऐसे हैं कि जिन्होंने इस नाटक के मूल पाठ की दुर्दशा देख कर उसकी पाठालोचना करने का कार्य किया है।[1] अभी तक जो गणनापात्र कार्य हुआ है उसमें, बहुविध पाण्डुलिपियों का विनियोग करते हुए विद्वानों ने इस नाटक की चार वाचनाओं के समीक्षित-पाठों हमारे सामने प्रस्तुत किये हैं। जैसे कि, 1. देवनागरी, 2. बंगाली, 3. मैथिली, 4. दाक्षिणात्य, (तथा 5. काश्मीरी?)।[2] [अभिज्ञानशाकुन्तल की उपर्युक्त पञ्चविध वाचनाओं का दो यूथ में विभाजन किया जा सकता है। प्रथम यूथ में काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचनाएं आती हैं, जिनमें नाटक का बृहत्पाठ मिलता है। और उनमें नाटक का शीर्षक "अभिज्ञानशकुन्तलम्" मिलता है। दूसरे यूथ में, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं का समावेश होता है, जिनमें नाटक का लघुपाठ उपलब्ध होता है। और इनमें नाटक का शीर्षक "अभिज्ञान-शाकुन्तलम्" दिया गया है॥]

मुख्य रूप से इन पाँच वाचनाओं के प्रकाशन के दौरान ही अभिज्ञानशाकुन्तल की पाठालोचना का कार्य हुआ है। इन में सब से अधिक योगदान देनेवाले विद्वानों में प्रोफेसर बलवन्तराय ठाकोर, डॉ. बेलवालकर, प्रोफेसर पाटणकर, डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी[3] एवं डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ही अग्रगण्य है। डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने पाठालोचना का अतिविस्तृत कार्य किया है, लेकिन उनका परिश्रम "बंगाली वाचना का पाठ ही प्राचीनतम एवं मौलिक है" इस विचार को सिद्ध करने के लिए संकल्पित है। और इस मत की स्थापना करने के लिए उन्हों ने बहिरङ्ग प्रमाण के रूप में, विश्वनाथादि आलंकारिकों के ग्रन्थों में उद्धृत हुए शकुन्तल के उद्धरणों को अग्रेसर किये हैं। किन्तु उपलब्ध पाँचों वाचनाओं के पाठ में कहाँ कहाँ पर पूर्वापर सन्दर्भ में विसंगतियाँ फैली हुई है इसकी तुलनात्मक दृष्टि से आलोचना नहीं की है। एवमेव केवल बंगाली वाचना के पाठ को लिया जाए तो उसमें भी जो विसङ्गतियाँ अन्तःसंनिहित है—उनको उन्होंने नहीं पहचानी हैं। यद्यपि प्रोफेसर काञ्जीलाल ने शारदा-पाण्डुलिपियों का विनियोग किया था, तथापि उन्होंने काश्मीरी वाचना की प्राचीनतमता नहीं देखी, तथा उसी पाठ में मौलिकता अत्यधिक सुरक्षित रह पायी है, अथवा उस पाठ में प्रायः विसंगतियाँ नहीं है वह भी नहीं पहचाना है। अद्यावधि अभिज्ञानशाकुन्तल की जो भी पाठालोचना प्रकाश में आयी है, उसमें डॉ. बेलवालकर जी की आलोचना ही ऐसी है कि जिसमें काश्मीरी पाठ को प्राधान्य दिया गया है। लेकिन उनके अभिमत को प्रकट करनेवाली विचारणा केवल तीन-चार लेखों तक ही सीमित है। (और वे काश्मीरी वाचना का समीक्षित पाठसम्पादन का कार्य, शायद वार्धक्य के कारण ठीक तरह से सम्पन्न नहीं कर पाये।) इनके अलावा अन्य एक भी विद्वान् ऐसा ज्ञात नहीं है कि जिसने काश्मीरी शारदा लिपि में लिखी हुई पाण्डुलिपियाँ देखी भी हो, या उनमें संचरित हुए पाठ की पाठालोचना की हो।

अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की वह एक अनुल्लिखित अद्वितीय सिद्धि है कि उसकी पाँचों वाचनाओं में से कोई भी एक को पढ़ने से भी उसकी

सर्वोत्तमता उभर कर सामने आती है! किन्तु इसका मतलब यह न समझा जाए कि इन पाँचों में केवल मामूली कक्षा के ही पाठभेद होंगे। जब इन सब का तुलनात्मक अभ्यास शुरू किया जाता है तो उसमें प्रवर्तमान पाठभेद एवं प्रक्षेपादि को देख कर हम संत्रस्त हो जाते हैं। और तब पाठभेदादि से दुषित हुए प्रवर्तमान विविध पाठों में से कहाँ पर मौलिक या अधिक श्रद्धेय पाठ सुरक्षित रहा होगा? उसकी अपरिहार्य जिज्ञासा समुदित होती है। पाठान्तर के कारण उद्-भूत होनेवाली विसङ्गतियाँ जब तक हमारे ध्यान में नहीं आती हैं तब तक पाठालोचना की अनिवार्यता समझ में नहीं आती है।

अब पञ्चमाङ्क की पाठसामग्री को लेकर जो पाठालोचना की जायेगी उससे यह अन्दाजा आयेगा कि पूर्वोक्त चार वाचनाओं के प्रकाशन होने के बावजुद भी कुछ समस्यायें ऐसी है कि जिसका समाधान केवल काश्मीरी पाठ को ध्यान में लेने से ही हो सकता है, तथा कुछ समस्यायें ऐसी भी है कि जो अतिप्राचीन काल से ही उस काश्मीरी पाठ में भी प्रविष्ट हो गई है जिसको दुरस्त करने के लिए अद्यावधि अज्ञात रही कुछ नवीन पाण्डुलिपियों को प्रकाश में आने की हमें प्रतीक्षा करनी होगी।

[1]

पाँचों वाचनाओं में संचरित हुए अभिज्ञानशाकुन्तल के पञ्चमाङ्क में, जिन पाठभेदों का कुल राशि हमारे सामने आता है उसमें से कुछ प्रमुख पाठभेदों का पहले परिगणन कर लेना चाहिए। 1. काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली पाठ में, पञ्चमाङ्क के प्रथम दृश्य का आरम्भ कञ्चुकी के प्रवेश से होता है। किन्तु देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचना के पाठों में, उसका आरम्भ हंसपदिका के गीत से होता है। 2. काश्मीरी पाठ में (तथा देवनागरी एवं दाक्षिणात्य पाठ में), हंसपदिका के गीत के बाद वैतालिकों का श्लोकगान आता है। किन्तु मैथिली एवं बंगाली पाठ में पहले वैतालिकों का श्लोकगान आ जाता है, तत्पश्चात् हंसवती[4] का गीत सुनाई पड़ता है। 3. काश्मीरी पाठ के अनुसार दुष्यन्त के रानीवास में हंसपदिका के

साथ एक अन्य कुलप्रभा नामक देवी भी है, जो षष्ठाङ्क के अन्त भाग में भी पुनरुल्लिखित है। किन्तु मैथिली एवं बंगाली पाठ के अनुसार पञ्चमाङ्क में केवल एक हंसवती का ही नामनिर्देश है। (और षष्ठाङ्क में दूसरी रानी के रूप में वसुमती का नामोल्लेख आता है।) 4. मैथिली एवं बंगाली पाठ में विदूषक की एक उक्ति ज्यादा है, जिसमें वह वैतालिकों के गान के सन्दर्भ में राजा दुष्यन्त की मजाक उडाता है। काश्मीरी (एवं देवनागरी तथा दाक्षिणात्य) पाठ में ऐसा कोई संवाद नहीं है। 5. काश्मीरी पाठानुसार, शकुन्तला ने दुष्यन्त को "अनार्य" जैसा सम्बोधन नहीं किया है। किन्तु मैथिली एवं बंगाली, तथा देवनागरी एवं दाक्षिणात्य पाठों में ऐसा सम्बोधन मिलता है। 6. शकुन्तला के स्वाभाविक क्रोध को देख कर राजा ने उसकी भ्रूकुटियों का वर्णन एक श्लोक से किया है। लेकिन यहाँ पर मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठ में दो श्लोक प्रस्तुत हुए हैं, उन दो श्लोकों में से *"मय्येवमस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ .... भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य॥"* शब्दों वाला श्लोक काश्मीरी वाचना में नहीं है।[5] अतः इस श्लोक का मौलिकत्व चिन्त्य बनता है। अर्थात् पञ्चमाङ्क में कुल मिला के कितने श्लोक होंगे?॥ 7. प्रत्याख्यान-प्रसंग में दुष्यन्त ने शकुन्तला को जो जो कहा है उसमें कुछ कम-ज्यादा वाद-प्रतिवाद है या नहीं? 8. शकुन्तला ने अपनी ओर से प्रतिवाद करते समय *"तुम्हे य्येव पमाणं जाणध धम्मत्थिदिं च लोअस्स। लज्जाविणिज्जिदाओ जाणन्ति हु किं ण महिलाओ॥"* ऐसे शब्दोंवाली एक गाथा कही थी, जो काश्मीरी एवं मैथिली पाठों में उपलब्ध होती है। किन्तु बंगाली, देवनागरी तथा दाक्षिणात्य पाठों में ऐसी गाथा नहीं है। अतः इसका मौलिक होना या नहीं होना विवादास्पद है। अतः प्रस्तुत आलेख में इन सब पाठभेदों का क्रमशः विमर्श किया जाता है।

[2]

पञ्चम अङ्क का आरम्भ किस की उक्ति से होता है? इस प्रश्न को लेकर यदि बृहत्पाठ की तीनों वाचनाओं का तुलनात्मक अभ्यास किया

जाए तो मालूम होता है कि इन सब का आरम्भ तो कञ्चुकी की उक्ति से होता है। तथापि उसमें बहुत अन्तर है। जैसे कि, काश्मीरी वाचना के अनुसार कञ्चुकी की उक्ति आदि से अन्त तक एकल उक्ति के रूप में नहीं है, वह बीच में आकाशोक्ति का भी आश्रयण करता है। जिससे वह मौद्गल्य नामक किसी परिजन से बात करता है। तद्यथा– *(परिक्रम्याकाशे) मौद्गल्य, धर्मकार्यम् अनतिपात्यम्, तद्देवस्य तदावेदयितुमिच्छामि। किं ब्रवीषि। नन्विदानीमेव धर्मासनाद् उत्थितः पुनरुपरुध्यते देव इति। न त्वीदृशो लोकतन्त्राधिकारः। पश्य, भानुः सकृद् युक्ततुरङ्ग एव... (5-3), किं ब्रवीषि। तेन सङ्गीतकशालासङ्गतं मण्डपं गच्छ, अनुष्ठीयतां नियोग इति ॥ यावत् तत्र गच्छामि। एष देवः। मनुः प्रजास्स्वा इव तन्त्रयित्वा निषेवते शान्तमना विविक्तम् 0॥ (5-4)॥* इस तरह की प्रस्तुति में स्पष्ट रूप से नाटकीयता आती है, लेकिन मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठ में ऐसी प्रस्तुति नहीं है। यहाँ पर कञ्चुकी के मुख में रहे केवल तीन श्लोकों के बाद तुरन्त हंसपदिका-गीत का दृश्य शुरू हो जाता है। जिससे रंगमंच पर कञ्चुकी की उक्तियों का अति विस्तार होता ही नहीं है। उसके सामने मैथिली एवं बंगाली में कञ्चुकी की उक्ति में, बीच में आकाशोक्ति का आश्रयण नहीं लिया गया है। तथा कञ्चुकी के चार श्लोकों के बाद भी जब राजा और विदूषक का रंग पर प्रवेश होता है तब तुरन्त हंसवती का गीत प्रस्तुत नहीं होता है। इन दोनों में तो पहले राजा अपने अधिकारखेद व्यक्त करने लगता है। जिसको दूर करने के लिए वैतालिकों का गान आरम्भ होता है। इस तरह से मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में सात श्लोकों के प्रस्तार में ग्लानिपूर्ण दृश्य का एक समान निरूपण होता रहता है, जो प्रेक्षकों एवं पाठकों को कोई नये कौतुक में आबद्ध नहीं कर पाता है। कहने का तात्पर्य यही है कि काश्मीरी वाचना के पाठ में जो वैविध्य के साथ नाटकीयता उभर कर सामने आती है, वह अन्य दो वाचनाओं में नहीं है।

उपर्युक्त पाँचों वाचनाओं को सामने रख कर देखा जाए तो पञ्चमाङ्क के प्रारम्भिक दृश्य में पाठक्रम की एकरूपता नहीं है। बृहत्पाठ और लघुपाठ की तुलना करने से तुरन्त यही प्रश्न उठता है कि पञ्चम अङ्क का आरम्भ कञ्चुकी की उक्ति से जो होता है उसमें औचित्य है? या लघुपाठ में हंसपदिका (हंसवती) के गीत से जो आरम्भ होता है उसमें औचित्य है? ।बृहत्पाठ की तीनों वाचनाओं में भी यद्यपि कञ्चुकी की उक्ति से ही आरम्भ होता है, किन्तु शकुन्तला को साथ में लेकर आ रहे कण्वशिष्यों का आगमन कब होता है? इस प्रश्न के सन्दर्भ में काश्मीरी वाचना में जो पाठक्रम है, उससे भिन्न स्थिति मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में देखने को मिलती है। जैसे कि, मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में हंसवती के गीत को सुन कर दुष्यन्त उन्मनस्क होते हैं, उसके बाद ही उनके सामने कण्वशिष्यों का आगमन होता है ऐसा क्रम प्रदर्शित हुआ है। परन्तु काश्मीरी वाचना में भिन्नक्रम से इस घटना का निरूपण है। जैसे कि, वैतालिकों के गान से दुष्यन्त की धर्मबुद्धि को सतेज (आलोकित) करने के पश्चात् कण्वशिष्यों का आगमन होता है। यहाँ, दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला का प्रत्याख्यान किया जाए तब उसकी पश्चाद्भूमि में दुष्यन्त की कौन सी मानसिकता होनी उपयुक्त मानी जायेगी? इस प्रश्न को लेकर रंगकर्मिओं के मन में दो तरह की विचारधारायें रही होगी ऐसा साफ दिखता है। क्योंकि इसी कारण से हमारे सामने दो तरह के पाठक्रम पाण्डुलिपियों के माध्यम से संचरित हो कर आये है। इन विभिन्न पाठक्रमवाली वाचनाओं में से किसका पाठ सर्वाधिक नाट्यानुकूल एवं कविप्रणीत होने के रूप में श्रद्धेय है, इसका निर्णय कैसे किया जाये? वही प्रथम एवं प्रधान समस्या है।

उपर्युक्त समस्या की जड़ इस बात में है कि बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में हंसपदिका के गीत एवं दो वैतालिकों के श्लोकगान का विनियोग किस आशय से किया जाये? इसमें मतभेद रहा होगा। गहेराई में जा कर इस विषय की चर्चा करने के लिए इस प्रसंग से सम्बद्ध मैथिली (एवं तदनुसारिणी बंगाली) वाचना का पाठ देखना चाहिएः-

कञ्चुकी : (निःश्वस्य) अहो बत कीदृशीं वयोवस्थामापन्नोऽस्मि।
आचार इत्यधिकृतेन मया गृहीता
या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः।... (5-1)॥
यावदभ्यन्तरगताय देवाय स्वयमनुष्ठेयम्
अकालक्षेपार्हमावेदयामि। किं पुनस्तत्। आं ज्ञातम्।
कण्वशिष्यास्तपस्विनो देवं द्रष्टुमिच्छन्ति। भोः चित्रमेतत्।
क्षणात् प्रबोधमायाति लङ्घ्यते तमसा पुनः।
निर्वास्यतः प्रदीपस्य शिखेव जरतो मतिः॥ 5-2॥
(दृष्ट्वा) एष देवः,
प्रजाः प्रजाः स्वा इव चिन्तयित्वा॥ 5-3॥
यत्सत्यं शङ्कितोऽस्मि इदानीमेव **धर्मासनादुत्थिताय देवाय** कण्वशिष्यागमनं निवेदयितुम्। अथवा कुतो विश्रामो लोकपालानाम्।
भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव॥ 5-4॥ (इति परिक्रामति)
(ततः प्रविशति राजा विदूषकः विभवतः परिवारः।)

राजा : (अधिकारखेदं निरूप्य) सर्वः प्रार्थितार्थमधिगम्य सुखी सम्पद्यते। राज्ञः चरितार्थता दुःखोत्तरैव। कुतः-
औत्सुक्यमात्रम् अवसादयति प्रतिष्ठा॥ 5-5॥
(नेपथ्ये) वैतालिकौ–जयति जयति देवः।
एक : स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः॥ 5-6॥
द्वितीय : नियमयसि विमार्गप्रस्थितान् आत्तदण्डः॥ 5-7॥

राजा : (आकर्ण्य) आश्चर्यम्, कार्यशासनपरिश्रान्ताः पुनर्नवीभूता स्मः।

विदूषक : गोविन्दारको त्ति किल भणिदस्स रिसभस्स परिस्समो णस्सदि।

राजा : (सस्मितम्) क्रियताम् आसनपरिग्रहः।
(उभावुपविष्टौ परिजनश्च यथास्थानं स्थितः)
(नेपथ्ये वीणाशब्दः)

इस तरह के पाठ से स्पष्टतया ऐसा चित्र उपस्थित होता है कि

जो राजा दुष्यन्त राजकार्यो से परिश्रान्त हुआ था, उसका परिश्रमविनोदन करने के लिए वैतालिकों के श्लोकगान को रखा गया है। शकुन्तला प्रत्याख्यान का प्रसंग तो अभी दूर है। क्योंकि वैतालिकों के गान और शकुन्तला-प्रत्याख्यान के बीच में तो अभी हंसवती का गीत आना बाकी है। अतः ऐसा फलित होता है कि शकुन्तला-प्रत्याख्यान, जो इस पञ्चम अङ्क की केन्द्रवर्तिनी घटना है, उसके साथ तो इस वैतालिकों के श्लोकगान का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। अतः इस तरह की मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं की पाठयोजना कालिदास की मौलिक पाठयोजना नहीं हो सकती ऐसा अनुमान किया जाता है॥ तथापि यहाँ यह भी विचारणीय है कि, तो फिर मिथिला एवं बंगाल के रंगमंच पर किस दृष्टि से इस पाठयोजना को स्थान दिया गया होगा? इसका उत्तर कञ्चुकी के लम्बे वक्तव्य में से मिलता है। चतुर्थाङ्क के अन्त में प्रेक्षकों ने सुना है कि शकुन्तला को लेकर कण्व शिष्यों ने हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान किया है, अतः पञ्चम अङ्क के साथ उसका अनुसन्धान बिठाने के लिए कञ्चुकी कहता है कि "कण्वशिष्यास्तपस्विनो देवं द्रष्टुमिच्छन्ति"। और, चतुर्थाङ्क के आरम्भ में आये हुए दुर्वासा के शाप से दुष्यन्त की स्मृति विलुप्त हो गई है उसका प्रतीकात्मक निर्देश करने के लिए भी कञ्चुकी के वक्तव्य का उपयोग किया गया है। जैसे कि, वह बुढापा से आक्रान्त है और उसकी स्मृति भी बीच बीच में लुप्त हो जाती है। उसने कहा है : *क्षणात्प्रबोधमायाति लङ्घ्यते तमसा पुनः। निर्वास्यतः प्रदीपस्य शिखेव जरतो मतिः॥* अर्थात् मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठशोधकों ने सम्भवतः जिन दो दृष्टिकोणों से उपर्युक्त पाठयोजना बनाई होगी वह हैः- 1. चतुर्थाङ्क के साथ पञ्चमाङ्क का अनुसन्धान प्रस्थापित करना। एवं 2. दुष्यन्त की स्मृति शापग्रस्त हुई है उसकी ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति करना। लेकिन इस तरह की पाठयोजना में वैतालिकों के श्लोकगान का कोई विशेष महत्त्व रहता नहीं है, अथवा कहो कि उन श्लोकों का प्रयोजन बहुत आकर्षक सिद्ध नहीं होता है यह बात जरूर खटकती है।

उसके प्रतिपक्ष में यानि काश्मीरी वाचना के पाठ में, वैतालिकों के

गान का जो उपस्थितिक्रम सोचा गया है वह भी परीक्षणीय है। उसमें कञ्चुकी के वक्तव्य के बाद पहले हंसपदिका का गीत आता है, जिसके अनुसन्धान में विदूषक को रंगमंच से निवृत्त किया जाता है। और दुष्यन्त *"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्"* शब्दों से जननान्तर के किसी अज्ञात सौहृद को याद करने का विफल प्रयास करता हुआ पर्याकुलित होता है। ऐसी उद्विग्नता से भरी मनोदशा के दौरान यदि कण्वशिष्यों का आगमन हो, और वे लोग शकुन्तला को उसकी पत्नी के रूप में स्वीकार करने का कहे तो नायक उसका प्रत्याख्यान सरलता से कर ही नहीं सकता था। अतः पहले उसकी धर्मबुद्धि को प्रखरता का पाश चढ़ाना आवश्यक लगता है, जिसके लिए वैतालिकों का गान उपकारक सिद्ध होता है। यहाँ वैतालिकों का गान राजकार्यों से परिश्रान्त हुए राजा को नवीकृत करने के लिए नहीं है, वह तो पर्याकुलित(क्लान्त) मनवाले नायक को नवीकृत करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। जिसके द्वारा शकुन्तला का दृढता के साथ अस्वीकार करने को उसकी नैतिक एवं धर्मबुद्धि पूर्ण रूप से जाग्रत हो उठती है। कहने का तात्पर्य यही है कि जैसे मैथिली एवं बंगाली पाठ में वैतालिकों का गान राजकार्यों के परिश्रम को दूर करने जैसे मामूली आशय से प्रस्तुत होता है, उससे कईं अधिक बहेतर आशय से वह काश्मीरी पाठ में प्रयुक्त होता है। हंसपदिका गीत के श्रवण से नायक के हृदयाकाश में जो जननान्तर का सौहृद असंप्रज्ञात मानस में से संप्रज्ञात मानस में आने की कोशिश करता है, उसकी महिमा इतनी उत्तुङ्ग है कि उसको यदि धर्मबुद्धि के पाश में जकड़ा नहीं गया होता तो दुष्यन्त के लिए शकुन्तला का प्रत्याख्यान करना असम्भव सा लगता है। इस दृष्टि से देखेंगे तो काश्मीरी वाचना में इस प्रसंग का जो पाठक्रम पाण्डुलिपियों के माध्यम से संचरित होकर हम तक आया है उसके पीछे गम्भीर आशय रहा है ऐसा प्रतीत होता है। उसके सामने मैथिली एवं बंगाली पाठ में, पहले वैतालिकों के गान का विनियोग (उपर्युक्त मामूली आशय के लिए) कर लेने से, दूसरे क्रम में जब हंसवती का गीत नायक को सुनाया जाता है तब आगे चल कर शकुन्तला का प्रत्याख्यान करना विकट, या कदाचित्

असम्भव ही था ऐसा लगता है। इस विचारधारा से सोचा जायेगा तो काश्मीरी वाचना के पाठक्रम में ही नाटकीयता सर्वांश में चमक उठती है। तथा इस कारण से ऐसा पाठक्रम ही मौलिक पाठ के रूप में अधिक श्रद्धेय प्रतीत होता है।

यहाँ देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं को देखने से मालूम होता है कि रंगकर्मिओं ने इस प्रसंग का मंचन करने के लिए एक तीसरी रीति भी सोची है। जिसमें, अङ्क का आरम्भ कञ्चुकी की उक्ति से नहीं होता है, किन्तु हंसपदिका के गीत से ही सीधे दृश्यारम्भ होता है। (इस तरह की प्रस्तुति काश्मीरी वाचना के पाठ के साथ बहुत कुछ साम्य रखती है। इस दृष्टि से भी काश्मीरी वाचना के पाठक्रम का समर्थन हो रहा है, वह उल्लेखनीय है।) लेकिन देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं का पाठ पश्चाद्वर्ती काल में संक्षिप्त किया गया पाठ है (ऐसा हमने अन्यत्र सिद्ध किया है), इस लिए इसमें निरूपित किया गया पाठक्रम उत्तरवर्ती काल का ही होगा यह बात पुनरुक्त करने की आवश्यकता नहीं है।

अभी तक विद्वानों ने काश्मीरी वाचना के सप्तमाङ्क में आये हुए प्रवेशक को, जिसमें दो नाकलासिकाओं का नृत्य प्रस्तुत होता है, उसको ही इस वाचना की एकमात्र नीजी पहचान देनेवाला दृश्य माना है।[6] किन्तु इनके साथ साथ यह भी कहना आवश्यक है कि अभिज्ञानशकुन्तला के पञ्चमाङ्क का पाठ अपने मौलिक स्वरूप में यदि कहीं पर भी सुरक्षित रहा हो तो वह केवल काश्मीरी वाचना के पाठ में ही रहा है। जिसमें कञ्चुकी की उक्ति का उपर्युक्त स्वरूप एवं हंसपदिका-गीत एवं वैतालिकों का गान प्रस्तुत करने का जो क्रम निर्धारित किया गया है, या अपना मूल रूप सुरक्षित रखके हम तक पहुँचाया है वह भी उसकी एक अद्वितीयता है।

[4]

काश्मीरी, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना के इस हंसपदिका-गीत को अन्य वाचनाओं में हंसवती-गीत नाम दिया गया है। क्योंकि मैथिली और बंगाली वाचना के पाठ में वीणागान करनेवाली रानी का नाम हंसपदिका

नहीं है, उनमें हंसवती या हंसमती ऐसा नामान्तर मिलता है।[7] इस नामभेद को लेकर मंचन विषयक कोई समस्या नहीं है। किन्तु इस गीत के अनुसन्धान में राजा ने विदूषक के द्वारा हंसपदिका को जो प्रत्युत्तर भेजा है, उस वाक्य का सान्दर्भिक अर्थ क्या हो सकता है? उसकी समस्या जरूर आकारित होती है। जैसे कि देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठानुसार,

राजा : *(सस्मितम्) सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः। तस्या देवीं वसुमतीमन्तरेण मदुपालम्भमवगतोऽस्मि। सखे माधव्य, मद्वचनादुच्यतां हंसपदिका। निपुणमुपालब्धोऽस्मि इति॥*

लेकिन मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठ में तो यहाँ वसुमती नाम की कोई दूसरी रानी का नाम आता ही नहीं है! इन दोनों वाचनाओं में राजा की उक्ति ऐसी हैः-*(सस्मितम्) सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः। तदहं हंसवतीं देवीम् अन्तरेणोपालम्भमुपगतोऽस्मि। तत् सखे माधव्य, मद्वचनादुच्यतां देवी— निपुणमुपालब्धोऽस्मि।*

यहाँ मैथिली पाठपरम्परा के व्याख्याकार शङ्कर के मत से हंसवती नामक व्यक्ति और कोई नहीं है, वह शकुन्तला ही है।[8] तथा बंगाली पाठपरम्परा में, टीकाकार चन्द्रशेखर चक्रवर्ती के मत से भी यह गीत शकुन्तला की ही उक्ति है। अथवा अन्य मत से यह गौतमी के द्वारा उच्चरित उक्ति है।[9] इन स्पष्टीकरणों से सहृदय पाठक या प्रेक्षक लोग गुमराह होना शुरू होते हैं। अब प्रश्न होगा कि, इन दोनों वाचनों में हंसवती शब्द का लक्ष्यार्थ शकुन्तला ही लेना है तो क्या प्रस्तुत गीत को अकेले शकुन्तला के सन्दर्भ में ही समझना है? यदि उत्तर "हाँ" में है, तो कमल शब्द से कौन अभीष्ट है?। दूसरे शब्दों में पुछे तो, दुष्यन्त के रानीवास में पूर्वपरिणीता के रूप में कितनी रानियाँ थी? इस पद्य में अभिनवमधुलोलुप मधुकर शब्द से दुष्यन्त को भ्रमर कहा गया है, और आम्रमञ्जरी एवं कमल जैसे दो पुष्पों के नामों से यहाँ उपमेयभूत दो रानियों का पृथक् निर्देश होना तो अपेक्षित है ही। किन्तु मैथिली तथा बंगाली वाचनाओं में तो, इस पञ्चमाङ्क के पाठ में केवल हंसवती का ही नाम आता है, वसुमती

का नहीं। हंसवती ही गीत गाती है और राजा उसीके सन्दर्भ में ही अपने को उपालम्भ दिया गया है (तदहं हंसवतीं देवीम् अन्तरेणोपालम्भम् उपगतोऽस्मि।) ऐसा समझता है। अतः इस विसंगति का हल सोचना पड़ेगा। देवनागरी एवं दाक्षिणात्य पाठपरम्परा में, "देवीं वसुमतीम् अन्तरेण" वाक्य में आये हुए "अन्तरेण" अव्यय का अर्थ "अमुक के सम्बन्ध में" ऐसा लिया गया है। किन्तु मैथिली एवं बंगाली वाचना में, लगता है कि उसी अव्यय का अर्थ "विना" लिया जाना चाहिए।[10] जिससे ऐसा अर्थबोध होगा कि "मैं देवी हंसवती के विना (हंसवती से अलावा) किसी अन्य में आसक्त हूँ ऐसा मान कर मुझे (दुष्यन्त को) उपालम्भ दिया जा रहा है''। "अन्तरेण" शब्द का "विना" ऐसा अर्थ लिये जाने पर शङ्का होनी शुरू होती है। जैसे कि, यदि यहाँ विना-अर्थवाला "अन्तरेण" शब्द कवि ने रखा हो, तो क्या पाठक या प्रेक्षकों के मन में ऐसा विचार नहीं उठेगा कि दुष्यन्त हंसवती के अलावा कौन सी दूसरी रानी में आसक्त है? क्योंकि इन दोनों वाचनाओं में दूसरी एक वसुमती नामकी रानी का नाम जरूर आता है। लेकिन वह दूसरा नाम तो षष्ठाङ्क के अन्त भाग में आता है। लगता है कि मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठशोधकों ने पाण्डित्य से प्रेरित[11] हो कर भले ही "विना" अर्थवाले "अन्तरेण" शब्द को मन में धारण करके, वसुमती नाम को यहाँ से हटा दिया हो, परन्तु इस तरह के नये पाठभेद से पाठक या प्रेक्षक (षष्ठाङ्क के अन्त तक) निश्चित रूप से गुमराह हो सकता है।

देवनागरी वाचना के पाठ पर टीका लिखनेवाले राघवभट्ट ने भी "विना" अर्थवाले "अन्तरेण" शब्द की संगति बिठाते हुए कहा है कि–*सकृदेकवारं कृतः प्रणयो याञ्चा येनेदृशोऽयं जनो हंसपदिकालक्षणः। तस्याः सकाशाद् देवीवसुमतीम् अन्तरेण विना क्षणमपि न तिष्ठामीति मत्संबन्धमुपालम्भमवगतोऽस्मि।*[12] (अर्थात् हंसपदिका ने कोई एक बार दुष्यन्त से प्रणयेच्छा प्रदर्शित की थी। तब से लेकर दुष्यन्त बिना वसुमती को साथ में लिए उस हंसपदिका के सामने एक क्षण के लिए भी जाता नहीं है, अतः उसे उपालम्भ दिया जाता है वो बात मैं दुष्यन्त समझ गया हूँ।)

दाक्षिणात्य वाचना के टीकाकार घनश्याम ने भी अन्तरेण शब्द का विना अर्थ लेकर, पूरे वाक्यार्थ की संगति बिठाई है : *अयं जनः हंसपदिकेत्यर्थः। ... यस्मात् सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः, तत् तस्मात् अस्याः हंसपदिकाया उपालम्भः, देवीं वसुमतीं राज्ञीम् इत्यर्थः। अन्तरेण विना। ... देवीं विना काचिदन्या वर्तत इव, इत्युपालम्भशब्दस्यार्थः इति भावः॥*[13] विना-अर्थवाले अन्तरेण शब्द का प्रयोग मानने पर यहाँ संगति बिठाई गई है, लेकिन "वसुमती के विना दूसरी कौन रानी होगी?" उसका उत्तर प्रेक्षकों के पास अवश्य है कि वो शकुन्तला है। किन्तु यदि ऐसा ही अर्थ कवि के मन में अभिप्रेत होगा तो, दुष्यन्त ने क्या समझ कर "वसुमतीम् अन्तरेण" शब्दों का प्रयोग किया होगा? ऐसे प्रश्न का समाधान यही हो सकता है कि दुष्यन्त की स्मृति शापग्रस्त होने से वह शकुन्तला को तो याद नहीं कर सकता है, अतः दूसरी रानी वसुमती को लक्षित करके मुझे कहा गया है ऐसा वह भ्रमवशात् मान लेता है, और तदनुसार वह उसका जवाब देता है।

मैथिली, बंगाली और देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में भले ही अन्तरेण को विना-अर्थवाला मान कर वाक्यार्थ की संगति बिठाने की कोशिश की गई हो, लेकिन वह पाठक या प्रेक्षक को असंदिग्ध अर्थ नहीं दे सकता है। तथा इसी नाटक के दूसरे अङ्क में "भवन्तमन्तरेण कीदृशोऽस्या दृष्टिरागः" ऐसा विदूषक का प्रश्न याद करते हैं तो यह बात ध्यान में आती है कि कवि ने इसी नाटक में अन्यत्र तो "अन्तरेण" अव्यय का प्रयोग "विना" अर्थ में नहीं किया है। विदूषक की उपर्युक्त उक्ति में भी अन्तरेण का विनियोग "अमुक के विषय में'', "अमुक के सम्बन्ध में" ऐसा ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि मैथिली एवं बंगाली वाचना के पाठशोधकों नें पञ्चमाङ्क में से वसुमती का नाम हटा कर हंसपदिका-गीत की अर्थ-संकुलता में से बाहर निकलने की जो कोशिश की है वह फलदायी नहीं हो सकी है।

अब, इस नाटक की पाँचवी वाचना में, अर्थात् काश्मीरी वाचना में उपर्युक्त दोनों रानिओं के सन्दर्भ में क्या स्थिति है वह भी ज्ञातव्य है :

वहाँ पर वसुमती के स्थान पर "कुलप्रभा" नामक रानी है! **राजा**– *(स्मितं कृत्वा) वयस्य, सत्कृतप्रणयोऽयं जनः। तदस्याः कृते कुलप्रभाम् अन्तरेण समुपालम्भम् उपागतोऽस्मि। मद्वचनाद् उच्यतां हंसपदिका। निपुणम् उपालब्धास्स्म इति॥* इस काश्मीरी पाठ में वसुमती के स्थान पर कुलप्रभा नामक रानी का नाम है,[14] तथा "सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः" के स्थान पर "सत्कृतप्रणयोऽयं जनः" ऐसा पाठभेद भी है। यद्यपि यह पाठभेद केवल भूर्जपत्र पर लिखी गई 192 क्रमांकवाली पाण्डुलिपि में ही मिलता है, अन्य ऑक्सफर्ड की एवं श्रीनगर की शारदा पाण्डुलिपियों में तो "सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः" ऐसा ही पाठ संचरित हुआ है। जब काश्मीरी वाचना के ऐसे पाठभेदों को देखते हैं तब हंसपदिका-गीत के प्रसंग से जुडी सर्वसम्मत अर्थावबोध की समस्या जटिलतम बनती है। तथा मौलिक पाठ के रूप में कौन सा पाठभेद हो सकता है उसका अन्दाजा लगना भी अतिमुश्किल हो जाता है।

[5]

चूँकि मैथिली एवं बंगाली वाचना में हंसवती के गीत-प्रसंग के पूर्व में वैतालिकों का श्लोकगान होता है ऐसा पाठक्रम निर्धारित किया गया है, और उस समय दुष्यन्त के साथ में विदूषक मौजुद रहता है तो इन दोनों वाचनाओं के पाठ में विदूषक की एक उक्ति ज्यादा मिलती है। विदूषक यहाँ वैतालिकों के गान के सन्दर्भ में राजा दुष्यन्त की मजाक उड़ाता है। जैसे कि,

राजा : *(आकर्ण्य) आश्चर्यम्, कार्यशासनपरिश्रान्ताः पुनर्नवीभूता स्मः।*
विदूषक : *गोविन्दारको त्ति भणिदस्स रिसभस्स परिस्समो णस्सदि॥*

इस तरह के हास्यप्रेरक वाक्य के आधिक्य से प्रेक्षकों को क्षणिक आनन्दित करने का लक्ष्य रखा गया होगा। लेकिन मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में जो (हंसपदिकागीत एवं वैतालिकों के गान का) पाठक्रम आगे-पीछे किया गया है उससे वैतालिकों के गान का कोई विशेष नाट्यगत प्रयोजन रहता नहीं है। बल्कि वैतालिकों के गान के सन्दर्भ में, (किसी अज्ञात रंगकर्मी के द्वारा) राजा जैसे नायक का ऐसा उपहास करवाने से

नाटक की कुछ शोभा तो बढती ही नहीं है। किन्तु विदूषक की उपर्युक्त उक्ति (एवं हंसपदिकागीत एवं वैतालिकों के गान का आगे-पीछे किया गया) कालान्तर में किये गये पाठपरिवर्तन एवं परिवर्धन का सबूत सिद्ध होता है॥ दूसरी ओर देखे तो काश्मीरी (एवं देवनागरी तथा दाक्षिणात्य) वाचना के पाठ में विदूषक का ऐसा कोई संवाद नहीं है। क्योंकि इन वाचनाओं में वैतालिकों के गान से पूर्व में आये हंसपदिका के गीत के अनुसन्धान में विदूषक को रंगमंच से बिदाई दी जाती है।

[6]

गौतमी ने बताया कि यह शकुन्तला तपोवन में संवर्धित हुई है, अतः कैतव को जानती नहीं है। तब राजा दुष्यन्त ने कहा कि हे तापसवृद्धे, मानवेतर सृष्टि की स्त्रियों में भी बिना किसी शिक्षा ही पटुत्व होता है, तो यह शकुन्तला तो आश्रम में शिक्षा प्राप्त की हुई स्त्री है। अतः उसके लिए तो कैतव नहीं करने का सवाल ही नहीं उठता है। जैसे परभृतिका कोकिल उड़ जाने से पहले अपने अण्डों का सेवन अन्य पक्षिओं से करवाती है।[15] शकुन्तला इसको सुन कर तुरंत ही अपने को परभृता कहेनेवाले राजा दुष्यन्त को "अनार्य" शब्द से सम्बोधित करती है। मैथिली, बंगाली, देवनागरी तथा दाक्षिणात्य, इन चारों वाचनाओं में शकुन्तला ने इसी शब्द से अपना हृद्गत आक्रोश प्रकट किया है। *शकु—(सकोपम्) अणज्ज, अत्तणो हिअआणुमाणेण सव्वं एदं पेक्खसि। को णाम अण्णो धम्मकञ्चुअववदेसिणो तिणच्छण्णकूवोवमस्स तव अणुआरी भविस्सदि।* (मैथिली पाठ)। किन्तु काश्मीर की शारदा पाण्डुलिपियों में "अणय्य" ऐसा सम्बोधन नहीं है! अतः प्रश्न होता है कि कवि-प्रणीत मूल पाठ में क्या स्थिति होगी? यह उक्ति एक स्त्री के द्वारा उच्चरित होने से प्राकृत में लिखी गई है। यदि भाषा-परिवर्तनों के इतिहास के सन्दर्भ में देखा जाए तो, संस्कृत संयुक्ताक्षर "र्य" का शौरसेनी प्राकृत में समीकरण के नियम से प्रथमतः "य्य" होना चाहिए। तत्पश्चात्, कालानुक्रम से य-व्यंजन का ज-ध्वनि में परिवर्तन होता है। अतः अनार्य शब्द का शौरसेनी प्राकृत में अणय्य होगा, और फिर

उसका महाराष्ट्री प्राकृत में अणज्ज ऐसा होगा। शारदा पाण्डुलिपियों में सर्वत्र "र्य" संयुक्ताक्षर का शौरसेनी रूपान्तर य्य ही प्राप्त हो रहा है, उसके हिसाब से, मैथिली आदि चारों वाचनाओं में मिल रहा अणज्ज ऐसा पाठ उत्तरवर्ती काल का है यह बात निश्चित है। किन्तु तर्क कहता है कि क्या काश्मीरी में भले ही आज अनार्य ऐसा सम्बोधन न मिलता हो, लेकिन सम्भव है कि किसी ने ऐसे सम्बोधन को हटाया भी हो सकता है, जिसके कारण वह आज नहीं मिलता है। और प्रथमाङ्क में दुष्यन्त जब यह सोचता है कि यह शकुन्तला मेरे लिए विवाह के योग्य है या नहीं? तब उसके मुख में कवि ने एक वाक्य रखा है : *अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसम्भवा स्यात्। अथवा कृतं सन्देहेन। असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यम् अस्याम् अभिलाषि मे मनः।* यहाँ नायक ने अपने को "आर्य" समझा है, उसी को आगे चल कर "अनार्य" ऐसा सम्बोधन सुनना पड़े तो उसमें नाट्यात्मक वक्रोक्ति आकारित होती।

अतः प्रस्तुत प्रसंग में "अनार्य" शब्द का प्रयोग मौलिक होने की सम्भावना लगती है। तथा शारदा पाण्डुलिपियों के किसी अज्ञात लिपिकार के अनवधान के कारण वह शब्द लिखते समय छुट गया होगा। यह तर्क उचित ही है।

किन्तु हकीकत में ही मान लीजिए कि कालिदास ने मूल में ही यह शब्द नहीं लिखा था, तो प्रस्तुत प्रसंग में शकुन्तला की व्यक्तिरेखा का स्वरूप ही बदल जायेगा। इस विषय में, प्रमाणान्तर के अभाव में मूल पाठ का निर्णय करना मुश्किल है।

[7]

मैथिली वाचना के पञ्चमाङ्क में, शकुन्तला अपने को परभृता कहेनेवाले दुष्यन्त को "अनार्य" कहती है और प्रचण्ड कोप करते हुए दुष्मन्त[16] को ताड़ती है। यहाँ पर शकुन्तला की कोपाविष्ट मुख मुद्रा को देखते हुए दुष्यन्त ने दो श्लोकों का उच्चारण किया हैः-

राजा : *(स्वगतम्) वनवासाद् अविभ्रमः पुनरत्रभवत्याः कोपो लक्ष्यते।*

तथाहि —न तिर्यगवलोकितं, भवति चक्षुरालोहितं
वचोऽपि परुषाक्षरं न च पदेषु संशय्यते।
हिमार्त इव वेपते सकल एष बिम्बाधरः,
प्रकामविनते[17] भ्रुवौ युगपदेव भेदं गते॥ 5-23॥
अपि च, संदिग्धबुद्धिं माम् अकुर्वन्त्या अकैतवच्छाय इवास्याः कोपोऽयम्।
मय्येवमस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ,
वृत्तं रहः प्रणयम् अप्रतिपद्यमाने।
भेदाद् भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य॥ 5-24॥
(प्रकाशम्) भद्रे, प्रथितं दुष्मन्तचरितम् प्रजासु। तवापीदं[18] दृश्यते॥

मैथिली वाचना की तरह बंगाली वाचना के पाठ में भी यही दो श्लोक मिलते हैं, लेकिन वहाँ दूसरा श्लोक "अपि च" से अवतारित नहीं है। वहाँ "अथवा" निपात से दूसरे श्लोक को प्रस्तुत किया है। अतः दो बातें परीक्षणीय हैः (1) क्या इन दोनों श्लोकों के प्रतिपाद्य विषय को प्रस्तुत करने के लिए यहाँ "अपि च'' का प्रयोग उचित है? या, "अथवा" का प्रयोग सुसंगत लगता है? (2) इन दोनों में से कौन सा श्लोक मौलिक होगा अथवा कौन सा प्रक्षिप्त होगा?

यहाँ काश्मीरी वाचना के पाठ में केवल पहलेवाला श्लोक ही संचरित हो कर हम तक आया है। तथा देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में केवल दूसरा श्लोक ही संचरित होकर आया है। दूसरे शब्दों में कहे तो पहलेवाले (5-23) श्लोक को उनमें से हटाया गया है ऐसा दिखता है। अतः प्रश्न होता है कि दो-तीन तरह की पाठधाराओं में से किस धारा के पाठ को श्रद्धेय माना जाये।

कालिदास जिस सन्दर्भ में "अथवा" का विनियोग करते हैं वह बहुशः दुष्यन्त जब निषेधात्मक विचार पहले प्रस्तुत कर देता है, वहाँ तुरन्त ही उसी विचार को छोड़ कर कुछ सकारात्मक / आशाजनक विचार को कहना

चाहता है तब "अथवा" से उसका अवतार करता है। कोशकार "अथवा" निपात को पक्षान्तर का वाचक कहते हैं। उदाहरण के लिए—

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्ति।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र[19]॥ (1-15)

इस दृष्टि से देखे तो पञ्चमाङ्क के उपर्युक्त सन्दर्भ में (बंगाली पाठ में) तो "अथवा" का प्रयोग पक्षान्तर को प्रस्तुत करने के लिए नहीं हुआ है। एवमेव, उसी तरह से मैथिली वाचना में इन श्लोकों को "अपि च" से संलग्न किये है। किन्तु वहाँ पर भी "अपि च" जैसे निपातयुग्म का प्रयोग समुच्चयार्थक के स्वारस्य को प्रकट नहीं करता है। क्योंकि यहाँ दोनों ही श्लोकों में शकुन्तला की भ्रुकुटि का चित्र वर्णित किया गया है, अर्थात् एक ही विचार पुनरुक्त हो रहा है। अतः इतना तो पहले सिद्ध हो ही जाता है कि इन दोनों में से कोई एक श्लोक प्रक्षिप्त होने की पूरी सम्भावना है। अब सोचना है कि इनमें से कौन सा श्लोक प्रक्षिप्त हो सकता है। देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में केवल दूसरे श्लोक का ही स्वीकार हुआ है, ऐसा देख कर कोई कहेगा कि उनकी दृष्टि में वही मौलिक होगा। किन्तु देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में स्वीकार्य होने मात्र से वही मौलिक होगा—ऐसा निर्णय भी दे देना तार्किक नहीं है। इसकी परीक्षा करने के लिए, इस प्रसंग के पूर्वापर सन्दर्भ को देखना बहुत जरूरी है।

दुष्यन्त ने शकुन्तला को प्रत्याख्यात करने के लिए "प्राग् अन्तरिक्षगमनात् स्वम् अपत्यजातम् अन्यद्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति।" ऐसा बोल दिया है। इसको सूनते ही शकुन्तला ने दुष्यन्त को "अनार्य" कह कर भारी कोपवचन कहे हैं। जिसको सुनते सुनते दुष्यन्त ने स्वगत उक्ति के रूप में उपर्युक्त दो श्लोक बोले है। पहेलेवाले श्लोक में दुष्यन्त ने निरीक्षण किया है कि वनवासी होने के नाते शकुन्तला का कोप बिल्कुल स्वाभाविक (अविभ्रम) है। उसमें कोई कृत्रिम हावभाव नहीं है। और उसका अधरोष्ठ वेपमान होने के साथ विनीत भ्रूकुटियाँ भी एक साथ में वक्रता को धारण करती है। वही बात दूसरे श्लोक में पुनरपि कही जाती है कि उसकी

दोनों भ्रूकुटियाँ, जो बहुत ही विनत है, (जो स्वभाव से ही विनत है), वे एकदम भग्न होने से ऐसा लगता है कि मानों कामदेव का शरासन भग्न हो गया। इन वर्णनों को देख कर अनुमान किया जा सकता है कि दुष्यन्त कितना संवेदना विहीन व्यक्ति है। क्योंकि एक ओर शकुन्तला के जीवन पर वज्राघात किया गया है और दूसरी ओर नायक उसकी भ्रूकुटियाँ का काव्यात्मक रूप में विविधता से भरा निरूपण करता रहता है। पहलेवाले श्लोक में दुष्यन्त के चित्त में यह प्रतीति उदित हो जाती है कि शकुन्तला का कोप अकृत्रिम ही है। बस, प्रस्तुत सन्दर्भ में इतना ही पर्याप्त है, सह्य है। इससे अधिक कुछ नहीं। लेकिन दूसरे श्लोक में दुष्यन्त शकुन्तला की भग्न भ्रूकुटी के लिए जो उपमान का उपयोग करता है, वह काव्यत्व से मण्डित होते हुए भी पूर्वापर सन्दर्भ में सर्वथा अयुक्ति युक्त ही है। प्रस्तुत नाट्य प्रसंग में अग्राह्य है। यहाँ (दूसरे श्लोक की) पहेली दो पङ्क्तियाँ में दुष्यन्त अपना ही दोष देखने लगा है ऐसा कथन है, जो भी असंगत है। यदि वह इस बात से सहमत है कि मैं विस्मृत चित्तवृत्तिवाला हो गया हूँ और एकान्त में किये प्रणय को नहीं स्वीकारता हूँ, तो प्रत्याख्यान करने की मति से उसे विरत हो जाना चाहिए। अतः इस दूसरे श्लोक को ही प्रक्षिप्त मानना होगा। प्रोफेसर शरद रञ्जन राय (1908) ने भी इसी श्लोक को प्रक्षिप्त मानने का अभिप्राय दिया था। देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में इसी प्रक्षिप्त सिद्ध हो रहे दूसरे श्लोक का स्वीकार हुआ है। और जो प्रसंगोचित एवं नाट्यानुकूल प्रतीत हो रहा है वह प्रथम श्लोक अकेली काश्मीरी वाचना में संचरित हो कर हम तक पहुँचा है वही मौलिक सिद्ध होता है।

[8]

उपर्युक्त प्रथम श्लोक का उच्चारण करने के बाद, काश्मीरी वाचना के पाठ को संचरित करनेवाली पाण्डुलिपियों में दुष्यन्त प्रकाशोक्ति के रूप में बोलता है कि, (प्रकाशम्) भद्रे, दुष्यन्तचरितम् प्रजासु प्रथितम्। न चापीदं स्मर्यते। अथवा न चापीदं लक्ष्यते। अथवा न चापीदं दृश्यते।

किन्तु चार शारदा पाण्डुलिपियों में से जो एक भूर्जपत्र पर लिखी हुई (क्रमांक 192 वाली) पाण्डुलिपि है, उसमें तवापीदं दृश्यते। ऐसा पाठान्तर मिलता है। इसी का अनुसरण करते हुए मैथिली वाचना के पाठ में भी लिखा है कि भद्रे, प्रथितं दुष्मन्तचरितं प्रजासु। तवापीदं दृश्यते। यहाँ दुष्यन्त अपने स्वयं के चरित्र के बारे जो भी कहे वह उनके स्वाभिमान के अनुरूप कहा जायेगा एवं उसके औचित्य को लेकर कोई सवाल पैदा नहीं हो सकता। किन्तु वह टोना मारते हुए, शकुन्तला को उसके सामने कहे कि तेरा चरित कैसा है वो भी अभी दिख रहा है, तो ऐसा वाक्य अस्वाभाविक लगता है। तथा धीरोदात्त प्रकार के नायक के अनुरूप नहीं लगता। अतः केवल भूर्जपत्र पर लिखी एक पाण्डुलिपि में उपलब्ध होनेवाला पाठान्तर किसी रंगकर्मी की नौटंकी लगती है। जिसका अनुसरण मैथिली वाचना में किया गया है। किन्तु ऐसा पाठभेद किसी दूसरी पाठपरम्परा में कहीं पर भी उपलब्ध नहीं होता है। देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में "(प्रकाशम्) भद्रे, दुष्यन्तचरितम् प्रजासु प्रथितम्। न चापीदं दृश्यते।" ऐसा पाठभेद है, लेकिन वह पाठ काश्मीरी वाचना की अन्य पाण्डुलिपियों के पाठ से कोई तात्त्विकभेद नहीं रखता है। बंगाली में भी "(प्रकाशम्) भद्रे, प्रथितं दुष्यन्तचरितं प्रजासु। नापीदं दृश्यते।" ऐसा पाठ मिलता है, उसमें भी कोई आपत्ति नहीं है। तथापि इतना जरूर कहना होगा कि तवापीदं दृश्यते। वाले पाठान्तर को जिस किसी अज्ञात रंगकर्मी ने दाखिल किया है, उसी ने अनुगामी उक्ति के रूप में शकुन्तला के मुख में एक गाथा भी प्रस्तुत की है, प्रक्षिप्त की है। भूर्जपत्रवाली पाण्डुलिपि में प्रथम बार दाखिल हुई यह गाथा कालान्तर में मैथिली द्वारा अनुसृत होकर, क्रमशः बंगाली वाचना की अन्यान्य पाण्डुलिपियों में भी संचरित होने लगी है।

दुष्यन्त के मुख में जब "तवापीदं दृश्यते।" वाक्य को एक पाठभेद के रूप में दाखिल किया गया है, तो उसी के अनुसन्धान में शकुन्तला के मुख में भी एक गाथा नई दाखिल की हुई मिलती है। जिसमें शकुन्तला ने कहा है कि क्या आप (दुष्यन्त) ही केवल प्रमाणज्ञ है और आप ही

अकेले लोकमान्य धर्मस्थिति को जानते हैं? तथा लज्जाशील महिलायें क्या कुछ जानती ही नहीं है?

तुम्हे ज्जेव पमाणं जाणध धम्मत्थिदिञ्च लोअस्स।
लज्जाविणिज्जिदाओ जाणन्ति ण किं पि महिलाओ॥26॥
(संस्कृतच्छाया) यूयमेव प्रमाणं जानीथ धर्मस्थितिञ्च लोकस्य।
लज्जाविनिर्जिता जानन्ति न खलु किमपि महिलाः॥

यह गाथा रिचार्ड पिशेल की आवृत्ति में ग्राह्य नहीं बनी है। क्योंकि बंगाली वाचना के पाठ पर टीका लिखनेवाले और प्रमाणभूत माने गये टीकाकार चन्द्रशेखर चक्रवर्ती ने इस श्लोक को "गाथेयं, पुराणपुस्तके न दृश्यते। नातिचारुः।" कही है।[21] लेकिन बंगाली पाण्डुलिपियों में यह गाथा बहुशः संचरित होती रही है, इस लिए डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने उसे स्वीकारा है। काश्मीरी एवं मैथिली वाचना में भी यह गाथा संचरित हुई दिख रही है। किन्तु इस गाथा को मौलिक मानना मुश्किल है, क्योंकि यह तो शकुन्तला के व्यक्तित्व का दूसरा ही रूप प्रकट करती है, जो समग्र नाटक में आलिखित शकुन्तला के स्वरूप से भिन्न है। तथा प्रत्याख्यान-जनित करुणता के प्रभाव का अपकर्ष करनेवाली सिद्ध होती है। इस लिए इसकी मौलिकता पर प्रश्न चिह्न लगा हुआ है।

ऐसा लगता है कि, किसी अज्ञात रंगकर्मी ने जब दुष्यन्त के मुख से "तवापीदं दृश्यते" वाला नवीन पाठान्तर प्रस्तुत करवाया है, उसी ने यह गाथा भी प्रक्षिप्त की होगी। क्योंकि "तवापीदं दृश्यते" जैसा टोना मारने के बाद ही, उसको सुन कर शकुन्तला यह गाथा प्रस्तुत करे उसी में संगति बैठती है। कहने का तात्पर्य यही है कि "तवापीदं दृश्यते" जैसा टोना ही विवाद की, (या कहो नौटंकी की) स्थिति को पैदा कर सकता है।

[9]

पञ्चमाङ्क में कुल मिला के श्लोक-संख्या कितनी है? ऐसा प्रश्न पूछा जाए तो, वह 31 से लेकर 34 के बीच होगी। क्योंकि काश्मीरी वाचनानुसार कुल श्लोक 33 है, मैथिली में 34 है, बंगाली में रिचार्ड पिशेल के मत

से 33 है और दिलीपकुमार काञ्जीलाल के मत से 34, तथा टीकाकार चन्द्रशेखर चक्रवर्ती ने भी 34 श्लोकों पर टीका लिखी है। किन्तु लघुपाठवाली देवनागरी में वह संख्या 31 हो जाती है तथा दाक्षिणात्य वाचना में भी 31 श्लोक स्वीकार्य बने है। 33 श्लोकवाली काश्मीरी वाचना में *मय्येवमस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ* वाला श्लोक नहीं है। हमने उपर्युक्त चर्चा में देखा है कि वह प्रथमबार मैथिली वाचना में प्रक्षिप्त हुआ है और बंगाली में उसका अनुसरण हुआ है। तथा शकुन्तला के मुख में रखी गई *तुम्हें य्येव पमाणं जाणध*। गाथा को जैसे टीकाकार चन्द्रशेखर ने पुराणपुस्तक में नहीं होने से मौलिक पाठ के रूप में अग्राह्य बताई है। इस लिए उसको भी मूल पाठ में से हटाई जाए तो इस अङ्क में कुल 32 श्लोक ऐसे है कि जिसके बारे में एकमति हो सकती है॥ तथापि यह भी स्मरणीय है कि इन 32 श्लोकों के उपस्थिति-क्रम में एकमति नहीं है, जिसकी चर्चा प्रारम्भ में रखी है। जिसके उपलक्ष्य में यह निरीक्षण दिया गया है कि काश्मीर वाचना में जो पाठक्रम संचरित हो कर हम तक आया है वही नाट्यक्षम प्रतीत हो रहा है। अतः उसमें ही मौलिकता सुरक्षित रही होगी, ऐसा अनुमान कर सकते हैं। देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में तो संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति बहुत सक्रिय हुई है, इसलिए उन दोनों में *क्षणात् प्रबोधमायाति ।* वाला कञ्चुकी का श्लोक भी हटाया गया है, जिसके कारण उन दोनों में 31 श्लोक-संख्या होती है।

[10]

उपसंहार : अभि. शकु. के पञ्चमाङ्क में मुख्य रूप से उपर्युक्त पाठभेदों का संचरण विभिन्न वाचनाओं में हुआ है। पाठशोधकों एवं रंगकर्मिओं के द्वारा अपने अपने सन्दर्भो में इन पाठभेदों को जन्म दिया होगा। यदि इन सन्दर्भों को परिगणित किया जाए तो वह निम्नोक्त चतुर्विध स्वरूप के हैः-

1. चतुर्थाङ्क के साथ पञ्चमाङ्क का अनुसन्धान कैसे दिखाया जाये? कञ्चुकी की उक्ति से, या फिर सीधे हंसपदिका के गीत

से अङ्क का आरम्भ होना चाहिए? इसमें मतभेद है।

2. राजा दुष्यन्त को दुर्वासा के शाप से शकुन्तला-वृत्तान्त की विस्मृति हो गई है इसका ध्वनन कैसे किया जाये? कञ्चुकी की एकोक्ति के द्वारा राजा की विस्मृति प्रदर्शित की जाये, या फिर हंसपदिका के गीत से? इसमें मतभेद है।
3. शकुन्तला का प्रत्याख्यान कैसे अधिक प्रतीतिकर बनाया जाये? इसके लिए हंसपदिका-गीत से बाद वैतालिकों का गान होना चाहिए या फिर पहले वैतालिकों के श्लोकों का गान हो जाने के बाद, राजा को उन्मनस्क (या पर्याकुलित) स्थिति में ही दिखाया जाये?
4. प्रत्याख्यात शकुन्तला का व्यक्तित्व कैसा होना चाहिए? राजा को अनार्य शब्द से सम्बोधित किया जाना उचित होगा, या फिर महिलाओं को भी धर्मस्थिति को जाननेवाली बताई जाये? ऐसी अलग अलग विचारधाराओं में से उपर्युक्त पाठभेदों का जन्म हुआ है।
5. तथा, अभि. शकु. की पाँचों वाचनाओं में से मैथिली एवं बंगाली पाठ विकृत हुआ एवं प्रक्षेप से भरा पाठ है ऐसा लगता है। देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं का पाठ संक्षिप्त किया गया है। इन सब की अपेक्षा से, काश्मीरी वाचना का पाठ अपने साद्यन्त स्वरूप में सब से अधिक नाट्यक्षम एवं मौलिकता के नजदीक है, जो उसकी अद्वितीयता सिद्ध करनेवाला है।

सन्दर्भ

1. यह भी हकीकत है कि अभिज्ञानशाकुन्तल के पाठकों में से 99 प्रतिशत से भी अधिक पाठक तो प्रचलित पाठ की दुर्दशा से अनभिज्ञ ही है।
2. अभिज्ञानशाकुन्तल की देवनागरी वाचना का समीक्षित-पाठसम्पादन श्री पी.एन. पाटणकर ने 1889 में किया है। बंगाली वाचना का समीक्षित पाठसम्पादन रिचार्ड पिशेल ने 1876 में किया, वही कार्य डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने 1980 में किया। मैथिली वाचना का समीक्षित सम्पादन डॉ. रमानाथ झा ने 1957 में किया।

तथा काश्मीरी वाचना का तथाकथित पाठसम्पादन डॉ. एस. के. बेलवालकर जी ने 1965 में किया था। (लेकिन उसमें पाण्डुलिपियों का विवरण एवं पादटिप्पणी में एक भी पाठान्तरादि का निर्देश नहीं है।)

3. डॉ. रेवाप्रसाद जी ने कालिदास की सातों कृतियों को विविध पाठान्तरों के साथ कालिदास-ग्रन्थावली सम्पादित की है। तथा डॉ. काञ्जीलाल ने केवल बंगाली वाचना के अभिज्ञानशकुन्तल की समीक्षितावृत्ति सम्पादित की है।
4. मैथिली एवं बंगाली पाठ में हंसपदिका नाम नहीं है, उन दोनों में तो हंसवती नाम मिलता है। ऐसा पाठभेद बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है।
5. अन्य छोटे-छोटे पाठभेदों के रूप में काश्मीरी में प्रतिहारी का नाम वसुमती है, तो मैथिली में उसका नाम वेत्रवती है। काश्मीरी के अवीतरागस्य के स्थान में बंगाली में श्रमणस्य है, तो मैथिली में सुगतस्य है। षष्ठांशवृत्तेरपि एष धर्मः के पूर्व तृतीय चरण में काश्मीरी में अवेक्ष्य दाह्यं न शमोऽस्ति वहनेः' है, किन्तु मैथिली एवं बंगाली में शेषः सदैवाहित भूमिभारः ऐसा चरण रखा गया है। इत्यादि।
6. डॉ. एस.के. बेलवालकर, डॉ. वी. राघवन् एवं डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने अकेले इस नाकलासिका-दृश्य को ही काश्मीरी वाचना की अलग पहचान देनेवाला दृश्य कहा है।
7. यहाँ "अभिनवमधुलोलुपः" के स्थान में, बंगाली वाचना में "अभिनवमधुलोभभावितः" ऐसा पाठभेद मिलता है, जो मधुकर का विशेषण बनता है। किन्तु, मैथिली वाचना में जो "अभिनवमधुलोभभाविताम्" ऐसा पाठभेद मिलता है, वह चूतमञ्जरी का विशेषण बनेगा। लेकिन इन पाठभेदों को लेकर अर्थावबोध में कोई बड़ी समस्या नहीं पैदा हुई है।
8. हंसवती मुख्यमहादेवीनाम। अथ च शकुन्तलाकृताक्रोशसूचनम्। हंसः शकुन्तः तं लाति, ला आदाने धातुः, आदत्ते इति हंसवती शकुन्तलेति। शङ्करकृतायां रसचन्द्रिकायाम् पृ. 254।
9. शकुन्तलोक्तिरियम्। गौतमीपठिता गीतिरियमित्यन्तः। सन्दर्भदीपिका, पृ. 177।
10. अन्तरान्तरेण युक्ते। पा. सू. 2-3-4 (कौमुदी—आभ्यां योगे द्वितीया स्यात्। अन्तरा त्वां मां च कमण्डलुः। अन्तरेण हरिं न सुखम् प्राप्यते।)
11. अथवा हंसपदिका-गीत में अन्यापदेश का प्रयोग हुआ है इस कारण से जो अनेकविध अर्थ उद्‌भासित होते हैं, उससे छुटकारा पाने के लिए मैथिली एवं बंगाली पाठशोधकों ने वसुमती शब्द को हटाया होगा। (यहाँ प्रस्तुत गीत के अन्यापदेश अर्थात् अन्योक्ति के कारण जो विविध अर्थ प्रस्फुटित होते हैं उसका संक्षिप्त परिचय इस तरह का हैः- काटयवेम ने लिखा है कि इस ध्रुवा गीति से हंसपदिका अपने को भूल गये राजा को मधुकर के व्याज से उपालम्भ दे रही है ऐसा समझ में आता है। तथा इसी गम्यमान अर्थ से जो (हस्तिनापुर में) आ रही है उस शकुन्तला

का भी राजा को विस्मरण हो गया है ऐसा भी सूचित होता है।[11] अभिराम ने लिखा है कि राजा दुष्यन्त ने जिसके साथ रतिकेलियाँ खेली थी और बाद में देवी के भय से उसकी उपेक्षा की थी ऐसी हंसपदिका नामक कोई एक वल्लभा "अभिनवमधुलोलुप" शब्दों से तुल्यावस्थ मधुकर के व्याज से राजा को उपालम्भ दे रही है[11]। आम्रमञ्जरी समान हंसपदिका का परिचुम्बन करने के पश्चात् चिरपरिचित कमल में (याने महादेवी वसुमती में) केवल निवासमात्र से, रसास्वाद विहीन होने के बावजुद भी अपने को सुखी मानता हुआ दुष्यन्त उस हंसपदिका को क्यूं भूल गया है। यह गीत का अक्षरार्थ है। अभिराम आगे कहते है कि रानी हंसपदिका ने यहाँ नैपुण्य के साथ अन्यापदेश का विनियोग किया है, जिससे यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा के रूप में "दुष्यन्त को अब शकुन्तला का विस्मरण हो गया है" ऐसी संसूच्य वस्तु भी (प्रेक्षकों के दिमाग में) अभिव्यक्त हो जाती है।[11] काटयवेम और अभिराम ने इस पद्य का दो तरह से, अर्थात् वक्तृपक्ष से और प्रेक्षकों के पक्ष से जो अर्थ करके दिखलाया है वह समीचीन है।)

12. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अर्थद्योतनिकासमेतम्। प्रका. राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 2006, पृ. 151।
13. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, घनश्यामकृतसञ्जीवनटिप्पणसमेतम्, अहमदावाद, पृ. 112
14. काश्मीरी वाचना में प्रतिहारी का नाम वसुमती हैं मैथिली एवं बंगाली में प्रतीहारी का नाम वेत्रवती है।
15. स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु सन्दृश्यते किमुत याः परिबोधवत्यः।
    प्रागन्तरिक्ष गमनाद् स्वमपत्यजातम् अन्यद्विजैः परभृतः किल पोषयन्ति॥ का 5-23॥
16. मैथिली वाचना में नायक का नाम दुष्मन्त दिया गया है, और बंगाली वाचना में दुःषन्त नाम मिलता है।
17. बंगाली वाचना में "स्वभावविनते" ऐसा पाठभेद है।
18. मैथिली वाचना में "तवापीदं दृश्यते।" पाठ है, लेकिन अन्यत्र "तथापीदं न दृश्यते।" जैसा पाठभेद है। इसकी चर्चा आगे की जायेगी।
19. दृष्टव्यः-रघुवंश में—क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः। तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥ अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः। मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥ (सर्गः 1, श्लो, 2, 4)
20. द्रष्टव्यः-उनका सम्पादित किया गया अभिज्ञानशाकुन्तलम्, पृ. 514-515।
21. सन्दर्भदीपिकया सहितम् अभिज्ञानशकुन्तलम्। सं. वसन्तकुमार भट्टः राष्ट्रिय पाण्डुलिपि मिशन, दिल्ली, 2013, पृ. 187।

(च) हंसपदिका-गीत एवं भ्रमर का प्रतीक : पुनः परामर्श

भूमिका : अभिज्ञानशकुन्तला नाटक के पञ्चमाङ्क में हंसपदिका-गीत का प्रसंग आता है। इस गीत को सुनने के बाद विदूषक ने राजा दुष्यन्त को प्रश्न पूछा हैः "क्या आपने इस गीत का अक्षरार्थ समझा?" यह प्रश्न सहृदय प्रेक्षकों और पाठकों को भी शताब्दियों से पुछा गया है। लेकिन उसका कोई एक निश्चित अर्थ होना सम्भव नहीं लगता है। सभी ने अपनी अपनी भावयित्री प्रतिभा के अनुसार उसका उत्तर सोचा है। टीकाकारों की लम्बी परम्परा ने भी इस विषय में खूब सोचा है और हमारी मदद की है। दुष्यन्त के जीवन का एक पहलु, जो अखण्ड पुण्यों के फल स्वरूप आकारित होता है, वह है कण्वाश्रम के प्राङ्गण में तापस-कन्या शकुन्तला से हुआ प्रेम-प्रसंग। नाटक के पहले तीन अङ्कों में कवि कालिदास ने इस अकृत्रिम प्रेम-प्रसंग का निरूपण प्रत्यक्ष रूप से किया है। लेकिन पञ्चमाङ्क के आरम्भ में, हस्तिनापुर के राजमहलों में चल रहे उसके वैवाहिक जीवन का दूसरा पहलु परोक्ष रूप से प्रस्तुत होता है। इस दूसरे पहलु का केन्द्रीभूत स्थान है हंसपदिका-गीत का प्रसंग। अतः हंसपदिका-गीत से जुड़े मत-मतान्तरों की समीक्षा करना बहुत आवश्यक है।तथा इस हंसपदिका-गीत से सम्बद्ध मधुकर का प्रतीक भी प्रस्तुत नाट्य-कृति में निरूपित हुए प्रेम-प्रसंग को समझने की चावी स्वरूप है या नहीं? इसकी भी आलोचना करनी अनिवार्य है। क्योंकि नायक के लिए प्रयुक्त भ्रमर के प्रतीक के उपरान्त नायिका शकुन्तला के लिए भी प्रयुक्त हुए (हरिणी जैसे) दूसरे प्रतीकों को इस चर्चा में शामिल करना चाहिए। अन्यथा हम

दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रेम-प्रसंग की गरिमा एवं उसका विकास किस स्वरूप में हुआ है? उसको ठीक तरह से नहीं समझ पायेंगे।

[1]

मैथिली वाचना के सुप्रसिद्ध टीकाकार शङ्कर ने हंसपदिका-गीत का स्वरूप बताते हुए कहा है कि इसमें प्रच्छादक नाम का लास्याङ्ग निरूपित हुआ है। कविकण्ठहार ग्रन्थ में लिखा है कि *"अन्यासक्तं पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमन्युना। वीणापुरस्सरं गानं स्त्रियाः प्रच्छादको मतः॥'* कोई परिणीता स्त्री अपने पति को अन्य स्त्री में आसक्त है ऐसा जान कर, प्रेमविच्छेद होने से मन्युग्रस्त होकर जब वीणा के साथ किसी गीत को प्रस्तुत करती है तो उसे प्रच्छादक नामका लास्याङ्ग[1] कहते है[1]। अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में हंसपदिका का गीत भी इसी स्वरूप का है।

इस नाटक की सुप्रचलित देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में इस प्रसंग का पाठ्यांश निम्नोक्त स्वरूप का है :

विदूषक : (कर्णं दत्त्वा) भो वअस्स, संगीदसालंतरे अवधाणं देहि। कलविसुद्धाए गीदीए सरसंजोओ सुणीअदि। जाणे तत्तहोदी हंसवदिआ वण्णपरिअअं करेदि त्ति।

राजा : तूष्णीं भव। यावदाकर्णयामि।

(**आकाशे गीयते**)

अहिणवमहुलोलुवो भवं तह परिचुंबिअ चूअमंजरिं।
कमलवसइमेत्तणिव्वुदो महुअर विम्हरिओ सि णं कहं॥ 5-1॥

राजा : *अहो रागपरिवाहिनी गीतिः।*

विदूषक : *किं दाव गीदीए अवगओ अक्खरत्थो।*

राजा : *(स्मितं कृत्वा) सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः। तस्याः देवीं वसुमतीमन्तरेण मदुपालम्भमवगतोऽस्मि।*
सखे माढव्य, मद्वचनाद् उच्यतां हंसपदिका। निपुणमुपालब्धोऽस्मि इति॥

प्रोफेसर श्रीरेवाप्रसाद द्विवेदी जी ने इसमें से हंसपदिका-गीत का

हिन्दी अनुवाद इन शब्दों से किया हैः-''अभिनव मधु के लोलुप तुम, हे मधुकर! भूल कैसे गए उस प्रकार चुम्बन कर उस आम्रमञ्जरी को? केवल कमल में निवास पाकर हो गए तुम तुष्ट। ऐसा कैसे?''

[2]

परम्परागत टीकाकारों के दिमाग में उसके तरह तरह के अर्थ उद्-भासित हुए हैं। उसका प्रमुख कारण यही है कि कवि कालिदास ने इस हंसपदिका-गीत में अन्योक्ति (अन्यापदेश) का गुम्फन किया है। सब से पहले देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना पर टीका लिखनेवाले प्राचीन टीकाकारों का इस विषय में क्या कहना है वह देखते हैः- काटयवेम ने लिखा है कि इस ध्रुवा गीति से हंसपदिका अपने को भूल गये राजा को मधुकर के व्याज से उपालम्भ दे रही है ऐसा समझ में आता है। तथा इसी गम्यमान अर्थ से जो (हस्तिनापुर में) आ रही है उस शकुन्तला का भी राजा को विस्मरण हो गया है ऐसा भी सूचित होता है[2]। अभिराम ने लिखा है कि राजा दुष्यन्त ने जिसके साथ रतिकेलियाँ खेली थी और बाद में देवी के भय से उसकी उपेक्षा की थी ऐसी हंसपदिका नामक कोई एक वल्लभा "अभिनवमधुलोलुप" शब्दों से तुल्यावस्थ मधुकर के व्याज से राजा को उपालम्भ दे रही है[3]। आम्रमञ्जरी समान हंसपदिका का परिचुम्बन करने के पश्चात् चिरपरिचित कमल में (याने महादेवी वसुमती में) केवल निवास मात्र से, रसास्वाद विहीन होने के बावजुद भी, अपने को सुखी मानता हुआ दुष्यन्त उस हंसपदिका को क्यूं भूल गया है? यह गीत का अक्षरार्थ है। अभिराम आगे कहते है कि रानी हंसपदिका ने यहाँ नैपुण्य के साथ अन्यापदेश का विनियोग किया है, जिससे यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा के रूप में "दुष्यन्त को अब शकुन्तला का विस्मरण हो गया है" ऐसी संसूच्य वस्तु भी (प्रेक्षकों के दिमाग में) अभिव्यक्त हो जाती है[4]। काटयवेम और अभिराम ने इस पद्य का दो तरह से, अर्थात् वक्तृपक्ष से और प्रेक्षकों के पक्ष से जो अर्थ करके दिखलाया है वह समीचीन है। यहाँ प्रसंगवशात् अन्य रसिकों ने क्या सोचा है वह भी दृष्टव्य है।

शाकुन्तल के विभिन्न टीकाकारों के योगदान की चर्चा करते हुए श्रीराधावल्लभ त्रिपाठी ने कहा है कि शंकर और नरहरि दोनों अलंकारवादी होने के कारण भाषा तथा व्युत्पत्ति पर अपना ध्यान अधिक केन्द्रित करते हैं। शकुन्तला यह संज्ञा तो पौराणिक कथानक में सुप्रसिद्ध है, पर हंसपदिका का नाम तो कविकल्पित है। हंसपदिका-इस नाम की कल्पना में कवि ने जाने या अनजाने शकुन्तला के नाम की ही छाया ले ली है। "हंसः शकुन्तः तं लातीति शकुन्तलाऽप्यत्र सूच्यते" इस व्याख्या के द्वारा मिथिला के टीकाकार अहिणवमहु करुणगीति को एक नया आयाम देते है, वह गीति मात्र दुष्यन्त की किसी सकृत्कृतप्रणया अन्तःपुरिका का आह्वान नहीं, आश्रमकन्या शकुन्तला की भी सीधे-सीधे व्यथित पुकार है[5]।

घनश्याम ने कहा है कि हंसपदिका "भोगिनी स्त्री" का नाम है। यहाँ मधुकर से दुष्यन्त, चूतमञ्जरी से हंसपदिका, मधु से नव सम्भोग-विलास एवं कमल से शकुन्तला व्यंजित होती है। (मतलब कि दुष्यन्त ने जब से शकुन्तला का प्रेम प्राप्त किया है तब से लेकर उसने हंसपदिका के साथ भोग करना छोड़ दिया है।) इस पद्य का वक्तृ-पक्ष से (याने हंसपदिका के पक्ष से) अर्थ सोचा जाये तो रानीवास में बैठी हंसपदिका राजा दुष्यन्त अपने को अब भूल गया है उसकी शिकायत कर रही है। (परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीं विस्मृतोऽसि कथमेनाम्)।

टीकाकार घनश्याम ने एक तीसरे अर्थ की सम्भावना भी प्रदर्शित की है। वे कहते हैं कि, कमल स्थान में हंसपदिका को रखी जाये तो इस पद्य का अर्थ बदल जायेगा। जैसे कि, मुझ हंसपदिका रूप कमल में तूं अब निवास मात्र करता है, (वसतिमात्र तो शुष्क स्थिति को कहनेवाली है), लेकिन चूतमञ्जरी स्वरूपा शकुन्तला को तूं (दुष्यन्त) क्यूं भूल गया है? ऐसा नाट्यगत अर्थ भी हो सकता है[6]। अर्थात् आज शकुन्तला जो पतिगृह की ओर आ रही है, उसको दुष्यन्त दुर्वासा के शाप से भूल गया है। इस परिस्थिति का यहाँ (प्रेक्षकों को) सूचन दिया जाता है। (घनश्याम का यह तीसरा अर्थ काटयवेम एवं अभिराम के द्वारा दिये गये दूसरे अर्थ के समान ही है।)।

[3]

विभिन्न टीकाकारों ने इस गीत से सम्बद्ध विभिन्न अर्थ विच्छित्तियाँ प्रकट की है, इन सब का निष्कर्ष निकाल कर कहना हो तो हंसपदिका-गीत से यदि "वसुमती-वृत्तान्त" ध्वनित होता है ऐसा माना जाये तो चूतमञ्जरी शब्द से हंसपदिका और कमलिनी शब्द से वसुमती लक्षित होती है। मतलब कि इस गीत से राजा दुष्यन्त को कहा जाता है कि तूँ हंसपदिका को क्यूँ भूल गया है? इसका समर्थन करते हुए राजा ने कहा है कि इस हंसपदिका से मैं ने एक बार संगम किया था, लेकिन बाद में मैंने उसकी उपेक्षा कर दी है। जिसके कारण देवी वसुमती को उद्दिष्ट करके इस हंसपदिका के द्वारा मुझे उपालम्भ दिया गया है, वह मैं समझ गया हूँ[7]। यदि इसी अर्थ को विस्तारित किया जायेगा तो, जैसे कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर[8] ने कहा है, उसमें दुष्यन्त की भ्रमरवृत्ति भी व्यंजित हो रही है। और दुष्यन्त की इस भ्रमरवृत्ति को हटाने के लिए कालिदास ने दुर्वासा का शाप प्रयुक्त किया है। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ जी का अनुसरण करते हुए कविश्री उमाशङ्कर जोशी ने ऐसा भी कहा है कि दुष्यन्त में व्यष्टि-निष्ठा का अभाव था, (और शकुन्तला में समष्टि-निष्ठा का अभाव था), इस लिए कालिदास ने दुर्वासा के शाप का विधान किया है। इस तरह से हंसपदिका-गीत के माध्यम से, दुष्यन्त के स्वभाव में रही भ्रमरवृत्ति का जो परोक्ष रूप से कथन किया गया है उससे रवीन्द्रनाथ जी ने नायक-नायिका के प्रेम का मूल्यांकन करने का एवं दुर्वासा के शाप का प्रयोजन ढूँढने का उपक्रम स्वीकारा है।

किन्तु, हंसपदिका के गीत से "शकुन्तला-वृत्तान्त" प्रतिध्वनित होता है ऐसा मानेंगे तो अभिनव अधरामृत का लालची दुष्यन्त चूतमञ्जरी सदृश शकुन्तला को परिचुम्बन करके, अर्थात् गान्धर्व-विवाह करके, अब कमलवसति मात्र से सुखी रहनेवाला बना है, अर्थात् अन्तःपुर में विहार करने मात्र से संतुष्ट रहने लगा है, और इस शकुन्तला को भूल ही गया है[10]। यही बात दूसरे शब्दों में अन्य विद्वानों ने भी कही है। वे हंसपदिका के उपालम्भ को महत्त्व न दे कर, दुष्यन्त अब "कमलवसतिमात्र निर्वृत" हुआ है इस

बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं[11]। जिसका मतलब होता है कि अनेक रानियों से भरे अन्तःपुर में दुष्यन्त को कभी भी सच्चे प्रेम का अनुभव ही नहीं हुआ था, लेकिन शकुन्तला का प्रेम मिलने के बाद अब उसके दिल में आप्तकाम होने का भाव स्थायी रूप से प्रतिष्ठित हो गया है।

सारांशतः हंसपदिका-गीत का अभिधार्थ देखा जाये तो उसमें "वसुमती-वृत्तान्त" कहा गया है, और उसमें से ध्वनित होता हुआ व्यङ्ग्यार्थ देखेंगे तो यहाँ "शकुन्तला-वृत्तान्त" सूचित किया गया है। यह दृष्टि परम्परागत टीकाकारों की रही है। आधुनिक समय में, कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ जी ने हंसपदिका-गीत का (केवल) अभिधार्थ ही लिया है, तथा (परम्परागत टीकाकारों के मार्ग से हट कर) इस गीत में आये हुए "मधुकर" शब्द के प्रयोग से दुष्यन्त में रही भ्रमरवृत्ति को व्यङ्ग्यार्थ के रूप में लिया है। तथा ऐसे अर्थको लेकर दुर्वासा के शाप का प्रयोजन समझाया है।

लेकिन इस गीत में से प्रस्फुटित हो रही एकाधिक अर्थच्छटाओं में से किसको प्राधान्य देकर नायक-नायिका के प्रेम-प्रसंग का कैसे अर्थघटन किया जा सकता है? वह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है[12]। तथा ऐसी साहित्य-समीक्षा को अग्रेसर करके पुरोगामी साहित्य-समालोचकों ने चाहे जो भी मनोहारी विवेचन किया हो, उसकी कड़ी परीक्षा तो तब होती है जब विविध पाण्डुलिपियों में मिल रहे एकाधिक पाठभेदों के सन्दर्भ में पाठसमीक्षा करने का अवसर आता है।

[4]

दुष्यन्त ने हंसपदिका-गीत को सुन कर जो प्रत्युत्तर हंसपदिका को भेजा है, केवल उस प्रत्युत्तर को देख कर इस प्रसंग की आलोचना नहीं की जा सकती है। क्योंकि, उपालम्भ का प्रत्युत्तर भेजने के बाद भी दुष्यन्त का मन उस गीत के प्रभाव में से बाहर नहीं निकल सकता है–यह भी हकीकत है, जो ध्यातव्य है। विदूषक रंगमंच से विदाई लेता है। अब रंगमंच पर अकेला खड़ा राजा पर्याकुलित (या उन्मनस्क) हो जाता है।

उसके मुख से आत्मगत उक्ति के रूप में निम्नोक्त शब्द निकलते हैं, वह पुनरपि श्रवणीय हैः-

किं नु खलु गीतार्थमाकर्ण्येष्टजनविरहाद् ऋतेऽपि बलवदुत्कण्ठितोऽस्मि।

अथवा,

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम् भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ 5-3॥

इससे हमें, प्रेक्षकों को पता चलता है कि राजा दुष्यन्त यह सोच रहा है कि, "मुझे कोई इष्टजन का विरह तो है नहीं, फिर भी मेरा मन (किसी अज्ञात या विस्मृत प्रियजन के विरह में) उत्कण्ठित क्यों हो रहा है? पहले कभी जिसका बोध ही न हुआ हो ऐसे किसी जननान्तर के सौहृद को मेरा चित्त आज याद कर रहा है।"इन शब्दों को सुन कर प्रेक्षकों के मन में यह बात निश्चित हो जाती है कि हंसपदिका-गीत को सुन कर दुष्यन्त का मन (जो केवल भाव रूप से स्थित है और जो जननान्तर के सौहृद स्वरूप बन गया है, उस) शकुन्तला-वृत्तान्त को ही याद करने की कोशिश कर रहा है। दुर्वासा के शापवशात् विस्मृति की गर्ता में चला गया वह वृत्तान्त असंप्रज्ञात मन में से निकल कर संप्रज्ञात मन में आने की विफल कोशिश बार बार कर रहा है। अब ऐसी पर्याकुलित मनःस्थिति में यदि शकुन्तला सामने आ जाये, और उनसे किये परिणय-सम्बन्ध की बात छेड़ी जाये तो दुष्यन्त के लिए उसका प्रत्याख्यान दृढ़ता के साथ करना सम्भव ही नहीं था। अतः एव, कालिदास ने यहाँ राजा की नैतिकता एवं धर्मबुद्धि को जाग्रत करने के लिए, वैतालिकों का गान प्रयुक्त किया है।

यदि, यहाँ मैथिली एवं बंगाली वाचननाओं में जैसा पाठक्रम निर्धारित हुआ है वैसा पाठक्रम माना जाये तो कञ्चुकी की उक्ति के तुरंत बाद वैतालिकों के द्वारा (पहले) श्लोकगान होता है, जिसको सुन कर राजा ने कहा है कि राजकार्यों से परिश्रान्त हुए हम फिर से नवीन किये गये हैं[13]। तदनन्तर राजा और विदूषक को संगीतशाला से आ रही वीणागान की आवाज सुनाई देती है। मतलब कि इन दोनों वाचनाओं में, वैतालिकों के गान के बाद दूसरे क्रम में हंसवती का गीत रखा गया है। इस तरह

के विपरित पाठक्रम का फल यह होगा कि हंसवती के गीत से उन्मनस्क (पर्याकुलित) हुए नायक के सामने शकुन्तला को उपस्थित की जाती है। यह एक ऐसी स्थिति है कि जिस स्थिति में वह (दुष्यन्त) शकुन्तला का प्रत्याख्यान दृढ़ता के साथ नहीं कर सकता था। अतः जो पाठक्रम काश्मीरी, देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में स्वीकारा गया है वही प्रसंगोचित है। इस क्रम में हंसपदिका के गीत से पर्याकुलित हुए मनवाले राजा की नैतिक एवं धर्मबुद्धि को पहले जाग्रत की जाती है, सक्रिय की जाती है। जिसके कारण वह शकुन्तला की बातों का दृढ़ता के साथ परिहार कर देता है। मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में वैतालिकों के गान की प्रस्तुति निष्फल प्रतीत होती है[14]। कहने का तात्पर्य यही है कि हंसपदिका-गीत में आये मधुकर जैसे शब्द से दुष्यन्त की भ्रमर वृत्ति का व्यङ्ग्यार्थ निकालने की जो सोच है वह चिन्त्य है। यदि महाकवि कालिदास ने अपने मूल पाठ में हंसपदिका-गीत के बाद वैतालिकों का श्लोक गान रखा होगा तो (और उसी तरह का पाठक्रम रहा होगा ऐसा काश्मीरी वाचना के प्राचीनतम पाठ को देख कर दिखता है तो) टीकाकारों ने जैसा बताया है वैसा ही, यानें हंसपदिका-गीत से दुष्यन्त के असंप्रज्ञात मन में, व्यङ्ग्यार्थ के रूप में केवल शकुन्तला-वृत्तान्त ही अप्रकट रूप से झंकृत हुआ है। अन्यथा इस कृति के पाठ में आगे चल कर जो "रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्" वाला श्लोक है, उसका कोई विशेष प्रयोजन नहीं है ऐसा मानने की अवाञ्छनीय स्थिति पैदा होगी।

[5]

हंसपदिका-गीत के सन्दर्भ में कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जो मत है, उसको उन्ही के शब्दों में देख लेना चाहिएः-

"पंचम अंक के प्रारम्भ में राजा के चंचल प्रणय का यह परिचय निरर्थक नहीं है। इसके द्वारा कवि ने बतला दिया है कि दुर्वासा के शाप के द्वारा जो घटना हुई है उसका बीज राजा के स्वभाव में था। काव्य का सौन्दर्य नष्ट न होने के लिए जो बात दैवी घटना के रूप में दिखाई

गई है वह स्वाभाविक ही थी[15]।" (पृ. 28).

"इस समय दुष्यन्त पश्चात्ताप से जल रहे है। यह पश्चात्ताप ही उनकी तपस्या है। इस पश्चात्ताप के द्वारा शकुन्तला की प्राप्ति न होती तो शकुन्तला के पाने का कुछ गौरव ही न होता। अनायास हाथ लग जाना पाना नहीं कहलाता। किसी वस्तु का लाभ ऐसी सहज बात नहीं है। जवानी की मस्ती की अचानक आनेवाली आँधी में शकुन्तला को दम भर में उड़ा ले जाने से सम्पूर्ण भाव से उसकी प्राप्ति न होती। किसी चीज को प्राप्त करने का उत्तम ढंग है साधना और तपस्या। जो बिना परिश्रम के हाथ लगी थी वह अनायास ही हाथ से निकल भी गई। जो चीज जोश की मुट्ठी से लाई जाती है वह शिथिल भाव से ही गिर पड़ती है।

इसी कारण कवि ने परस्पर को यथार्थ भाव से—चिरंतन भाव से प्राप्त करने के लिए दुष्यन्त और शकुन्तला को दीर्घ तपस्या करने में प्रवृत्त किया। राजसभा में उपस्थित होते ही यदि दुष्यन्त शकुन्तला को ग्रहण कर लेते तो वह भी हंसपदिका के दल में शामिल होकर दुष्यन्त के अन्तःपुर के एक कोने में स्थान पाती। बहुत स्त्रियों के स्वामी राजा की ऐसी कितनी ही अनायास-प्राप्त औरतें थी जो क्षण भर के सौभाग्य की स्मृति मात्र अपने हृदय में सिये अनादर के अंधकार में अनावश्यक जीवन बिता रही थी। और समय पर राजा उनके बारे में कहते थे कि सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः।" (पृ.30).

इस तरह श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर के मत से दुष्यन्त के स्वभाव में भ्रमर वृत्ति थी, इस लिए उसका उन्मूलन करने के लिए कवि ने शाप का विधान किया है। किन्तु यह भी परीक्षणीय है कि इस कृति में प्रयुक्त भ्रमर का प्रतीक सर्वाङ्गीण रूप से क्या एक ही विचार से प्रयुक्त हुआ है? तथा इस कृति में नायिका के लिए जो हरिणी का प्रतीक साद्यन्त रूप से रखा गया है वह हमें इस कृति को समझने में कोई साहाय्य नहीं करता है? अतः सब से पहले इस नाट्य कृति में नटी-गीत से आरम्भ करके अनेक स्थान पर जो भ्रमर का उल्लेख हुआ है उसकी पर्यालोचना करनी चाहिये। क्योंकि महाकवि कालिदास ने भ्रमर का दुष्यन्त के साथ सर्वत्र एवं सर्वथा

अभेद करके निरूपण नहीं किया है। इस नाट्यकृति में कुल मिला के पाँच बार भ्रमर का उल्लेख हुआ है। अतः इन सभी उल्लेखों के उपलक्ष्य में भ्रमर के प्रतीक से व्यक्त होनेवाले व्यङ्ग्यार्थ का पुनर्विचार करना जरूरी है।

नटी-गीत का भ्रमर राजर्षि विश्वामित्र है। अथवा वह पुरुष मात्र का वाचक है। कवि ने इस उल्लेख से आमसमाज की एक समस्या की ओर प्रेक्षकों का ध्यान आकृष्ट किया है। नायक रूप भ्रमर यदि नायिका के साथ एक क्षण का ही संयोग करके उसको छोड़ देता है, तो उस क्षणिक संयोग से पैदा होनेवाली संतति के अभिज्ञान का प्रश्न खड़ा होता है। स्त्री-जीवन की यह सब से बड़ी समस्या है। अतिगूढ आशयवाले इस भ्रमरोल्लेख की समाधि षष्ठाङ्क में सिद्ध होती है। विरह संतप्त दुष्यन्त शकुन्तला का चित्र बना रहा है। वहाँ, षष्ठाङ्क के श्लोक 17 में दुष्यन्त कहता है[16] कि मुझे चित्राङ्कित शकुन्तला के कानों में अभी शिरीषपुष्पों को पहनाना बाकी है। दुष्यन्त के मन में जगी इस इच्छा का ध्वन्यर्थ ऐसा है कि शकुन्तला के चित्त में स्त्रियों के प्रति जो करुणापूर्ण भावना सदैव विलसित रहती थी (और जो सब से पहले नटी-गीत में व्यक्त की गई थी, और इसी लिये शकुन्तला अपने कर्णाभूषण के रूप में शिरीषपुष्पों को धारण करती थी) उस भावना को दुष्यन्त ने समझ लिया है। विकसित हुए नाट्यकार्य का यह एक उन्मेष है।

दूसरी ओर हंसपदिका के गीत में जो अभिनव मधुलोलुप मधुकर (भ्रमर) है वह निश्चित रूप से दुष्यन्त है। किन्तु यह उल्लेख दुष्यन्त का स्वभाव स्थायि रूप से ही चञ्चल है ऐसा कहनेवाला सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि यहाँ हंसपदिका के द्वारा उपालम्भ देने के आशय से दुष्यन्त को "मधुकर" कहा गया है। और उपालम्भ के रूप में कही गई बात सर्वदा सच्ची नहीं भी होती है। एवमेव, एक राजा होने के नाते दुष्यन्त को राजनीति के सन्दर्भों में जो भी स्त्रियाँ पत्नी के रूप में भेंट मिलती होगी, उनके साथ रहने से दुष्यन्त को सहज स्वाभाविक प्रेम क्या होता है, उसका अनुभव ही नहीं हुआ होगा। ऐसा अकृत्रिम प्रेमानुभव तो कण्वाश्रम में शकुन्तला से ही मिला था। अतः दुष्यन्त का भ्रमरत्व केवल

राजनैतिक सम्बन्धों के लिए प्राप्त हुई पत्निओं के सन्दर्भ में कदाचित् सही होगा, लेकिन शकुन्तला तो सहज प्रेमाविष्कार के कारण जननान्तर के सौहृद के स्वरूप में मिली थी। अतः कवि ने हंसपदिका गीत में इस शाश्वत सम्बन्ध के लिए "कमलवसतिमात्रनिर्वृत" शब्द का प्रयोग किया है। अतः हंसपदिका गीत के माध्यम से परोक्ष में कहे गये (और अनजान में कहे गये) शब्दों से दोनों के सच्चे प्रेम की संप्राप्ति एवं संतृप्ति कही गई है—ऐसा मानना ही उचित होगा[17]।

तीसरा स्थान है प्रथमाङ्क का भ्रमरबाधा-प्रसंग। कवि ने यहाँ पर भ्रमर को दुष्यन्त के प्रतिस्पर्धी के रूप में प्रस्तुत किया है[18]। मतलब कि कवि यहाँ ईर्ष्या रूप संचारी भाव प्रदर्शित करके शृंगार का परिपोषण करना चाहते हैं। नायिका को प्राप्त करने में जहाँ स्पर्धा का भाव होता है वहाँ नायक और प्रतिनायक में सदैव भेद ही रहता है। जिस निरूपण में दुष्यन्त और भ्रमर के बीच में अभेद नहीं दिखाया है, वहाँ भ्रमर दुष्यन्त का प्रतीक बनता है ऐसा नहीं कहा जायेगा। अतः भ्रमरबाधा-प्रसंग में आया भ्रमर दुष्यन्त के चञ्चल स्वभाव का द्योतक नहीं बन सकता है। यह बात दूसरी तरह से भी, अर्थात् चौथे स्थान पर आये भ्रमरोल्लेख से भी समर्थित होती है। प्रथमाङ्क के भ्रमरबाधा दृश्य के सामने षष्ठाङ्क में इसी का एक प्रतिदृश्य कवि ने खड़ा किया है, वह दृष्टव्य है। षष्ठाङ्क में, अङ्गुलीयक मिलने से राजा को शकुन्तला का स्मरण हो जाता है। तब वह उसका एक चित्र बनाता है, उस चित्र में भी भ्रमर उपस्थित है। यहाँ पर भ्रमर को सम्बोधित करते हुए दुष्यन्त दो श्लोक बोलता है। उनमें से एक (6/20) श्लोक में वह भ्रमर को कहता है कि शकुन्तला के जिस अधरोष्ठ का मैंने रसपान किया है, उसको तुँ यदि स्पर्श करेगा तो मैं तुम्हें कमलोदर के बन्धन में डालुँगा। यहाँ पर देखेंगे तो विरह की स्थिति में ईर्ष्या रूप संचारी भाव का ही आलेखन करने के लिये भ्रमर को प्रतिनायक के रूप में फिर से निरूपित किया है। अर्थात् यहाँ पर भी दुष्यन्त के चञ्चल स्वभाव की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिये भ्रमर का उल्लेख नहीं हुआ है।

पाँचवे स्थान पर, (याने षष्ठाङ्क के ही श्लोक 6/19 में भी) जो भ्रमरोल्लेख है उसको देखने से भी मालूम होगा कि प्रथमाङ्क में जो नायक (दुष्यन्त) शकुन्तला के वदन पर फिरते हुए भ्रमर का प्रतिस्पर्धी बना था, वही नायक अब षष्ठाङ्क में भ्रमर का उपदेष्टा बनके खड़ा है। दुष्यन्त चित्र में आलिखित भ्रमर का इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता है कि,

एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु विना त्वया पिबति ॥ अ.शा. 6-18

कुसुम पर बैठी हुई तेरी मधुकरी तृषित होने के बावजूद भी मधु का रसपान नहीं कर रही है। विपरित लक्षणा से यहाँ सोचेंगे तो स्पष्ट होगा कि दुष्यन्त को अब अपनी शकुन्तला का ही स्मरण हो रहा है। अतः भ्रमर के उपदेष्टा बने दुष्यन्त ने एकाकी घुम रहे उस भ्रमर को, बल्कि मधुकर को, उसकी मधुकरी की ओर ध्यान देने की सलाह दी है। कवि के उपर्युक्त शब्दों को देखते हुए, रसज्ञ भ्रमर को अपनी तृषिता मधुकरी का सम्यक् दर्शन एवं पुनःस्मरण हो गया है ऐसा कहना ही अधिक उचित है। ऐसा व्यङ्ग्यार्थ टीकाकार नरहरि के अन्तःकरण में स्फुरित हुआ भी था[19]। उन्होंने लिखा है कि शकुन्तला भी भ्रमरी की तरह दुष्यन्त की अपेक्षा रखती है। इस तरह प्रस्तुत मधुकर को रसपान में यदि मधुकरी का साहचर्य अपेक्षित है ऐसा ध्यान में आ गया हो तो उसमें दुष्यन्त के ही दाम्पत्य जीवन का प्रारम्भ देखना चाहिये। विकसित हुए नाट्यकार्य की यह धन्य क्षण है कि जिसमें दुष्यन्त स्वरूप एक मधुकर मधुकरी के स्वरूप में शकुन्तला को ही याद कर रहा है। सामान्यतः भ्रमर को चञ्चल स्वभाव का ही प्रतीक माना गया है, किन्तु महाकवि को इस तरह से भ्रमर का उपयोग करना जहाँ अभीष्ट है (नटी-गीत एवं हंसपदिका-गीत में), वहाँ (अनुक्रम से) शिरीषपुष्प एवं आम्रमञ्जरी के साथ भ्रमर का उल्लेख किया है। किन्तु 6/18 श्लोक में तो कोई पुष्प-विशेष का निर्देश नहीं है, केवल "कुसुम" शब्द का ही प्रयोग है। यहाँ, अङ्गुलीयक मिल जाने के बाद, दुष्यन्त को शकुन्तला का पुनःस्मरण हो गया है, तथा उसकी

याद में उसने चित्राङ्कन के दौरान जो हृद्-गत भावनायें व्यक्त की है उसको सून कर सानुमती (मिश्रकेशी) को भी लगता है कि शकुन्तला का प्रत्याख्यान करने का दुःख प्रमार्जित कर दिया है[20]।

इस तरह भ्रमरोल्लेख के पाँचों सन्दर्भों को ध्यान में लेकर सोचेगें तो प्रतीत होगा कि महाकवि को भ्रमर का उल्लेख सर्वत्र चाञ्चल्य के प्रतीक के रूप में ही करना अभिप्रेत नहीं है। उसका सही सम्बन्ध तो मात्र नटी-गीत में बूनी गई शकुन्तला की गूढ संवेदना के साथ ही जोड़ना उचित है। तथा षष्ठाङ्क में विकसित हुए नाट्यकार्य के अनुसार, चतुर्थ एवं पञ्चम बार का भ्रमरोल्लेख-मधुकरोल्लेख-ही दुष्यन्त के चरित को समझने के लिये निर्णायक बनता है।

उपसंहारः- हंसपदिका-गीत के अनेक अर्थ हो सकते हैं। लेकिन उसके अभिधार्थ को किस सन्दर्भ में समझना उचित है, और उसके व्यङ्ग्यार्थ को किस सन्दर्भ में लेना है? यह परम्परागत टीकाकारों ने बहुत स्पष्ट रूप से विविक्त करके दिखाया है। यदि इसका ठीक परिचय नहीं होगा तो सम्भव है कि आधुनिक युग का पाठक या दर्शक प्रस्तुत नाटक के नायक-नायिका के प्रेम सम्बन्ध को समझने में गूमराह हो सकता है। कदाचित् ऐसा भी हो सकता है कि प्रबुद्ध भावक भी उपर्युक्त अभिधार्थ और व्यङ्ग्यार्थों में से किस को प्रधानार्थ और किसको गौणार्थ के रूप में लेना है? इस बात का सम्यक् निर्णय नहीं करेगा तो भी अन्यथा सोच शुरू होने से कुछ नवीन अर्थ खोजने की दिशा में दौड़ सकता है।

एवमेव, इस समग्र कृति में दुष्यन्त-शकुन्तला के लिए भ्रमर एवं पुष्प के प्रतीक के उपरान्त और भी बहुत सारे प्रतीक रखे गये हैं। लेकिन शिकारी और हरिण का प्रतीक ही मुख्य रूप से प्रयुक्त हुआ है, वह भी स्मर्तव्य है[21]। शिकारी और हरिण में विसंवाद स्वतः सिद्ध है। महाकवि कालिदास उस विसंवाद में से जब तक संवाद सिद्ध नहीं करते है तब तक कृति को समाप्त नहीं करते है। अतः प्रथमाङ्क में शिकारी रूप में प्रविष्ट हुआ दुष्यन्त जब षष्ठाङ्क में प्रवेश करता है तब वह सम्पूर्ण बदला हुआ है। अब तो वह विश्वसनीय हरिण बनकर हरिणी-स्वरूपा

शकुन्तला के सामने खड़ा रहने की चाहत व्यक्त करता है[22], उसी में ही विकसित हुए नाट्यकार्य का फल देखना चाहिए। लगता है कि कटाक्ष में, और अनजान में कहा गया "सर्वः सगन्धिषु विश्वसिति" (सभी समान गन्धवाले प्राणी दूसरे समान गन्धवाले प्राणी में ही भरोसा करता है।) वाक्य का मर्म नायक की समझ में आ गया है, अतः वह हरिण बन कर खड़ा है[23]! यहीं पर दोनों के बीच संवाद की पीठिका का निर्माण हो जाता है, और यहीं पर दाम्पत्यजीवन का सूक्ष्म आरम्भ है। शिकारी और हरिणी के बीच भोक्ता-भोग्य भाव सम्बन्ध एक पक्षीय है, किन्तु हरिण और हरिणी में ही परस्पर भोक्तृ-भोग्य भाव उभय पक्षीय सिद्ध होता है। उसी को सही संवाद, पूर्ण संवाद कहा जा सकता है[24]।

षष्ठाङ्क के बाद पुत्र सर्वदमन के अभिज्ञान का कार्य अवशिष्ट रहा है, वह सप्तमाङ्क में सम्पन्न किया जाता है। अर्थात् संवाद की सिद्धि के बिना पुत्र सहित की शकुन्तला को पुनःप्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त ही नहीं हो सकता था। इस सन्दर्भ में, हंसपदिका-गीत का अर्थ और भ्रमर के प्रतीक का सभी सन्दर्भों में परीक्षण किये बिना अभिज्ञानशाकुन्तल का काव्यार्थ समझना कठिन या विपथगामी हो सकता है।

सन्दर्भ

1. मैथिल-पाठानुगम् अभिज्ञानशकुन्तलम् (शङ्कर-नरहरि कृत—व्याख्याद्वयसमलङ्कृतम्), सं. रमानाथ झा, मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा, 1957, पृ. 254.
2. अनया ध्रुवा गीत्या हंसपदिका मधुकरव्याजेन आत्मानं विस्मृतवन्तं राजानमुपालभत इति गम्यते। अनेन गम्यमानार्थेन राज्ञः आगामिन्याः शकुन्तलाया विस्मरणं गम्यते॥ अभि. शाकु. कुमारगिरिराजीयाटीका, आन्ध्रप्रदेश साहित्य अकादेमी, हैदराबाद, 1982 (पृ. 97).
3. राज्ञा कंचित्कालं रतिकेलिपरिचया देवीभयेन पुनरुपेक्षिता हंसपदिका नाम वल्लभास्वन्यतमा तुल्यावस्थमधुकरोपालम्भव्याजेन राजानमुपालभते अभिनवेति॥ अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अभिरामकृत-व्याख्यासहितम्। श्रीवाणी-विलास-प्रेस, श्रीरङ्गम्, 1917, पृ. 188.
4. अयं जनः इयम्। निपुणम्, अन्यापदेशेन तत्त्वात्। अप्रस्तुतप्रशंसात्रालङ्कारः, तेन संसूच्यं राजकर्तृकशकुन्तलाविस्मरण-लक्षणं वस्तु व्यज्यते॥ -अभिरामटीका, पृ. 188.

5. ''शाकुन्तल की प्राचीन टीकाओं में कालिदास-समीक्षा के आयाम''—शीर्षकवाला आलेख, कालिदास की समीक्षा-परंपरा, ले. राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, 1988, पृ. 1-62.
6. घनश्याम यह भी जानते हैं कि इस पद्य का कोई एक निश्चित अर्थ नहीं हो सकता। अभी और नये अर्थ भी निकाले जा सकते हैं। अतः वे कहते हैं कि महाभारत के युद्ध में भीम ने रणसंग्राम में हाथिओं को उठा उठा कर अन्तरिक्ष में फेंके थे,वे जैसे आज भी वहीं पर घुमते रहे हैं, वैसे इस पद्य का अर्थ निकालते समय टीकाकार लोग भी अद्यावधि परिभ्रमण कर रहे है! अत्र संविधाने भीमेन प्रेषिता गजादिवद् अद्यापि परिभ्रमन्ति केचिदन्ये व्याख्याकाराः। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, घनश्यामकृत-सञ्जीवनाख्य- टिप्पण-समेतम्। सं. श्रीमती पूनम पङ्कज रावळ, सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदावाद, 1997, पृ. 112
7. वसुमतीवृत्तान्तस्तु चूतमञ्जरीशब्देन हंसपदिकोच्यते। कमलिनीशब्देन वसुमती। एनां हंसपदिकां विस्मृतवानसीति व्यज्यते। ... सकृत्कृतसंगमं पश्चादहमुपेक्षितवानस्मि। तत् तस्मात् कारणात् अस्या देवीं वसुमतीमन्तरेण उद्दिश्य मदुपालम्भ इत्यवगतोस्मि, मत्परिहास इति विदितोस्मि॥ अभि. शाकु. नीलकण्ठी-टीकया सहितत्, सं. गोपाल रेड्डी, तिरुपति, भारतीय बुक कोर्पोरेशन, दिल्ली, 1996, पृ. 118
8. दृष्टव्य : कालिदास का अनुशीलन, सं. राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, 1988, पृ. 17-34, जिसमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर का "शकुन्तला" शीर्षकवाला आलेख दिया गया है॥
9. साहित्य अकादेमी, दिल्ली का ज्ञानपीठ पुरस्कार-विजेता गुजराती भाषा के गणमान्य कविश्री।
10. (शकुन्तलावृत्तान्तः) अभिनवमधुलोलुपः अभिनवाधरामृतलालसो भवान् चूतमञ्जरीसदृशीं शकुन्तलां तथा परिचुम्ब्य गान्धर्वविवाहविधिना अनुभूय कमलवसतिमात्रनिर्वृतः अन्तःपुरविरहणमात्रसंतुष्टः एनां शकुन्तलां कथं विस्मृतवानसीति दुष्यन्तः प्रतिध्वन्यते ॥ अभि. शाकु. नीलकण्ठी-टीकया सहितम्, पृ. 118
11. दृष्टव्य : Hansapadika's song, by G. K. Bhat, Journal of the Oriental Institute, Baroda, 1957
12. जिसमें वैयक्तिक रूप से अलग अलग अभिप्राय प्रविष्ट होता ही है।
13. जिसको सुन कर विदूषक ने राजा दुष्यन्त की मजाक भी उड़ाई है कि वृषभ को गोविन्दारक कहने से उसका परिश्रम दूर होता है!
14. या कहो कि इन दोनों वाचनाओं में, वैतालिकों का गान राजा का राजकार्य-जनित परिश्रम को दूर करने जैसे मामूली आशय से प्रयुक्त किया गया है।
15. कालिदास परिशीलन, संपादकः राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, 1988 में संगृहीत रवीन्द्रनाथ ठाकुर का लेख, पृ. 17 से 34 [Sakuntala – Its Inner Meaning–

by Rabindra Nath Tagore, Published in "Sakuntala", Kedar Nath Das gupta, Macmillan and Co. Ltd.; London, 1920]

16. कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे, शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे॥ अ.शा. 6/17

17. वह इस नाटक के आरम्भ में कहा गया है कि अस्याः कन्याया दुरितशमनार्थं सोमतीर्थम् गतः। इन शब्दों का स्वारस्य यही है कि दुष्यन्त-शकुन्तला को दुर्वासा का जो शाप मिला है, वह दैवविलसित था। जो दुर्दैव पिता कण्व की सोमयात्र-जनित पुण्य से, या पिता की शुभभावनाओं के बल से, अन्त में परास्त होता है। शाप की घटना वस्तु गुम्फन का हिस्सा है, उसमें कोई आधिभौतिक या नैतिक विचारों का आरोप करना अनावश्यक है।

18. करौ व्याधून्वत्याः पिबति रतिसर्वस्वमधरं, वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥ अ.शा. 1/20, पृ. 34

19. शकुन्तलापि भ्रमरीवद् इममपेक्षत इति मनसि कृत्वाह मिश्रकेशी। मैथिलपाठानुगमम् अभिज्ञानशकुन्तलम्,(शङ्कर-नरहरिटीकासमेतम्), पृ. 355

20. सानुमती—सर्वथा प्रमार्जितं त्वया प्रत्यादेशदुःखं शकुन्तलायाः। अ.शा. 6/22 इत्यस्याधस्तात्, पृ. 217

21. भ्रमर का प्रतीक कृति में सर्वत्र एकरूपता नहीं रखता है, वह हमने देख लिया है।

22. कार्या सैकतलीन हंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी, पादास्तामभितो निषण्णचमरा गौरीगुरोः पावनाः। शाखालम्बित-वल्कलस्य तरोर्निमातुमिच्छाम्यधः, शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ॥ 6-17॥

23. दुष्यन्त को अब समझ में आ गया है कि शिकारी बन कर हरिणी प्राप्त की जायेगी तो वह तो मृतहरिणी मिलेगी, अतः हरिणी को प्राप्त करने के लिए तो मुझे भी हरिण होना पड़ेगा!

24. और संस्कृत नाटकों का लक्ष्य पूर्ण संवाद की सिद्धि ही होती है। सभी नाटक तभी तो सुखान्त बनेंगे॥

25. क्योंकि नाटक के आरम्भ में दुष्यन्त को आश्रममृग को नहीं मारने के लिए चक्रवर्ती पुत्र प्राप्त होने का आशीर्वाद दिया गया था। हरिणी किसी शिकारी को जीवित अवस्था में तो नहीं मिलती है, उसको सही स्वरूप में प्राप्त करने के लिए दूसरा सगन्ध अनागस हरिण ही सामने होना चाहिए।

(छ) पाठभेदों के आलोक में अभिज्ञानशकुन्तला (अङ्क : 6) का नाट्यकार्य एवं मंचन-वैविध्य

भूमिका : कालिदास ने अभिज्ञानशकुन्तला के षष्ठाङ्क में विप्रलम्भ-शृङ्गार का निरूपण किया है। अङ्क के आरम्भ में रखे प्रवेशक में धीवर-प्रसङ्ग आता है, जिसमें एक मछुवे के माध्यम से दुष्यन्त के पास अङ्गुलीयक पहुँचता है और उस अङ्गुलीयक रूप अभिज्ञान से उसको शकुन्तला का स्मरण हो आता है। अब शकुन्तला की याद में विरह एवं पश्चात्ताप का सिलसिला शूरू होता है। कवि इस अङ्क में मुख्य रूप से यह दिखाना चाहते हैं कि नाटक के आरम्भ में, शिकारी बन कर प्रविष्ट हुआ नायक आगे चल कर हरिणी स्वरूपा शकुन्तला के साथ दाम्पत्यजीवन की संगत कैसे बिठाता है? तथा प्रथम अङ्क में भ्रमर का प्रतिस्पर्धी बना दुष्यन्त अब विरह की अवस्था में उस भ्रमर का कैसा उपदेष्टा बन गया है? मतलब कि समग्र कृति में जो मुख्य रूप से नाट्यकार्य हुआ है उसे दिखाए बिना तो प्रणयकथा की परिणति अभिव्यक्त होगी नहीं। किन्तु, षष्ठाङ्क में केवल इतना ही नाट्यकार्य निरूपित नहीं है। कवि ने इसके आसपास में छोटी छोटी अन्य बातें भी क्रमशः खोल कर रख दी है। क्योंकि इस प्रणयकथा से सम्बद्ध कुछ अन्य प्रश्न भी प्रेक्षकों के दिल में ऊठ सकते हैं। जैसे कि, अंगुठी मिल जाने पर पश्चात्ताप-निमग्न राजा की स्थिति का आँखों देखा हाल शकुन्तला के पास कैसे पहुँचाया जाता है? यह पहला प्रश्न था। दूसरा प्रश्न यह था कि शकुन्तला के मनोजगत् में दुष्यन्त के लिए कोई शिकायत थी या नहीं।[1] एवमेव, 3. संस्मृता शकुन्तला की

ओर मूड़ गये अपने पति को देख कर, दुष्यन्त की पूर्वपरिणीताओं में कैसी प्रतिक्रियायें पैदा हुई थी? एवमेव, अंगूठी की प्राप्ति होने से शकुन्तला का स्मरण हो जाने के बाद राजा का पूर्वपरिणीताओं के प्रति कैसा व्यवहार है? 4. आपन्नसत्त्वा शकुन्तला को ठुकरा देने के बाद अनपत्य राजा की मनोदशा कैसी है? इन सब प्रश्नों का समाधान किये बिना नाटक निर्वहण-सन्धि की ओर आगे नहीं बढ़ सकता था। लेकिन उक्त सन्दर्भों के संवाद शाकुन्तल की पाँचों वाचनाओं में एक समान नहीं है। इन सब में जो पाठभेद मिलते हैं, वह लिपिकारों के अज्ञान या अनवधान का फल नहीं है। इन पाठभेदों में तो रंगकर्मिओं के एवं परम्परागत पाठ में सुधार करनेवालों के दिमाग में विभिन्न आशय अन्तर्निहित है ऐसा दिख रहा है। इन उभयविध परिवर्तनों के कारण प्रस्तुत अङ्क के मंचन में कैसा क्रमिक परिवर्तन होता गया है, एवं काव्यार्थ कैसे बदलता गया है? वह विवेचनीय है। जिसके लिए बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं (काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली) में संचरित हुए पाठभेदों का तुलनात्मक अभ्यास करना आवश्यक बन जाता है।

[1]

अभिज्ञानशकुन्तल नाटक की मैथिली पाठपरम्परा में षष्ठांक का नाम "शकुन्तलाविरह" दिया गया है। हम जानते हैं कि इस अङ्क के आरम्भ में धीवर-प्रसंग रखा गया है। धीवर से अंगूठी मिल जाने पर दुष्यन्त को शकुन्तला की स्मृति जाग्रत हो आती है। जिसके कारण दुष्यन्त के जीवन में विरह का संताप शूरू होता है। धीवर-प्रसंग का निरूपण करनेवाले इस प्रवेशक को साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने "अङ्कावतार" नाम देना चाहा है। मतलब कि धीवर-प्रसंग से विरहाङ्क का अवतार होता है। अतः षष्ठांक की पूरी दृश्यावली विरहनिष्ठ विप्रलम्भ को केन्द्रित करनेवाली है यह बात ध्यान में रखते हुए षष्ठांक की पाठालोचना करनी चाहिए। षष्ठाङ्क में निम्नोक्त दृश्यावली है : 1. प्रवेशक में धीवर-प्रसङ्ग। 2. अक्षमाला का प्रवेश, तथा दो उद्यान-पालिकाएं एवं कञ्चुकी का संवाद

दृश्य। 3. राजा, विदूषक एवं प्रतीहारी का प्रवेश, अमात्यपिशुन एवं लिपिकरी मेधाविनी को सन्देशप्रेषण तथा माधवीमण्डप में प्रवेश। 4. शकुन्तला का स्मरण एवं पश्चात्ताप, अङ्गुलीयक को उलाहना। 5. चित्रफलक लेकर मेधाविनी का प्रवेश, चित्र से सम्बन्धित श्लोकमाला, चित्र में आकारित भ्रमरबाधा-प्रसंग, और उस दृश्य का समापन। 6. अमात्य पिशुन के द्वारा विरह-संतप्त राजा को पौरकार्य का निवेदन। तथा अनपत्यता के शोक में राजा का मूर्च्छित होना एवं अक्षमाला का निर्गमन एवं मातलि का प्रवेश। 7. तथा मातलि के साथ राजा का स्वर्ग की ओर प्रस्थान। अङ्क की समाप्ति।

इस अङ्क में जहाँ जहाँ पाठभेद मिलते हैं उनमें से कौन सा पाठ मौलिक होगा, और कौन सा पाठ पश्चाद्वर्ती काल में आकारित हुआ होगा उसकी परीक्षा करने का एक प्रमुख मानदण्ड यही होगा कि जो भाव-सातत्य को खण्डित करनेवाला वाक्य हो, या विचार-सातत्य में अनुचित या पूर्वापर में विरोध पैदा करनेवाला वाक्य हो वह मौलिक नहीं हो सकता। इसी एक दृष्टि से पूरे षष्ठांक का पाठ निर्धारित किया जायेगा तो प्राचीनतम एवं कदाचित् मौलिकता से नज़दीक हो ऐसा पाठ हम उजागर कर पायेंगे। प्रस्तुत आलेख में, नाट्य प्रयोग के दौरान वैविध्य या बदलाव लाने के लिए जिन पाठभेदों ने जन्म लिया होगा उसकी तुलनात्मक दृष्टि से चर्चा करना अभीष्ट है।

[2]

अप्सरा के नामान्तर एवं वाक्यान्तर : पश्चात्ताप में संतप्त हो रहे दुष्यन्त का वृत्तान्त शकुन्तला के पास पहुँचाने के लिए कालिदास ने एक अप्सरा का पात्र, जो मेनका की सखी है, उसको प्रस्तुत किया है। वह रंग पर दुष्यन्त के आसपास ही रहती है, किन्तु अप्सरा होने के कारण वह दुष्यन्त के लिए तो तिरोहित ही रहती है। इस अप्सरा का नाम काश्मीरी पाठपरम्परा में "अक्षमाला" है, मैथिली और बंगाली पाठपरम्पराओं में "मिश्रकेशी" है, तथा देवनागरी एवं दाक्षिणात्य पाठपरम्पराओं में वह नाम "सानुमती"

है। एक पात्र के नामों में जो इस तरह के पाठभेद मिल रहे हैं, वह केवल विभिन्न पाठपरम्परा का ही द्योतक है ऐसा मानना अपर्याप्त होगा। क्योंकि इन तीनों नामों के शब्दार्थ की ओर ध्यान देने से मालूम होता है कि काश्मीर के रंगमंच पर जब यह नाटक खेला जाता होगा तब यह अप्सरा अपने हाथ में रुद्राक्ष की माला लेकर प्रस्तुत होती होगी, अतः वह "अक्षमाला" है। मिथिला एवं बंगाल की रंगभूमिओं पर उसी पात्र की केशभूषा (मेक-अप) श्वेत-श्याम वर्णो के मिश्रित बालों से की जाती होगी ऐसा अनुमान किये बिना हम नहीं रह सकते हैं, अतः वह "मिश्रकेशी" होगी। देवनागरी और दाक्षिणात्य पाठपरम्पराओं में, जब वही अप्सरा का नाम "सानुमती" मिलता है तो उससे हम ऐसा अनुमान करने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि दक्षिण-पश्चिमोत्तर भारत की रंगभूमिओं पर शङ्कु आकार की टोपी के ऊपर एक पारदर्शक वस्त्र में तिरोहित मुखवाली अप्सरा रंगमंच पर प्रस्तुत होती होगी। ऐसी वेशभूषावाली अप्सरा को "सानुमती'' नाम देना उचित लगता है। सारांश यही है कि एक ही पात्र के नाम में जो तीन पाठभेद मिल रहे हैं उसका सीधा सम्बन्ध आहार्य अभिनय, यानि मंचन के दौरान उस पात्र की वेशभूषा के साथ जुड़ा है। और यदि ऐसा है तो आज उपलब्ध हो रही विभिन्न पाठपरम्पराओं को "वाचना-भेद" का नाम न देकर, "विभिन्न रंगावृत्तिओं" का नाम देना चाहिए।[2] पाठालोचक को इस दिशा में गम्भीरता से सोचने की आवश्यकता है।

[3]

अब, अक्षमाला (अपर नाम मिश्रकेशी एवं सानुमती) की उक्तियों में एकाधिक प्रक्षिप्त वाक्यों होने की सम्भावना है। क्योंकि काश्मीरी वाचना के पाठ में अक्षमाला के मुख में जितने वाक्य रखें गयें हैं उनसे अधिक वाक्य मैथिली एवं बंगाली वाचना के पाठ में मिलते हैं। (और इस तरह के अधिक वाक्यों का प्रभाव देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचना के पाठ में भी दृष्टिगोचर हो रहा है।) दूसरे शब्दों में कहे तो काश्मीरी पाठ में निरूपित अक्षमाला परोक्ष में रह कर राजा की विरहावस्था का आकलन

कर रही है और बहुत कम स्थानों पर, छोटे वाक्य में ही अपना मनोगत विचार व्यक्त करती है। उसकी अपेक्षा से कहीं अधिक मात्रा में मैथिली पाठ की मिश्रकेशी अपना प्रतिभाव व्यक्त करने में ज्यादा सक्रिय है ऐसा दिखता है। मिश्रकेशी न केवल अधिक सक्रिय है, वह दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रणय-प्रसंग से सम्बद्ध आनुषंगिक प्रश्नों की कल्पना करके, उन सब के उत्तर देने का प्रयास भी करती है। लगता है कि विविध देश-काल के प्रेक्षकों के दिमाग में उठने वाले तर्क-वितर्क का समाधान इसमें ग्रथित करने का उपक्रम छीपा हुआ है। अलबत्ता, इसमें मूल कवि को अभिप्रेत ही न हो ऐसी कई बातें प्रविष्ट हुई है, प्रक्षिप्त हुई है।

अतः अक्षमाला, अपर नाम मिश्रकेशी एवं सानुमती के वाक्यों पर विचार करना चाहिए। उदाहरण के रूप में, (1) पञ्चमांक में शकुन्तला का प्रत्याख्यान होने के बाद, कवि ने नायक-नायिका का मिलन सप्तमांक में दिखाया है। इस प्रत्याख्यान और पुनर्मिलन के बीच में शकुन्तला ने कहीं पर भी दुर्वासा मुनि का आतिथ्य-सत्कार नहीं कर पाने का पश्चात्ताप नहीं किया है। बल्कि ऐसा कहना चाहिए कि सप्तमांक में दुष्यन्त के साथ मिलन होने के उपरांत ही, मारीच ऋषि के कहने पर वह जान पाती है कि उसको दुर्वासा का शाप मिला था। अतः इस सन्दर्भ में, उसके मन में किसी भी तरह का पश्चात्ताप उठने की सम्भावना भी नहीं है। इसी तरह से, अपना प्रत्याख्यान करनेवाले पति दुष्यन्त के लिए भी उसके मन में कोई दुर्भाव या शिकायत पैदा हुई थी या नहीं? वह भी कवि ने कहीं पर भी नहीं कहा है। जब दुष्यन्त शकुन्तला के पाँव छु कर क्षमा-याचना करता है, तब शकुन्तला ने कहा है कि मेरे ही कोई पुराकृत कर्म उन दिनों में परिणामाभिमुख थे, जिसके कारण आर्यपुत्र सानुक्रोश होते हुए भी मेरे प्रति वैसे (विरस) हो गये थे। अर्थात् शकुन्तला के मुख में कवि ने ऐसे कोई शब्द नहीं रखें हैं कि जिससे हम यह कह सके कि शकुन्तला के मन में दुष्यन्त के लिए कोई शिकायत थी। संक्षेप में कहे तो, नाट्यकृति का पूर्वापर में जो कथा प्रवाह देखते हैं उसमें प्रत्याख्यान के कारण शकुन्तला के मनोभावों में पश्चात्ताप या शिकायत होने की

गुञ्जाईश ही नहीं है॥ फिर भी, मिश्रकेशी के मुख में रखे गयें शब्दों को देखते हैं तो उसमें से ऐसा सूर निकल रहा है कि शकुन्तला के मन में दुष्यन्त के लिए कुछ दुर्भाव या शिकायत छीपी हुई थी। जैसे कि, (मैथिली पाठ में) *मिश्रकेशी—सव्वथा वअस्स पमज्जिदं तए पच्चादेसदुक्खं पिअसहीए सउन्तलाए पच्चक्खं जेव सहीअणस्स।* (प्रियसखी शकुन्तला के मन में जो प्रत्यादेश का दुःख था, उसका वयस्य दुष्यन्त ने सर्वथा प्रमार्जन कर दिया है। और यह बात सखीजन के सामने प्रत्यक्ष हो गई है।) अर्थात् पुनर्मिलन की क्षणों में अब नायिका का मनःसमाधान दिखाने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा मैथिली पाठशोधकों ने सोचा है। बंगाली पाठ में भी मिश्रकेशी के इसी तरह के वाक्य का अनुगमन किया गया है। किन्तु, काश्मीरी पाठ में, अक्षमाला की जो भी उक्तियाँ हैं उसमें कहीं पर भी दुष्यन्त की विरह-संतप्त अवस्था को देख कर अक्षमाला ने ऐसा नहीं कहा है कि शकुन्तला को प्रत्यादेश (प्रत्याख्यान) का जो दुःख लग गया है, उसका अब प्रमार्जन हो गया है। यहाँ आन्तरिक सम्भावना की दृष्टि से काश्मीरी पाठ ही मौलिकता के नज़दीक होगा ऐसा प्रतीत होता है। क्यूंकि, जैसा पहले कहा गया है, सप्तमाङ्क में शकुन्तला ने ही स्वयं कहा है कि दुष्यन्त उसके प्रति विमुख हुआ था, उसमें वह अपने किसी पुराकृत कर्मों का ही फल देखती है।

(2) दुष्यन्त शकुन्तला के साथ सम्बद्ध होने पर अन्तःपुर की रानिओं में स्पर्धा का भाव जाग्रत होने की सम्भावना जैसे सोची जा सकती है, वैसे दुष्यन्त अपनी पूर्व परिणीताओं के साथ कैसा व्यवहार करता है? वह भी जिज्ञासा का विषय हो सकता है। इस सन्दर्भ में षष्ठांक का एक स्थान परीक्षणीय है। काश्मीरी पाठ के अनुसार राजा दुष्यन्त शकुन्तला की प्रतिकृति में रंग-कर्म करना चाहता था। लेकिन रानी कुलप्रभा की दासी पिङ्गलिका ने मेधाविनी के हाथों में से वर्तिका-करण्डक छिन लिया। इस बात को सुन कर दुष्यन्त ने तुरंत कह दिया कि हम भी अब चित्रकर्म करने के लिए सक्षम नहीं है। राजा के इस तरह के प्रतिभाव को सुन कर, वहाँ परोक्ष में खड़ी अक्षमाला बोलती है कि, *बहुमान्यास्य कुलप्रभा।*

अहवा नैतत् किञ्चित्। विपञ्च्याः खलु असन्निधान एकतन्तुरपि अर्घति। अर्थात् इस राजा के लिए कुलप्रभा बहुमान की पात्र लगती है। अथवा, ऐसा न भी हो। क्योंकि विपञ्ची की अनुपस्थिति में एकतन्तुवाला वाद्य भी किंमती बन जाता है।काश्मीरी वाचना में मिलता यह वाक्य आन्तरिक सम्भावना-युक्त प्रतीत होता है। क्योंकि षष्ठांक के आरम्भ में हमें कहा गया है कि दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचितान्तःपुरेभ्यो यदा, गोत्रेषु स्खलितं तदा भवति च व्रीडा विलक्ष्यश्चिरम्। (6-5)। अर्थात् राजा ने शकुन्तला की स्मृति पुनः जाग्रत हो जाने के बाद, पूर्वपरिणीताओं के साथ दाक्षिण्य की रक्षा करना आवश्यक होने से केवल औपचारिक सम्बन्ध ही रखे हैं। अन्यथा, दुष्यन्त के हृदय को बहलाने के लिए तो विपञ्ची के स्थान पर शकुन्तला ही है, और अन्य सभी पूर्वपरिणीतायें तो एकतन्तु वाद्य जैसी नगण्य है।

मैथिली पाठ में इस प्रसंग का वाक्य परिवर्तित किया गया है। जैसे कि, *"मिश्रकेशी–अम्मो अण्णसंकन्तहिअओ वि पढुमं सम्भावणं रक्खदि। विरसो ण हु दाणिं एसो"*। अर्थात् दुष्यन्त का मन तो अन्य यानि शकुन्तला में संक्रान्त हो गया है, किन्तु आश्चर्य है कि पहले की सम्भावित रानी वसुमती का भी रक्षण करता है। वह उस रानी में से सर्वथा विरस नहीं हुआ है॥ इस वाक्य में थोड़ा और परिवर्तन करके बंगाली पाठ में लिखा गया है कि, *"मिश्रकेशी–अम्मो, अण्णसंकन्तहिअओ वि पढमसंभावणं रक्खदि। थिरसोहिदो दाव एसो।* अर्थात् यद्यपि आश्चर्य है कि दुष्यन्त का मन शकुन्तला में संक्रान्त हो गया है, तथापि प्रथम सम्भावना को यानि वसुमती की मनोभावनाओं का रक्षण करता है। लगता है कि यह दुष्यन्त स्थिरसौहार्दवाला व्यक्ति है। इस तरह के दोनों पाठभेदों की अपेक्षा से काश्मीरी पाठ समुचित प्रतीत होता है।

[4]

विदूषक की उक्तियाँ में पाठभेद : इस अङ्क में, राजा दुष्यन्त के साथ में जो विदूषक नर्मसचिव की भूमिका अदा करता है उनके संवादों में दिख

रहे पाठभेदों का अभ्यास करना चाहिए। बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं का तुलनात्मक अभ्यास करने से मालूम होता है कि विदूषक का स्वरूप काश्मीरी की अपेक्षा से अन्य दोनों वाचनाओं में कुछ बदला गया है। उदाहरण के रूप में, (1) माधवीमण्डप में बैठे राजा जब अंगूठी को उपालम्भ देते हैं कि सुन्दर कोमल अङ्गुलिओं वाले शकुन्तला के हाथ को छोड़ कर, हे अङ्गुठी, तूँ गंगास्रोत में कैसे गिर गई? इत्यादि। तब विदूषक भी अपने कुटिल दण्ड को उपालम्भ देना शूरू कर देता है :*(सस्मितम्) अहं पि एदं दण्डअट्टं उवालहिस्सं, कधं उज्जुअस्स मे कुडिलं सि त्ति तुमं?।* अर्थात् मैं भी मेरे दण्डकाष्ठ को उपालम्भ दुँ, (अरे दण्ड,) मैं इतना ऋजु आदमी हूँ, फिर तुम कैसे इतने कुटिल बने हो?। मैथिली वाचना के इस अधिक वाक्य की प्राप्ति बंगाली पाठ में भी हो रही है। नर्मसचिव के रूप में विदूषक का लक्षण सामान्यतः "विकृताङ्ग-वचो-वेषी हास्यकारी विदूषकः" ऐसा बताया जाता है। किन्तु इस नाटक में कालिदास ने जिस तरह का विदूषक प्रस्तुत करना सोचा है, वह उनके दो पुरोगामी नाटकों से तो सर्वथा पृथक् ही है। दुष्यन्त को अंगूठी मिल जाने के बाद, वह बहुत संतप्त है। और कुछ क्षणों के लिए वह वास्तविकता को भूल कर, विरहावस्था में निमग्न हो जाता है। ऐसी भावदशा की हँसी उड़ाता हुआ विदूषक उपर्युक्त वाक्य बोलता हो, वह नामूमकिन है। और यदि वह राजा की हँसी उड़ायेगा तो विप्रलम्भ में क्षति पैदा होगी ही। अतः मैथिली वाचना का विदूषक जो उपर्युक्त वाक्य बोलता है वह प्रक्षिप्त ही है उसमें कोई संदेह नहीं है। (2) अंगूठी को उपालम्भ देने के प्रसंग में ही एक दूसरा स्थान है, जिसमें विदूषक की उक्ति प्रक्षिप्त है ऐसा दिख रहा है। दुष्यन्त अंगूठी को उद्दिश्य करके बोलना शूरू करता है कि कथं नु तं कोमलबन्धुराङ्गुलिं इत्यादि, तब विदूषक बोलता है : "भो अहं सव्वधा बुभुक्खाए मारिदव्वो''। अर्थात् अब मैं तो सब तरह से भूख से मारा जाऊँगा, (क्योंकि राजा तो अपनी प्रियतमा की यादों में खोये खोये से है)। यह उक्ति काश्मीरी पाठ में उपलब्ध नहीं होती है। केवल मैथिली और बंगाली पाठ में ही लिखी हुई है। किन्तु प्रकृत में उसका औचित्य

सोचा जाए तो, जैसा उपरि निर्दिष्ट सन्दर्भ में कहा है वैसे यहाँ भी विरही राजा की जो भावदशा है उसमें विदूषक की यह उक्ति विघ्न पैदा करनेवाली ही है। विदूषक भले ही ऐसे वाक्यों से राजा की विरही अवस्था के विरोध में हास्य पैदा करनेवाली अपनी बुभुक्षा को शब्दबद्ध करता हो, लेकिन वह विप्रलम्भ में रसक्षति करनेवाला ही सिद्ध होता है। अतः यह वाक्य भी प्रक्षिप्त प्रतीत हो रहा है।

[5]

अंगुठी से सम्बद्ध संवाद : इस दृश्य में, धीवर से पुनः प्राप्त हुई अङ्गुठी को सम्बोधित करते हुए विरही दुष्यन्त ने जो संवाद किये हैं और बीच बीच में विदूषक जो प्रतिक्रियायें व्यक्त करता है उसकी प्रस्तुति होती है। एवमेव, इन दोनों से परोक्ष में रह कर आसपास में घुम रही अप्सरा अक्षमाला भी समग्र परिस्थिति का जो आकलन कर रही है, एवं उनके मनो-जगत् में ऊठ रहे प्रतिभावों को जो वाचा दे रही है, इसकी भी यहाँ बुनावट की गई है। लेकिन इस सन्दर्भ में, जब तीनों पाठपरम्पराओं का तुलनात्मक दृष्टि से अभ्यास किया जाता है तो मालूम होता है कि इन तीनों में जो पाठभेद है, उसका सम्बन्ध प्रणय प्रसंग को नये नये आयाम देने के साथ है, तथा कुत्रचित् मंचन के साथ भी है। उदाहरण के रूप में निम्नोक्त बिन्दुओं को देखना आवश्यक हैः-

(1) (काश्मीरी पाठ में) राजा जब अङ्गुलीयक को उलाहना देते हैं[3] तब अक्षमाला आत्मगत बोलती है कि सखि, दूरे वर्तस, एकाकिनी तावत् कर्णसुखमनुभवामि। किन्तु इस सन्दर्भ में मैथिली पाठ में, मिश्रकेशी की उक्ति में एक वाक्य ज्यादा शामिल किया गया हैः-*जइ अण्णहत्थं गदं भवे, तदा सच्चं सोअणीअं भवे।* सहि, दूरे वट्टसि। एआइणी ज्जेव[4] अहं कण्णसुहाइं अणुभवामि॥ शकुन्तला के हाथ से भ्रष्ट हुई अंगुठी यदि दूसरे किसी के हाथ में गई होती तो शोचनीय स्थिति पैदा हो जाती—ऐसा अधिक वाक्य प्रक्षिप्त ही है। क्योंकि प्रस्तुत सन्दर्भ अंगुठी को उलाहना देने का था, और उसमें भी राजा ने शकुन्तला की अंगुलियों को असुलभ-स्थान

कह कर, नायिका की महनीयता ही कही है उससे हट कर पूर्वोक्त अधिक वाक्य असम्बद्ध ही सिद्ध होता है। राजा के द्वारा परोक्ष में शकुन्तला के प्रति जो प्रेमभाव है उसको सुनने का मौका मिलना ही एक सौभाग्य था, जो अक्षमाला को मिल रहा है, उसके साथ तो काश्मीरी पाठ के उपर्युक्त दो वाक्यों का ही औचित्य बनता है। बंगाली पाठ ने भी मैथिली पाठ का अनुसरण किया है। अतः इन दोनों पाठपरम्परायें उत्तरवर्ती काल का प्रक्षिप्तांश संचरित करनेवाली है। तथा इस सन्दर्भ का जो पाठ काश्मीरी शारदा-पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रहा है वही आन्तर-सम्भावना से युक्त होने से मौलिकता के नज़दीक है। अतः उसी का पुरोवर्तित्व सिद्ध होता है।

(2) इस दृश्य के दौरान, काश्मीरी पाठ में अक्षमाला परोक्ष में रह कर राजा की मनःस्थिति का आकलन कर रही है, अतः उनके मुख में कम उक्तियाँ होना उचित लगता है। लेकिन कोई पात्र रंग पर उपस्थित होते हुए भी बिना बोले राजा व विदूषक के आसपास में घूमता रहे तो वह मंचन की अवस्था में ठीक नहीं लगेगा ऐसा शायद सोच कर किसी अज्ञात रंगकर्मिओं के द्वारा मैथिली एवं बंगाली पाठों में मिश्रकेशी (अक्षमाला) की एक उक्ति बढाई गई है, नई प्रक्षिप्त की गई है। जैसे कि, विदूषक जब कहता है कि मित्र, यह अंगुठी किस निमित्त से शकुन्तला के हाथ में पहुँच गई थी? तब परोक्ष में खड़ी मिश्रकेशी बोलती है कि मेरे ही जैसे कौतुक से प्रेरित होकर यह विदूषक पूछ रहा है।[5] ऐसा ही अधिक वाक्य बंगाली पाठ में भी उपलब्ध होता है। प्रस्तुत वार्तालाप का प्रसंग मंचन-योग्य बनाने के लिए ऐसे अधिक वाक्यों का प्रक्षेप होना स्वाभाविक है। लेकिन ऐसे प्रक्षेपोपक्रम ही मैथिली एवं बंगाली पाठों को उत्तरवर्ती काल की रंगावृत्ति रूप सिद्ध करते हैं॥

(3) राजा ने बताया कि शकुन्तला की अङ्गुली में अंगुठी पहनाते समय मैंने कहा था कि इस पर लिखे मेरे नाम के एक एक अक्षर को प्रतिदिन पढ़ते रहना। जब तक तुम अन्तिम अक्षर पर पहुँचोगी तब तक मेरे महलों से कोई व्यक्ति तुम्हें लेने के लिए आ जायेगा। किन्तु किसी अभान अवस्था (मोह) में आकर मैंने दारुण आचरण कर दिया। इसको

सुन कर अक्षमाला कहती है कि *रमणीओ दे विहिणा दंसिदो मग्गो। (रमणीयस्ते विधिना दर्शितो मार्गः।)* अर्थात् विधाता ने (शकुन्तला को ससुराल ले आने के लिए) जो मार्ग तुझको (दुष्यन्त को) दिखाया, वह बहुत रमणीय है। ऐसा प्रतिभाव अक्षमाला देती है। इसी प्रतिभाव को मैथिली एवं बंगाली पाठो में सर्वथा परिवर्तित कर दिया गया है। जैसे कि, मिश्रकेशी—*रमणीओ क्खु अवधी विहिणा विसंवादिदो।* अर्थात् शकुन्तला को ससुराल ले आने के लिए दुष्यन्त ने जो अवधि निर्धारित किया था, उसको विधाता ने विसंवादित कर दिया। बंगाली पाठ में भी यही है। यहाँ लगता है कि काश्मीरी पाठ के आशय को ही सरलीकृत शब्दों में पेश किया गया है। नाट्य प्रयोग के दौरान ऐसे सुगम वाक्य की भी कदाचित् आवश्यकता रहती है। अतः असुगम शब्दावली वाले काश्मीरी पाठ्यांश का ही पुरोवर्तित्व मानना उचित होगा।[6]

(4) इसी अंगुठी के सन्दर्भ में, विदूषक पुछता है कि यह अंगुठी उस रोहित मत्स्य के उदर में कैसे पहुँच गई? राजा उत्तर देते हैं कि शकुन्तला जब शचीतीर्थ में वन्दन करती थी तब वह अंगुठी जलप्रवाह में परिभ्रष्ट हुई थी। परोक्ष में रही मिश्रकेशी इन दोनों की बातचीत सुन कर प्रतिक्रिया देती हैः-*अदो क्खु तवस्सिणीए सउन्तलाए अधम्मभीरुणो इमस्स राएसिणो अवणीदो संदेहो जादो। अहवा ण ईदिसो अणुराओ अहिण्णाणमवेक्खदि। ता किं पि एदं।* (अतः खलु तपस्विन्याः शकुन्तलाया अधर्मभीरोः अस्य राजर्षेः अवनीतः संदेहो जातः। अथवा नेदृशोऽनुरागः अभिज्ञानम् अपेक्षते। तत् किम् अपि इदम्।) इस तरह का जो पाठ मैथिली परम्परा में मिलता है, वह काश्मीरी में तो है ही नहीं। और इस मैथिली पाठ में से एक शब्द में पाठभेद करके बंगाली परम्परा में "*.... .... इमस्स राएसिणो परिणए येव संदेहो।*" इसको स्वीकारा गया है। इन दो वाक्यों के प्रक्षेप से नाट्य प्रयोग में कुछ वैशिष्ट्य लाने की बात नहीं है, किन्तु राजा दुष्यन्त ने शापवशात् शकुन्तला का जो प्रत्याख्यान किया था, उस दोष में से मुक्ति दिलाने के लिए, नायक की निर्दोषता जताने के लिए यहाँ प्रथम वाक्य रखा गया है। लेकिन दूसरे वाक्य से यह भी नुकताचीनी की गई है कि

दुष्यन्त-शकुन्तला के प्रेमातिशय को देखते हुए तो, अंगुठी यानि किसी भी तरह के अभिज्ञान की अपेक्षा ही नहीं होनी चाहिए। तो फिर यह कैसे हुआ? ऐसा विस्मय मिश्रकेशी को होता है, इससे प्रेक्षकों के हृदयाकाश में कदाचित् पैदा होनेवाले विस्मय को वाचा दी गई है। किन्तु प्रथम बार मैथिली पाठ में अधिक वाक्य के रूप में मिल रहे ऐसे वाक्यों की मौलिकता संदेहास्पद ही है। क्योंकि षष्ठांक की जो मुख्य भावधारा है वह तो विरह की ही है। जिसमें राजा अंगूठी को उपालम्भ देने की प्रवृत्ति में रममाण हो कर विप्रलम्भ की पुष्टि करता है, उसमें मिश्रकेशी का उपर्युक्त नुकताचीनी करनेवाला वाक्य निश्चित रूप से विषयान्तर को आकारित करता है, अतः यह वाक्य प्रक्षिप्त ही सिद्ध होता है।

(5) राजा ने अङ्गुलीयक को उपालम्भ देते हुए "कथं नु तं बन्धुरकोमलाङ्गुलिं करं विहायासि निमग्नमम्भसि ....।" इस श्लोक का उच्चारण किया। उसके बाद काश्मीरी पाठ में, अक्षमाला की उक्ति इन शब्दों में हैः-पुव्वावर विरोधी एसो वुत्तन्तो वट्टदि। (पूर्वापरविरोधी एष वृत्तान्तः वर्तते।) अर्थात् पहले जिस निष्ठुरता से नायक ने शकुन्तला का प्रत्याख्यान किया, उससे बिल्कुल विरोधी है आज का यह पश्चात्ताप, यह अनुराग। यहाँ पर मैथिली एवं बंगाली पाठों में देखा जाए तो मिश्रकेशी (अक्षमाला) के मुख में रखा वाक्य परिवर्तित किया हुआ है। जैसे कि, *सअं जेव पडिवण्णो जं वत्तुकामा।* (स्वयमेव प्रतिपन्नः, यद् वक्तुकामा।) अर्थात् जो मैं कहना चाहती थी वही बात राजा ने अपने आप बता दी है कि शकुन्तला की विस्मृति का दोष अंगुठी को देने की जरूरत नहीं है, उसके लिए तो दुष्यन्त ही स्वयं जिम्मेवार है। यहाँ साफ है कि मिश्रकेशी की उक्ति में राजा को टोना मारने का उपक्रम है। काश्मीरी पाठ में जो उक्ति है उसके मुताबिक तो अक्षमाला राजा की वर्तमान दशा पर वह सहानुभूति प्रकट कर रही है ऐसा प्रतीत होता है।

उपर्युक्त बिन्दुओं का अभ्यास करने से मालूम होता है कि काश्मीरी पाठ में जो अक्षमाला है वह अपेक्षाकृत कम वाक्यों का प्रयोग करती है। तथा राजा की मनःस्थिति का आकलन करने का ही मुख्य उद्देश्य ले कर

उसका प्रवर्तन किया गया है। उसके सामने मैथिली पाठ में मिश्रकेशी के नाम से प्रस्तुत होनेवाली अप्सरा कुछ अधिक वाक्य बोलती है, और राजा तथा विदूषक के बीच में जो जो बात होती है उसमें वह सदैव अपनी प्रतिक्रिया देती रहती है। रंगमंच पर उसकी सक्रियता अपेक्षाकृत अधिक है। एवमेव, मैथिली पाठ में विदूषक के मुख में कुल मिला के जो संवाद रखे हैं, वह काश्मीरी पाठ की अपेक्षा से अधिक ही है। मिश्रकेशी एवं विदूषक के अधिक संवादों के सन्दर्भ में बंगाली पाठ की स्थिति मैथिली के समान ही है। इन बिन्दुओं पर मैथिली एवं बंगाली का साहचर्य कालान्तर में हुए परिवर्तन एवं प्रक्षेपों का द्योतक है।

[6]

चित्रफलक से सम्बद्ध संवाद : शकुन्तला विषयक स्मृति वापस लौट आने पर दुष्यन्त की विरहावस्था शूरू होती है। वह अपने हाथों से चित्रित किया हुआ शकुन्तला का चित्र माधवीमण्डप में (रंगमंच पर) मंगवाता है। काश्मीरी शारदा-पाण्डुलिपियों में उपलब्ध हो रहा पाठ कहता है कि दुष्यन्त अंगुठी को उपालम्भ देना छोड़ कर, अपने आप को ही कहता है कि मैं ने ही प्रिया की अवधीरणा क्यूं की? अकारण परित्यक्त शकुन्तला फिर से कब देखने को मिलेगी?[7] (यहाँ से दृश्यान्तर शूरू होता है।) इसी समय पर लिपिकरी मेधाविनी चित्रफलक लेकर रंगमंच पर प्रवेश करती है। वह चारों और देखती है, और वहीं पर खड़े भर्ता के पास जाने का संकल्प करती है। वह बताती है कि यह रही शकुन्तला, जो चित्र में अङ्कित की गई है। तब उस चित्र को देख कर विदूषक एवं (परोक्ष में उपस्थित) अक्षमाला चित्र एवं चित्रकार दुष्यन्त की निपुणता का बखान करते हैं। तदनन्तर, राजा स्वयं को उलाहना देते हुए कहता है कि जलपरिपूर्ण नदी घर में आई थी तो उस समय मैंने उसका लंघन कर दिया, और अब उसके न रहने पर मैं मृगतृष्णिका में लालायित हुआ हूँ। यहाँ काश्मीरी पाठ में, राजा ने अपने ही बनाये चित्र में आलिखित शकुन्तला की सुन्दरता के बारे में एक भी वाक्य से कुछ प्रतिक्रिया नहीं बताई है।

किन्तु मैथिली वाचना में इसी दृश्य का निम्नोक्त स्वरूप उपलब्ध हो रहा हैः—(1) विदूषक राजा की विरही दशा को देख कर कहता है कि मैं तो बुभुक्षा से ही मारा जाऊँगा। तब राजा विदूषक की मज़ाक की ओर ध्यान न देते हुए, शकुन्तलामयी मनःस्थिति में बोलता है कि—प्रिये, अकारणपरित्यागाद् अनुशय-दग्ध-हृदयः तावदनुकम्प्यताम् अयं जनः पुनःदर्शनेन। बस, उसी क्षण लिपिकरी रंगमंच पर प्रविष्ट होकर, जल्दी से बताती है कि भर्ता, यह रही चित्रगता भट्टिनी! यहाँ राजा और लिपिकरी की उक्तिओं का संयोजन हो जाता है। इसमें बड़े नाटकीय ढ़ंग से शकुन्तला के चित्र की रंगमंच पर प्रस्तुति की जाती है। बंगाली पाठ में भी इसी स्वरूप की प्रस्तुति प्राप्त होती है। (2) तदनन्तर, राजा ने "अहो रूपमस्यालेख्यस्य। तथा हि ....।" इत्यादि शब्दों से स्वयं के ही बनाये हुए चित्र की प्रशंसा शूरू की है। इस सन्दर्भ में मैथिली एवं बंगाली पाठों में "दीर्घापाङ्ग-विसारि नेत्रयुगलम्" श्लोक से आरम्भ करके, उसके पीछे आई हुई विदूषक की उक्ति को लेकर शङ्का होती है। जैसे कि, रंगमंच पर जब चेटी के द्वारा शकुन्तला का चित्र प्रस्तुत होता है तब उसको देखते हुए राजा ने निम्नोक्त श्लोक का उच्चारण किया हैः-

दीर्घापाङ्गविसारिनेत्रयुगलं लीलाञ्चितभ्रूलतं
दन्तान्तःपरिकीर्णहासकिरणज्योत्स्नाभिषिक्ताधरम्।
कर्कन्धूद्युतिपाटलोष्ठरुचिरं तस्यास्तदेतन्मुखं
चित्रेऽप्यालपतीव विभ्रमलसत् प्रोद्भिन्नकान्तिद्रवम्॥6-15॥

यद्यपि यहाँ शकुन्तला के नेत्र, दन्तपङ्क्ति, अधरोष्ठादि का सुन्दर आलेखन प्रस्तुत हुआ है। किन्तु प्रश्न होता है कि जिस चित्र को नायक ने बनाया है, उसकी वह स्वयं प्रशंसा शूरू कर दे यह क्या उचित है? तथा च, राजा ने थोड़ी ही क्षणों से पहले शोकमग्न होकर कहा था कि, "हे प्रिये, मैंने तुम्हारा अकारण परित्याग कर दिया था, इस बात के पश्चात्ताप से मेरा हृदय जल रहा है। अब तुम मुझे दर्शन देकर, मेरे ऊपर अनुकम्पा करो।" जिस नायक ने इतने आर्त हृदय से शकुन्तला के पुनर्दर्शन की याचना की थी, वह क्या तुरन्त अपने बनाये चित्र की प्रशंसा शूरू

कर सकता है? सारांशतः, मैथिली और बंगाली पाठभेद में उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट रूप से नायक की दुःखनिमग्न भावदशा की प्रवाहिता खण्डित होती है। इस दृष्टि से इस श्लोक की मौलिकता संशय-ग्रस्त है। पश्चात्ताप-निमग्न राजा की भावदशा का एक समान निर्वहण तो केवल प्राचीनतम काश्मीरी पाठ में ही दिखता है, जो आन्तर-सम्भावना युक्त होने से मौलिकता के अधिक नज़दीक प्रतीत होता है।

इसी श्लोक से जुड़े एक दूसरे पद्य की भी मौलिकता यहाँ पर विचारणीय है। बंगाली पाठ पर टीका लिखनेवाले चन्द्रशेखर चक्रवर्ती ने यहाँ ऐसा अङ्गुलिनिर्देश किया है कि *"तस्याः तुङ्गमिवरेखानिपुणतया तथा भानात्। एवमग्रेऽपि। पद्यमिदमनतिमधुरं दाक्षिणात्य-पुस्तकेष्वेव दृश्यते"॥ मतलब की उपर्युक्त श्लोक के बाद एक ओर नया श्लोक भी दाक्षिणात्य (उत्कलीय?) पाठपरम्परा में है, जैसे कि—*

तस्यास्तुङ्गमिव स्तनद्वयमिदं निम्नेव नाभिः स्थिता
दृश्यन्ते विषमोन्नताश्च वलयो भित्तौ समायामपि।
अङ्गे च प्रतिभाति मार्दवमिदं स्निग्धः स्वभावश्चिरं
प्रेम्ना मन्मुखचन्द्रमीक्षत इव स्मेरेव वक्तीव च॥ 6-15क॥

(इस दूसरे श्लोक को रिचार्ड पिशेल ने मान्य नहीं रखा है। किन्तु डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने लिखा है कि उपर्युक्त 6-15क श्लोक पाँच बंगीय पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ है।) इस श्लोक में शकुन्तला के अङ्ग-उपाङ्गों का वर्णन अरुचिकर है। इस लिए, बंगाली पाठ के टीकाकार चन्द्रशेखर कहते हैं कि यह श्लोक सार्वत्रिक रूप से नहीं मिलता है। अर्थात् उसकी मौलिकता भी संशयग्रस्त है। इन दोनों श्लोकों की प्रामाणिकता विषयक चर्चा करने लिए, इसके अनुगामी संवाद की ओर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। जैसे कि—इस दूसरे श्लोक के नीचे विदूषक की निम्नोक्त उक्ति हैः-*(विलोक्य) भो, भावमधुरा रेखा। स्खलतीव मे दृष्टिः निम्नोन्नतप्रदेशेषु। किं बहुना, सत्त्वानुप्रवेशशङ्कया आलपनकुतूहलं मे जनयति॥* इस उक्ति का सीधा सम्बन्ध तो 6-15क श्लोक के साथ ही है यह निःशङ्क है। अर्थात् रिचार्ड पिशेल ने दीर्घापाङ्गविसारिनेत्रयुगलं

6-15 के नीचे जो विदूषक की उक्ति के रूप में वाक्य दिया है, उसका सम्बन्ध तो मात्र *"तस्यास्तुङ्गमिव स्तनद्वयम्"*। 6-15क श्लोक के साथ ही सुसंगत बैठता है। क्योंकि इसी दूसरे श्लोक में उत्तुङ्ग स्तन और निम्न नाभि का जो उल्लेख है, जिसके साथ ही "स्खलतीव मे दृष्टिः निम्नोन्नतप्रदेशेषु।" इन शब्दों का सन्धान दिखता है। (इन शब्दों का सम्बन्ध कथमपि *दीर्घापाङ्गविसारि नेत्रयुगलम्*। 6-15 के साथ नहीं बैठता है।) अब स्मर्तव्य है चन्द्रशेखर के शब्द, जिसमें कहा है कि यह (6-15क) पद्य अनतिमधुर है, अर्थात् सुरुचि का भङ्ग करनेवाला है। तथा वह श्लोक केवल दाक्षिणात्य (= सम्भवतः उत्कलीय) पाठपरम्परा में ही मिलता है। इस लिए वह दूसरा श्लोक भी निश्चित रूप से प्रक्षिप्त मानना चाहिए।

शकुन्तला के चित्रफलक को देख कर नायक के द्वारा उच्चरित उपर्युक्त दोनों श्लोक (एवं उनके अनुसन्धान में आयी विदूषक की उक्ति भी) प्रक्षिप्त है ऐसा मानने का तीसरा हेतु निम्नोक्त हैः-राजा ने श्लोकः 14 में अङ्गुलीयक को उपालम्भ दिया, फिर "अथवा" शब्द से पक्षान्तर का आश्रयण करते हुए, उसने अपने आपको ही दोषी सिद्ध किया है। लेकिन इस श्लोक-14 में कहे शब्दों से वह भारी उद्विग्न अवस्था में है ऐसा प्रतीत तो होता ही है। वह वर्तमान स्थल-काल को भूल कर ही बोलता है कि जिसने बिना कोई वजह तुम्हारा त्याग कर दिया है और जो व्यक्ति आज पश्चात्ताप से दग्ध हृदयवाला हुआ है उसके ऊपर अनुकम्पा दिखाते हुए, हे प्रिये! दर्शन दो। इसी क्षण चेटी "ये रही चित्रगता भट्टिनी शकुन्तला" ऐसा बोलती हुई सहसा रंगभूमि पर शकुन्तला का चित्र लेकर प्रवेश करती है। इस पूर्वापर सन्दर्भ को देखते हुए उचित नहीं लगता है कि राजा अपने ही चित्रित किये चित्र का वखान शूरू कर दे। रंगभूमि पर चित्र प्रदर्शित होते ही वह तुरंत "अहो रूपमालेख्यस्य। तथा हि" कहेता हुआ प्रकृत (दीर्घापाङ्गविसारि) श्लोक का गान शूरू करता है। यहाँ विचारणीय यह भी है कि (क) श्लोक-15 के द्वितीय चरण में "दन्तान्तःपरिकीर्ण-हासकिरण-ज्योत्स्ना-ऽभिषिक्ताधरम्" जैसे शब्दों से "हास्य के किरणों की ज्योत्स्ना" कहना उचित होगा, या फिर "हास्य की ज्योत्स्ना"

ही पर्याप्त है। अर्थात् इस श्लोक की पदरचना कालिदासीय नहीं हो सकती है।

(ख) चित्रफलक-प्रसंग में उचित तो यही लगता है कि चेटी के द्वारा लाये गये शकुन्तला के चित्र को देख कर रंगमंच पर जो दो उपस्थित है (विदूषक और मिश्रकेशी) वे ही उसको देखते हुए कुछ प्रतिभाव व्यक्त करें। इन दोनों के संवादों में भी, विदूषक के मुख में, "अहो भावमधुरा रेखा। सत्त्वानुप्रवेशशङ्कया आलपनकौतूहलं मे जनयति।" इतने शब्द ही हो, और "स्खलतीव मे दृष्टिः निम्नोन्नत-प्रदेशेषु"–जैसी सुरुचि का भङ्ग करनेवाली उक्ति नहीं होनी चाहिए।[8] क्योंकि वह उक्ति तो "तस्या-स्तुङ्गमिव स्तनद्वयमिदम् " वाले श्लोक के शब्दों को देख कर किये गये प्रक्षेप का परिणाम है। (अतः मैथिली और बंगाली पाठों में से यह दोनों पद्यांश निष्कास्य ही है।) विदूषक के प्रतिभाव के बाद मिश्रकेशी भी उस चित्र को देख कर मौन नहीं रह सकती है। इस लिए उसका तो होना आवश्यक है॥ सारांशतः, काश्मीरी वाचना के पाठ में, चित्रफलक के सन्दर्भ में राजा की शोकमग्न दशा का जो भावप्रवाह एक समान सातत्य से चल रहा है उसका ही सर्वथा औचित्य सिद्ध होता है। किन्तु मैथिली तथा बंगाली पाठों में, राजा के मुख में रखें पूर्वोक्त दोनों श्लोक एवं विदूषक का पूर्वोक्त एक अधिक वाक्य राजा की संतप्त भावदशा के विरुद्ध है, अतः उसे प्रक्षिप्त ही मानना चाहिए। (3) काश्मीरी पाठ के अनुसार, रंगमंच पर चित्रफलक प्रस्तुत होता है तब सब से पहले विदूषक और अक्षमाला उस चित्र को देख कर अपने अपने प्रतिभाव व्यक्त करते हैं। फिर उसके बाद राजा अफसोस के साथ "साक्षात् प्रियाम् उपगताम् अपहाय" इत्यादि श्लोक से कहता है कि जलपूर्ण नदी घर आयी थी, जिसको मैंने ठुकरा दी है और अब मृगतृष्णा के पीछे प्रणयवान् बना हूँ। यहाँ पर भी राजा ने शकुन्तला के चित्र में जो कुछ ठीक-ठाक नहीं था उसमें सुधार करने पर भी शकुन्तला का सौन्दर्य पूर्ण रूप से आकारित नहीं कर पाया हूँ ऐसा कुछ कहते नहीं है। अर्थात् काश्मीरी पाठ में, "यद्यत् साधु न चित्रेऽस्मिन् क्रियते तत्तदन्यथा" वाला श्लोक राजा बोलता नहीं है। यह श्लोक तो

पहले मैथिली में, और बाद में उसका अनुसरण करते हुए बंगाली पाठ में प्रक्षिप्त किया गया है। इन दोनों परम्पराओं में इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानने का कारण भी वही है कि राजा की शोकमग्न भावावस्था का सातत्य उसमें तूटता है। यहाँ ऐसी मनोदशा दिखाई जा रही है कि जिसमें नायक चित्र की सुन्दरता से सम्बद्ध कुछ भी बोलेगा तो वह विषयान्तर ही लगेगा, अथवा कहो कि उसकी विरही मनोदशा के विरुद्ध ही सिद्ध होगा। अतः मैथिली और बंगाली पाठों की अपेक्षा से काश्मीरी पाठ ही प्रसंगोचित प्रतीत हो रहा है। और वही पाठ आन्तरिक सम्भावना से युक्त है।

(4) चित्रफलक से सम्बद्ध संवाद शृंखला में राजा जब इस विचार में निमग्न है कि मैंने साक्षात् उपस्थित हुई प्रिया को ठुकराई है और अब चित्र में संरोपित शकुन्तला के प्रति प्रणयवान् बना हूँ, तब (काश्मीरी पाठ के अनुसार) विदूषक पूछता है कि चित्र में तो तीन युवतियाँ दिख रही है, और तीनों ही दर्शनीय है। तो इन में से शकुन्तला कौन है? राजा ने विदूषक को ही अनुमान करने का कहा। विदूषक ने भी ठीक अनुमान करके शकुन्तला को पहचान ली। राजा ने उस चित्र में अपनी अङ्गुलि से निकले स्वेद बिन्दु से कुछ मलिन हुई रेखा तथा अपने नेत्र से अश्रुबिन्दु निकल कर शकुन्तला के कपोल पर जो गिरा है उसकी ओर ध्यान देकर, मेधाविनी को आज्ञा की कि तुम जा कर रंग-वर्तिका ले आओ। विदूषक तुरन्त पूछ लेता है कि अभी इस चित्र में और नया क्या बनाओंगे? तब राजा ने "कार्या सैकतलीनहंसमिथुना " इस श्लोक से अपने भावि दाम्पत्यजीवन की रूपरेखा वर्णित की है। यहाँ विचारणीय बिन्दु यह है कि "कृष्णमृग के नौकिले शृङ्ग पर एक मृगी अपना वाम-नेत्र खुजला रही हो"[9] ऐसा चित्र आकारित करने की इच्छा जो दुष्यन्त दिखा रहा है वह क्या इङ्गित कर रहा है। लगता है कि पश्चात्ताप के दौरान दुष्यन्त को समझ में आ गया है कि हरिणी स्वरूपा शकुन्तला को मैं शिकारी हो कर तो सही अर्थ में प्राप्त नहीं कर पाऊँगा। पति और पत्नी जब तक एक समान भूमिका पर नहीं खड़े होते हैं तब तक सही दाम्पत्य जीवन शूरू ही नहीं हो सकता। जैसे हरिणी के लिए वह कृष्णमृग पूरा भरोसामंद बन कर

खड़ा है, इसी लिए वह अपना वामनेत्र उसके नौकिले शृङ्ग पर खुजला सकती है, वैसे मुझे भी अब शकुन्तला के लिए विश्वसनीय पति बन कर रहना है। षष्ठाङ्क के इस चित्रफलक-प्रसंग का सन्धान यदि सोचा जाए तो (बृहत्पाठ वाले इस नाटक के) तीसरे अङ्क में पुष्परज से कलुषित हुए शकुन्तला के नेत्र को दुष्यन्त ने अपने वदनमारुत से जो परिमार्जित कर दिया था उसके साथ साफ दिखाई दे रहा है। उस तीसरे अङ्क के प्रसंग में वह शकुन्तला के पर्यश्रुगत चक्षु को देख कर, सानुक्रोश प्रणयी बन कर साहाय्य करने को उद्यत हो गया था। इसी घटना का रूपान्तरण होकर दुष्यन्त के मन में "कण्डूयमानां मृगीम्" का चित्र बनाने की चाहत पैदा हुई है। यही तो है विकसित हुए नाट्यकार्य की ध्वनि!!! दुष्यन्त अब शिकारी नायक में से विश्वसनीय पति की भूमिका पर आकर खड़ा है! इस तरह से देखा जायेगा तो इस पूरे चित्रफलक-प्रसंग का मर्म विकसित हुए नाट्यकार्य का ही प्रकटीकरण है। इससे हट कर जो भी विप्रलम्भ शृंगार को बहलाने के लिए नये श्लोक मैथिली और बंगाली पाठ में जोड़े गये है, वह प्रस्तुत भावदशा के अनुरूप नहीं है, सुसंगत नहीं है। अतः निष्कास्य है।

नाट्यकार्य के विकास का जो बिन्दु उपर्युक्त चर्चा में रखा गया है उसी का समर्थन अनुगामी प्रसंग में भी मिल रहा है। जैसे कि, विदूषक ने चित्रफलक की ओर ध्यान से देख कर कहा कि, "यह श्रीमती (शकुन्तला) ने अपने रक्तकुवलय जैसे हाथों से मुख को अपवारित किया है और चकित-चकिता हो कर खड़ी है! यह दासी का पुत्र कुसुमरस का चौर मधुकर शकुन्तला के वदनकमल का अभिलाष रखता है।" राजा सहसा कहते हैं कि उस धृष्ट भ्रमर को रोक लो। तब विदूषक बताता है कि आप ही अविनीतों का अनुशासन करने को समर्थ है। स्पष्ट है कि इस प्रसंग में प्रथमाङ्क में आये हुए भ्रमरबाधा प्रसंग का प्रतिबिम्ब रखा गया है। तथा उसके सन्दर्भ में राजा मधुकर को संबोधित करते हैं। "कुसुम पर बैठी यह मधुकरी यद्यपि तृषिता है, तथापि तुम में अनुरक्त होने के कारण, आपके बिना मधु का आस्वाद नहीं लेती है।" यहाँ साफ दिखता

है कि प्रथम अङ्क में जो नायक भ्रमर का प्रतिस्पर्धी बना था, वही आज विरहावस्था में भ्रमर का उपदेष्टा बना है। और प्रतीकात्मक दृष्टि से देखा जाए तो, दुष्यन्त अपने ही जीवन-सन्दर्भ को मन में रखता हुआ बोल रहा है कि "भवन्तमनुरक्ता त्वया विना मधु न पिबति।" यहाँ मधुकरी अन्य कोई नहीं है, वह तो शकुन्तला ही है। इस तरह, इस श्लोक में भी विकसित हुए नाट्यकार्य का ध्वनन हो रहा है। दुष्यन्त के चरित में जिस भ्रमरवृत्ति होने का आक्षेप है, उसका उन्मूलन या परिवर्तन यहाँ देखा जा सकता है। चित्रफलक से सम्बद्ध संवाद शृंखला में राजा के द्वारा उच्चरित उपर्युक्त श्लोक का पाठ जैसा काश्मीरी शारदा पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ है, प्रायः वैसा ही पाठ मैथिली एवं बंगाली पाण्डुलिपियों में दृष्टिगोचर होता है। अर्थात् उक्त निगूढ नाट्यकार्य से सम्बद्ध पाठ्यांश में तो पाठान्तरों की समस्या तीव्र नहीं है।[10]

(5) चित्रफलक प्रसंग के पाठ्यांश में, मंचन की दृष्टि से जो महत्त्वपूर्ण एक पाठभेद है वह निम्नोक्त हैः राजा जब लिपिकरी मेधाविनी को वर्तिका लेने के लिए भेजते हैं, तब उसने विदूषक के हाथों में शकुन्तला का चित्र सोंप दिया है ऐसा काश्मीरी पाठ में बताया गया है। किन्तु मैथिली वाचना में, और तदनुगामिनी बंगाली वाचना के पाठ में वह चित्रफलक राजा ने ही मेधाविनी से मांग कर अपने हाथों में धारण किया है।[11] मंचन की दृष्टि से यह पाठभेद बहुत महत्त्व रखता है। जैसे कि, काश्मीरी पाठ में राजा जब कहते हैं कि यदि यह भ्रमर मेरे अनुशासन में नहीं रहेगा तो मैं उसे कमलोदर में बन्ध कर दुँगा। तब विदूषक ने कहा कि राजा तो अभी उन्मत्त हुए है, और मैं भी उनके साथ साथ वैसा ही हो गया हूँ। अब राजा भावाविष्ट होकर, विदूषक के हाथ में रहे चित्रफलक में चित्रित शकुन्तला को सजीव पात्र मान कर सम्बोधन करते हैं कि, हे प्रिये! मैं अब तेरे और भ्रमर के बीच में खड़ा हूँ। इस तरह रंगमंच पर चित्रस्थ भ्रमर और राजा के बीच जो द्वन्द्व रचा गया है वह नाटकीयता से परिपूर्ण है। इसके सामने मैथिली एवं बंगाली पाठवाली योजना में, शकुन्तला का चित्र तो राजा ने अपने हाथ में ही ले लिया है। इस लिए

चित्रस्थ भ्रमर और राजा के बीच द्वन्द्व खड़ा करने की कोई गुँजाईश ही नहीं है। अतः इन दोनों में से "प्रिये, स्थितोऽहम् एतावति।" ऐसा काश्मीरी वाचना का वाक्य (और तदनुरूप आङ्गिक अभिनय) हटाया गया है।

(6) चित्रफलक से सम्बद्ध संवाद शृंखला में एक अन्तिम दृश्य की चर्चा करनी अवशिष्ट रहती है। काश्मीरी पाठानुसारी पञ्चमाङ्क में हंसपदिका-गीत के सन्दर्भ में, दुष्यन्त की पूर्व परिणीताओं में "कुलप्रभा" के नाम का उल्लेख आया है। षष्ठाङ्क में फिर से वही रानी का नामनिर्देश आता है। अब ज्ञातव्य हकीकत यह है कि मैथिली एवं बंगाली पाठों में उस रानी का नाम कुलप्रभा नहीं है, इन दोनों में तो उसका नाम "वसुमती" मिलता है।[12] यद्यपि काश्मीरी पाठानुसारी कुलप्रभा नाम प्रथम दृष्टि में उचित नहीं लगता है। क्योंकि जिस रानी से (पुत्र)संतति प्राप्त होती है, मतलब कि जिससे वंशवृद्धि होती है, उसके लिए (ही) कुलप्रभा नाम उचित लगता है। लेकिन ऐसे नाम कुछ भावि अपेक्षाओं के सन्दर्भ में भी प्रवर्तित किये गये हो सकते हैं। अतः यहाँ नामार्थ की ओर न देखते हुए, चित्रफलक-प्रसंग का समापन करनेवाली संवाद शृंखला को बारिकी से देखें तो मालूम होता है कि यह पाठभेद एक नया नामान्तर प्रस्तुत करने तक सीमित नहीं रहा है। यहाँ राजा दुष्यन्त के गृहजीवन में पूर्वपरिणीताओं का दबाव, एवं परस्पर में प्रतिस्पर्धा अथवा सौजन्यशीलतादि थे या नहीं? इस मामले में कवि ने मूल में कैसी नाट्यशैली सोची होगी, और कालान्तर में उसमें कैसे बदलाव आता रहा है? वह गवेषणीय है।

इस सन्दर्भ में, काश्मीरी पाठ में निरूपित स्थिति कैसी है उसका पहले अवलोकन करते हैं :- लिपिकरी मेधाविनी जब राजा के लिए वर्तिका लेने राजमहल में गई थी, तब उसको रास्ते में रानी कुलप्रभा का परिजन वर्ग मिल गया। और उन्होंने मेधाविनी के हाथ में से वर्तिकाकरण्डक छीन लिया है। राजा कहते हैं कि "अच्छा ठीक है, हम भी अब चित्रफलक में और कुछ नया आलेखन करने के लिए अक्षम है''। (यहाँ राजा दुष्यन्त अपने शकुन्तला-सम्बन्ध को रानी कुलप्रभा जान लेगी तो बड़ा कलह होगा ऐसी कोई भीति से पीड़ित होते नहीं दिखाये है।) राजा तो उसी विरही

भावदशा में बोलते हैं कि हम तो अविश्राम दुःख का ही अनुभव करते जा रहें हैं। देखो, रात्रि काल में जागरण होने से प्रिया का स्वप्नों में भी समागम नहीं होता है, एवं आँखों से निकल रही अश्रुओं की धारा इस चित्र में स्थित प्रिया को भी देखने नहीं देती है। तब लिपिकरी मेधाविनी राजा दुष्यन्त को सावधान करती है कि (कुलप्रभा के परिजन वर्ग की) पिङ्गलिकामिश्रा आदि यहाँ आकर शकुन्तला की चित्रस्थ प्रतिकृति को बिगाड़ देगी। मेधाविनी की चेतावनी को सुन कर विदूषक अपनी प्रतिक्रिया देता है कि अब तो इसकी (राजा की) आशा छिन्नभिन्न हो गई समझो। जिसको सुन कर तुरन्त भावाविष्ट हुए राजा हुंकार करके, मानों शकुन्तला की रक्षा करने के लिए उसके स्तनान्तर पर हस्तक्षेप करता है। बस उसी क्षण पर नेपथ्य से आवाज़ आती है "जअदु जअदु भट्टिणी"। अर्थात् अब रंगमंच पर देवी कुलप्रभा प्रवेश करेगी ऐसा इङ्गित किया जाता है। इस नेपथ्योक्ति को सुन कर विदूषक बताता है कि अन्तःपुर की व्याघ्री पिङ्गलिका दासी इस मेधाविनी-मृगी का अनुसरण करती आ रही है। राजा को लगता है कि इन दो परिजनों की लड़ाई में प्रिया की प्रतिकृति कहीं कलुषित न हो जाये। इस लिए वह विदूषक को उसकी रक्षा करने की विज्ञप्ति करता है। इन संवादों में कहीं पर भी दुष्यन्त की पूर्वपरिणीताओं की ओर से शकुन्तला-वृत्तान्त को लेकर अन्तःपुर में चल रही किसी ईर्ष्या या स्पर्धा का दूषित चित्र नहीं मिलता है। एवं इसमें दुष्यन्त अपनी पूर्वपरिणीता रानी से ड़रता है ऐसा भी भाव प्रकट नहीं किया गया है।

लेकिन मैथिली एवं तदनुगामिनी बंगाली वाचना के पाठों में, उपर्युक्त सन्दर्भ का संवाद बिल्कुल बदल दिया गया है। जैसे कि, लिपिकरी मेधाविनी को राजा ने ही पूछा है कि रास्ते में क्या हुआ था? तब मेधाविनी ने कहा है कि मैं वर्तिका-करण्डक लेकर आ रही थी तब पिङ्गलिका जिसके साथ में है ऐसी देवी वसुमती ने बलपूर्वक मेरे हाथों से करण्डक छिन कर कहा कि "मैं ही आर्यपुत्र के पास इसे पहुँचाऊँगी"। तब विदूषक पूछता है कि तुम कैसे वहाँ से छुट पाई हो?। मेधाविनी ने कहा कि देवी का अंचल लताविटप में संलग्न हो गया था, उसको जब तक परिचारिका

मुक्त करवा रही थी, तब तक मैं भाग निकल आई। अब विदूषक ने नेपथ्योक्ति सूनी कि भट्टिनी आ रही है। वह बताता है कि अन्तःपुर की व्याघ्री (देवी वसुमती) मेधाविनी-मृगी को कवलित कर जाने के लिए भागती हुई आ रही है। विदूषक की चेतावनी से उस परिसर में गभराहट फैल जाती है। राजा तुरंत सावधान होकर विदूषक को कहने लगता है कि वयस्य, बहुमान से गर्वित हुई देवी आ गई है, तो तुम ही प्रिया की इस प्रतिकृति की रक्षा करो। चित्रफलक उठा कर विदूषक भागता है और जाते समय कहता है कि आप जब इस अन्तःपुर के कूटपाश में से छुट पाओ तो मुझे मेघछन्द प्रासाद से वापस बुला लेना। यद्यपि बंगाली पाठ में मैथिली पाठ का बहुशः अनुगमन किया गया है,[13] तथापि उसमें भी कुछ नवीन विकृतियाँ भी पैदा की गई हैं। जिसका परिचय बाद में दिया जायेगा। (इसके बाद प्रतीहारी प्रवेश करता है और चित्रफलक-दृश्य पूर्ण हो जाता है।)

काश्मीरी पाठ की तुलना में मैथिली एवं बंगाली पाठ में राजा की पूर्वपरिणीता रानी वसुमती कुछ स्पर्धात्मक भावना से राजा की ओर अभिनिवेशपूर्वक अपना ममत्व दिखाती है। और राजा भी बहुमानगर्विता रानी के आने की बात सुन कर ही, उससे डरने लगता है। काश्मीरी पाठ में भी "कुलप्रभा" नाम से पूर्वपरिणीता रानी का उल्लेख है। किन्तु वह अपने पति की किसी अन्य प्रियतमा (शकुन्तला) के चित्रफलक-वृत्तान्त को जान कर उसके प्रति स्पर्धाभाव से दौड़ती नहीं है। इस द्विविध पाठभेदों पर विचार करने से लगता है कि मैथिली एवं तदनुगामी बंगाली पाठ उत्तरवर्ती काल की पैदाईश है, जिसमें एक चिरपरिचित मानसिकता का पुनःसंचार किया गया है। कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र एवं विक्रमोर्वशीय नाटकों में पहले यह बताया ही है कि बहुपत्नीत्ववाले राजघरानों में जब भी राजा किसी अन्य राजकुमारी में आसक्त होता है तो, पूर्वपरिणीताओं की ओर से नाना तरह के अन्तराय खड़े किये जाते हैं। तथा कालान्तर में, विवशता के कारण रानियाँ राजा के नये प्रेमप्रसंग को सहन कर लेती हैं। (इस सन्दर्भ में भी कालिदास को राजाओं का

दरबारी कवि कहा गया है।) लेकिन जहाँ तक अभिज्ञानशकुन्तला नाटक का सवाल है, वहाँ तो ऐसी पूर्वपरिणीताओं की ओर से होनेवाले रूढिगत अन्तरायों को दिखलाने का मार्ग कालिदास ने त्याज्य माना है। कालिदास ने जैसे विदूषक को एक भी बार शकुन्तला के सामने आने ही नहीं दिया है। और उसकी अनुपस्थिति का ही लाभ उठाते हुए नाट्यकार्य को आगे बढ़ाने का अभिनव मार्ग अङ्गीकृत किया है। वैसे ही, दुष्यन्त की पूर्वपरिणीताओं को भी रंगमंच पर एक भी बार प्रत्यक्ष नहीं होने दी हैं। एवमेव, उनमें से किसी के भी द्वारा राजा के नवीन प्रेम-प्रसंग को लेकर कोई कलह पैदा नहीं किया जाता है। धारिणी, इरावती या काशीराज पुत्री औशीनरी की पुनरावृत्ति प्रस्तुत नाटक में नहीं की जायेगी यह बात तो कालिदास ने हमें प्रस्तावना में ही कह दी है। नाटक की प्ररोचना करते हुए कवि ने हमें कहा है कि यह अभिज्ञानशकुन्तला अपूर्व एवं नवीन नाटक है। काश्मीरी पाठ के अनुसार, एक पूर्वपरिणीता के रूप में कुलप्रभा का जो व्यवहार (चित्रफलक से जुड़े उपर्युक्त प्रसंग में) निरूपित किया गया है उसमें परिणत-प्रज्ञावाले कालिदास की एक अभिलषित अपूर्वता का दर्शन होता है। क्योंकि यहाँ (काश्मीरी पाठ में) पूर्वपरिणीता के रूप में कुलप्रभा को बहुमानगर्विता नहीं दिखाई गई है। तथा उसे अन्तःपुरकूटपाश जैसा नाम भी नहीं दिया है। किन्तु मैथिली एवं बंगाली पाठों में, नया पाठभेद आकारित करके अन्तःपुरों का सामान्य कलह पुनःप्रवर्तित किया गया है। जिससे इस "अपूर्व" कहे गये नाटक में भी वही बहुपत्नीत्व के कारण देविओं के बीच में चलते रहे ईर्ष्याग्रस्त रिश्तों का चित्र उभर कर सामने आ जाता है, जिसमें कोई नवीनता या अपूर्वता नहीं है। ऐसे परिवर्तित किये गये नवीन पाठों से मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं का वर्तमान में उपलब्ध हो रहा पाठ-स्वरूप (काश्मीरी पाठ की अपेक्षा से) उत्तरवर्ती काल का है ऐसा निश्चित होता है। काश्मीरी शारदालिपि में संचरित हुआ इस षष्ठांक का पाठ ही मौलिक इस लिए भी सिद्ध होता है कि कवि ने जब दुर्वासा के शाप को प्रणयमार्ग के अनतिरसाधारण अन्तराय के रूप में पहले रख ही दिया है, तब पूर्वपरिणीताओं के चिरपरिचित कलहों की यहाँ कोई आवश्यकता ही नहीं थी।

चित्रफलक-प्रसंग से जुड़े उपर्युक्त पाठभेदों के परामर्शन से प्रतीत होता है कि प्रस्तुत सन्दर्भ का काश्मीरी पाठ ही मौलिकता के नज़दीक हो सकता है। अतः बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में से काश्मीरी वाचना के पाठ का ही पुरोवर्तित्व सिद्ध होता है, और मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं का पाठ परिवर्तित किया गया होने से उत्तरवर्ती काल का है। किन्तु इन दोनों में से मैथिली वाचना में संचरित हुआ पाठ द्वितीय क्रमांक पर आता है, और बंगाली वाचना का पाठ तृतीय क्रमांक पर खड़ा है—यह कैसे निश्चित होता है? ऐसी जिज्ञासा होनी स्वाभाविक भी है और अनिवार्यतया ज्ञातव्य भी है। क्योंकि पाठालोचना में पाठभेदों के बीच में दृश्यमान साम्य एवं वैषम्य का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने से तो केवल उपलब्ध हो रही पाठपरम्पराओं का पारस्परिक आनुवंशिक सम्बन्ध ही ढूँढा जा सकता है। किन्तु इन आनुवंशिक सम्बन्धों में छीपे पौर्वापर्य का अनुमान नहीं हो सकता है। मतलब कि किस परम्परा का पाठ प्राचीन है, एवं किस परम्परा का पाठ प्राचीनतर है, या किस परम्परा का पाठ प्राचीनतम है? यह हम किसी भी तरह से नहीं जान सकते हैं। अतः अभिज्ञानशाकुन्तल के पाठविचलन-क्रम को निर्धारित करने के लिए 1. काश्मीरी पाठ में ही यदि आन्तरिक सम्भावना-युक्त पाठ झलकता हो तो उसको ही उपलब्ध तीन बृहत्पाठों में से सब से पहला स्थान देना चाहिए। अर्थात् काश्मीरी वाचना के पाठ को ही प्राचीनतम मानना होगा। 2. तत्पश्चात् किस वाचना ने काश्मीरी वाचना के पाठ का अनुगमन अधिक किया है, और किस वाचना ने काश्मीरी पाठ का अनुसरण करना छोड़ कर नवीन मार्ग पर चलना शूरू किया है, (अर्थात् सर्वथा नवीन पाठभेदों को जन्म दिया है?) उसको देख कर, पाठविचलन के द्वितीय सोपान पर कौन सी वाचना आती है, और तृतीय सोपान पर कौन सी वाचना खड़ी है? उसका निर्णय हो सकता है। प्रकृत में, काश्मीरी पाठ के अनुसार, राजा ने जब विदूषक को प्रिया शकुन्तला की प्रतिकृति को सुरक्षित करने की विज्ञप्ति की है, तब परोक्ष में खड़ी अक्षमाला कहती है कि "हे सखि (शकुन्तले), तेरी प्रतिकृति को भी प्रतिपक्ष

के लिए अलंघनीय बनाई जा रही है।''[14] अब देखेंगे कि 1. पूर्वपरिणीताओं का कलह, जो कालिदास के लिए इस नाटक में वर्ज्य बनाना अभिलषित था, उसका दर्शन केवल काश्मीरी पाठ में हो रहा है। किन्तु मैथिली पाठ ने "अन्तःपुर के कूटपाश" को पुनरुज्जीवित करने के लिए नये पाठभेद आकारित भी किये हैं। (जैसे कि, रानी वसुमती को बहुमानगर्विता बतला कर, तथा राजा उससे ड़रता है ऐसा दिखला कर, मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय जैसे दरबारी नाटकों का मार्ग पुनरनुसृत करवा दिया है।) और 2. "शकुन्तला की प्रतिकृति भी अलंघनीय बनाई जा रही है" जैसी काश्मीरी वाचना की उक्ति का यथावत् परिपालन भी किया है। अतः वह द्वितीय क्रम पर आती है। (यहाँ बंगाली पाठ ने "शकुन्तला की प्रतिकृति भी अलंघनीय बनाई जा रही है" जैसे काश्मीरी वाचना के वाक्य को तो निकाल ही दिया है)।

काश्मीरी वाचना के उपर्युक्त पाठ्यांश का मैथिली पाठ में यथावत् स्वीकार किया गया है, किन्तु बंगाली पाठ में उसका सर्वथा त्याग किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि मैथिली पाठ का वर्तमान स्वरूप, जो प्राचीनतम काश्मीरी पाठ का प्रायः अनुगमन करते हुए भी कुछ नवीन पाठभेद दाखिल भी कर रहा है। अतः मैथिली पाण्डुलिपियाँ पुराने और नये पाठ का संमिश्रण बना कर, हमारे सामने जो पाठ उपस्थित करती है वह एक तरह का प्राचीनतर पाठ कहा जायेगा। (अतः पाठविचलन-क्रम में वह मैथिल पाठ द्वितीय सोपान पर आता है।) तथा बंगाली वाचना का पाठ प्राचीन मानना होगा, क्योंकि उस बंगाली पाठ ने बहुशः स्थानों में मैथिली (नवीन) पाठ का अनुगमन ही किया है, तथापि ऐसे अनेक नवीनतर स्थान भी इसमें हैं कि जिसमें नये प्रक्षेपों का दर्शन हो रहा है। एवमेव, मैथिली पाठ में परिवर्तन लाते समय अवशिष्ट रह गई कुछ विसंगतियाँ भी बंगाली पाठ में आज भी मौजुद है। जिससे यही सिद्ध होता है कि पाठविचलन-क्रम में वह बंगाली पाठ तृतीय सोपान पर खड़ा है।

उदाहरण के रूप में, काश्मीरी पाठ में राजा के परिजन-वर्ग में लिपिकरी मेधाविनी नामक दासी है। और देवी कुलप्रभा के परिजन-वर्ग में एक दासी

पिङ्गलिका है। काश्मीरी पाठ में, इन दो दासियों के बीच में टकराव होता है। जिसमें कुलप्रभा ईर्ष्या-कषायित हो कर कुछ सक्रियता नहीं दिखाती है। मैथिली पाठ में, मेधाविनी एवं पिङ्गलिका की उपस्थिति तो यथावत् रूप में मिलती है। किन्तु जो पहला परिवर्तन आया है वह ऐसा है कि पिङ्गलिका को साथ में लेकर आ रही रानी वसुमती स्वयं ईर्ष्याग्रस्त हो कर, मेधाविनी के हाथों में से वर्तिका-करण्डक छिन लेती है। राजा को अधिक प्रिय होने की स्पर्धा में वह अपने आप राजा के पास जा कर वर्तिका देना चाहती है। तीसरी ओर, बंगाली पाठ में देखा जाए तो, राजा के परिजन-वर्ग में अब मेधाविनी के स्थान पर "चतुरिका" आ जाती है! जो राजा के लिए चित्रफलक ले आती है, और बाद में वर्तिका-करण्डक को लेने भी जाती है। तथा रानी वसुमती की दासी के रूप में पिङ्गलिका यथावत् रूप में विद्यमान है। किन्तु बंगाली पाठ में जो एक असाधारण विसंगति प्रकट रूप से अद्यावधि विद्यमान दिख रही है वह यह है कि मेधाविनी को बदल कर चतुरिका का बंगीय पाठ में नया प्रवेश करवाने के बावजुद भी, पाठशोधक लोग एक स्थान पर पुरानी मेधाविनी को बदल देना भूल गये हैं! जैसे कि, विदूषकः-*(कर्णं दत्त्वा) भो अहिधावन्ती एसा अन्तेउरवग्घी मेधाविणिं मइं विअ कवलिदुं उवत्थिदा।* (रिचार्ड पिशेल, द्वितीय संस्करण, 1922, पृ. 86, तथा डॉ. दिलीपकुमार कांजीलाल, 1980, पृ. 324) यदि बंगाली पाठ में मेधाविनी के स्थान पर "चतुरिका" नया नाम प्रस्तुत करना ही था, तो उसको षष्ठांक में सर्वत्र क्यूं नहीं बदला? लेकिन यह असावधानी हमारे लिए बड़ी काम की सामग्री बन गई है। यह विसंगति इस बात की गवाह दे रही है कि मैथिली पाठ का अनुगमन करनेवाला (आज का) बंगाली पाठ तृतीय क्रमांक पर ही तैयार किया गया है। (दाक्षिणात्य एवं देवनागरी पाठ में, बंगाली पाठ की उपर्युक्त विसंगति सम्पूर्णतया हटाई गई है। उसमें सर्वत्र "चतुरिका" ही मिलती है। तथा दाक्षिणात्य एवं देवनागरी पाठ में, पिङ्गलिका को बदल कर "तरलिका" नाम की दासी दाखिल की गई है। अतः वे चतुर्थ एवं पंचम क्रमांक पर तैयार किये गये पाठ सिद्ध होते हैं।)

शकुन्तला की अपूर्वता : कालिदास को अभिज्ञानशकुन्तला नामक अपने तृतीय नाटक में निसर्ग-कन्या शकुन्तला का अनागस प्रणय निरूपित करना अभीष्ट है। उसमें यद्यपि हस्तिनापुर के राजा दुष्यन्त को नायक के रूप में चुना गया है, तथापि इस प्रेम-प्रसंग में पूर्वपरिणीताओं का आन्तर कलह एवं स्पर्धा का चित्र देना कवि को मुनासिब नहीं है। कवि ने नायक के रूप में पुरुवंश के एक राजा को स्वीकारा है, इसलिए उसके जीवन में पूर्वपरिणीताओं का होना स्वाभाविक है। किन्तु उन सब के साथ जुड़े कलह या स्पर्धा के प्रसंगों का निरूपण करना तो इस (तीसरे) नाटक में अभिप्रेत ही नहीं है, और वही तो है इस नाटक की एक अपूर्वता। काश्मीरी पाठ के षष्ठांक को देखा जाए तो उसमें पूर्वपरिणीताओं का कलह या स्पर्धाभाव मुखरित होता ही नहीं है, ऐसा चित्र सुरक्षित रह पाया है। लेकिन मैथिली वाचना के पाठ को तैयार करनेवालों ने इस नैसर्गिक प्रणयकथा में भी पूर्वपरिणीताओं के द्वारा अन्तराय उपस्थित करने की परोक्ष चेष्टाओं का प्रक्षेप कर दिया है। इस तरह के पाठ का अनुगमन बंगाली पाठ ने भी किया है, और देवनागरी तथा दाक्षिणात्य पाठ ने भी किया है। कवि को जो अभीष्ट ही नहीं थी, ऐसी पाठपरम्परा को हम अभी भी ढो रहे है। अब ऐसे प्रक्षिप्तांश का एक सबूत पेश किया जाता है : (काश्मीरी पाठ के अनुसार) अन्तःपुर की व्याघ्री पिङ्गलिका आ रही है ऐसा सुन कर जब राजा कहता है कि, “विदूषक! इस चित्रफलक में चित्रित की गई प्रिया की प्रतिकृति की रक्षा करो''।[15] तब विदूषक चित्रफलक को उठा कर चला जाता है, और जाते समय कहता है कि “मैं इसे वहाँ छिपा कर रखूँगा कि पारावतों के सिवा कोई दूसरा उसे देख नहीं पायेगा''। काश्मीरी पाठ में इससे अधिक कुछ नहीं है। यहाँ पूर्वपरिणीता कुलप्रभा (या वसुमती) का किसी भी तरह से कोई निर्देश नहीं है। लेकिन मैथिली पाठ में विदूषक की उक्ति निम्नोक्त शब्दों में मिलती है : *“जइ भवं अन्तउरकूडवासादो मुञ्चिस्सदि, तदो मं मेहच्छन्दपासादे सद्दावेसि। इदं च तहिं गोवेमि जहिं पारावदं वज्जिअ ण को वि अण्णो पेक्खदि''*। इसी पाठ

का अनुसरण करते हुए बंगाली पाठ में भी कहा गया है कि, *"जइ भवं अन्तेउर-वाउरादो मुच्चस्सदि तदो मं मेहच्छण्णप्पासादे सद्दावेसि। एदं च तहिं गोवेमि जहिं पारावदं उज्झिअ ण को वि अण्णो पेक्खदि।"* (अर्थात् अन्तःपुर में से आ रही रानी कूटपाश (या वागूरा) ले कर मानों राजा को ही पकड़ने के लिए आ रही है!) विदूषक की चेतावनी को सुन कर राजा ने भी, मैथिली पाठ में (और बंगाली पाठ में), कहा है कि रानी वसुमती बहुमानगर्विता है। मतलब कि वह रानी से ड़रता है। इन संवादों में ऐसे राजकुलों का चित्र प्रतिबिम्बित हो रहा है कि जिसमें बहुपत्नीत्व के कारण वैवाहिक-जीवन में कटुताओं से भरी क्षणों का सामना बार बार करना पड़ता है। लेकिन यह वाक्य मूल में होना सम्भव ही नहीं लगता है। क्योंकि प्रकृत में जो सन्दर्भ चल रहा है वह तो पिङ्गलिका एवं मेधाविनी नामक दो दासिओं के बीच में होनेवाली खिंचा-तानि का है। उसमें अन्तःपुर की रानी वसुमती, उसकी बहुमानगर्विता, या उनका कटूपाश या वागुरा कैसे बीच में आ गई? यह प्रश्न है! मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के ये संवाद स्पष्ट रूप से प्रसंगबाह्य एवं पूर्वापर में विरुद्ध होने से प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं।

[9]

अक्षमाला की बिदाई : मेनका ने भेजी हुई अप्सरा अक्षमाला किस परिस्थिति में रंगमंच से बिदा लेती है? वह भी परीक्षणीय है। यद्यपि सभी वाचनाओं में अक्षमाला के निर्गमन के लिए एक समान रंगसूचना मिलती है कि "उद्भ्रान्तकेन निष्क्रान्ता"। लेकिन इससे पहले की क्षणों में रंगमंच पर किस परिस्थिति का निर्माण हुआ है वह द्रष्टव्य है। अमात्य पिशुन के द्वारा भेजे गये पत्र से राजा ने जाना है कि समुद्र वारिपथोपजीवी धनवृद्ध नामक श्रेष्ठी नौ-व्यसन में मर गया है, और वह अनपत्य होने से उसकी धन-सम्पत्ति राजकोश में ले ली जानी चाहिए। इसको सुन कर राजा को अपनी भी अनपत्यता का स्मरण हो आता है। "जो महान् फल देने को सज्ज हो ऐसी उप्तबीजा वसुन्धरा को कोई कृषिकार त्याग दे वैसे ही

मैंने मेरी कुलप्रतिष्ठा शकुन्तला का त्याग कर दिया है। अब मेरे, दुष्यन्त के पिण्डभाजी पितृलोग की स्थिति भी संशय-ग्रस्त हो गई है''। इस तरह राजा का अफसोस बढ़ता जाता है। "अनार्यों के देश में जा कर जैसे सरस्वती का स्रोत सूख जाता है, वैसे मैं प्रजावन्ध्य रहा हूँ इसलिए मेरा पौरव कुल भी अस्त हो जायेगा''। इतना बोलते ही राजा रंगमंच पर बेहोश हो कर गिर पड़ता है। चित्रफलक को लेकर विदूषक तो रंगमंच से कब का चला गया है, अब केवल लिपिकरी मेधाविनी ही राजा के पास खड़ी है। वह राजा को आश्वासन देने की विफल कोशिश करती है। तब अक्षमाला की प्रतिक्रिया व्यक्त करनेवाले जो वचन है वह सभी वाचनाओं में अलग अलग है। जैसे कि, काश्मीरी वाचना में, "**अक्षमाला**–*इदानीमेवैनं निर्वृतं करोमि। अथवा महतीभिः पुनर्देवताभिरेतद् दर्शितम्। न शक्यं मयाननुज्ञातया हस्तसंसर्गं नेतुम्। भवतु, यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथा करिष्यन्ति, यथैष राजर्षिस्तया सहधर्मचारिण्या समागमिष्यति। (नभोऽवलोक्य) (सहर्षम्) करिष्यन्ति कथमेव, तत्र प्रेक्षे। यावद् अनेन वृत्तान्तेन प्रियसखीं समाश्वासयामि॥"* अक्षमाला ने राजा को मूर्च्छित हुए देखा और तत्क्षण उसके मन में विचार आता है कि मैं चाहुँ तो अभी उसी क्षण राजा को दुःख से मुक्त कर सकती हूँ। किन्तु देवों की आज्ञा के बिना मैं देवों की योजना में हस्तक्षेप नहीं कर सकती हूँ। यही ठीक होगा कि यज्ञभाग को प्राप्त करने के लिए समुत्सुक देवता लोग ही इस राजर्षि का उनकी सहधर्म-चारिणी के साथ समागम करवायेंगे। उसके बाद, अक्षमाला आकाश की ओर देख कर प्रेक्षकों को निवेदन करती है : "देवताएँ क्या समागम करायेंगे? अरे, वही तो मैं देख रही हूँ कि देवों ने वह समागम करवाने का कार्य शूरू ही कर दिया है। चलो चलो, प्रियसखी के पास पहुँच कर, उसको इसी वृत्तान्त से आश्वासन देती हूँ''। इतना बोल कर, अक्षमाला उद्भ्रान्तक नृत्य करती हुई रंगमंच से बिदा लेती है। यहाँ पर अक्षमाला के चले जाने पर तुरंत मातलि का आगमन होता है, जो राजा को इन्द्रलोक में ले जाने के लिए ही आया था। यहाँ पर, रंगमंच की स्थिति को देखा जाए तो, राजा मूर्च्छित अवस्था में पड़े है और अक्षमाला अन्तरिक्ष लोक

में वापस जाने का आरम्भ करती है। काश्मीरी पाठ के अनुसार, मूर्च्छित राजा को छोड़ कर जल्दी से अक्षमाला जा सकती है, क्यूँ कि वह अन्तरिक्ष लोक से आ रहे मातलि को स्पष्ट देख रही है, जो आगे चल कर दुष्यन्त-शकुन्ताल के मिलन का ही आरम्भ सूचित कर रहा था। दूसरे शब्दों में कहे तो, मातलि के आगमन की सूचना देते हुए अक्षमाला का निर्गमन सही स्वरूप में नाटकीय लगता है। लेकिन इस तरह की योजना मैथिली एवं बंगाली पाठ में नहीं दिखाई देती है।

मैथिली पाठ के अनुसार पूर्वोक्त परिस्थिति में मिश्रकेशी के शब्द इस तरह के हैः—*"किं इदाणिं जेव एणं णिव्वुदं करइस्सं। अधवा सुदं मए सउन्तलं धारअन्तीए देवजणणीए मुहादो जण्णभाओसुआओ देवदाओ ज्जेव तधा करइस्सन्ति, जधा भट्टा तुमं अइरेण धम्मवत्तिं अहिणन्दइस्सदि त्ति। ता ण जुत्तं इमं कालं मम लंघिदुं। जाव इमिणा वुत्तन्तेण पिअसहिं सउन्तलं समस्ससामि। (इत्युद्भ्रान्तकेन निष्क्रान्ता।) (नेपथ्ये) अब्बब्भण्णं अब्बब्भण्णं॥"* इसमें मिश्रकेशी बताती है कि "मैंने शकुन्तला को धारण कर रही देवों की जननी से सुना है कि यज्ञ-भाग को प्राप्त करने के उत्सुक देवतायें ही ऐसा कुछ करेंगे कि राजा बहुत जल्दी से अपनी धर्मपत्नी का अभिनन्दन करेंगे। इस लिए मुझे उस देवताओं के निर्धारित काल का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। तो चलो, इस वृत्तान्त से शकुन्तला को आश्वासन देती हूँ।" ऐसा बोल कर वह उद्भ्रान्तक नृत्य के साथ निकल जाती है। यहाँ ऐसा लगता है कि रंगमंच पर राजा बेहोश पड़ा है, और मिश्रकेशी उसके प्रति कोई संवेदना रखती ही नहीं है। मिश्रकेशी की बिदाई बहुत अस्वाभाविक लगती है। उसके चले जाने के बाद, नेपथ्य से "अब्रह्मण्यम् अब्रह्मण्यम्।" की आवाज़ आती है और प्रेक्षकों का अन्यत्र ध्यान आकृष्ट होता है। इस तरह से मिश्रकेशी के निर्गमन में मातलि के प्रवेश की कोई सूचना भी नहीं मिलती है, तथा उसमें राजा की बेहोश दशा पर उसके मन में कोई संवेदना ही नहीं है ऐसा द्विविध अनौचित्य दिख रहा है। प्रायः उसी तरह का पाठ बंगाली (और देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ) में भी प्राप्त हो रहा है। "देवों की योजना में मुझे हस्तक्षेप नहीं करना

चाहिए'', ऐसे मैथिली वाचना के वाक्य में परिवर्तन करके, बंगाली वाचना में "ता ण जुत्तं मम एत्थ विलम्बिदुं। अर्थात् अब मुझे यहाँ रह कर और ज्यादा विलम्ब नहीं करना चाहिए।" ऐसा वाक्य मिलता है।

[10]

इस नाटक का लघुपाठ एवं बृहत्पाठ जिन पाठपरम्पराओं में संचरित हुआ है वे पाँचों रंगावृत्तिओं का पौर्वापर्य भी विचारणीय बिन्दु है। इस सन्दर्भ में, नाट्यम् (सं. राधावल्लभ त्रिपाठी, संस्कृत विभाग, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर) के अङ्क क्रमांक 73-74, (वर्ष-2013) में प्रसिद्ध हुए मेरे शोध-आलेख में अनेक प्रमाणों से निश्चित किया गया है कि उपर्युक्त पाँचों (तथाकथित) वाचनाओं में से जो लघुपाठ देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में सुरक्षित है वह तो अल्प-समयावधि में रंगमंच पर इस नाटक को प्रस्तुत करने के लिए संक्षेपीकरण के बाद का तैयार किया गया पाठ है। अर्थात् इस नाटक का आज जो लघुपाठ एवं बृहत्पाठ ऐसा द्विविध स्वरूप मिल रहे हैं उसमें से लघुपाठवाली देवनागरी एवं दाक्षिणात्य पाठपरम्परायें सुनिश्चित रूप से कालान्तर में (चौथे एवं पाँचवें क्रम पर) तैयार की गई रंगावृत्तियाँ ही है। सारांशतः बृहत्पाठ जिन तीन पाठपरम्पराओं में संचरित हुआ दिख रहा है वे तीनों काश्मीरी, बंगाली एवं मैथिली पाठपरम्पराओं का ही पुरोगामित्व सूचित होता है। तथा इनमें प्राचीनतम पाठ की सुरक्षा काश्मीरी पाठ में हुई है। तथा द्वितीय क्रमांक पर, यानि प्राचीनतर पाठ के रूप में मैथिली पाठ आता है। एवं तृतीय क्रमांक पर बंगाली पाठ आकारित किया गया है, यह कुछ आन्तरिक विसंगतिओं से प्रमाणित होता है। यहाँ हम ऐसा मान लेने की जल्दबाजी नहीं करेंगे कि बृहत्पाठवाली उपर्युक्त तीन पाठपरम्पराओं में से किसी एक में कवि प्रणीत मूलपाठ सुरक्षित रहा होगा। क्योंकि इन तीनों पाठ की बारिकी से परीक्षा करने से मालूम होता है कि इन तीनों में भी रंगावृत्ति का ही पाठ संचरित हुआ है। केवल इन तीनों का पूर्वोक्त पौर्वापर्य ही हम निश्चित कर पाते हैं।

[11]

इस परामर्श को लिखने के पश्चात्, षष्ठांक के आरम्भ में एक प्रक्षिप्तांश बड़ी चुपकी दी से प्रविष्ट हुआ है—ऐसा ध्यान में आया हैः कञ्चुकी ने चूतानां चिरनिर्गतापि (श्लोक 6-4) वाली उक्ति और अनुगामिनी अन्य दो उक्तियाँ भी प्रक्षिप्त है। क्योंकि राजाज्ञा के प्रभाव से वासन्तिक तरुओं और आम्रमञ्जरी का विकसन नहीं हुआ है- ऐसा कञ्चुकी के कथन के साथ पूर्वापर प्रसंगों की वाक्यावली विरोध में जाती है। इससे यह प्रमाणित होता है कि यह पाठ्यांश प्रक्षिप्त ही है। (द्रष्टव्यः अपूर्वा, बी. एच. युनि., वाराणसी, 2017 एवं 'नाट्यम्' में प्रकाश्यमान मेरे शोध-आलेख।)

सन्दर्भ

1. शकुन्तला को अपने किसी दोष पर पश्चाताप करने का तो सवाल ही पैदा नहीं था, क्योंकि उसको दुर्वासा के द्वारा दिये गये शाप की जानकारी तो नाटक के अन्त तक नहीं थी।
2. ऐसा ही एक उदाहरण तृतीयाङ्क में मिलता हैः उत्सृज्य कुसुमशयनं कदलीदलसंवृतवरणे। कथमातपे गमिष्यसि परिबाधाकोमलैरङ्गैः। (3-21) यह पाठ काश्मीरी का है। उससे भिन्न पाठभेद बंगाली में उपलब्ध हो रहा है। जैसे कि, नलिनीदलकल्पितस्तनावरणे। (यह पद अब शकुन्तला का सम्बोधन बनता है)। एवं देवनागरी में एक तीसरा पाठभेद मिलता हैः- नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम्॥ (अब यह पद कुसुमशयनम् का विशेषण बन जाता है।) इसमें रंगकर्मियों के लिए आहार्य चीजों के रूप में कदलीदल या नलिनीदलों की योजना कैसे कि जाये? वही समस्या रही होगी।
3. तव सुचरितम् अङ्गुलीयक नूनमित्यादि। (श्लोक-6-11)
4. मैथिलीपाठ में जो प्राकृत (ज्जेव) का विनियोग मिलता है, वह भी उत्तरवर्ती काल का है। काश्मीरी पाठ में एव के लिए येव अथवा य्येव का प्रयोग मिलता है।
5. ममावि कोदूहलेण वावारिदो एसो। (ममापि कोतूहलेन व्यापारिक एषः।)-मैथिलीपाठ।
6. पाठसम्पादन का एक अधिनियम है कि सरलीकृत पाठ की अपेक्षा से दुरुह (कठिन) पाठ अधिक पुराना एवं अधिक श्रद्धेय होता है।
7. राजा—अकारणपरित्यक्ता कदा नु प्रेक्षणीया भविष्यति।
8. काश्मीरी वाचना के पाठ को सुरक्षित रखनेवाली ऑक्सफर्ड की शारदा पाण्डुलिपियों (क्रमांक—1247 एवं 159) में यह उक्ति नहीं है, यह भी हमारे विचार को प्रमाणित करती है।

9. शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥
10. यहाँ जो अन्य पाठभेद है वह बहुत गम्भीर स्तर के नहीं है। जैसे कि, काश्मीरी पाठ में पादान्ते निभृतं निषण्णचमरो गौरीगुरोः पावने। ऐसा है। मैथिली और बंगाली में "पादस्तामभितो निषण्णचमरो गौरीगुरोः पावनः।" ऐसा पाठभेद मिलता है।
11. राजा—अहमेवैनम् अवलम्बे। (यथोक्तं करोति। निष्क्रान्ता लिपिकरी)—मैथिली वाचना, पृ. 114
12. काश्मीरी पाठ में रानी का नाम कुलप्रभा है और वेत्रवती का नाम वसुमती दिया गया है। (विशेष : डॉ. श्री बेलवालकर जी द्वारा सम्पादित तथाकथित काश्मीरी पाठ में "वसुमती" नाम को स्वीकारा गया है, जो शारदा परम्परा का पाठ नहीं है।)
13. मैथिली के "अन्तःपुरकूडवासदो" (अन्तःपुरकूटपाशात्) के स्थान में, बंगाली पाठ में "अन्तेउरवाउरादो" (अन्तःपुर-वागुरातः) ऐसा पाठभेद है।
14. जिसका मतलब है कि यदि शकुन्तला की प्रतिकृति का इतना सम्माननीय स्थान है, तो जब शकुन्तला साक्षात् इस महल में फिर से आयेगी तब वह पूर्वपरिणीताओं के लिए तो सर्वथा अलंघनीय स्थान पर ही रहेगी।
15. विदूषकः- (फलकमादाय) एसो णं तहि गोएमि, जत्थ पारावदिं वज्जिअ अवरो ण पेक्खदि। (द्रुतपदं निष्क्रान्तः)।

(ज) अभिज्ञानशकुन्तला (अङ्क-7) के अल्पज्ञात पाठभेदों की समीक्षा

भूमिका : काश्मीरी वाचना के अभिज्ञानशकुन्तला नाटक के सप्तमाङ्क के आरम्भ में एक प्रवेशक आता है, जिसमें दो नाकलासिकाओं का नृत्य प्रस्तुत होता है। यह प्रवेशक केवल शारदा-पाण्डुलिपियों में ही उपलब्ध होता है। अतः अभिज्ञानशकुन्तला की काश्मीरी वाचना का स्वतन्त्र अस्तित्व घोषित करने के लिए विद्वज्जगत् में इस विशेष दृश्य की गवाही दी जाती है। लेकिन काश्मीरी वाचना के सप्तमांक में अन्य कोई महत्त्वपूर्ण पाठभेद है या नहीं उसकी प्रायः किसी को जानकारी ही नहीं है। जिन महाशयों[1] को शारदा पाण्डुलिपियों का दर्शन करने का मौका मिला था उन्होंने भी इस विषय में कुछ विशेष बात नहीं बतलाई है। अतः प्रस्तुत विमर्श में, शारदा पाण्डुलिपियों के सप्तमांक में प्राप्त हो रहे एकाधिक महत्त्वपूर्ण पाठभेदों की चर्चा करने का उपक्रम स्वीकारा गया है।

[1]

सप्तमांक के प्रवेशक में, नाकलासिकाओं का नृत्य रखा गया है। षष्ठांक के अन्त भाग में हमें बताया गया है कि इन्द्र ने दुर्जय दानवबल को परास्त करने के लिए दुष्यन्त को पृथिवी लोक से बुलाया था। अतः वह मातलि के साथ स्वर्गलोक में पहुँचा था। वहाँ वह दानवगण पर आक्रमण करने के लिए जिस दिन जानेवाला था उस दिन उसके मंगल की कामना करते हुए कुछ प्रेक्षणक (दर्शनीय नृत्य) प्रस्तुत करना था। इस लिए देवगुरु

नारद ने पारिजातमञ्जरी नामक नाकलासिका को कहा था कि किसी दूसरी लासिका को बुला कर ले आओ। लेकिन, पारिजातमञ्जरी को रास्ते में जब दूसरी चूतमञ्जरी नामक लासिका मिल जाती है, तो उसने बताया कि दुष्यन्त ने तो पृथिवीलोक में वापस जाने का आरम्भ भी कर दिया है। अब किसके लिए नृत्य प्रदर्शित करना है? इस तरह, इन दो नाकलासिकाओं की बातचीत से प्रेक्षकों को बताया जाता है कि दुष्यन्त ने एक ही क्षण में दुर्जय दानव बल पर विजय हाँसिल कर ली है,[2] और वह स्वर्ग लोक से वापस लौट रहा है। तब पारिजातमञ्जरी ने कहा कि उपाध्याय नारद ने जो नृत्य पुरुवंश के राजर्षि के सामने प्रस्तुत करने की आज्ञा दी थी, वही नृत्य यहीं पर कर लेते हैं। इस प्रवेशक का नाटकीय प्रयोजन साफ है कि अब सप्तमांक में स्वर्गलोक से वापस लौट रहा दुष्यन्त प्रस्तुत होनेवाला है। ऐसे अर्थोपक्षेपकों के द्वारा भावि कथाप्रसंग को सूचित किया जाता है। सप्तमांक के आरम्भ में रखा ऐसा प्रवेशक केवल काश्मीर की शारदा पाण्डुलिपियों में ही उपलब्ध होता है। अतः विद्वानों ने इस प्रवेशक को काश्मीरी पाठ की एकमात्र अपनी निजी पहचान माना है। तथा प्रायः सभी विद्वानों का ऐसा अभिप्राय भी है कि यह प्रवेशक प्रक्षिप्त अंश ही है। किन्तु इससे विपरीत अभिप्राय को प्रस्तुत करते हुए डॉ. श्री एस. के. बेलवालकर जी ने कहा है कि कालिदास ने जैसे अपने मालविकाग्निमित्र एवं विक्रमोर्वशीय नाटकों में नृत्य और संगीत को अनिवार्य स्थान दिया है, वैसे इस तीसरे नाटक में भी नृत्य का संनिवेश करवाने के लिए, नाकलासिकाओं का नृत्य यहाँ पर रखा होगा।[3] डॉ. बेलवालकर जी के मतानुसार कालिदास के अलावा किसी दूसरे व्यक्ति ने इस प्रवेशक को नहीं लिखा होगा।[4] मालविकाग्निमित्र एवं विक्रमोर्वशीय नाटकों को देखते हुए हमें एक सम्भावना के रूप में इस मत को ग्राह्य रखने कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। तथा इस नाटक में भी दानव बल को परास्त करने के लिए इन्द्र के द्वारा दुष्यन्त को स्वर्गलोक में बुलाना इत्यादि कथा प्रवाह का एक सहज अंश ही है। उसमें किसी तरह की कृत्रिमता महसूस नहीं होती है। अतः उसके मङ्गलनिमित्त एक प्रेक्षणक (नृत्य का कार्यक्रम)

आयोजित करने का सोचा गया हो तो उसमें भी कोई अस्वाभाविक बात नहीं लगती है॥ तथापि इस प्रवेशक का जो पाठ्यांश है वह पूर्ण रूप से सुरक्षित रहा हो ऐसा भी नहीं लगता है। उदाहरण के रूप में, (1) प्रथमा (याने पारिजातमञ्जरी) का एक वाक्य हैः-*सखि, संक्षेपेण कथयिष्यामि। अहं खलु राजर्षे-र्दुष्यन्तस्य दानवविजय-व्यपदेशेनाद्य मंगलनिमित्तं किमपि प्रेक्षणकं दर्शयत इति उपाध्यायस्याज्ञया उभे एवं सकाशम्।* इस वाक्य के अन्तिम तीन शब्दों का अन्वय कहाँ पर, कैसे किया जाये? वह समस्या है। (अतः प्रॉ. बेलवालकर जी ने इन तीन शब्दों के पीछे बिन्दुरेखा जोड़ी है।)[5] मतलब कि इन शब्दों के पीछे कुछ अंश लुप्त हुआ होगा। पाण्डुलिपियों में संचरित हुए ऐसे पाठ्यांश कदाचित् खण्डित एवं दूषित भी होते हैं, यह एक आमसमस्या है।

[2]

इस प्रवेशक की प्राकृत उक्तियाँ भी सभी सुगम नहीं है, या उनका संस्कृतच्छायानुवाद भी निश्चित रूप से एक समान नहीं किया जाता है। उदाहरण के लिए,पारिजातमञ्जरी का वाक्य हैः- *सहि सुणु। अज्ज य्येव गोसग्गसमए णवरं जुज्जअ-दाणव-जीविद- सव्वस्ससेसं गेण्हिअ जाव अ तिअसविलासिणी सरसहिअआइं अवणिं अहिप्पत्थिदो अदो अ मे हरिसोक्खण्ठाणं कारणं।* इसकी संस्कृतच्छाया ऐसे होगीः-*सखि, शृणु। अद्यैव गोसर्गसमये केवलं दुर्जय-दानव-जीवित-सर्वस्वशेषं गृहीत्वा, यावच्च त्रिदश-विलासिनी-सरस-हृदयान्यवनिम् अभिप्रस्थितः। अतश्च मे हर्षोत्कण्ठानां कारणम्॥* अर्थात् “सखी, सुनो। आज ही गोसर्ग समय पर (दुष्यन्त ने) दुर्जय दानवों के जीवित-सर्वस्व को ही केवल लेकर, तथा स्वर्गलोक की विलासिनी स्त्रियों के सरस हृदयों को भी लेकर पृथिवी की ओर प्रस्थान शूरू किया है। इस कारण से मैं हर्षोत्कर्षोत्कण्ठित हुई हूँ।” लेकिन कार्ल बुरखाड ने “गोसग्गसमएणवरं” ऐसा पदच्छेद करते हुए पदों को पढ़ा है, तथा “गोसर्गसमयेन वरम्” ऐसा संस्कृत-च्छायानुवाद दिया है। किन्तु ऐसा तृतीयान्त पदच्छेद तो नितान्त गलत ही है। क्योंकि हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण

(2-188) में तथा "पाइअ-सद्द-महाण्णवो" (प्राकृत शब्द महार्णव) में "णवरं" शब्द का अर्थ "केवलम्" दिया है, जो यहाँ सन्दर्भोचित प्रतीत होता है। (डॉ. बेलवालकर जी ने भी इसी पङ्क्ति के छायानुवाद में "गोसर्गसमये णवरं" ऐसा सप्तम्यन्त पदच्छेद दिया है। उन्होंने, "णवरं" शब्द को यथावत् रखा है, किन्तु उस प्राकृत शब्द का संस्कृतच्छायानुवाद नहीं किया है।)[6]

[3]

इस प्रवेशक में दो नाकलासिकाओं ने जब नर्तन पेश किया है उस समय उन दोनों ने एक आर्या छन्द में लिखी प्राकृत-गाथा का गान भी किया है। इस आर्या के शब्द एवं उनका वाक्यार्थ विवादास्पद लगता है। क्योंकि काश्मीरी पाठ का संरक्षण करनेवाली तीनों शारदा पाण्डुलिपियों में पाठ की एकरूपता नहीं है। कार्ल बुरखाड ने इस भूर्जपत्रवाली शारदा पाण्डुलिपि का पाठ पढ़ कर उसका रोमन स्क्रिप्ट में जो रूपान्तरण किया है, वह भी पुनर्विचारणीय है। तथा उस प्राकृत आर्या का संस्कृतच्छायानुवाद कैसा होता है, वह भी विचारणीय बिन्दु है। सब से पहले कार्ल बुरखाड (1884 में) ने दिया हुआ पाठ देखते हैंः-

''अविसअ-गमणं कंचण अण्णं च सराअं आलिँ(?) महुसमओ।
अण्णं कुणइं विसण्णं पाडलिए इमांए भूमिए॥''

इसी पद्य का संस्कृतच्छायानुवाद ऐसा दिया हैः

''अविषयगमनं कंचनान्यं च सरागं आलिँ(?) मधुसमयः।
अन्यं करोति विषण्णं, पातल्यास्या भूम्याः॥''

जिसका अर्थ होगा है कि यह मधुमास (वसन्त ऋतु) किसी एक आलि (भ्रमर) को विषयों से विमुख करता है, दूसरे को रागयुक्त बना देता है। इस भूमि के गुलाबी रंग से किसी अन्य को विषण्ण कर देता है॥ यहाँ "सराग-मालि" शब्द लेने से अर्थसंगति बैठती नहीं है, इस लिए कार्ल बुरखाड ने "सरागं आलिँ" ऐसा पदच्छेद सोच कर, मधुसमय को कर्तृपद के रूप में लिया है।

तदनन्तर, भूर्जपत्र (पृ. 121) पर लिखी गई शारदा पाण्डुलिपि का पाठ देखना चाहिएः-

''अविसअ-गमणं कंचन अण्णं च, सराअमालि महुसमओ। (30 मात्रा)
अण्णं कुणइ व(वि)सण्णं, पाडीइमाणं भूमीए॥" (27 मात्रा)

(यहाँ आर्या छन्द की निश्चित की गई मात्राओं के हिसाब[7] से मात्राओं की गीनती की गई है।)

डॉ. एस. के. बेलवालकर जी (1950) ने "नाटक एवं नर्तन" शोध-आलेख में इसका प्राकृत पाठ ऐसा दिया हैः-

अविसअगमणं कंचण अण्णं अ सरागमालि महुसमए। (30 मात्रा)
अण्णं कुणइ विसण्णं पाडीइमाण भूमीएं॥ (26 मात्रा)

तथा उन्ही के द्वारा सम्पादित अभिज्ञानशाकुन्तल, साहित्य अकादेमी, दिल्ली (1965) के संस्करण में, इस आर्या का छायानुवाद निम्नोक्त दिया हैः-

अविषयगमनं कंचन अन्यं च सरागमालि मधुसमये।
अन्यं करोति विसज्ञं, पात्यमानं भूम्याम्॥

(यहाँ विसज्ञं पद अशुद्ध लगता है, विसंज्ञं ऐसा होना चाहिए।) यहाँ देखा जाता है कि कार्ल बुरखाड एवं डॉ. बेलवालकर जी ने जो छायानुवाद दिया है वह परस्पर से काफी हद तक भिन्न है। बेलवालकर जी ने "मधुसमये" ऐसा सप्तम्यन्त पद लिया है। तथा उत्तरार्ध में भी अन्तिम तीनों शब्दों को भिन्न स्वरूप में समझाया है।

ऑक्सफर्ड की शारदा पाण्डुलिपि (क्रमांकः 1247) में इस आर्या का पाठ इस तरह से उपलब्ध हो रहा हैः-

अविसअ-गमणं अं च अण्णं च सराअमालि मधुसमओ। (29 मात्रा)
अण्णं कुणइ विसणं, पाडीइमाणं भूमीए॥ (26 मात्रा)

तथा श्रीनगर की शारदा पाण्डुलिपि (क्रमांक 1345) में इस आर्या के शब्द इस तरह के हैः-

अविसअगमणं आ चं अण्णं च सराअमालि महुसमओ। (30 मात्रा)
अण्णं कुणइ विसणं पाडीइमाणं भूमिए॥ (27 मात्रा)

यहाँ मधुमास का फल वर्णित किया गया है। इस आर्या का प्रसंगानुसारी अर्थ ऐसा हो सकता है कि मधुमास में जैसे किसी (भ्रमर) की स्थिति विषय-गमन से उपरत होती है, वैसे मारीच के आश्रम में

शकुन्तला की स्थिति विषयोपभोग से विरत हुई दिखती है। मधुमास में कोई दूसरा(भ्रमर), प्रकृत में दुष्यन्त रागानुरक्त होता है। वही मधुमास में किसी तीसरा व्यक्ति(भ्रमर), यानें दानवगण स्वर्गलोक में परास्त होकर गिर जाता है, विसंज्ञ होता है।[8] [यहाँ इस आर्या के शब्दार्थ का कोई गूढ साम्य नाटक के आरम्भ में नटी के द्वारा गाई गई "क्षणचुम्बितानि भ्रमरैः" इस आर्या के साथ क्या सोचा जा सकता है? ऐसा प्रश्न होता है। कवि ने नाटक के उपक्रमोपसंहार में शायद कुछ कहा है ऐसी मन में आकृति पैदा हो रही है। चिन्त्यम् इदम्।

डॉ. श्री दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने इस पथ्या आर्या का विश्लेषण करते हुए, उसमें कैसी क्षतियाँ दिख रही है वह बताया हैः-(उन्हों ने ऑक्सफर्ड की पाण्डुलिपि में जिस तरह इस आर्या का पाठ पढ़ा होगा, वैसा बताया है। जो पाठ का वाचन हमारी दृष्टि से ठीक नहीं है।)

अविसअ। गमनं। कं चन। अण्णं। अ सरा। अमालि। महुसम। ओ। (30मात्रा)

अण्णं। कुणइ वि। सण्णं। पाडि इ। माणं। भूमि। ए॥(25 मात्रा)

वे बताते हैं कि उत्तरार्ध के चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ गण क्षतिग्रस्त है। पञ्चम गण में चार मात्राएँ होती नहीं है। और षष्ठ गण में एक भी लघु अक्षर नहीं है, जो पथ्या आर्या को बनाने के लिए होना अनिवार्य है। एवमेव, आर्या होने के लिए उत्तरार्ध में जो साडे सात गण होना चाहिए वह भी नहीं है। तथा इस आर्या का अर्थ करना भी दुष्कर है। अतः वे ऐसी आर्या की रचना कालिदास पर आरोपित करना उचित नहीं समझते हैं।[9]

लेकिन डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल के कहने में एक तर्कदोष है। जैसे कि, आज शारदा पाण्डुलिपियों में लिखा हुआ जो पाठ मिल रहा है, क्या वह लिपिकारों के अज्ञान एवं अनवधान से दूषित हुआ पाठ नहीं हो सकता? प्रतिलेखन की लम्बी परम्परा में जो पाठ पीढ़ी दर पीढ़ी संचरित हो कर हम तक पहुँचता है वह दूषित होना अवश्यंभावि है। अतः प्रकृत आर्या का आज उपलब्ध हो रहा उपर्युक्त पाठ छन्दोबन्धारण की दृष्टि से क्षतिग्रस्त होने का पहेला एवं प्रधान कारण प्रतिलेखन की लम्बी परम्परा ही है। उसमें मूल कवि का दोष होता ही नहीं है। एवम् यदि इस आर्या

का अर्थबोध कठिन हो तो सम्भव है कि उसमें आज शुद्ध पाठ उपलब्ध न होना प्रथम कारण होगा, तथा कदाचित् श्लेषयुक्त रचना होने के कारण भी वह दुर्बोध लगती हो। प्रकृत में, "सरागमालि" शब्द को "सरागम् आलि" के रूप में पढ़ना उचित होगा या "सराग-मालि" के रूप में? यह भी विवादास्पद है। इन कारणों से पूरे प्रवेशक को अमौलिक घोषित करने की जल्दी में हमें नहीं फँसना चाहिए।

[4]

कालिदास की उत्तम संवाद-कला का निदर्शभूत माना गया जो एक वाक्य सप्तमांक में है, उसके पाठभेद की चर्चा की जाती हैः- मारीच के आश्रम में शकुन्तला का पुत्र सर्वदमन भरत सिंहबाल को पकड़ कर, उसके दांत गिनने की चेष्टा कर रहा है। समीप में खड़े दुष्यन्त को उसकी माता का नाम जानने की इच्छा होती है। लेकिन वह परदारा के विषय में पृच्छा करना उचित नहीं समझता है। बस, उसी क्षण तापसी रंगमंच पर प्रवेश करती है। वह उटज से मृत्तिकामयूर लेकर आयी है। सर्वदमन तभी सिंहबाल को छोड़ने को तैयार होगा कि जब उसे कोई दूसरा क्रीडनक दिया जाये। यहाँ पर, काश्मीरी वाचना को छोड़ कर अन्य सभी वाचनाओं में, तापसी की उक्ति इस तरह की है *: सव्वदमण, सउन्द-लावण्णं पेक्ख। (सर्वदमन, शकुन्तलावण्यं प्रेक्ष्य।)* बालक सर्वदमन ने तुरंत कहा कि कहाँ है मेरी माता। (तापसी ने तो "शकुन्त का लावण्य" देख ऐसा कहा था। लेकिन बालक ने तो "शकुन्त-ला" ऐसे शब्द को ही पकड़ लिया, और पूछ लिया कि कहाँ है मेरी माता।) तब दोनों तापसियाँ बोल ऊठती है कि नाम-सादृश्य से यह मातृवत्सल बालक वंचित (छलित) हुआ है। जिसको सुन कर दुष्यन्त को तुरंत विदित हो जाता है कि इस बालक की माता का नाम "शकुन्तला" है। इस तरह की उक्ति में उत्कृष्ट प्रकार की नाटकीय संवादकला झलकती है। किन्तु इसी उक्ति के सन्दर्भ में काश्मीरी वाचना का पाठभेद जब दृष्टिगोचर होता है तो बड़ा आश्चर्य होता है। क्योंकि उसमें *"सउन्दलावण्णं पेक्ख"* ऐसा वाक्य है ही नहीं! यहाँ पर

शारदा-पाण्डुलिपियों में तापसी की उक्ति इस तरह की हैः- सव्वदमण, सउन्तला ....। (सर्वदमन, शकुन्तला ...।) तापसी कुछ आगे भी कहने जा रही थी, लेकिन मातृवत्सल बालक सहसा बीच में ही पूछ लेता है कि कहाँ है मेरी माता। तापसी की पूर्ण उक्ति इस तरह से आगे सुनने को मिलती हैः-*"वत्स, शकुन्तला भणति। अस्य कृत्रिममयूरस्य रमणीयतां पश्येति"*। तो इस तरह की योजना में भी नाटकीय ढंग से दुष्यन्त को विदित किया जाता है कि इस बालक की माता का नाम "शकुन्तला" है। यहाँ पर पूर्वोक्त दोनों ही पाठभेदों में से कौन मौलिक हो सकता है? यह कहना विवादाग्रस्त होगा। तथापि यह भी स्मर्तव्य है कि शारदालिपि में संचरित हुआ एवं सुरक्षित रहा काश्मीरी वाचना का पाठ ही प्राचीनतम होने का दावा कर रहा है।

[5]

काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के सप्तमांक में कतिपय ऐसे पाठभेद भी मिलते हैं कि जिसमें मैथिली का पाठ अन्य दो वाचनाओं के पाठ से भिन्न प्रतीत होता है। सामान्यतः तो मैथिली का पाठ काश्मीरी पाठ के साथ साम्य रखता है, क्योंकि मैथिली का पाठ प्रायः काश्मीरी पाठ का अनुगमन करता है। किन्तु सप्तमांक के पाठभेदों की तुलना करने पर मालूम होता है कि सप्तमांक में तो बंगाली वाचना का पाठ ही काश्मीरी पाठ का अनुगमन करता है। इस चर्चा में आगे बढ़ने से पहले कतिपय उदाहरणों को देखना आवश्यक हैः- (1) मातलि पूछता हैः *(आकाशे) वृद्धशाकल्य, किं व्यापारो भगवान्। (कर्णं दत्त्वा) किं ब्रवीषि। एष दाक्षायण्या पतिव्रता-पुण्यम् अधिकृत्य पृष्टः। तस्यास्तद् व्याकरोतीति प्रतिपाल्यावसरः खलु प्रस्तावः॥* इस तरह के काश्मीरी पाठ का अनुगमन करते हुए बंगाली पाठ में भी "पतिव्रतापुण्यम् अधिकृत्य" शब्द रखे गये हैं। किन्तु मैथिली पाठ में यहाँ पर "एष दाक्षायण्या पतिव्रतया, व्रतम् अधिकृत्य पृष्टः" ऐसा पाठान्तर मिलता है।

(2) प्रथमा तापसी की उक्ति हैः- *सुव्रते, न शक्य एष आश्वासमात्रेण*

संयमितुम्। तद् गच्छ। मामक उडजे मङ्कणकस्य ऋषिकुमारस्य वर्णकचित्रितो मृत्तिकामयूरकस्तिष्ठति। तमस्योपहर॥ इस तरह के काश्मीरी पाठ का अनुगमन करते हुए बंगाली पाठ में भी *"वाङ्मात्रकेण शमयितुम्, मदीये उटजे मङ्कणकस्य ऋषि-कुमारस्य"* शब्द रखे गये हैं। किन्तु मैथिली पाठ में यहाँ पर *"सालंकायनस्य ऋषिकुमारस्य"* ऐसा पाठान्तर मिलता है।

(3) राजा की उक्ति हैः- *प्रिये, क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तम् अनुकूलपरिणामं संवृत्तम्। यतोऽहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातम् आत्मानमिच्छामि।* इस तरह के काश्मीरी पाठ का अनुगमन करते हुए बंगाली पाठ में भी "क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तम्" शब्द रखे गये हैं। किन्तु मैथिली पाठ में यहाँ पर *"अनार्यमपि मे त्वयि प्रसक्तम्"* ऐसा पाठान्तर मिलता है॥ यहाँ, इस उक्ति के पूर्व में राजा के मुख में "वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः। *अतिनिष्करुणस्य* शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति॥ (7-22)" ऐसा श्लोक रखा गया है। उसमें दुष्यन्त ने अपने आप को अतिनिष्करुण कहा है, जिसके अनुसन्धान में "क्रौर्यमपि में त्वयि प्रयुक्तम्" पाठ ही आन्तरिक सम्भावना से समर्थित पाठ सिद्ध होगा। मतलब कि यहाँ काश्मीरी एवं बंगाली पाठ की ही मौलिकता मान्य हो रही है।

(4) नाटक के अन्त भाग में भरत-वाक्य के शब्द काश्मीरी एवं बंगाली वाचनाओं में एक समान है। जैसे कि, *प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवस्सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम्। ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतभक्तिरात्मभूः॥* (7-36)॥ किन्तु इस भरतवाक्य में मैथिली वाचना का पाठ भिन्न है। जैसे कि, "महीयसाम्'' । एवं "पुनर्भवं परिगतभक्तिरात्मना॥''

(5) राजा ने सर्वदमन के हाथ में चक्रवर्ती के लक्षण देख कर कहा कि, प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो विभाति जालग्रथिताङ्गुलिः करः। इस तरह के काश्मीरी पाठ का अनुगमन करते हुए बंगाली पाठ में भी "प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो" शब्द रखे गये हैं। किन्तु मैथिली पाठ में "प्रलोभितवस्तुप्रणयप्रसारितो" ऐसा पाठभेद है॥

(6) शकुन्तला "जयतु जयतु आर्यपुत्रः" कहती हुई जब दुष्यन्त के सामने आती है, तब वह एक श्लोक बोलता हैः-बाष्पेण प्रतिषिद्धेऽपि

जयशब्दे जितं मया। यत्ते दृष्टम् असंस्कारपाटलौष्ठम् इदं मुखम्॥ (7-24) इस तरह के काश्मीरी पाठ का अनुगमन करते हुए बंगाली पाठ में भी "असंस्कारपाटलौष्ठम्" शब्द रखे गये हैं। किन्तु मैथिली पाठ में "असंस्काराल्लोलालकम्" ऐसा परिवर्तित पाठ प्रस्तुत किया गया है।

उपर्युक्त उदाहरणों में काश्मीरी एवं बंगाली पाठों में साम्य हैं, और उसी स्थानों पर मैथिली वाचना में देखते हैं तो मालूम होता है की वहाँ पर परिवर्तित किये गये पाठ मिल रहे हैं। इस तरह के साम्य और वैषम्य को देख कर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उक्त सन्दर्भों में काश्मीरी पाठ और बंगाली पाठ एक समान पूर्वज आदर्शप्रति में से अवतारित हुआ होगा। सामान्यतः तो काश्मीर की शारदा पाठपरम्परा में जो नहीं है ऐसे नवीन पाठभेद मैथिली वाचना में उद्भावित किये गये है। और बंगाली वाचना उसी मैथिली वाचना के नवीन पाठभेदों का अनुगमन करता है। ऐसे उदाहरण प्रारम्भ के अङ्कों (1 से 6) में दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु अन्तिम सातवें अङ्क में जो स्थिति प्राप्त होती है, वह पृथक् है। इस अङ्क के पाठ्यांश में जहाँ जहाँ पर मैथिली वाचना ने नवीन या परिवर्तित पाठ दिये हैं, उनको बंगाली वाचना ने नहीं स्वीकारे हैं। उससे विपरीत, अर्थात् जिन स्थानों में मैथिली वाचना ने नया पाठभेद आकारित किया है वहाँ पर, बंगाली पाठपरम्परा ने काश्मीरी वाचना के पाठ का ही अनुगमन किया है।

[6]

काश्मीरी पाठ परम्परा में कुछ स्थान ऐसे भी है कि जिसमें कुछ अंश लुप्त या खण्डित प्रतीत होते हैं, जिसकी क्षतिपूर्ति मैथिली एवं बंगाली पाठ को देखने से हो जाती है। उदाहरण के रूप में, राजा मातलि को पूछते हैं:- "सुहृत्सम्पादितत्वात् साधुफलो मे मनोरथः। मातले, न खल्वविदितोऽयमाखण्डलस्यार्थः।" तब मातलि का उत्तर है कि, *"आयुष्मन्, किमीश्वराणाम् परोक्षम्।* एहि। भगवान् मारीचस्ते दर्शनमिच्छति॥" इस तरह की संवाद शृंखला मैथिली और बंगाली पाठ में उपलब्ध हो रही

है। परन्तु काश्मीरी पाठ में "आयुष्मन्, किमीश्वराणाम् परोक्षम्।" ऐसा बीचवाला वाक्य ही नहीं है। लेकिन पूर्वापर सन्दर्भ में देखा जाए तो यह वाक्य होना अनिवार्य लगता है।

[7]

सप्तमांक में, भरत-वाक्य से ठीक पूर्व में आये हुए एक श्लोक (कुत्रचित् दो श्लोकों) की मौलिकता संदेहास्पद है। मारीच ऋषि ने दुष्यन्त को कहा कि तुम तुम्हारी पत्नी और पुत्र के साथ, इन्द्र के रथ में आरूढ होकर अपनी राजधानी हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान करो। उसके बाद, *किम् ते भूयः प्रियं करोमि।* वाक्य के द्वारा भरतवाक्य का सीधा अवतार हो जाए वही नाट्योचित है। (क्योंकि नाटक एक समयबद्ध कला है, उसमें अनावश्यक विस्तार या पुनरुक्ति को असह्य माने गये हैं।) तथापि भरतवाक्य से पूर्व में, यहाँ पर एक या दो श्लोकों का प्रक्षेप हुआ है ऐसा लगता है। काश्मीरी वाचना में यहाँ पर मारीच के मुख में निम्नोक्त एक श्लोक रखा गया है:-

क्रतुभिरुचितभागांस्त्वं सुरान् भावयालं, सुरपतिरपि वृष्ट्या त्वत्प्रजार्थं विधत्ताम्।
इति समम् उपकारव्यञ्जितश्रीमहिम्नोर्व्रजति बहुतिथो वां सौहृदय्येन कालः॥ (7-35)

इसी स्थान पर मैथिली वाचना में उपर्युक्त श्लोक के पूर्व में एक दूसरा श्लोक भी उपलब्ध होता है। जैसे कि,

तव भवतु बिडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु त्वमपि विहितयज्ञो वज्रिणं प्रीणयालम्।
गुरुतरपरिवृत्तैरेवमन्योन्यकृत्यैर्नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयौ॥ (मै० 7-34)

इन दोनों श्लोकों की प्रामाणिकता के बारे में चर्चा शूरू करने से पहले, अन्य वाचनाओं में क्या स्थिति प्रवर्तमान है वह द्रष्टव्य हैः बंगाली वाचना में, उपर्युक्त दोनों श्लोकों में से केवल तव भवतु बिडौजाः। वाला एक ही श्लोक स्वीकारा गया है। देवनागरी वाचना का पाठ, जिस पर राघवभट्ट ने अपनी अर्थद्योतनिका नामक टीका लिखी है, उसमें तो उपर्युक्त दोनों श्लोकों में से किसी एक का भी स्वीकार नहीं हुआ है। तथा काटयवेम ने जिस दाक्षिणात्य वाचना पर टीका लिखी है उसमें केवल *"तव भवतु*

बिडौजाः" वाले एक ही श्लोक को स्वीकारा गया है, तथा उस पर टीका लिखी गई है। अतः, पाँचों वाचनाओं में विभिन्न स्थिति को देख कर प्रश्न होता है कि इन दोनों श्लोकों में से कौन प्रामाणिक या मौलिक होगा। अथवा क्या दोनों ही श्लोक प्रक्षिप्त हो सकते हैं। यहाँ पूर्वापर सन्दर्भ को देखा जाए तो, मारीच के द्वारा जब दुष्यन्त को इन्द्र के रथ में बैठ कर, अपनी राजधानी हस्तिनापुर जाने की अनुमति दे दी गई है, और तुरंत भरत-वाक्य से आशीर्वादात्मक अभीष्ट अभ्यर्थना भी व्यक्त होने ही वाली है तब उपर्युक्त दोनों ही श्लोक पुनरुक्ति समान ही सिद्ध होते हैं। अतः इन दो अनावश्यक श्लोकों को प्रक्षिप्त ही माना जाए वही युक्तियुक्त होगा।

दूसरा बिन्दु यह है कि उपर्युक्त दोनों श्लोकों को मैथिली वाचना में समुच्चयार्थक "अपि च" ऐसे निपातसमूह से बांधे गये है। प्रस्तुत नाटक के पाठ्यांश में जब भी नवीन श्लोकों का प्रक्षेप किया जाता है, तब वहाँ सामान्यतः "अपि च" ऐसे निपातयुग्म का प्रयोग किया जाता है। किन्तु इन दोनों श्लोकों में एक ही विचार की अलग अलग शब्दों से पुनरुक्ति हो रही है, इस लिए उन दोनों में समुच्चयार्थकत्व घटित नहीं होता है।[10] इस दृष्टि से भी ये दोनों ही श्लोक प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं।

[8]

उपसंहार : सप्तमांक के पाठभेदों की चर्चा करते समय मुख्य रूप से "प्रवेशक" का दृश्य तथा "सव्वदमण, सउन्दलावण्णं पेक्ख" वाला संवाद विवेचनीय है। यह दोनों स्थानों में मिल रहा काश्मीरी वाचना का पाठभेद सर्वथा नवीन है। यहाँ उनकी मौलिकता के विषय में विवाद हो सकता है। किन्तु जैसे हमने अन्यत्र दिखाया है कि 1. लब्धं नेत्रनिर्वापणम्।, 2. अन्तःपुरविहारपर्युत्सुकस्य राज्ञः उपरोधेन किम्। इत्यादि (अङ्क-3 के) पाठभेद, जो काश्मीरी वाचना के अद्यावधि अज्ञात रहे पाठभेद हैं, वे आन्तरिक सम्भावना की दृष्टि से मौलिकता के नज़दीक सिद्ध हो रहे हैं, तो इस अङ्क : 7 के उपर्युक्त दोनों महत्त्वपूर्ण पाठभेदों में भी कदाचित् मौलिकता संनिहित हो सकती है।

सन्दर्भ

1. श्री कार्ल बुरखाड, श्री पी.एन. पाटणकर, डॉ. एस. के. बेलवालकर एवं डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल।
2. अथवा दुष्यन्तः एव, येन सारथिद्वितीयेनैवानेकप्रहरणसाहसानि विकिरन् क्षणेनैव निहतः स दुर्जयदानवबलः। (अङ्कः 7), दुष्यन्तः ने इसी तरह तृतीयाङ्क में भी कण्व के आश्रम में "का कथा बाणसन्धाने ज्याशब्देनैव दूरतः। हुंकारेणैव धनुषः स हि विघ्नान् अपोहति॥ (अङ्क 3-1)" अपने धनुष के हुँकार मात्र से दानवों के विघ्नों को दूर मार भगाये थे॥
3. द्रष्टव्यः Natak and Nartan (Entr'acte to 7), Bulletin of Deccan College Research Institute, Poona, vol. 20, (pp. 19-24), 1950.
4. It might be incidentally observed that Kalidasa's Sakuntala is already a longish play, and the omission of the present *pravesaka*, which is not vitally connected with the central story, may be due to that circumstance. But no interpolator would think of inserting such an additional passage, unless he (like Kalidasa himself) is absolutely enamored of music and dancing. Ibid, page : 21.
5. यद्यपि इसका अंग्रेजी अनुवाद ऐसे किया हैः- Friend, I shall narrate it in brief. I, verily, under of the Teacher (Narada) to the effect that, in anticipation of the victory over the Demon, there should be presented, by way of something auspicious, some show today, with the possibility that both of us might together...
6. नाटक एवं नर्तन—शीर्षकवाले आलेख में डॉ. बेलवालकर जी ने कहा है कि कार्ल बुरखाड ने जो पाठ दिया है उसमें बहुत अशुद्धियाँ प्रवेश कर गई है।
7. ज्ञेयाः सर्वानतमध्यादि गुरवोऽत्र चतुष्कलाः। गणाश्वतुर्लघूपेताः पञ्चार्यादिषु संस्थिताः॥ वृत्तरत्नाकरः, (1-8), जिसके अनुसार पूर्वार्ध में 12 + 18 = 30, एवं उत्तरार्ध में 12 + 15 = 27 मात्राएँ होनी चाहिए।
8. डॉ. बेलवालकर जी ने इस आर्या का अंग्रेजी अनुवाद ऐसा दिया हैः-This time of the Spring, while it renders someone averse to the influence of love, another, My Friend, is filled with passion : while a third it makes senseless, being thrown down on the earth. Ibid, page : 24
9. डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने 1980 में संस्कृत कॉलेज, कोलकाता से प्रकाशित किये बंगाली वाचनानुसारी अभिज्ञानशकुन्तल की प्रस्तावना (पृ. 95) द्रष्टव्य है।
10. द्रष्टव्य अभिज्ञानशाकुन्तल में "अपि च" से सम्बद्ध संक्षेप एवं प्रक्षेप की पहचान। शीर्षक से प्रकाशित हुआ मेरा शोध-आलेख, धीमहि, चिन्मयानन्द शोध-संस्थान, एर्णाकुलम् वॉ. 3, पृ. 76-89, 2012

(झ) शारदा 'शकुन्तला' के श्लोकों में वृद्धि-ह्रास का विश्लेषण

भूमिका : संस्कृत नाट्यसाहित्य में महाकवि कालिदास का अभिज्ञानशकुन्तला नाटक शताब्दिओं से सर्वश्रेष्ठ नाटक माना गया है। तथापि आज उपलब्ध हो रहे इस नाटक के पाठ में बहुविध परिवर्तन हो गये हैं। जिसके कारण उसके शीर्षक से लेकर भरत-वाक्य पर्यन्त का एक भी वाक्य या श्लोक शायद ऐसा नहीं हैं कि जिसमें दो तरह के पाठभेद आपको न मिलें। अतः डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल के मतानुसार मंचन के दौरान इस नाटक के मूल पाठ में ढेर सारे परिवर्तन एवं परिवर्धन होते रहे हैं जिसके फल-स्वरूप उसके कंकाल के अलावा दूसरा कुछ अवशिष्ट नहीं रहा है। इस नाटक का मूल स्वरूप प्रायः विनष्ट हो गया है।[1]

यह बात सही है कि इस नाटक के प्रचलित पाठ में एकरूपता नहीं है, क्योंकि उसमें बहुविध परिवर्तन किये गये हैं। फिर भी डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल के अभिप्राय से इस नाटक के पाठ में केवल अस्थिपिञ्जर ही बचा हुआ है, ऐसा कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण है।क्योंकि, यदि इस नाटक की अस्मिता को ही पूरी तरह से बदल देनेवाले पाठपरिवर्तनों ने स्थान लिया होगा तो उसकी चमत्कृति भी हमेशा के लिए गायब हो जानी चाहिए। किन्तु ऐसा तो हरगिझ हुआ नहीं है। मतलब कि इस नाटक की जिन पाँच वाचनायें (1. काश्मीरी वाचना, 2. मैथिली वाचना, 3. बंगाली वाचना, 4. दाक्षिणात्य वाचना एवं 5. देवनागरी वाचना) आज उपलब्ध हो रही हैं उनमें से किसी एक को भी पढ़ने से अपूर्व रसानुभूति तो होती ही

है! यानि इस नाटक की कुछ निजी विशेषता तो प्रत्येक वाचना में बहुशः सुरक्षित भी रही होगी।

नाटक जैसी अभिनेय-काव्य कृति में जो पाठपरिवर्तन होते हैं, वे प्रमुखतः दो तरह के हो सकते हैंः- (क) मंचनलक्षी एवं (ख) काव्यलक्षी। इनमें से किस तरह का परिवर्तन अधिक मात्रा में दिख रहा है, वह भी विचारणीय बिन्दु है। अर्थात् इन दोनों तरह के परिवर्तनों में प्रधान-गौण भाव भी सब से पहले सुनिश्चित करना चाहिए। इस नाटक के पाठान्तरों का अभ्यास करने से मालूम होता है कि इस नाटक के मूल पाठ में मंचनलक्षी पाठपरिवर्तनों की संख्या दी सर्वाधिक है। तथापि मंचनलक्षी पाठपरिवर्तन के हर मौके पर इस नाटक के पद्यांश के साथ अपेक्षाकृत बहुत कम खिलवाड़ किया गया है यह भी हकीकत है। क्योंकि जिसमें कालिदास का काव्य तत्त्व संनिहित है, ऐसे सुप्रसिद्ध श्लोकों में बहुत अल्पमात्रा में पाठभेदों ने प्रवेश किया है। इस नाटक का पद्यभाग अभी भी बहुत बड़ी मात्रा में सुरक्षित बचा हुआ है। अतः प्रत्येक वाचना के पाठ में रंगसूचनाओं की विसंगतियाँ, नायक सहित के अनेक पात्रों के नामाभिधान में एकाधिक वर्तनी,[2] दृश्य का कम-ज्यादा होना, या किसी दृश्य का उपस्थिति-क्रम बदल जाना, विष्कम्भक एवं प्रवेशक की एकरूपता का अभाव, प्राकृत का अलग अलग प्रान्तीय स्वरूप, एक शब्द से लेकर एक-दो श्लोक पर्यन्त का प्रक्षेप या संक्षेपादि का ढेर किसी भी विचक्षण पाठक या प्रेक्षक को खटकता है, लेकिन उसके बावजुद भी उसकी काव्यगत अनुपम सुन्दरता भी निर्विवाद रूप से प्रतीत होती ही है। एवमेव, उसका आकर्षण सदैव सार्वभौमिक बना रहता है। अतः प्रस्तुत विमर्श में इस नाटक के काव्य सौन्दर्य को संजोये रखनेवाले पद्यभाग की[3] तुलनात्मक परीक्षा करने का उपक्रम स्वीकारा गया है।

[1]

सभी वाचनाओं का तुलनात्मक अभ्यास करने से मालूम होता है कि काश्मीर की शारदा लिपि में लिखा हुआ "अभिज्ञानशकुन्तला" शीर्षक से ख्यात इस नाटक का पाठ 7वीं या 8वीं शताब्दि का हो सकता है। तथा दाक्षिणात्य

एवं देवनागरी वाचनाओं में संचरित हुआ एवं "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" शीर्षक से विख्यात इस नाटक का पाठ 14वीं या 15वीं शती का हो सकता है। प्राचीन भारतीय लिपियों के उद्भव एवं विकास का भी एक इतिहास है। ब्राह्मी लिपि में से विकसित हुई शारदा लिपि में संचरित हुआ पाठ ही, अन्य लिपियों में संचरित हुए पाठों की अपेक्षा से, प्राचीनतम सिद्ध होता है। एवमेव, इस नाटक की उपलब्ध पाठपरम्पराओं में से काश्मीरी पाठपरम्परा ही आन्तरिक प्रमाणों से भी सर्व प्रथम आती है। तत्पश्चात् दूसरे क्रम में मैथिली वाचना और तीसरे क्रम में बंगाली वाचना का पाठ आकारित हुआ है। (इन दो वाचनाओं में इस नाटक का शीर्षक "अभिज्ञानशकुन्तलम्" है।) चौथे एवं पाँचवे क्रम पर दाक्षिणात्य एवं देवनागरी वाचना का पाठ उद्भूत हुआ होगा ऐसा आन्तरिक प्रमाणों से सिद्ध होता है। विविध वाचनाओं के पाठ की ऐसी आनुक्रमिकता में भले ही काश्मीरी वाचना प्रथम क्रमांक पर खड़ी हो, लेकिन उसका मतलब ऐसा भी नहीं है कि उसमें संचरित हुआ जो पाठ आज जिस स्वरूप में उपलब्ध हो रहा है वह उसी स्वरूप में सर्वथा मौलिक ही है। कहने का तात्पर्य ऐसा है कि शारदा पाण्डुलिपियों में उपलब्ध हो रहे पाठ में भी मंचनलक्षी परिवर्तन-परिवर्धन के दर्शन हो रहे हैं। अतः प्रस्तुत परामर्शन में काश्मीरी वाचना के पाठ में भी जहाँ जहाँ पर अमुक श्लोकों के प्रक्षेप एवं संक्षेप का खिलवाड प्रतिबिम्बित हुआ है, उस शारदा "शकुन्तला"से आरम्भ करके मैथिली, बंगाली, दाक्षिणात्य और अन्त में देवनागरी वाचना तक की पाठयात्रा में श्लोक सम्बन्धी वृद्धि-ह्रास का जो सिलसिला दिख रहा है उसकी चर्चा की जाती है।

[2]

यहाँ पर सब से पहले विभिन्न वाचनाओं के पाठ में कितने कितने श्लोक मिल रहे हैं? उसका निर्देश करना चाहिए। काश्मीरी के "अभिज्ञानशकुन्तला" नाटक में 213 श्लोकों का योग होता है। मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में "अभिज्ञानशकुन्तल" नामक नाटक में कुल मिला कर 225 एवं 221

श्लोक उपलब्ध होते हैं। तथा दाक्षिणात्य वाचना में टीकाकार काटयवेम ने 193 श्लोकोंवाला पाठ ग्राह्य रखा है। देवनागरी वाचना के "अभिज्ञानशाकुन्तल" में (टीकाकार राघवभट्ट ने) 190 श्लोकोंवाला पाठ माना है। मतलब कि पहली तीनों वाचनाओं में इस नाटक का "बृहत्पाठ" संचरित हुआ है। तथा उत्तरवर्ती दोनों वाचनाओं में इसका "लघुपाठ" संचरित हुआ है। यह लघुपाठ उत्तरवर्ती काल की एक रंगावृत्ति ही है, और लघुपाठ की अपेक्षा से बृहत्पाठ की तीनों वाचनायें पुरोगामिनी है। यद्यपि बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में भी अनेक मंचनलक्षी परिवर्तन के लक्षण दिख रहे हैं। (यानि ये तीन भी रंगावृत्तियाँ ही है।) इस विषय की हमने सप्रमाण उपस्थापना एक अन्य शोध-आलेख में की है।[4] किन्तु कालिदास के इस नाटक के मूलपाठ में बहुविध परिवर्तन होने के बावजुद भी उसका आकर्षण जैसा का वैसा अक्षुण्ण बना रहा है यह एक रहस्य की बात है। अतः इस नाटक के पद्यभाग की कितनी मात्रा में सुरक्षा हुई है और कितनी मात्रा में विकृति पैदा की गई है? उसे हम देखेंगे। विभिन्न वाचनाओं के अद्यावधि प्रकाशित हुए संस्करणों में, इस नाटक के प्रत्येक अंक में उपलब्ध हो रही श्लोक-संख्या का समुदित चित्र इस तरह का हैः–

	काश्मीरी	**मैथिली**	**बंगाली**	**देवनागरी**	**दाक्षिणात्य**
प्रथम अंक	30	33	33	30	31
द्वितीय अंक	19	19	19	18	18
तृतीय अंक	35	40	41	24	24
चतुर्थ अंक	26	26	24	22	22
पञ्चम अंक	33	34	32	31	31
षष्ठ अंक	34	37	37	32	32
सप्तम अंक	36	36	35	34	35
कुल योग	213	225	221	191	193

इस सन्दर्भ में, सब से पहले यह ज्ञातव्य है कि सभी वाचनाओं

में यत्र कुत्रापि जितने भी श्लोक मिल रहें हैं उन सब की सम्मिलित संख्या क्या रही होगी? तो इस नाटक की विभिन्न वाचनाओं में कुल मिला कर 232 श्लोक उपलब्ध हो रहे हैं।[5] उनमें से पहले यह छाँटना चाहिए कि (क) कितने श्लोक निर्विवादरूप से मौलिक प्रतीत होते हैं, या कितने श्लोक ऐसे हैं कि जिसके मौलिक होने की सम्भावना अधिक से अधिक हैं, (ख) कितने श्लोक शारदा-पाठपरम्परा शूरू होने से पहले से ही प्रक्षिप्त श्लोक के रूप में चले आ रहे होंगे, जिसको "विरासत में मिले प्रक्षिप्त श्लोक" कहेंगे, (ग) शारदा परम्परा प्रचलित होने के बाद अनुगामिनी वाचनाओं में कितने कितने श्लोक प्रक्षिप्त किये गये हैं, (घ) ऐसे नये प्रक्षिप्त किये गये श्लोकों में से कितने श्लोक ऐसे है कि जो परवर्ती वाचनाओं में अनुसृत हुए हैं, (ङ) किस (और कितने) श्लोक को अमुक वाचना में से हटाया गया है, (च) कितने श्लोक मौलिक होते हुए भी शारदा पाठ में से संक्षेपीकरण के आशय से निकाल दिये गये हैं, (छ) कितने श्लोक शारदा पाठ में अनिर्दिष्ट हैं, जो कालान्तर में प्रक्षिप्त हुए होंगे, (ज) शारदा में जो अनिर्दिष्ट श्लोक हैं, उनमें से कितने श्लोक परवर्ती काल की वाचनाओं में भी अनिर्दिष्ट रहे हैं, तथा (झ) कितने श्लोक ऐसे हैं कि जो काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में एक समान रूप से उपलब्ध होते हैं, लेकिन लघु पाठवाली देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में अग्राह्य रहें हैं? इन सब प्रश्नों का उत्तर देने के लिए प्रत्येक वाचनाओं के सन्दर्भ में 232 श्लोकों का पृथक् पृथक् विश्लेषण करना आवश्यक है।

[3]

जैसा कि पहले बताया है काश्मीरी वाचना का पाठ शारदा-लिपि में संचरित हुआ है, अतः लिपियों के इतिहास की दृष्टि से सोचा जाए तो उन शारदा-पाण्डुलिपियों में लिखे गये काश्मीरी वाचना के पाठ को ही सब से पहला और प्राचीनतम कहना होगा। एवमेव, इसी वाचना का पाठ ही सब से अधिक मात्रा में श्रद्धेय प्रतीत होता है। क्योंकि उसमें संचरित हुए पाठ ही महदंश में आन्तरिक सम्भावना से समर्थित होता है। जिसकी

सप्रमाण उपस्थापना "अभिज्ञान-शकुन्तला के पाठविचलन की आनुक्रमिकता" शीर्षकवाले हमारे शोध-आलेख में की गई है।[6] इस नाटक के काश्मीरी वाचना के पाठ में कुल मिला कर 213 श्लोकों प्राप्त होते हैं। जिसका विश्लेषण निम्नोक्त पञ्चविध स्वरूप में किया जाता हैः-

(1) 213 में से 194 श्लोक निर्विवाद रूप से मौलिक होने की सम्भावना हैं। (2) आठ श्लोक शारदा-पाठपरम्परा शूरू होने से पहले से ही प्रक्षिप्त श्लोक के रूप में मूल पाठ में प्रविष्ट हुए होंगे, जो काश्मीरी वाचना को विरासत के रूप में मिले हैं। इन श्लोकों का प्रतीकात्मक निर्देश किया जाए तो,

(क) अद्यापि नूनं हरकोपवह्नि। (अंक-3)

(ख) अपराधमिमं ततः सहिष्ये यदि। (अंक-3)

(ग) अप्यौत्सुक्ये महति दयित। (अंक-3)

(घ) रहः प्रत्यासत्तिं यदि सुवदना। (अंक-3)

(ङ) यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनाम्। (अंक-4)

(च) अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वतीं मे। (अंक-4)

(छ) तुम्हे य्येव पमाणं जाणीध। (अंक-5)

(ज) चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका। (अंक-6)

(3) दो श्लोक ऐसे हैं कि जो परम्परागत शारदा पाठ में से निष्कासित किय गये हैं, लेकिन वे दोनों का मूलपाठ में होना अपेक्षित है। जैसे कि, (क) इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे। (अंक-1), एवं (ख) यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते। (अंक-1)॥

(4) इस काश्मीरी वाचना में कुल मिला कर एकादश श्लोक ऐसे हैं कि जो बृहत्पाठवाली अन्य दो (मैथिली एवं बंगाली) वाचनाओं में भी उपलब्ध होते हैं। लेकिन ये एकादश श्लोक लघुपाठवाली दाक्षिणात्य तथा देवनागरी वाचनाओं के पाठ में से हटाये गये हैं। इन एकादश श्लोकों का प्रतीकात्मक निर्देश इस तरह का हैः-

(1) त्वं दूरमपि गच्छन्ती हृदयं न। (अंक-3)

(2) अनिर्दयोपभोग्यस्य रूपस्य। (अंक-3)

(3) मणिबन्धनगलितं संक्रान्तो। (अंक-3)
(4) अनेन लीलाभरणेन ते प्रिये। (अंक-3)
(5) पिपासाक्षामकण्ठेन याचितं। (अंक-3)
(6) हरकोपाग्निदग्धस्य दैवेनामृत। (अंक-3)
(7) अयं स ते श्यामलतामनोहरं। (अंक-3)
(8) चारुणा स्फुरितेनायमपरिक्षत। (अंक-3)
(9) इदमुप्युपकृतिपक्षे सुरभिमुखं। (अंक-3)
(10) कर्कन्धूनामुपरि तुहिनं रञ्जय। (अंक-4)
(11) पादन्यासं क्षितिधरगुरोर्मूर्ध्नि। (अंक-4)

इन श्लोकों में से पहले नव श्लोक तीसरे अंक में आये हुए हैं। जहाँ पर दुष्यन्त-शकुन्तला का सहज सुन्दर प्रेम-सहचार दिखलाया गया है। इसके लिए महाकवि ने दो दृश्य रखे हैं। जैसे कि, 1. नायक शकुन्तला के हाथ में मृणाल-वलय पहनाता है। एवं 2. पुष्परज से कलुषित हुए नायिका के नेत्र को दुष्यन्त अपने वदनमारुत से प्रमार्जित कर देता है॥ अन्तिम दो श्लोक चतुर्थांक के आरम्भ में आते हैं। इनको प्रभातवेला का वर्णन करते हुए शिष्य के मुख में रखे गयें हैं। ये दोनों ही श्लोक मूलगामी श्लोक होते हुए भी वे विस्मृति के गर्त में पड़े हुए हैं। मैथिली वाचना ने काश्मीरी वाचना का अनुगमन करते हुए इन दोनों श्लोकों का उपस्थिति क्रम पहला-दूसरा ही रखा है। किन्तु बंगाली वाचना के पाठशोधकों ने इन दो मौलिक श्लोकों को तीसरे चौथे क्रम पर धकेल दिये है। अन्ततो गत्वा, ये दोनों, देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में से हटाये गये हैं।

(5) कुल सतराह श्लोक ऐसे हैं कि जो काश्मीरी वाचना के पाठ में उपलब्ध ही नहीं होते हैं। मतलब कि कालान्तर में मैथिली आदि वाचनाओं के पाठशोधकों ने इन सतराह श्लोकों का प्रक्षेप किया होगा। इन प्रक्षिप्त श्लोकों का प्रतीकात्मक निर्देश निम्नोक्त शब्दों में हैः 1. न खलु न खलु बाणः संनिपात्यो (अंक-1), 2. जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपं। (अंक-1), 3. कठिनमपि मृगाक्ष्या वल्कलं। (अंक-1), 4. अनिशमपि मकरकेतुर्मनसो। (अंक-3), 5. वृथैवसंकल्पशतैरजस्रमनङ्ग। (अंक-3), 6. संमीलन्ति न तावद्

बन्धनकोशा। (अंक-3), 7. शशिकरविशदान्यास्तथा। (अंक-3), 8. अयं स यस्मात् प्रणयावधीरणा। (अंक-3), 9. गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्योऽथ। (अंक-3), 10. अपरिक्षतकोमलस्य यावत्कुसुमस्य। (अंक-3), 11. मय्येवविस्मरण-दारुणचित्तवृत्तौ। (अंक-5), 12. चूतं हर्षितपिककं जीवितसदृशं। (अंक-6), 13. मुनिसुता-प्रणय-स्मृतिरोधिना। (अंक-6), 14. दीर्घापाङ्गविसारिनेत्र। (अंक-6), 15. अस्यास्तुंगमिवस्तनद्वयमिदं। (अंक-6), 16. यद्यत्साधु न चित्रे स्मिन्। (अंक-6), एवं 17. तव भवतु बिडौजाः प्राज्यवृष्टि। (अंक-7)॥

निष्कर्षत : कहे तो, काश्मीरी वाचना में जिन 213 श्लोकों का संनिवेश हुआ है उनमें से 194 श्लोक मौलिक होने की पूरी सम्भावना है। किन्तु दो श्लोक ऐसे भी हैं कि जो मौलिक होते हुए भी संक्षेपीकरण के आशय से हटाये गये होगें। (यानि कुल मिला कर 196 श्लोक मौलिक या सर्वाधिक श्रद्धेय होने की कोटि में आते हैं।) काश्मीरी वाचना को विरासत में मिले प्रक्षिप्त श्लोक केवल 8 हैं। तथा कुल 17 श्लोकों ऐसे हैं जो प्राचीनतम सिद्ध हो रही काश्मीरी वाचना के पाठ में नहीं थे, लेकिन जिनको कालान्तर में अन्यान्य वाचनाओं ने प्रक्षिप्त किये हैं। एवमेव, कुल एकादश श्लोक ऐसे हैं कि जो बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में एक समान रूप से ग्राह्य रहें हैं।

[4]

काश्मीरी वाचना के बाद, *दूसरे स्तर* पर मैथिली वाचना का गठन हुआ होगा। इस विचार की पुष्टि षष्ठांक के अन्त भाग को देखने से मिलती है। काश्मीरी वाचना में, राजा की परिचारिका का नाम मेधाविनी है और रानी कुलप्रभा की परिचारिका का नाम पिङ्गलिका है। इन दोनों नामों की सुरक्षा मैथिली वाचना में हुई है। किन्तु बंगाली वाचना में मेधाविनी नाम को बदल कर, उसके स्थान में "चतुरिका" जैसा नया नाम दाखिल किया जाता है। यद्यपि बंगाली वाचना के पाठशोधकों के हाथ से गलती भी रह जाती है कि चतुरिका जैसा नया नाम दाखिल करते समय, उन लोगों के अनवधान से एक स्थान पर मेधाविनी जैसा पुराना नाम यथावत्

चालु भी रह गया है! जिससे मालूम होता है कि मैथिली वाचना का गठन दूसरे स्तर पर हुआ है एवं बंगाली वाचना का गठन तीसरे स्तर पर हुआ है। तथा दाक्षिणात्य वाचना ने रानी की दासी का नाम पिङ्गलिका बदल कर, तरलिका कर दिया है। अतः ज्ञात होता है कि चतुर्थ स्तर पर वर्तमान दाक्षिणात्य वाचना का पाठ गठित हुआ होगा। इस तरह से वाचनाओं के विकास-क्रम का निर्धारण करने में अन्य प्रमाण भी है, किन्तु पुनरुक्ति के भय से यहीं रुकते हैं। अस्तु। प्रकृतमनुसरामः॥ अब मैथिली वाचना के पाठ में आये हुए श्लोकों का विश्लेषण किया जाता है : सब से पहले यह स्मर्तव्य है कि हमने इस नाटक की विभिन्न वाचनाओं में जितने भी श्लोक उपलब्ध होते हैं उन सब का परिगणन करके उसकी संख्या 232 है, यह निश्चित कर लिया है। उनमें से कुल 225 श्लोक ऐसे हैं कि जो मैथिली वाचना में उपलब्ध हो रहे हैं। काश्मीरी वाचना के 213 श्लोकों हैं ऐसा हमने ऊपर कहा है, उसके सामने इस मैथिली में 225 श्लोक सम्मिलित हुए हैं। अतः मैथिली वाचना में कितने श्लोकों का प्रक्षेप-संक्षेपादि हुआ है? वह देखना है। (1) इस वाचना में कुल 195 श्लोक ऐसे मिलते हैं जो मूलगामी पाठ में रहे होंगे। यानि इसमें 195 श्लोक श्रद्धेय प्रतीत होते हैं। (2) प्रक्षिप्त प्रतीत होनेवाले जिन 8 श्लोकों को हमने काश्मीरी वाचना को "विरासत में मिले" कहे है, वही आठ श्लोक मैथिली वाचना में भी संचरित हो कर आये हैं। (3) परापूर्व से चले आ रहे इन आठ प्रक्षिप्त श्लोकों के साथ, मैथिली वाचना के पाठशोधकों ने नये एकादश श्लोक (जो संख्या में सब से अधिक हैं) प्रक्षिप्त भी किये हैं। (इनमें से सभी श्लोकों बंगाली वाचना में भी अनुसृत हुए हैं।) इन श्लोकों का प्रतीकात्मक निर्देश निम्नोक्त हैं :-

(1) न खलु न खलु बाणः संनिपात्यो। (अंक-1)
(2) अनिशमपिमकरकेतुर्मनसो। (अंक-3)
(3) वृथैवसंकल्पशतैरजस्रमनङ्ग। (अंक-3)
(4) संमीलन्ति न तावद् बन्धनकोशा। (अंक-3)
(5) अयं स यस्मात् प्रणयावधीरणा। (अंक-3)

(6) गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्योऽथ। (अंक-3)

(7) मय्येवविस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ। (अंक-6)

(8) मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना। (अंक-6)

(9) दीर्घापाङ्गविसारिनेत्र। (अंक-6)

(10) यद्यत्साधु न चित्रेऽस्मिन्। (अंक-6)

(11) तव भवतु बिडौजाः प्राज्यवृष्टि। (अंक-7)

यहाँ हम देख सकते हैं कि मैथिली वाचना के पाठशोधकों ने गान्धर्व-विवाह वर्णित करनेवाले तृतीयांक में पाँच श्लोकों का प्रक्षेप किया है, जिसमें "गान्धर्वेण विवाहेन" वाले श्लोक का भी समावेश होता है। तथा कुल चार श्लोकों का प्रक्षेप षष्ठांक में शकुन्तला की प्रतिकृति जिसमें चित्रित (एवं वर्णित) की गई है, उस दृश्य में किया हैं। एवमेव, प्रथम तथा सप्तमांक में एक-एक श्लोक का प्रक्षेप किया गया है। यहाँ अतीव ध्यानास्पद दो बिन्दुएँ हैः- जैसे कि, (क) मैथिली वाचना ने ही सब से अधिक नवीन श्लोकों की रचना करके प्रक्षेप किये हैं, तथा (ख) उनमें से सभी श्लोकों का स्वीकार अनुगामी काल की बंगाली वाचना में हुआ है। उनमें से देवनागरी ने भी चार तथा दाक्षिणात्य वाचना ने पाँच श्लोकों का स्वीकार किया है।

(4) काश्मीरी वाचना का एक श्लोक "अविषयगमनं" (अंक-7) मैथिली में समाविष्ट नहीं है, क्योंकि केवल काश्मीरी वाचना में उपलब्ध होनेवाला नाकलासिकाओं के नृत्य का दृश्य मैथिली वाचना ने मान्य नहीं रखा है। (5) एवमेव, एकादश श्लोक ऐसे हैं कि जो केवल बृहत्पाठवाली पूर्वोक्त तीनों वाचनाओं में ही मिलते हैं। (6) काश्मीरी वाचना के पाठ में जिन पाँच श्लोकों का (1. जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपं।, 2. कठिनमपिमृगाक्ष्या वल्कलं।, 3. अपरिक्षतकोमलस्ययावत्कुसुमस्य।, 4. चूतं हर्षितपिककं जीवितसदृशं।, 5. अस्यास्तुंगमिवस्तनद्वयमिदं।) निर्देश नहीं हैं, उन पाँच श्लोकों का मैथिली में भी उल्लेख नहीं हैं। इन 5 का प्रक्षेप बंगाली-आदि से शूरू हुआ है।

[5]

बंगाली वाचना की में कुल मिला कर 221 श्लोकों का समावेश हुआ हैं। (1) इनमें से जिन श्लोकों की मौलिक होने की सम्भावना है वे 192 हैं। (2) तदुपरांत, इन 221 श्लोकों में से आठ श्लोक वे हैं जो प्राचीनतम काश्मीरी वाचना को विरासत में मिले प्रक्षिप्त श्लोक थे। (3) तीन श्लोक [1. कठिनमपि मृगाक्ष्या वल्कलं। (अंक-1), 2. शशिकरविशदान्यास्तथा। (अंक-3)] 3. अस्यास्तुंगमि वस्तनद्वयमिदं।(अंक-6), ऐसे हैं कि जो बंगाली वाचना ने नये प्रक्षिप्त किये हैं। [इन तीनों में पहला और तीसरा श्लोक रिचार्ड पिशेल ने नहीं स्वीकारें हैं, किन्तु बंगाली वाचना के पाठ पर टीका लिखनेवाले चन्द्रशेखर चक्रवर्ती ने उन दोनों पर अरुचि के साथ टीका लिखी है] (4) बंगाली वाचना ने मैथिली वाचना के एकादश प्रक्षिप्त श्लोक यथावत् स्वीकार्य रखे हैं। (5) संक्षेपीकरण के आशय से तीन श्लोक बंगाली वाचना में से हटाये गये हैं। जैसे कि, 1. अज्ज पिएण विणा जं गमेइ रत्तिं। (अंक-4), 2. यदा शरीरस्य शरीरिणश्च पृथक्त्व। (अंक-4), तथा 3. क्रतुभिरुचित-भागांस्त्वंसुरान्। (अंक-7)। ये तीन श्लोक वे हैं जो काश्मीरी वाचना में संचरित हुए हैं, और वे श्रद्धेय हैं। (6) एवमेव, वे एकादश श्लोक ऐसे ही कि जो बंगाली सहित की बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में संचरित हुए है। यानि इन तीनों वाचनाओं के पाठ में विभिन्न स्थानों पर प्रक्षेप अवश्य हुए है।

[6]

दाक्षिणात्य वाचना में कुल श्लोक 193 है। यह श्लोक-संख्या काटयवेम (1500 ई. स.) नामक टीकाकार ने मान्य की है। (देवनागरी वाचना के टीकाकार राघवभट्ट ने 191 श्लोक मान्य किये हैं।) जिनमें से 180 श्लोक ऐसे है कि जो नाटक के मूलगामी पाठ में रहे होंगे। (1) दाक्षिणात्य वाचना के पाठशोधकों ने भी तीन नवीन श्लोक का प्रक्षेप किया है। वे श्लोक (क). "चूतं हर्षितपिककं जीवितसदृशं"। अंक-6 में प्राप्त होता है। (कहना होगा कि यह श्लोक "आताम्र-हरितपाण्डुर जीवित"(अंक-6)। के बदले

में नया रचा गया है।) तथा (ख).जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपं''। (अंक-1), एवं (ग). अपरिक्षत-कोमलस्ययावत् कुसुमस्य''। (अंक-3)। (2) इस दाक्षिणात्य वाचना के पाठशोधकों ने सात प्रक्षिप्त श्लोक ऐसे ग्राह्य रखें हैं कि जो पुरोगामिनी वाचनाओं में से लिये गये हैं। काश्मीरी वाचना को विरासत में मिले दो प्रक्षिप्त श्लोक [1. यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधी।, एवं 2. अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती।] जिनको चतुर्थांक के आरम्भ में प्रभातवेला का वर्णन करने के लिए प्रस्तुत हुए हैं, उनको स्वीकारे हैं। इनके अलावा, दाक्षिणात्य वाचना में पाँच श्लोक ऐसे है कि जो मैथिली परम्परा ने प्रक्षिप्त किये थे उनको भी स्थान दिया हैं। [जैसे कि, 3.न खलु न खलु बाणः संनिपात्यो। (अंक-1), 4.गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्योऽथ0। (अंक-3), 5. मय्येवविस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ। (अंक-5), 6. मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना। (अंक-6), 7. यद्यत्साधु न चित्रेऽस्मिन्। (अंक-6)।] (3) काश्मीरी वाचना में से जैसे "यतो यतः षट्चरणो-ऽभिवर्तते''। (अंक-1) श्लोक को संक्षेपीकरण के आशय से हटाया गया है, उसका अनुसरण दाक्षिणात्य वाचना में भी किया गया है। (4) दाक्षिणात्य वाचना के पाठशोधकों ने अपनी ओर से दो श्लोकों को हटाया है। जैसे कि, 1.आअम्बहरिअवेण्टं ऊससिअं विअ। (अंक-6), एवं 2. साक्षात्प्रियाम् उपगतामपहाय। (अंक-6)॥ (5) दाक्षिणात्य वाचना ने कुल 23 श्लोकों को अपने पाठ्यांश में से हटा दिये हैं। जिनमें से दो श्लोक (1. यदा शरीरस्य शरीरिणश्च पृथक्त्व। (अंक-4), 2. क्रतुभिरुचितभागांस्त्वंसुरान्। (अंक-7)) बंगाली वाचना ने निकाल दिये थे, एवं एक (अविअगमणं कंचणअण्णं च।(अंक-7) श्लोक मैथिली वाचना ने हटाया था। (6) दाक्षिणात्य वाचना में 8 श्लोक ऐसे हैं कि जो काश्मीरी में नहीं थे, और उनका सीधा अनुसरण किया गया है। इस विश्लेषण का सार यह है कि दाक्षिणात्य वाचना के ग्रथन में काश्मीरी एवं मैथिली-बंगाली वाचनाओं का अनुसरण किया गया है। तथा संक्षेपीकरण के आशय से 23 श्लोक हटाये हैं। इस तरह से वह संक्षिप्त एवं संमिश्रित वाचना है।

देवनागरी वाचना के टीकाकार राघवभट्ट ने इस नाटक के पाठ में 191 श्लोकों का स्वीकार किया है। जो काश्मीरी (213 श्लोकों), मैथिली (225 श्लोकों) या बंगाली (221 श्लोकोंवाली) वाचना की अपेक्षा से संक्षिप्त होने के कारण "लघुपाठ" कहा जायेगा। (1) किन्तु 191 श्लोकों में से जो मूलपाठ के रूप में स्वीकार्य हो सकते हैं वे 182 श्लोक ही है। (2) काश्मीरी वाचना को विरासत में मिले प्रक्षिप्त श्लोकों में से प्रभातवेला का वर्णन करनेवाले दो श्लोक देवनागरी वाचना में भी स्वीकार्य बने हैं। जैसे कि, यात्येकतोऽस्तशिखरम् तथा अन्तर्हिते शशिनि। (3) दाक्षिणात्य वाचना के पाठशोधकों ने अपनी ओर से जिन दो नवीन श्लोकों का प्रक्षेप किया था, उनका देवनागरी में स्वीकार हुआ हैः- 1. जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपं। (अंक-1), तथा 2. अपरिक्षतकोमलस्ययावत्कुसुमस्य। (अंक-3)। ये दो श्लोक बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में नहीं है। एवमेव, (4) मैथिली वाचना ने जिन श्लोकों का प्रक्षेप किया हैं उन में से छह श्लोकों का अनुगमन देवनागरी वाचना ने किया है। जैसे कि, 1. गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्योऽथ। 2. मय्येवविस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ। 3. मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना। एवं 4. यद्यत्साधु न चित्रेऽस्मिन्॥ इस तरह के 191 श्लोकवाले देवनागरी वाचना के कलेवर में संक्षेपीकरण के आशय से दाक्षिणात्य पाठशोधकों ने भारी कटौती की गई है, उसका देवनागरी वाचना ने अनुगमन किया है। यह देवनागरी पाठ संक्षिप्ततर एवं संमिश्रित किया गया है।

उपसंहार : अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के मूलपाठ में मंचनलक्षी परिवर्तन ज्यादा हुए है, तथापि इस समग्र चर्चा से जानकारी मिलती है कि उसमें जो पद्यांश है,उनकी अपेक्षा-कृत अधिक सुरक्षा हुई हैं। [जैसे कि, (1) काश्मीरी वाचना के 213 श्लोकों में से सम्भवतः मौलिक हो ऐसे 195 श्लोकों सुरक्षित है।, (2) मैथिली वाचना के 225 श्लोकों में से सम्भवतः मौलिक हो ऐसे 196 श्लोक सुरक्षित रहे है।, (3) बंगाली वाचना के 221 श्लोकों में से सम्भवतः मौलिक हो ऐसे 193 श्लोक सुरक्षित रहे है। (4) देवनागरी वाचना के 191 श्लोकों में से सम्भवतः मौलिक हो ऐसे 183

श्लोक सुरक्षित रहे है।, (5) दाक्षिणात्य वाचना के 193 श्लोकों में से सम्भवतः मौलिक हो ऐसे 181 श्लोक सुरक्षित रहे है।] हाँ, यह बात भी अनतिचिरेण कहनी चाहिए की प्रस्तुत विश्लेषण में विशेष रूप से तो श्लोक-संख्या पर ही ध्यान केन्द्रित किया है; (उनकी पदावली के पाठान्तरों पर नहीं किया) परिणामतः उसकी पाँच पाँच वाचनाएँ प्रचलित होने के बावजुद भी, उन सब के बहुसंख्यक श्लोक सुरक्षित रह पाये हैं, और सभी वाचनाओं की लिखित परम्परा में वे संचरित भी होते रहे हैं। यद्यपि उन श्लोकों की शब्दावली में अनेक स्थानों पर पाठभेद किये गये हैं, किन्तु वे भेद आंशिक रूप में ही है। अतः अभिज्ञानशकुन्तला नाटक के श्लोक समूह में सांख्यिक दृष्टि से दश प्रतिशत[7] से अधिक प्रक्षिप्त श्लोक नहीं है। जिसके कारण कह सकते हैं कि इस नाटक का काव्य सौन्दर्य बहुत कम मात्रा में क्षतिग्रस्त हुआ है। एवमेव, संक्षेपीकरण के आशय से जिन श्लोकों की कटौती की गई है वे भी सांखिक दृष्टि से 26 श्लोक ही है, जो भी दश प्रतिशत होते हैं।

इस सांख्यिक विश्लेषण के उपरांत भी कुछ बिन्दुएँ ध्यानास्पद हैः--

1. काश्मीरी वाचना में जो परापूर्व से चले आ रहे 8 प्रक्षिप्त श्लोक विरासत में मिले हैं, तथा प्रथमांक के दो श्लोक संक्षेपीकरण के आशय से अनुपलब्ध है, (निकाले गये हैं), उनके अलावा तो पद्यात्मक अंश प्रायः सुरक्षित रखा गया है।
2. मैथिली वाचना ने सब से अधिक 11 श्लोकों का प्रक्षेप किया है। जिसका अनुसरण भी अनुगामी काल में होता रहा है।
3. दाक्षिणात्य वाचना ने सब से अधिक संख्या में श्लोकों की कटौती की है। जिसमें नायक-नायिका के सहज प्रेम का सहचार प्रदर्शित करनेवाले दो दृश्य सदा के लिए अन्धेरे के गर्त में चले गये हैं।
4. इस नाटक के मूल पाठ को उपर्युक्त (प्रक्षेप एवं संक्षेप) दो तरह की हानि पहुँचाई गई है, तथापि मैथिली वाचना ने नवीन श्लोकों का प्रक्षेप करके जो हानि पहुँचाई है, उसकी अपेक्षा से दाक्षिणात्य वाचना ने जो संक्षेपीकरण के आशय से हानि पहुँचाई है वह वास्तव में अतिगम्भीर प्रकार की है। क्योंकि इस संक्षेप के कारण

सच्चे प्रेम का चित्र सदाकाल के लिए तिरोहित हो गया है॥

5. मैथिली वाचना ने जो "गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो मुनिकन्यकाः। (अंक-3)" श्लोक का प्रक्षेप किया है, वह अकेला ही मूल नाटक के सहज सुन्दर प्रेम के स्वरूप को अपनी गरिमा से नीचे उतार देने में सक्षम है। यह भी एक महती विनष्टि सिद्ध हुई है॥
6. इतने सारे ढेर परिवर्तनों के बावजुद भी नाटक की किसी भी वाचना से चमत्कृति का अनुभव कराने की क्षमता क्यूं अखण्ड रह पाई है, उसका उत्तर उपर्युक्त विश्लेषण से प्राप्त हो जाता है।

सन्दर्भ

1. The text of the drama was handled differently in different parts of India as a result of which it underwent colossal changes. Except the skeleton, the original drama appeared to have been lost. Probable attempts at dramatization had caused either inflation or the diminution of the text through addition or retrenchment.–A Reconstruction of the Abhijnanasakuntalam, Ed. Prof. D.k Kanjilal, Calcutta, 1980, Introduction, Chapter : 2, page :45
2. जैसे कि, दुःषन्त-दुष्वन्त-दुष्मन्त-दुष्यन्त-दुष्यन्त, अनसूया-अनुसूया, कुलप्रभा-वसुमती, अक्षमाला-मिश्रकेशी-सानुमती, माधव्य-माढव्य इत्यादि।
3. हमने "अभिज्ञानशकुन्तला के पाठविचलन की आनुक्रमिकता" शीर्षकवाले शोध-आलेख में इस नाटक के पाठ में जो मंचनलक्षी परिवर्तन हुए हैं उसकी विस्तृत आलोचना की है। द्रष्टव्यः- "नाट्यम्" शोध-पत्रिका। (अंक-76), सं. श्रीराधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, 2014, पृ. 26 से 54
4. देवनागरी वाचना के अभिज्ञानशाकुन्तल में संक्षेपीकरण के पदचिह्न, "नाट्यम्" (अंकः 71-74), सं. श्री राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, 2012, (पृ. 27 से 57)
5. जिसकी सूचि इस आलेख के परिशिष्ट में रखी गई है।
6. द्रष्टव्य : नाट्यम्। (अंक-76) रंगमंच एवं सौन्दर्यशास्त्र की त्रैमासिक शोध-पत्रिका, सं.- श्रीराधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, 2014, पृ. 26-54
7. काश्मीरी वाचना को विरासत में मिले 8 प्रक्षिप्त श्लोक + मैथिली वाचना ने प्रक्षिप्त किये 11 श्लोक, + बंगाली ने 3 श्लोकों का प्रक्षेप, + तथा दाक्षिणात्य ने तीन श्लोक = कुल 25 श्लोकों का प्रक्षेप हुआ है। सभी वाचनाओं के तमाम श्लोक की संख्या 232 होती है, उनमें से यदि 25 श्लोक ही प्रक्षिप्त सिद्ध होते है तो 11 प्रतिशत का भाग प्रक्षिप्त होता है।

परिशिष्ट-1

संकेतपूर्वक का श्लोक-विश्लेषण :-

वाचना	A	B	C	D	E	F	G	H	I	J	K	TOTAL
काश्मीरी	194	7	0	0	2	0	0	0	11	17	0	232
मैथिली	195	7	11	0	0	0	1	0	11	0	6	232
बंगाली	192	7	3	11	0	0	3	1	11	0	3	232
दाक्षिणात्य	180	1	1	9	0	1	2	24	0	0	14	232
देवनागरी	182	1	2	6	0	1	21	3	0	4	12	232

संकेतित अर्थों का विवरण :-

A. जो श्लोक सम्भवतः मूल में रहे होंगे ऐसे श्रद्धेय हैं।

B. काश्मीरी वाचना को जो प्रक्षिप्त श्लोक के रूप में विरासत में मिले होंगे ऐसा प्रतीत होता है।

C. उत्तरवर्ती काल में जो नवीन श्लोक मैथिली-आदि वाचनाओं में प्रक्षिप्त हुए हैं ऐसा सिद्ध हो रहा है।

D. मैथिली-आदि वाचनाओं में प्रक्षिप्त होने के बाद जिन श्लोकों का परवर्ती वाचनाओं में स्वीकार हुआ है।

E. संक्षेपीकरण के आशय से जो श्लोक बहुत पहले निकाले गये होंगे, जिसके कारण ऐसे श्लोक काश्मीरी वाचना की पाण्डुलिपियों में आज अनुपलब्ध हैं। (विरासत में मिले संक्षेप)

F. संक्षेपीकरण के आशय से निकाले गये वे श्लोक, (जो स्थिति काश्मीरी वाचना को विरासत में मिले थी) जिन संक्षेप का अनुसरण परवर्ती काल की वाचनाओं में भी हुआ है।

G. जो श्लोक काश्मीरी वाचना में थे, लेकिन जिसको परवर्ती काल की वाचनाओं में से हटाये गयें हैं।

H. मैथिली-आदि में से हटाये गयें वे श्लोक, जिनका अनुसरण करके अन्य वाचनाओं में से भी हटाये गयें हैं।

I. ऐसे श्लोक जो केवल बृहत्पाठवाली काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में ही मिलते हैं।

J. अमुक श्लोकों की अनुपलब्धि।

K. ऐसे अनुपलब्ध श्लोकों का अनुसरण।

Act	Verses : Collected from all sources	का. - क्रम	मौ-प्र-सं-ना	मै. - क्रम	मौ-प्र-सं-ना	बं. - क्रम	मौ-प्र-सं-ना	देव.- क्रम	मौ-प्र-सं-ना	दाक्षि.-क्रम	मौ-प्र-सं-ना
	प्रथमोऽङ्कः॥										
1	या सृष्टिः स्रष्टुराद्यावहति विधि	1	A	1	A	1	A	1	A	1	A
1	आपरितोषाद् विदुषां न साधु	2	A	2	A	2	A	2	A	2	A
1	सुभगसलिलावगाहाःपाटलिस	3	A	3	A	3	A	3	A	3	A
1	खणचुम्बिआइँभमरेहिँ उअह	4	A	4	A	4	A	4	A	4	A
1	तवास्मिगीतरागेण हारिणा	5	A	5	A	5	A	5	A	5	A
1	कृष्णसारेददच्चक्षुस्त्वयि	6	A	6	A	6	A	6	A	6	A
1	ग्रीवाभङ्गाभिरामंमुहु	7	A	7	A	7	A	7	A	7	A
1	मुक्तेषुरश्मिषु निरायतपूर्व	8	A	8	A	8	A	8	A	8	A
1	यदालोकेसूक्ष्मं व्रजति सहसा	9	A	9	A	9	A	9	A	9	A
1	न खलु नखलु बाणः संनिपात्यो	0	J	10	C	10	D	0	K	10	D
1	तत्साधुकृतसंधानं प्रतिसंहर	10	A	11	A	11	A	10	A	11	A
1	जन्म यस्यपुरोर्वंशे युक्तरूपं	0	J	0	K	0	K	11	C	12	D
1	धन्यास्तपोधनानांप्रतिहतविघ्ना	11	A	12	A	12	A	12	A	13	A

1	नीवाराःशुककोटरार्भकमुख	12	A	13	A	13	A	13	A	14	A
1	कुल्याम्भोभिःपवनचपलैः	13	A	14	A	14	A	0	G	0	H
1	शान्तमिदमाश्रमपदंस्फुरति	14	A	15	A	15	A	14	A	15	A
1	शुद्धान्तदुर्लभमिदंवपुराश्रम	15	A	16	A	16	A	15	A	16	A
1	इदं किलाव्याजमनोहरं वपु	16	A	17	A	17	A	16	A	17	A
1	इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना	0	E	18	A	18	A	0	K	0	K
1	सरसिजमनुविद्धंशैवलेनापि	17	A	19	A	19	A	17	A	18	A
1	कठिनमपिमृगाक्ष्या वल्कलं	0	J	0	K	चन्द्र	C	0	K	0	K
1	अधरःकिसलयरागः कोमल	18	A	20	A	20	A	18	A	19	A
1	असंशयंक्षत्रपरिग्रहक्षमा	19	A	21	A	21	A	19	A	20	A
1	यतो यतःषट्चरणो भिवर्तते	0	E	22	A	22	A	0	F	0	F
1	चलापाङ्गांदृष्टिं स्पृशसि	20	A	23	A	23	A	20	A	21	A
1	कः पौरवेवसुमतीं शासति	21	A	24	A	24	A	21	A	22	A
1	मानुषीभ्यःकथं नु स्यादस्य	22	A	25	A	25	A	22	A	23	A
1	वैखानसंकिमनया व्रतमाप्र	23	A	26	A	26	A	23	A	24	A
1	भव हृदयसाभिलाषं संप्रति	24	A	27	A	27	A	24	A	25	A
1	अनुयास्यन्मुनितनयां सहसा	25	A	28	A	28	A	25	A	26	A
1	स्रस्तांसावतिमात्रलोहिततलौ	26	A	29	A	29	A	26	A	27	A
1	वाचं नमिश्रयति यद्यपि	27	A	30	A	30	A	27	A	28	A
1	तुरगखुरहतस्तथाहि रेणुर्विटप	28	A	31	A	31	A	28	A	29	A
1	तीव्राघातादभिमुखतरुस्कन्ध	29	A	32	A	32	A	29	A	30	A
1	गच्छतिपुरः शरीरं धावति	30	A	33	A	33	A	30	A	31	A

द्वितीयोऽङ्कः॥

2	कामं प्रिया न सुलभामनस्तु	1	A	1	A	1	A	1	A	1	A
2	स्निग्धंवीक्षितमन्यतो पि नयने	2	A	2	A	2	A	2	A	2	A
2	ननमयितुमधिज्यमुत्सहिष्ये0	3	A	3	A	3	A	3	A	3	A
2	अनवरतधनुर्ज्यास्फालन0	4	A	4	A	4	A	4	A	4	A
2	मेदश्छेदकृशोदरं लघुभवत्यु0	5	A	5	A	5	A	5	A	5	A
2	गाहन्तां महिषानिपानसलिलं	6	A	6	A	6	A	6	A	6	A
2	शमप्रधानेषु तपोवनेषुगूढं	7	A	7	A	7	A	7	A	7	A
2	ललितोप्सरोभवं किलमुनेरप	8	A	9	A	9	A	8	A	8	A
2	निराकृतनिमेषाभिर्नेत्रपंक्ति	9	A	8	A	8	A	0	G	0	H

2	चित्ते निवेश्यपरिकल्पित	10	A	10	A	10	A	9	A	9	A
2	अनाघ्रातं पुष्पंकिसलयमलूनं	11	A	11	A	11	A	10	A	10	A
2	अभिमुखे मयिसंवृतमीक्षितं	12	A	12	A	12	A	11	A	11	A
2	दर्भाङ्कुरेण चरणःक्षत	13	A	13	A	13	A	12	A	12	A
2	यदुत्तिष्ठतिवर्णेभ्यो नृपाणां	14	A	14	A	14	A	13	A	13	A
2	अध्याक्रान्तावसतिरमुना	15	A	15	A	15	A	14	A	14	A
2	नैतच्चित्रं यदयमुदधि	16	A	16	A	16	A	15	A	15	A
2	अनुकारिणि पूर्वेषांयुक्ति	17	A	17	A	17	A	16	A	16	A
2	कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद्	18	A	18	A	18	A	17	A	17	A
2	क्व वयं क्वपरोक्षमन्मथो मृग	19	A	19	A	19	A	18	A	18	A

तृतीयोऽङ्कः॥

3	का कथाबाणसंधाने ज्या	1	A	1	A	1	A	1	A	1	A
3	जाने तपसोवीर्यं सा बाला	2	A	2	A	2	A	2	A	2	A
3	अद्यापिनूनं हरकोपवह्नि	3	B	3	B	3	B	0	J	0	K
3	तवकुसुमशरत्वं शीतरश्मि	4	A	4	A	4	A	3	A	3	A
3	अनिशमपिमकरकेतुर्मनसो	0	J	5	C	5	D	0	K	0	K
3	वृथैवसंकल्पशतैरजस्रमनङ्ग	0	J	6	C	6	D	0	K	0	K
3	संमीलन्ति न तावद् बन्धनको	0	J	7	C	7	D	0	K	0	K
3	शक्योऽरविन्दसुरभिः कणवाही	5	A	8	A	8	A	4	A	4	A
3	अभ्युन्नतापुरस्तादवगाढा	6	A	9	A	9	A	5	A	5	A
3	स्तनन्यस्तोशीरंप्रशिथिल	7	A	10	A	10	A	6	A	6	A
3	शशिकरविशदान्यास्तथा	0	J	0	K	11	C	0	K	0	K
3	क्षामक्षामकपोलमानन	8	A	11	A	12	A	7	A	7	A
3	पृष्टाजनेन समदुःखसुखेन	9	A	12	A	13	A	8	A	8	A
3	स्मर एवतापहेतुर्निर्वापयिता	10	A	13	A	14	A	9	A	9	A
3	अशिशिरतैरन्तस्तापैर्विवर्ण	11	A	14	A	15	A	10	A	10	A
3	अयं स तेतिष्ठति संगमोत्सुको	12	A	15	A	16	A	11	A	11	A
3	अयं सयस्मात् प्रणयावधीरणा	0	J	16	C	17	D	0	K	0	K
3	उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः	13	A	17	A	18	A	12	A	12	A
3	तुज्झ णआणे हिअअं मम	14	A	18	अ	19	A	13	A	13	A
3	तपति तनुगात्रि मदनस्त्वाम्	15	A	19	A	20	A	14	A	14	A
3	संदष्टकुसुमशयनान्याशु	16	A	20	A	21	A	15	A	15	A

3	इदमनन्यपरायणमन्यथा	17	A	21	A	22	A	16	A	16	A
3	परिग्रहबहुत्वेपि द्वे प्रतिष्ठे	18	A	22	A	23	A	17	A	17	A
3	अपराधमिमंततः सहिष्ये यदि	19	B	23	B	24	B	0	K	0	K
3	किं शीकरैःक्लमविमर्दिभि	20	A	24	A	25	A	18	A	18	A
3	उत्सृज्यकुसुमशयनं नलिनी	21	A	25	A	26	A	19	A	19	A
3	अप्यौत्सुक्येमहति दयित	22	B	26	B	27	B	0	J	0	K
3	गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो थ	0	J	27	C	28	D	20	D	20	D
3	त्वं दूरमपि गच्छन्ती हृदयं	23	I	28	I	29	I	0	G	0	H
3	अनिर्दयोपभोग्यस्यरूपस्य	24	I	29	I	30	I	0	G	0	H
3	मणिबन्धनगलितमिदंसंक्रान्तो	25	I	30	I	31	I	0	G	0	H
3	अनेन लीलाभरणेन ते प्रिये	26	I	31	I	32	I	0	G	0	H
3	पिपासाक्षामकण्ठेनयाचितं	27	I	32	I	33	I	0	G	0	H
3	हरकोपाग्निदग्धस्यदैवेनामृत	28	I	33	I	34	I	0	G	0	H
3	अयं स तेश्यामलतामनोहरं	29	I	34	I	35	I	0	G	0	H
3	चारुणास्फुरितेनायमपरिक्षत	30	I	35	I	36	I	0	G	0	H
3	इदमप्युपकृतिपक्षेसुरभि मुखं	31	I	36	I	37	I	0	G	0	H
3	अपरिक्षतकोमलस्ययावत्कुसुम	0	J	0	K	0	K	21	C	21	D
3	मुहुरङ्गुलिसंवृत्ताधरोष्ठं	32	A	37	A	38	A	22	A	22	A
3	तस्याःपुष्पमयी शरीरलुलिता	33	A	38	A	39	A	23	A	23	A
3	रहःप्रत्यासत्तिंयदि सुवदना	34	B	39	B	40	B	0	G	0	H
3	सायंतनेसवनकर्मणि संप्रवृत्ते	35	A	40	A	41	A	24	A	24	A

चतुर्थोऽङ्कः॥

4	विचिन्तयन्तीयमनन्यमानसा	1	A	1	A	1	A	1	A	1	A
4	कर्कन्धूनामुपरितुहिनं रञ्जय	2	I	2	I	4	I	0	G	0	H
4	पादन्यासं क्षितिधरगुरोर्मूर्ध्नि	3	I	3	I	5	I	0	G	0	H
4	यात्येकतोस्तशिखरं पतिरोष	4	B	4	B	2	B	2	D	2	D
4	अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती	5	B	5	B	3	B	3	D	3	D
4	दुष्यन्तेनाहितंतेजो दधानां	6	A	6	A	6	A	4	A	4	A
4	क्षौमंकेनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा	7	A	7	A	7	A	5	A	5	A
4	यास्यत्यद्यशकुन्तलेति हृदयं	8	A	8	A	8	A	6	A	6	A
4	ययातेरिवशर्मिष्ठा पत्युर्बहुमता	9	A	9	A	9	A	7	A	7	A
4	अमी वेदींपरितः क्लृप्तधिष्ण्या	10	A	10	A	10	A	8	A	8	A

4	पातुं नप्रथमं व्यवस्यति जलं	11	A	11	A	11	A	9	A	9	A
4	अनुमतगमनाशकुन्तला सा तरु	13	A	12	A	12	A	10	A	10	A
4	रम्यान्तरःकमलिनीहरितैः सरो	12	A	13	A	13	A	11	A	11	A
4	उल्ललइदब्भकवलं मई	14	A	14	A	14	A	12	A	12	A
4	संकल्पितंप्रथममेव मया	15	A	15	A	15	A	13	A	13	A
4	यस्य त्वयाव्रणविरोहणम्	16	A	16	A	16	A	14	A	14	A
4	उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं	17	A	17	A	17	A	15	A	15	A
4	पुडइणिवत्तन्तरिअंवाहरिओ	18	A	18	A	18	A	0	G	0	H
4	अज्ज पिएणविणा जं गमेइ	19	A	19	A	0	G	16	A	16	A
4	अस्मान्साधु विचिन्त्य संयमध	20	A	20	A	19	A	17	A	17	A
4	शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखी	21	A	21	A	20	A	18	A	18	A
4	अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये	22	A	22	A	21	A	19	A	19	A
4	यदा शरीरस्य शरीरिणश्च पृथ	23	A	23	A	0	G	0	H	0	H
4	भूत्वाचिराय सदिगन्तमही	24	A	24	A	22	A	20	A	20	A
4	अपयास्यतिमे शोकः कथं	25	A	25	A	23	A	21	A	21	A
4	अर्थो हिकन्या परकीय एव	26	A	26	A	24	A	22	A	22	A

पञ्चमोऽङ्कः॥

5	आचारइत्यधिकृतेन मया	1	A	1	A	1	A	3	A	3	A
5	क्षणात्प्रबोधमायातिलंघ्यते	2	A	2	A	2	A	0	G	0	H
5	प्रजाःप्रजाः स्वा इव तन्त्रयि	4	A	3	A	3	A	5	A	5	A
5	भानुःसकृद्युक्ततुरंग एव	3	A	4	A	4	A	4	A	4	A
5	औत्सुक्यमात्रमवसादयति	7	A	5	A	5	A	6	A	6	A
5	स्वसुखनिरभिलाषःखिद्यसे	8	A	6	A	6	A	7	A	7	A
5	नियमयसिविमार्गप्रस्थिता	9	A	7	A	7	A	8	A	8	A
5	अहिणवमहुलोहभाविओ	5	A	8	A	8	A	1	A	1	A
5	रम्याणिवीक्ष्य मधुरांश्च	6	A	9	A	9	A	2	A	2	A
5	किं तावद्व्रतिनामुपोढतपसां	10	A	10	A	10	A	9	A	9	A
5	महाभागःकामं नरपतिरभिन्न	11	A	11	A	11	A	10	A	10	A
5	अभ्यक्तमिवस्नातः शुचिर	12	A	12	A	12	A	11	A	11	A
5	भवन्तिनम्रास्तरवः फलोद्‌गमै	13	A	13	A	13	A	12	A	12	A
5	केयमवगुण्ठनवतीनातिपरि	14	A	14	A	14	A	13	A	13	A
5	कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां	15	A	15	A	15	A	14	A	14	A

5	त्वमर्हतांप्राग्रहरः स्मृतो	16	A	16	A	16	A	15	A	15	A
5	णावेक्खिओगुरुअणो इमीअ	17	A	17	A	17	A	16	A	16	A
5	सतीमपिज्ञातिकुलैकसंश्रयां	18	A	18	A	18	A	17	A	17	A
5	किंकृतकार्यद्वेषाद् धर्मं प्रति	19	A	19	A	अस्ति	A	18	A	18	A
5	इदमुपनतमेवंरूपमक्लिष्ट	20	A	20	A	19	A	19	A	19	A
5	कृतावमर्शामनुमन्यमानः	21	A	21	A	20	A	20	A	20	A
5	व्यपदेशमाविलयितुंसमीहसे	22	A	22	A	21	A	21	A	21	A
5	स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वम्	23	A	23	A	22	A	22	A	22	A
5	न तिर्यगवलोकितं भवति चक्षु	24	A	24	A	23	A	0	G	0	H
5	मय्येवविस्मरणदारुणचित्तवृ	0	J	25	C	24	D	23	D	23	D
5	तुम्हेय्येव पमाणं जाणध धम्म	25	B	26	B	चन्द्र.	B	0	J	0	K
5	अतःसमीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात्	26	A	27	A	25	A	24	A	24	A
5	आ जन्मनःशाठ्यमशिक्षितो	27	A	28	A	26	A	25	A	25	A
5	तदेषा भवतःपत्नी त्यज वैनं	28	A	29	A	27	A	26	A	26	A
5	यदि यथावदति क्षितिपस्तथा	29	A	30	A	28	A	27	A	27	A
5	कुमुदान्येवशशाङ्कः सविता	30	A	31	A	29	A	28	A	28	A
5	मूढःस्यामहमेषा वा वदेन्मिथ्ये	31	A	32	A	30	A	29	A	29	A
5	सानिन्दन्ती स्वानि भाग्यानि	32	A	33	A	31	A	30	A	30	A
5	कामंप्रत्यादिष्टां स्मरामि न	33	A	34	A	32	A	31	A	31	A

षष्ठोऽङ्कः॥

6	शहये किलये विणिन्दिदे	1	A	1	A	1	A	1	A	1	A
6	आअम्बहरिअवेण्टंऊससिअं वि	2	A	2	A	2	A	2	A	0	G
6	चूतंहर्षितपिककं जीवितसदृशं	0	J	0	K	0	K	0	K	2	C
6	अरिहसि मेचूअङ्कुर दिण्णो	3	A	3	A	3	A	3	A	3	A
6	चूतानां चिरनिर्गतापि कलिका	4	A	4	A	4	A	4	A	4	A
6	रम्यं द्वेष्टि यथा पुरा प्रकृतिभिः	5	A	5	A	5	A	5	A	5	A
6	प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधि	6	A	6	A	6	A	6	A	6	A
6	प्रथमं साराङ्गाक्ष्या प्रियया	7	A	7	A	7	A	7	A	7	A
6	मुनिसुताप्रणयस्मृतिरोधिना	0	J	8	C	8	D	8	D	8	D
6	उपहितस्मृतिरङ्गुलिमुद्रया	8	A	9	A	9	A	0	G	0	H
6	इतःप्रत्यादिष्टा स्वजनमनुगन्तुं	9	A	10	A	10	A	9	A	9	A
6	स्वप्नो नुमाया नु मतिभ्रमो	10	A	11	A	11	A	10	A	10	A

6	तव सुचरितमङ्गुरीय नूनं	11	A	12	A	12	A	11	A	11	A
6	एकैकमत्रदिवसे दिवसे मदीयं	12	A	13	A	13	A	12	A	12	A
6	कथं नु तंकोमलबन्धुरा	13	A	14	A	14	A	13	A	13	A
6	दीर्घापाङ्गविसारिनेत्र	0	J	15	C	15	D	0	K	0	K
6	अस्यास्तुंगमिवस्तनद्वयमिदं	0	J	0	K	चन्द्र.	C	0	K	0	K
6	यद्यत्साधु न चित्रे स्मिन्	0	J	16	C	16	D	14	D	14	D
6	साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय	14	A	17	A	17	A	16	A	0	G
6	स्विन्नांगुलीनिवेशाद्रेखा	15	A	18	A	18	A	15	A	15	A
6	कार्यासैकतलीनहंसमिथुना	16	A	19	A	19	A	17	A	17	A
6	कृतं न कर्णार्पितबन्धनं	17	A	20	A	20	A	18	A	18	A
6	एषा कुसुमनिषण्णा तृषिता	18	A	21	A	21	A	19	A	19	A
6	अक्लिष्टबालतरुपल्लव	19	A	22	A	22	A	20	A	20	A
6	दर्शनसुखमनुभवतःसाक्षादिव	20	A	23	A	23	A	21	A	21	A
6	प्रजागरात्खिलीभूत	21	A	24	A	24	A	22	A	22	A
6	येन येनवियुज्यन्ते प्रजाः	22	A	25	A	25	A	23	A	23	A
6	संरोपितेप्यात्मनि धर्मपत्नी	23	A	26	A	26	A	24	A	24	A
6	अस्मात्परं बत यथास्मृति	24	A	27	A	27	A	25	A	25	A
6	आमूलशुद्धसंततिकुलमेतत्	25	A	28	A	28	A	0	G	0	H
6	प्रागेवजरसा कम्पः सविशेषेण	26	A	29	A	29	A	0	G	0	H
6	तस्याग्रभागाद्गृहनीलकण्ठै	27	A	30	A	30	A	0	G	0	H
6	अहन्यहन्यात्मनएव ताव	28	A	31	A	31	A	26	A	26	A
6	एष त्वामभिनवकण्ठशोणिता	29	A	32	A	32	A	27	A	27	A
6	यो हनिष्यति वध्यं त्वां रक्ष्यं	30	A	33	A	33	A	28	A	28	A
6	कृताःशरव्यं हरिणा तवासुरा	31	A	34	A	34	A	29	A	29	A
6	सख्युस्तेस किल शतक्रतोरवध्य	32	A	35	A	35	A	30	A	30	A
6	ज्वलति चलितेन्धनो ग्निर्विप्रकृ	33	A	36	A	36	A	31	A	31	A
6	त्वन्मतिःकेवला तावत् प्रतिपा	34	A	37	A	37	A	32	A	32	A

सप्तमोऽङ्कः॥

7	अविअगमणं कंचण अण्णंच	1	A	0	G	0	H	0	H	0	H
7	उपकृत्यहरेस्तस्या भवाल्लंघु	2	A	1	A	1	A	1	A	1	A
7	अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं	3	A	2	A	2	A	2	A	2	A
7	सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं	4	A	3	A	3	A	3	A	3	A

7	सिध्यन्ति कर्मसु महत्त्स्वपि	5	A	4	A	4	A	4	A	4	A
7	विच्छित्तिशेषैःसुरसुन्दरीणां	6	A	5	A	5	A	5	A	5	A
7	त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रति	7	A	6	A	6	A	6	A	6	A
7	अयमगविवरेभ्यश्चातकैर्नि	8	A	7	A	7	A	7	A	7	A
7	शैलानामवरोहतीवशिखराद्	9	A	8	A	8	A	8	A	8	A
7	स्वायंभुवान्मरीचेर्यःप्रबभूव	10	A	9	A	9	A	9	A	9	A
7	उपोढशब्दान रथाङ्गनेमयः	11	A	10	A	10	A	10	A	10	A
7	वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरग्	12	A	11	A	11	A	11	A	11	A
7	प्राणानामनिलेनवृत्तिरुचिता	13	A	12	A	12	A	12	A	12	A
7	मनोरथाय नाशंसे किं बाहो	14	A	13	A	13	A	13	A	13	A
7	अर्धपीतस्तनंमातुरामर्दक्लिष्ट	15	A	14	A	14	A	14	A	14	A
7	महतस्तेजसोबीजं बालो यं	16	A	15	A	15	A	15	A	15	A
7	प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो	17	A	16	A	16	A	16	A	16	A
7	आलक्ष्यदन्तमुकुलान	18	A	17	A	17	A	17	A	17	A
7	एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना	19	A	18	A	18	A	18	A	18	A
7	अनेन कस्यापि कुलांकुरेण	20	A	19	A	19	A	19	A	19	A
7	भवनेषुसुधासितेषु पूर्वं क्षिति	21	A	20	A	20	A	20	A	20	A
7	वसने परिधूसरे वसाना नियम	22	A	21	A	21	A	21	A	21	A
7	स्मृतिभिन्नमोहतमसोदिष्ट्या	23	A	22	A	22	A	22	A	22	A
7	बाष्पेन प्रतिषिद्धे पि जयशब्दे	24	A	23	A	23	A	23	A	23	A
7	सुतनुहृदयात् प्रत्यादेशव्यलीक	25	A	24	A	24	A	24	A	24	A
7	मोहान्मयासुतनु पूर्व	26	A	25	A	25	A	25	A	25	A
7	पुत्रस्य ते रणशिरस्ययम्	27	A	26	A	26	A	26	A	26	A
7	प्राहुर्द्वादशधास्थितस्य मुनयो	28	A	27	A	27	A	27	A	27	A
7	आखण्डलसमोभर्ता जयन्त	29	A	28	A	28	A	28	A	28	A
7	दिष्ट्याशकुन्तला साध्वी	30	A	29	A	29	A	29	A	29	A
7	उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं	31	A	30	A	30	A	30	A	30	A
7	यथा गजेसाधुसमक्षरूपे	32	A	31	A	31	A	31	A	31	A
7	शापादसिप्रतिहता स्मृतिलोप	33	A	32	A	32	A	32	A	32	A
7	रथेनानुद्धातस्तिमितगतिना	34	A	33	A	33	A	33	A	33	A
7	तव भवतु बिडौजाः प्राज्यवृष्टि	0	J	34	C	34	D	0	K	34	K
7	क्रतुभिरुचितभागांस्त्वंसुरान्	35	A	35	A	0	G	0	H	0	H
7	प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः	36	A	36	A	35	A	34	A	35	A

(ञ) अभिज्ञानशाकुन्तल के देवनागरी पाठ में संक्षेपीकरण के पदचिह्न

(शारदा पाण्डुलिपियों के विशेष सन्दर्भ में)

भूमिका : विश्वनाट्यसाहित्य में महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल का नाम अपरिहार्य एवं अग्रगण्य है इस अभिमत में कोई विवाद नहीं है। लेकिन पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ उसका पाठ सर्वांश में "कवि-प्रणीत" ही है ऐसा कहना विवाद से परे नहीं है! क्योंकि पाण्डुलिपियों में मिल रहा इस नाटक का पाठ एक रूप नहीं है, अनेक रूप है। इसका प्रमुख कारण यही है कि दो हज़ार वर्षो की सुदीर्घ कालावधि में इस नाटक का मूलपाठ बार बार के प्रतिलिपिकरण, लिप्यन्तरण एवं मंचन के आवर्तनों से गुजरता हुआ हम तक पहुँचा है। परिणामतः वह अपने मूल रूप से काफी हद तक विचलित हो गया है। आज उपलब्ध होनेवाली पाण्डुलिपियों में मिल रहे विविध पाठान्तरों का अवलोकन करके विद्वानों ने देखा है कि इस नाटक का एक लघुपाठ चल रहा है, और दूसरा बृहत्पाठ भी है। इनमें से लघुपाठ तो विशेष रूप से लोकप्रिय भी है, और वही सुप्रचलित भी है। बृहत्पाठवाले इस नाटक का शीर्षक ''अभिज्ञानशकुन्तला'' एवं "अभिज्ञानशकुन्तलम्" है। मतलब कि जिसमें अभिज्ञान से संस्मृता, अथवा ज्ञाता शकुन्तला केन्द्र में है, ऐसी नाट्यकृति। इस बृहत्पाठ परम्परा में तीन वाचनायें निर्धारित की गई हैं। जैसे कि, 1) काश्मीरी वाचना, 2) मैथिली वाचना और 3) बंगाली वाचना॥ इसके प्रतिपक्ष में दूसरी लघुपाठ परम्परा है, जिसमें इस नाटक का शीर्षक "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" है। इसका

अर्थ होता है कि जिसमें अभिज्ञान से संस्मृत शकुन्तला और शाकुन्तल (अर्थात् शाकुन्तलेय) केन्द्र में है ऐसी नाट्यकृति। इस पाठपरम्परा में दो वाचनायें निर्धारित की गई हैं : जैसे कि, 4) संमिश्रित एवं संक्षिप्त देवनागरी वाचना, तथा 5) दाक्षिणात्य वाचना॥

देश-विदेश की बहुत सारी पाण्डुलिपियों को एकत्र करके जब इन सब की निम्न स्तरीय पाठालोचना की गई तब मालूम हुआ है कि इस देश के कम से कम पाँच प्रदेशों में जो पाठ प्रवाहित हुआ है वह बहुत स्थानों में परस्पर से भिन्न है। जिसको उपर्युक्त पञ्चविध वाचनाओं के नाम से पृथक्कृत किया गया है। लेकिन इस तरह की प्राथमिक पाठालोचना से ज्ञात हुई विभिन्न वाचनाओं की पहचान मात्र से पाठालोचना का कार्य संपूर्ण हो गया है ऐसा हम नहीं मान सकते हैं। क्योंकि एक ही नाट्यकृति की पञ्चविध वाचनाओं का प्रचलन होना ही तो अपने आप में इस बात का प्रमाण बनता है कि मूलभूत रूप से जो कृति एक ही नाट्यकार की रचना है, अर्थात् जो "एककर्तृक रचना" है उसके एकाधिक प्रचलित स्वरूपों में से कोई एक अधिकृत पाठ (जो सम्भवतः महाकवि कालिदास ने ही लिखा हो ऐसा) निश्चित करने का कार्य अभी तक हुआ ही नहीं है। लोकप्रियता और अधिकतया प्रचारित होने के मानदण्ड से देखेंगे तो आम तौर पर देवनागरी वाचना का लघुपाठ ही साहित्यरसिकों के हाथों में विराजमान है। पुराने जमाने के टीकाकारों ने भी लघुपाठ पर ही सब से अधिक टीकायें लिखी हैं। लघुपाठ की तुलना में बृहत्पाठ बहुशः अनजान या अप्रचलित ही रहा है, क्योंकि विद्वानों ने उसे "प्रक्षेपों से भरा पाठ" कह कर उपेक्षित किया है। संस्कृत साहित्य के चूडामणिभूत इस नाटक की पाँच वाचनायें देख कर वहीं पर हम विरत नहीं हो सकते। क्योंकि जब तक कालिदासीय पाठ का सही स्वरूप हमारे सामने उजागर नहीं होगा तब तक हम सब "अनवाप्तचक्षुःफल" ही रहेंगे। अतः पाठालोचना के अन्तिम, चतुर्थ चरण पर इन वाचनाओं के पाठ की उच्च स्तरीय समीक्षा करने का कार्य करना ही चाहिए। इस दिशा में प्रवृत्त होने के लिए जो पूर्व भूमिका रूप कार्य है वह यह है कि—मूलभूत रूप से कवि ने अपने

हाथ से पहले बृहत्पाठ लिखा होगा या पहले लघुपाठ लिखा होगा? इस प्रश्न का निर्णय किया जाये। यद्यपि इन दोनों में किसी एक में सर्वांश में मौलिकता सुरक्षित रही होगी—ऐसी अवधारणा भी हम नहीं कर सकते हैं। क्योंकि इस नाटक का मूल पाठ तो अनेकबार के प्रतिलिपिकरणों की लम्बी परम्परा में एवं मंचन की भी सुदीर्घ परम्परा के दौरान निरन्तर बदलता ही रहा होगा। अतः तिर्यक् दृष्टि से इस प्रश्न की समीक्षा करनी चाहिए :- (क) सब से पहले लघुपाठ की परीक्षा करके उसमें अखण्डता है या नहीं यह निश्चित करना चाहिए। लघुपाठ यदि संक्षिप्त किया गया है ऐसा सिद्ध होता है, तो फिर (ख) बृहत्पाठ मौलिकता के नज़दीक है या नहीं? उसकी परीक्षा करनी चाहिए। तत्पश्चात् (ग) उस बृहत्पाठ में प्रदूषणता प्रविष्ट हुई है या नहीं उसकी भी समीक्षा करनी होगी। इन तीनों प्रश्नों का यदि सर्वमान्य समाधान हो सकता है तो (घ) उस बृहत्पाठ या लघुपाठ की "उच्चतर समीक्षा" करके एक अधिकृत पाठ का निर्धारण करने का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

अब तक हुई पाठालोचना में प्राधान्येन बहुसंख्य समान-वंशज पाण्डुलिपियों के आधार पर विभिन्न प्रान्तों की अलग अलग वाचनाओं का निर्धारण हो पाया है। लेकिन इसके आगे का कार्य, जिसमें "कवि-प्रणीत" प्रतीत होनेवाले एक अधिकृत पाठ का अनुमान / निश्चय करना अवशिष्ट ही है। इस सन्दर्भ में, अद्यावधि हुई पाठालोचनाओं में भी जो कुछ विकलताएँ दिख रही हैं उससे भी अवगत होना सब से पहले आवश्यक है। जैसे कि,

(1) बंगाली (Pischel, 1876, (Second edition - 1922)), मैथिली (रमानाथ, 1957) और देवनागरी (Patankar,1902) वाचनाओं के पाठ की समीक्षितावृत्ति (Critical Text-Edition) प्रकाशित हुई है। किन्तु दाक्षिणात्य वाचना के पाठ की समीक्षितावृत्ति अभी तक किसी ने नहीं निकाली है। यद्यपि दाक्षिणात्य वाचना के पाठ का आश्रयण करके काटयवेम ने कुमारगिरिराजीया नामक जो टीका लिखी है (रङ्गाचार्य, 1982), उसमें प्रसिद्ध हुए पाठ को हम दाक्षिणात्य पाठ मान कर चल सकते हैं। क्योंकि

उपलब्ध टीकाओं में वही सब से पुरानी 15वीं शती की टीका है।

(2) काश्मीरी वाचना का समीक्षित पाठसम्पादन करने का प्रारम्भ श्रद्धेय डॉ. एस. के. बेलवालकर जी ने किया था, लेकिन जीवनसन्ध्या के समय पर स्वास्थ्य की प्रतिकूलताओं के कारण उस सम्पादन में बहुत कमियाँ रह गई हैं। उनके देहावसान के बाद डॉ. वी. राघवन् जी ने साहित्य अकादेमी, दिल्ली से उस सम्पादन का जो प्रकाशन (Belvalkar, 1965) किया है वह किसी काम का नहीं है। क्योंकि उसमें (क) कौन सी पाण्डुलिपि या पाण्डुलिपियों का विनियोग किया गया था, वह निर्दिष्ट नहीं है।[1] (ख) उसमें एक भी पाठभेद का निर्देश नहीं है। (ग) डॉ. बेलवालकर जी ने उसकी प्रस्तावना नहीं लिखी है। (घ) ऑक्सफर्ड से प्राप्त की गई दो शारदा लिपि में[2] लिखित पाण्डुलिपियों में जो पाठ है उनसे कुत्रचित् हट कर दूसरे तरह का पाठ बेलवालकर जी ने सम्पादित किया है। अर्थात् उनके द्वारा सम्पादित किये गये पाठ को हम पूर्ण रूप से शारदा-परम्परा का प्रतिनिधित्व करनेवाला पाठ नहीं कह सकते हैं। (घ) विदेशों में संगृहीत शारदा-लिपि में निबद्ध पाण्डुलिपियों को प्राप्त करके काश्मीरी पाठ का पुनः सम्पादन करने का कार्य भी किसी ने अभी तक (2015) नहीं किया था।

(3) श्री पी. एन. पाटणकर जी ने (1902 में) देवनागरी वाचना का शुद्धतर समीक्षित पाठसम्पादन प्रस्तुत करने का दावा किया है। लेकिन उन्होंने कृति का शीर्षक "अभिज्ञानशकुन्तलम्" ऐसा दिया है, जो वस्तुतः मैथिली एवं बंगाली पाठ परम्परा में स्वीकृत हुआ शीर्षक है। ऐसा होने का कारण यही है कि कार्ल बुरखड ने (ब्युल्हर को प्राप्त हुई) शारदा-पाण्डुलिपि का रोमन स्क्रिप्ट में जो लिप्यन्तरण 1884 में जर्मनी से प्रकाशित किया था, वह प्रोफेसर भाण्डारकर जी ने श्री पाटणकर को भेजा था। श्रीपाटणकर ने उसी शारदा-पाठ को भी ध्यान में लेकर देवनागरी पाण्डुलिपियों में संचरित हुए देवनागरी पाठ का निर्धारण किया था। अतः श्रीपाटणकर जी की "शुद्धतर देवनागरी वाचना" की समीक्षितावृत्ति में भी कुत्रचित् काश्मीरी पाठान्तरों का प्रभाव प्रतिबिम्बित हो गया है!

(4) अभी तक इस नाटक के जो भी समीक्षित पाठसम्पादन या

स्थानीय संस्करण निकले हैं उसमें किसी ने भी पाण्डुलिपियों में संचरित हो कर हम तक पहुँचे पाठ में रंगमंचीय पाठभेद (प्रक्षिप्त या संक्षिप्त किये गये पाठ) के स्वरूप पर शायद विचार ही नहीं किया है।

(5) डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने अभिज्ञानशकुन्तल के जो पुनर्गठित (बंगाली) पाठ का प्रकाशन किया है, उसकी प्रस्तावना में यद्यपि अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थों में आये हुए अभिज्ञानशकुन्तल के उद्धरणों का अभ्यास करके दिखाया है कि ये सभी उद्धरण बृहत्पाठानुसारी ही हैं। जिससे यह फलित होता है कि देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के लघुपाठ की अपेक्षा से बृहत्पाठ निश्चित रूप से पुरोगामी है। किन्तु उन्होंने (क) पाँचो वाचनाओं में बिखरी हुई मौलिकता को ढूँढने का उपक्रम नहीं रखा है। केवल बंगाली पाठ को ही आद्य एवं मौलिक मान कर उसका मान्य-पाठ के रूप में ग्रहण करने का विचार पुरस्कृत किया है। तथा (ख) देवनागरी पाठ में कहाँ संक्षेपीकरण दिख रहा है, उसकी सप्रमाण चर्चा नहीं की है। एवमेव, (ग) ऑक्सफर्ड की तीन शारदा पाण्डुलिपिओं के पाठभेदों का पादटिप्पणी में प्रदर्शन जरूर किया है, लेकिन इस नाटक के पाठ का संक्रमण-क्रम और तदनुसारी उपलब्ध पाण्डुलिपियों के सम्भवित वंशवृक्ष की उन्होंने जो परिकल्पना की है वह विवादास्पद है। जिसका ऊहापोह अद्यावधि किसीने किया भी नहीं है।

सर विलियम जोन्स ने ई. सन् 1789 में अभिज्ञानशकुन्तल का प्रथम आङ्ग्ल अनुवाद[3] प्रकाशित किया है तब से अद्यावधि (मतलब कि दो सौ पच्चीस साल के अन्तराल में) पाँच-छः विद्वानों से अधिक किसी ने भी पद्धति-पुरस्सर की पाठालोचना नहीं की है। अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् (पूना, 1919) के प्रथम अधिवेशन में प्रोफेसर श्रीबलवन्तराय ठाकोर (गुजराती भाषा के संमान्य कवि) ने The Text of S'akuntala शीर्षक से प्रस्तुत किये शोध-आलेख (Thakore, 1922) में इस नाटक का पाठ कैसे निर्धारित किया जाना चाहिए उसकी विचार-प्रेरक चर्चा उठाई थी। लेकिन वह चर्चा अरण्यरुदन के समान एकान्त में शान्त हो गई। उसके पश्चात् कतिपय विरल विद्वान् इस कार्य में लगे, जिसमें से सर्वप्रथम उल्लेखनीय

श्रद्धेय डॉ. श्रीपाद कृष्ण बेलवालकर जी, जिन्होंने (1923,1929,1965 में) अभिज्ञानशकुन्तल के पाठ की उच्चतर समीक्षा की है, किन्तु कतिपय चुने हुए स्थानों की ही है।

पाठालोचनाओं की इस तरह की विकलताओं को जानकर, उपलब्ध पञ्चविध वाचनाओं का तौलनिक अभ्यास करना जरूरी है। ततः बृहत्पाठ या लघुपाठ में से जो भी मौलिकता के नज़दीक सिद्ध होता हो उसकी सर्वतोग्राही उच्चतर समीक्षा करने की कोशिश करनी चाहिए।

पहले यह निश्चित करना उपयुक्त होगा कि उपर्युक्त बृहत् एवं लघु पाठों में से कौन प्राचीनतर काल से प्रचलित हुआ दिख रहा है। इस प्रश्न का समाधान करने लिए "इस नाटक की आज उपलब्ध हो रही पाण्डुलिपियों में से कौन सब से पुरानी है?" यह देखने की अपेक्षा से बेहतर वही होगा कि इन पञ्चविध वाचनाओं के बहुविध पाठान्तरों में से कौन सा पाठ प्राचीनतर काल के आलङ्कारिकों के ग्रन्थों में उद्धृत हुआ है, वह देखा जाये। (इस सन्दर्भ में, उपलब्ध टीकाओं में कौन सा पाठ समादृत हुआ है वह परीक्षणीय नहीं है। क्योंकि 15वीं शती के काटयवेम से अधिक पुराना कोई टीकाकार मिलता नहीं है। तथा विद्यमान पाण्डुलिपियाँ भी बहुत पुराने काल की नहीं मिलती हैं। जब कि आलङ्कारिकों की परम्परा तो 7वीं शती के भामह या वामन से मिल रही है।) निदर्श : (1) तृतीयाङ्क के प्रवेशक के बाद रंगमंच पर राजा दुष्यन्त[4] का प्रवेश होता है। वहाँ काश्मीर की शारदा पाण्डुलिपियों में रंगसूचना देते हुए लिखा है कि *ततः प्रविशति कामयानावस्थो राजा।* मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में *ततः प्रविशति मदनावस्थो राजा।* तथा, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में *ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा।* इन पाठान्तरों में से सब से पुराना पाठभेद कौन है उसका निश्चय एक बहिरंग प्रमाण से होता हैः काश्मीर के आलंकारिक वामन ने (8वीं शती में) काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में लिखा है कि– *"कामयानशब्दः सिद्धोऽनादिश्चेत्"*। (5-2-83) अर्थात् वामन के इस सूत्र ने शारदा पाण्डुलिपियों में मिल रहे कामयान-अवस्था वाले पाठान्तर का ही समर्थन किया है। एवमेव, पण्डितप्रवर श्रीरेवाप्रसादजी

ने कहा है कि स्वयं कालिदास ने रघुवंश (19-50) में कामयान शब्द का विनियोग किया है। निदर्श—(2) शारदा पाण्डुलिपियों में, *अस्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु।* (अङ्क-3 / 34) ऐसा जो पाठ मिलता है वही उद्धरण के रूप में आनन्दवर्धन (विश्वेश्वर, 1985) ने ध्वन्यालोक (16 / 3) में दिया है। (आनन्दवर्धन का समय 850 ईसा है।) उसके प्रतिपक्ष में मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठ में *अस्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तत्।* (अङ्क-3 / 34) ऐसा प्राप्त हो रहा है। इससे सिद्ध होता है कि काश्मीर की शारदा पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ जो पाठ है वही प्राचीनतम हो सकता है। डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने भी कुछ ऐसे ही अन्य बहिरंग प्रमाण दिये हैं, जिनसे भी सिद्ध होता है कि लघुपाठ की अपेक्षा से बृहत्पाठ ही पुरोगामी और प्राचीनतर पाठ है। निदर्श—(3) रूप से, गणरत्नमहोदधि (2-70) में आये शाकुन्तल के उद्धरणों का पाठ, उदा. मणिबन्धन-गलितम् इदं संक्रान्तोशीरपरिमलं तस्याः। हृदयस्य निगडमिव मे मृणालवलयं स्थितं पुरतः॥ (अ. शकु. 3-31) यह श्लोक बृहत्पाठानुसारी है। (यह श्लोक लघुपाठ परम्परा के शाकुन्तलों में कहीं पर भी नहीं है)।

उपर्युक्त सन्दर्भो से बृहत्पाठ परम्परा प्राचीनतर है यह तो सिद्ध होता ही है, किन्तु इसके साथ-साथ यह भी दिखता है कि बृहत्पाठ का संचरण करनेवाली तीनों वाचनाओं में भी जो काश्मीरी वाचना है, और जिसका परम्परागत पाठ शारदा-पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रहा है वही सब से प्राचीनतम है।

प्रस्तुत आलेख में, ऑक्सफर्ड से प्राप्त की गई दो शारदा पाण्डुलिपियों, एवं उनके साथ में कार्ल बुरखड के द्वारा रोमन स्क्रिप्ट में रूपान्तरित की हुई तीसरी शारदा पाण्डुलिपि का विनियोग करके, देवनागरी वाचना के पाठ में संक्षेपीकरण हुआ है—ऐसा सिद्ध करनेवाले जो असंदिग्ध पदचिह्न दिख रहे हैं उनकी चर्चा करनी अभीष्ट है। इस चर्चा के अन्तर्गत 1. तृतीयांक में हुआ संक्षेप उद्घाटित करनेवाले पदचिह्न, जो सब से पहले डॉ. बेलवालकर जी ने दिखाये थे, उनकी चर्चा होगी। ततः 2. तृतीयांक के उपान्त्य श्लोक में विद्यमान एक प्रकट पदचिह्न की ओर ध्यान आकृष्ट

किया जायेगा, जिससे इस अङ्क में हुए संक्षेप का साधक दूसरा प्रमाण मिल जाता है। एवमेव, 3. इस नाटक में साद्यन्त प्रयुक्त हुई एक निश्चित नाट्य-शैली का अन्तःसाक्ष्य के रूप में विनियोग करके बृहत्पाठ में संचरित हुए (लेकिन लघुपाठ में अनुपलब्ध ऐसे) दो दृश्यों की मौलिकता उजागर की जायेगी। तथा 4. वर्णनात्मक अंशों में जहाँ जहाँ पर श्लोकात्मक निरूपण है वहाँ कवि के द्वारा प्रयुक्त "अपि च'', एवं "अथवा" जैसे निपातों का स्वारस्य उद्घाटित करके, इस नाट्यकृति के वाचिक (पाठ्यांश) में मंचन के दौरान जो संक्षेप-प्रक्षेप की लीला खेली गई है वह प्रदर्शित की जायेगी।

अभिज्ञानश(शा)कुन्तल के मौलिक पाठ सम्बन्धी दो पक्ष : (क) इस नाटक का लघुपाठ जिसमें चल रहा है वह देवनागरी वाचना का पाठ ही मौलिक पाठ हो सकता है। इस प्रथम मत के पक्षधर विद्वान् श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, प्रॉ. शारदारंजन राय, श्री पी. एन. पाटणकर, एवं प्रॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी जी आदि का विद्वत्समूह है। (ख) बृहत्पाठ परम्परा का पाठ मौलिक हो सकता है, इसमें भी बंगाली वाचना का पाठ ही मौलिकता के सब से अधिक नज़दीक है ऐसा कहनेवालों में डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल जैसे विरल विद्वान् है। यद्यपि डॉ. एस. के. बेलवालकर जी ने भी बृहत्पाठ परम्परा के पाठ को ही श्रद्धेय माना था। लेकिन सिल्वाँ लेवी के विचारों से प्रभावित हो कर उन्होंने काश्मीरी पाण्डुलिपियों में से चयनित हो ऐसा नातिलघु एवं नातिदीर्घ समीक्षित पाठ प्रस्तुत करने[5] का संकल्प किया था, स्वप्न देखा था। किन्तु जीवनसन्ध्या की वेला में नादुरस्त स्वास्थ्य से वह कार्य अधूरा रह गया। परिणाम स्वरूप इस नाटक के एक सर्वसम्मत बन सके ऐसे अधिकृत पाठ का निर्णय नहीं हो पाया है। अब हमें महाकवि कालिदास के "सन्तः (विद्वांसः) परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते।" (मालविकाग्निमित्रम्) इन शब्दों का स्मरण करते हुए, पुनः प्रयास करना जरूरी है॥ इस पूर्वपीठिका के साथ, ऑक्सफर्ड से प्राप्त हुई तीन शारदा-पाण्डुलिपियों का सहारा लेकर देवनागरी वाचना के पाठ में जो संक्षेपीकरण के पदचिह्न मिल रहे हैं उनको पहले उजागर किया जाता है।

अभिज्ञानशाकुन्तल का सर्वाधिक विवादास्पद पाठ्यांश तृतीयाङ्क

में ही है। जिसके सन्दर्भ में ही “लघुपाठ” और “बृहत्पाठ” ऐसी यथार्थ संज्ञाएँ मुख्य रूप से प्रयुक्त की गई हैं। लघुपाठवाली देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं के तृतीयाङ्क में 24 (या 26) श्लोकों का विस्तार है। और बृहत्पाठवाली वाचनाओं में 35 से लेकर 41 श्लोकों का विस्तार मिलता है। इस बृहत्पाठ परम्परा के तृतीयाङ्क में न केवल श्लोक-संख्या ही अधिक है, लेकिन इन अधिक श्लोकों से जुड़े गद्य संवादों के द्वारा सम्पन्न किये गये दो दृश्य भी अधिकतया निरूपित हैं। जैसे कि 1. दुष्यन्त शकुन्तला के हाथ में मृणाल-वलय पहनाता है, और 2. शकुन्तला की पुष्परज से कलुषित हुई दृष्टि को वह अपने वदनमारुत से प्रमार्जित करता है। स्वाभाविक रूप के इस प्रेमसहचार के प्रसंगों में नायक-नायिका एक-दूसरे को “जीवितेश्वरी” एवं “आर्यपुत्र” शब्दों से सम्बोधित करते हैं। इन दो प्रसंगों को लेकर सीधा प्रश्न उठता है कि इनको हटा कर लघुपाठ परम्परा में 24 श्लोकवाला पाठ्यांश बनाया होगा? या फिर, पहले से जो लघुपाठ चला आ रहा होगा उसमें इन दोनों प्रसंगों का प्रक्षेप किया गया होगा? तो सब से पहले यह याद दिलाया जाता है कि आरम्भ में दिखाया है कि बृहत्पाठ ही 8वीं से लेकर 12वीं शती तक के आलङ्कारिकों में प्रचलित रहा है। अतः बहिरंग प्रमाणों से जिस बृहत्पाठ का पुरोवर्तित्व सिद्ध होता है उसको हमें नहीं भूलना है। इस दिशा में अब ऐसे दो तर्क रखे जाते हैं कि जिससे (क) देवनागरी-दाक्षिणात्य वाचनाओं में संक्षेपीकरण का उपक्रम किया गया है वह प्रकट रूप से दिख रहा है। (इस बात को सिद्ध करनेवाले दो पदचिह्न दिखाने हैं।) एवमेव, (ख) उपर्युक्त जिन दो दृश्यों को हटा कर संक्षेप किया गया है उन दोनों प्रसंगों की मौलिकता भी सिद्ध करनेवाला कृतिनिष्ठ आन्तरिक प्रमाण प्रस्तुत करना है।

डॉ. एस के. बेलवालकर जी ने तृतीयाङ्क में आयी हुई समय-सूचक रंगसूचनाओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। मृगपोतक को उनकी माँ से संयोजित करवाने का बहाना बना कर दोनों सहेलियाँ रंगभूमि से बाहर चली जाती है। तब रंगभूमि पर केवल नायक-नायिका ही हैं, तब निम्नोक्त केवल छः वाक्यों की संवाद-शृंखला रखी गई हैः-

राजा : सुन्दरि, *अनिर्वाणो दिवसः*। इयञ्च ते शरीरावस्था,
उत्सृज्य कुसुमशयनं नलिनीदलकल्पितस्तनावरणम्।
कथमातपे गमिष्यसि परिबाधा [कोमलैर/पेलवै] रङ्गैः॥
(बलादेनां निवर्तयति)

शकु. : पौरव रक्षाविनयम्, मदनसंतप्तापि न खल्वात्मनः प्रभवामि

राजा : भीरु, अलं गुरुजनभयेन। दृष्ट्वा ते विदितधर्मा तत्रभवान्न दोषं ग्रहीष्यति कुलपतिः।
अपि च, गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः॥ 20॥

शकु. : मुञ्च तावन्माम्। भूयोऽपि सखीजनमनुमानयिष्ये।

राजा : भवतु, मोक्ष्यामि।

शकु. : कदा।

राजा : अपरिक्षतकोमलस्य यावत् कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन।
अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि, गृह्यते रसोऽस्य॥ 21॥

नेपथ्ये : चक्रवाकवधुके, आमन्त्रयस्व सहचरम्, *उपस्थिता रजनी॥*

इसमें, दिवस अभी पूरा नहीं हुआ है और लताकुञ्ज के बाहर आतप है—ऐसा मध्याह्न के समय का प्रकट निर्देश राजा ने पहले किया है। उसके बाद छोटे छोटे केवल छः गद्य वाक्यों का संवाद आता है, और तुरंत उसके पीछे नेपथ्योक्ति से कहा जाता है कि रात्रि का आगमन हो गया है, हे चकवी! तुम अपने प्रियतम से बिदा लेलो॥ इस तरह से मध्याह्न और रात्रि के बीच आयी इन (केवल) छः उक्तियों का संवाद ही इस बात का द्योतक बनता है कि इन दो समयावधि के बीच में कोई दृश्यावली रही होगी, जिसको संक्षेप करने के आशय से हटाया गया है॥ उसके प्रतिपक्ष में, बृहत्पाठ के पाठ्यांश में मध्याह्न, सायंकाल[6] और रजनी—इन तीनों समय-सूचक शब्दावली का प्रयोग सुरक्षित रहा है। देवनागरी पाठ में आयी हुई समय-दर्शक सूचनाओं की विसंगति ही उच्च स्तरीय पाठालोचना की दृष्टि से हमारे लिए संक्षेप-साधक प्रमाण बनती है, जो कृतिनिष्ठ आन्तरिक प्रमाण होने से सब को मान्य होना ही चाहिए। मूल पाठ में कटौती होने

का यह सटीक प्रमाण देनेवाले डॉ. एस. के बेलवालकर जी पहले विद्वान् थे।

तृतीयाङ्क के पाठ में किस प्रसंग को लेकर कटौती हुई है उसका प्रमाण भी उपलब्ध हो रहा है। जैसे कि, तृतीयाङ्क के आरम्भ में ही कहा गया है कि शकुन्तला प्रेमासक्त हुई है और वह अस्वस्थता का अनुभव कर रही है। दोनों सहेलियाँ विषादग्रस्त हैं और उसे पवन झल रही हैं। राजा शकुन्तला को देख कर सोचता है कि क्या यह आतपदोष हो सकता है कि जैसा मेरा मन सोच रहा है? यहाँ राजा "अथवा कृतं सन्देहेन" कह कर एक श्लोक में शकुन्तला का वर्णन करता हैः-*स्तनन्यस्तोशीरं शिथिलित-मृणालैकवलयं प्रियायाः साबाधं, किमपि कमनीयं वपुरिदम्।* इत्यादि॥ (3/6, यह श्लोक सभी वाचनाओं में स्वीकृत है।) इसमें कहा गया है कि शकुन्तला ने हाथ में पहना हुआ जो एक मृणाल-वलय है, वह "शिथिल हुआ" है। नाटक में जिसका भी निर्देश किया जाता है वह साभिप्राय, सप्रयोजन ही होता है—इस गृहीत नियम को स्मरण-पथ में रखते हुए सोचेंगे तो, इस मृणाल-वलय से जुड़ा हुआ कोई प्रसंग तृतीयांक में होना अपेक्षित है। और जब हम इसी अङ्क के उपान्त्य (3 / 23) श्लोक की ओर गति करते हैं तो उसमें निम्नोक्त तीन चीजों का निर्देश मिलता हैः-

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं,
क्लान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः।
हस्ताद् भ्रष्टमिदं बिसाभरणम् इत्यासज्यमानेक्षणो,
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाच्छक्नोमि शून्यादपि॥

शकुन्तला जिस पर लेटी थी वह पुष्पमयी शय्या, उसने अपने नाखूनों से लिखा मन्मथलेख, तथा उसके हाथ से निकल गया, गिर गया बिसाभरण, अर्थात् मृणाल-वलय! जिस मृणाल-वलय का निर्देश इस अङ्क के आरम्भ में आता है वही चीज अङ्क के अन्त भाग में भी उल्लिखित है। किन्तु इस देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में कहीं पर भी मृणाल-वलय से जुड़ा कोई प्रसंग मिलता ही नहीं है। इससे निःशङ्कतया स्पष्ट होता है कि दुष्यन्त शकुन्तला के हाथ से गिरा मृणाल-वलय उसको दो बार

पहनाता है ऐसा प्रसंग, जो बृहत्पाठ परम्परा की तीनों वाचनाओं में मिलता है, वह इन देवनागरी-दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में से हटाया गया है। देवनागरी और दाक्षिणात्य पाठ में संक्षेप किया गया है उसका यह दूसरा प्रकट पदचिह्न है, जिसके सामने हम गज-निमीलिका नहीं कर सकते हैं।

जब भी किसी नाटक को अल्प समयावधि में प्रस्तुत करने के आशय से उसमें कुत्रचित् संक्षेप किया जाता है तब कहाँ से कटौती की जाये, और कैसे प्रस्तुत पाठ के साथ पुनः अनुसन्धान किया जाये? यह भी समस्या होती है। अर्थात् संक्षेपीकरण का मार्ग प्रशस्त कैसे हुआ होगा यह भी प्रश्न तो है ही। क्योंकि कालिदास जैसे कविकुलगुरु की रचना में जो भी होगा वह निश्चित रूप से "पर्यायपरिवृत्त्यसह" के स्तरवाला ही होगा। फिर संक्षेप ही कैसे हो सकेगा? यह शङ्का बिल्कुल समीचीन है। लेकिन सूक्ष्मेक्षिका से देखने पर मालूम होता है कि महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान से प्रेरित होकर (मैथिली परम्परा में) किसी अज्ञात रसिक ने गान्धर्वेण विवाहेन वाला श्लोक प्रक्षिप्त कर दिया। इसी श्लोक के आगमन से ही, जो सहज सुन्दर प्रेमप्रसंग मूल (बृहत्पाठ परम्परा) में था उसको हटा कर नायक दुष्यन्त एक मुग्ध आरण्यक कन्या को सद्यो विवाह के लिए उकसाने में सफल होता है, ऐसा दिखाना सरल हो जाता है।

गान्धर्वेण विवाहेन वाला श्लोक प्रक्षिप्त है ऐसा किस आधार पर कहा जाता है? तो इस को समझने के लिए कथा-प्रवाह का पूरा सन्दर्भ बारिकी से देखना होगा। जैसा कि, तृतीयांक में प्रियंवदा और अनुसूया मृगबाल को उनकी माता के पास पहुँचाने का बहाना बना कर लतामण्डप से दूर चली जाती है। अब रंगमंच पर दुष्यन्त और शकुन्तला अकेले हैं। अब दुष्यन्त सखीजनों की भूमिका पर खड़ा है। मध्याह्न का समय होने से वह शकुन्तला को नलिनीदल से आर्द्र वायु का संचार करने का इच्छुक है, और शकुन्तला कहे तो उसके चरणों का संवाहन करने को भी तैयार है! किन्तु शकुन्तला माननीय व्यक्ति से ऐसी सेवा लेना उचित नहीं समझती है। अतः वहाँ से उठ कर चली जाती है। दुष्यन्त उसके पीछे चल पड़ता है और उसका पल्लू पकड़ कर रोकने की चेष्टा करता

है। शकुन्तला कहती है कि—पौरव, रक्ष विनयम्। इतस्ततः ऋषयः संचरन्ति॥ इस संवाद के बाद राजा की जो उक्ति है, उसकी मौलिकता संदेहास्पद हैः-

राजा : सुन्दरि, अलं गुरुजनाद् भयेन। न ते विदितधर्मा तत्रभवान् कण्वः खेदमुपयास्यति।
गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्योऽथ मुनिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चानुमोदिताः॥ 3 28॥
(दिशोऽवलोक्य) कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि। (शकुन्तलां हित्वा पुनस्तैरेव पदैः प्रतिनिवर्तते।)

शकुन्तला : (पदान्तरे प्रतिनिवृत्य साङ्गभङ्गम्) पोरव, अणिच्छापूरओ वि संभासणमेत्तएण परिचिदो अअं जणो ण विसुमरिदव्वो॥

यहाँ, लतामण्डप से बाहर निकल के जा रही शकुन्तला के पीछे दुष्यन्त भी चल पड़ता है तब उसको सावधान करने के लिए शकुन्तला ने "यहाँ वहाँ ऋषिमुनि लोग घूम रहे होगें" ऐसा कहा है। इस सन्दर्भ में दुष्यन्त कहता है कि गुरुजनों से भय रखने की आवश्यकता नहीं है, कण्व भी (तुझे प्रेमासक्त या विवाहित जान कर) खेद का अनुभव नहीं करेंगे। अर्थात् तेरे पर नाराज़ नहीं होगें। दुष्यन्त यहाँ विशेष में यह भी कहता है कि गान्धर्व-विवाह से विवाहित हुई बहुत सी मुनिकन्यायें (या राजर्षियों की कन्याएँ) है, जो (बाद में) पिताओं के द्वारा अनुमोदित (अभिनन्दित) भी की गई हैं। इस श्लोक पर किसी विद्वान् ने नुकताचीनी शायद नहीं की है। लेकिन सम्भव है कि किसी साहित्यरसिक की दृष्टि में, दुष्यन्त ने यहाँ शकुन्तला को गान्धर्व-विवाह के लिये उकसाया है—ऐसा भाव उठ सकता है। ऐसी संवित्ति मुखर हो कर सामने आये या न आये, लेकिन शकुन्तला जब कह रही है कि आसपास में ऋषि-मुनि घूम रहे होंगे, तब तो विनीत वर्ताव की ही अपेक्षा है। उससे विपरीत दुष्यन्त गुरुजनों से ड़र ने की कोई जरूरत नहीं है ऐसा समझाने का उपक्रम शुरू करे वह दुष्यन्त के धीरोदात्त चरित के अनुरूप नहीं है। अतः दुष्यन्त के मुख में रखा गया प्रथम वाक्य एवं "गान्धर्वेण विवाहेन" वाला श्लोक बीच में से हटाया जाए तो, जो रंगसूचना-पुरस्सर का अनुगामी वाक्य

है “(दिशोऽवलोक्य) कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि। (शकुन्तलां हित्वा पुनस्तैरेव पदैः प्रतिनिवर्तते।)”, वह बिल्कुल सही सिद्ध होता है। इसमें विचार-सातत्य भी है, और दुष्यन्त का लतामण्डप में वापस चला जाना भी शकुन्तला की उक्ति से सुसम्बद्ध है। महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान में दुष्यन्त गान्धर्व-विवाह के लिए बहुत उतावला हो गया है। उस मूल कथा में सुधार के लिये उद्यत हुए महाकवि के लिए प्रेम का उदात्त चित्र खींचना मुनासिब है, तो उसको अपनी कलम से गान्धर्व-विवाह का प्रस्ताव करा कर किसी मुग्धा मुनिकन्या को उकसाने की जरूरत नहीं थी। इसे, अर्थात् गान्धर्वेण विवाहेन वाले श्लोक को प्रक्षिप्त मानके, हटा देने से दुष्यन्त के उदात्त चरित की भी रक्षा होती है और शकुन्तला की उक्ति के साथ “कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि” जैसा दुष्यन्त का प्रतिभाव भी सुसंगत ठहरता है॥ कहने का तात्पर्य यही है कि शकुन्तला के लतामण्डप से बाहर चले जाने के बाद, दुष्यन्त भी जब वहाँ से बाहर आ जाता है तब “यहाँ वहाँ ऋषिमुनि लोग घूम रहे होगें” ऐसी प्रिया शकुन्तला की चेतावनी के साथ तो, “(दिशोऽवलोक्य) कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि।” का सन्धान ही मौलिक प्रतीत होता है।

यह श्लोक बंगाली, मैथिली, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य—इन चारों वाचनाओं में संचरित हुआ है। किन्तु उपर्युक्त सन्दर्भ में वह प्रक्षिप्त प्रतीत हो रहा है तो स्वाभाविक रूप से कोई भी पाठालोचक “किसी एक भी पाण्डुलिपि का क्या साक्ष्य मिलता है?” ऐसा प्रश्न हमसे पूछेगा ही। तो इस प्रश्न का उत्तर हाँ में है। ऑक्सफर्ड युनि. की बोडलीयन लाईब्रेरी से प्राप्त की गई पूर्वोक्त तीन शारदा पाण्डुलिपियों में एवं भूर्जपत्र (क्र. 192) पूणें, तथा श्रीनगर (क्र. 1435) की मातृकाओं में भी गान्धर्वेण विवाहेन वाला श्लोक नहीं है!! उसका न होना भी इसी बात को सर्वथा प्रमाणित करता है कि यह श्लोक प्रक्षिप्त ही है।[7] तथा इस श्लोक के “ताः” पद का अन्वय चतुर्थ-चरण में जाता है वह भी अनुष्टुप् की क्षति रूप है, जो भी कालिदास की रचना न होने का समर्थन करता है।

तीसरा ध्यातव्य बिन्दु यह है कि इस श्लोक के बाद जो दृश्यावली

प्रस्तुत होती है उसमें नायक-नायिका के बीच मृणालवलय पहनाने का प्रेमभरा जो सहचार है, एवं उसी के सिलसिले में पुष्परज से कलुषित हुई शकुन्तला की दृष्टि को स्वच्छ कर देने की दुष्यन्त की चेष्टावाला दृश्य, सही स्वरूप में मदनलेखादि के पूर्व प्रसंगों के अनुसन्धान में समुचित लगता है, जिसके आधार पर ही (बिना किसी तरह से उकसाये) दोनों का प्रेममिलन नैसर्गिक प्रतीत होता है।[8]

पहले यह कहा गया है कि मूल पाठ में कटौती की जाने के बाद कथा-प्रवाह की अक्षुण्णता बनाये रखना भी परम आवश्यक है। अतः यह भी गवेषणीय है कि बृहत्पाठ में से दो दृश्यों को हटा कर संक्षिप्त किये गये पाठ का पुनःसन्धान कहाँ पर कर लिया गया है? दोनों सहेलियाँ शकुन्तला को राजा के पास छोड़ कर रंगभूमि से बिदा लेती हैं। राजा शकुन्तला को गान्धर्व-विवाह का मार्ग सूचित करके पितृ-अनुमति के विचार से मुक्ति दिलवाता है, किन्तु शकुन्तला फिर भी सहेलियों की राय लेने का सोचती है। पहले देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं का इस क्षण का संवाद द्रष्टव्य है :

शकुन्तला : मुञ्च तावन्माम्। भूयोऽपि सखीजनमनुमानयिष्ये।

राजा : भवतु, मोक्ष्यामि।

शकुन्तला : कदा।

राजा : अपरिक्षतकोमलस्य यावत्, कुसुमस्येव नवस्य षट्पदेन।
अधरस्य पिपासता मया ते सदयं सुन्दरि, गृह्यते रसोऽस्य॥
(इति मुखमस्याः समुन्नयितुमिच्छति। शकुन्तला परिहरति नाट्येन)

नेपथ्ये : चक्रवाकवधुके, आमन्त्रयस्व सहचरम्। उपस्थिता रजनी।

यह श्लोक केवल देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में ही है। (बृहत्पाठ परम्परा में तो यहाँ एक अलग ही श्लोक है : जैसे कि, इदमुप्युपकृतिपक्षे सुरभि मुखं ते मया यदाघ्रातम्। ननु कमलस्य मधुकरः संतुष्यति गन्धमात्रेण॥) लघुपाठ परम्परा में ही मिलनेवाला यह श्लोक "मालभारिणी" छन्द[9] में लिखा गया है, जो गुजरात के हेमचन्द्राचार्य (11वीं

शतीं में) ने पहलीबार परिभाषित किया था। दूसरी ओर यह श्लोक बृहत्पाठ परम्परा में (काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली) है नहीं। इन दो कारणों से सिद्ध होता है कि संक्षेपीकरण के बाद जो अपेक्षित सन्धान करना था, वह इस नवीन छन्द में निबद्ध श्लोक से यहाँ पर किया गया है।

इस तरह से प्रस्तुत नाटक के पाठ्यांश में संक्षेप हुआ ही है उसके साधक (कृतिनिष्ठ आन्तरिक) प्रमाणों की चर्चा की गई है। अब बृहत्पाठ में मिल रहे दो दृश्यों, जिनको हटाया गया है, उसी पाठ्यांश की मौलिकता के साधक प्रमाणों की भी उपस्थापना करनी आवश्यक है। इस विषय की चर्चा प्रस्तुत नाट्यकृति में साद्यन्त प्रयुक्त की गई विशिष्ट नाट्यशैली के मानदण्ड से सिद्ध की जायेगी। नाट्य जैसे अभिनेय काव्यों की पाठालोचना में किसी भी पाठ्यांश में संक्षेप एवं प्रक्षेपादि, या पाठ्यांश की मौलिकता सम्बन्धी ऊहापोह पाण्डुलिपियों के साक्ष्य पर निर्भर नहीं होता है। पाठालोचक को उच्चतर समीक्षा के क्षेत्र में, बहुसंख्य पाण्डुलिपियों में क्या मिल रहा है या क्या नहीं मिल रहा है? इस दृष्टि का त्याग करके ऐसा तर्क प्रस्तुत करना है कि जिसमें अन्तःसाक्ष्य के रूप में कृतिनिष्ठ कुछ योजना से समर्थन उपलब्ध होता हो। इतनी सैद्धान्तिक पृष्ठभूमिका के साथ अनुगामी चर्चा रखी जाती है–

देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के तृतीयाङ्क में 24 (या 26) श्लोकों का विस्तार है। उसके प्रतिपक्ष में, बृहत्पाठ परम्परावाले अभिज्ञानशकुन्तल में 35 से लेकर 41 श्लोकों का विस्तार दिखता है। इस विस्तृत भाग में दो दृश्यों का संनिवेश किया गया है। जैसे कि, (क) रंगभूमि से सखियों का निष्क्रमण होने के बाद नायक-नायिका रंगमंच पर अकेले हैं। नायक शकुन्तला के हाथ से गिरे मृणाल-वलय को पहनाता है। और तत्पश्चात् (ख) दुष्यन्त शकुन्तला को वह मृणाल-वलय कैसा लगता है? ऐसा प्रश्न करता है, उसी क्षण पवन की लहर चलने पर उसके नेत्र में कर्णोत्पल की रज गिरती है। अब उसकी दृष्टि कलुषित होने पर दुष्यन्त अपने वदनमारुत से उसे निर्मल कर देता है। शकुन्तला के करीब आने पर दुष्यन्त को उसके अधरपान की इच्छा होती है, किन्तु शकुन्तला

मुख को घुमा लेती है। तब अचानक नेपथ्य से उक्ति सुनाई देती है कि हे चकवी, तुम अपने प्रिय सहचर से बिदा लेलो, रात्रि का आगमन हो गया है। रंगमंच पर गौतमी का आगमन होता है और वह शकुन्तला को लेकर चली जाती है, तब अङ्क समाप्त होता है। अब, इन दो दृश्यों की मौलिकता हमारी परीक्षा का विषय है।

देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में उपर्युक्त दोनों दृश्य मिलते नहीं हैं। लेकिन जो विद्वान् देवनागरी के पाठ में संक्षेपीकरण हुआ ही नहीं है ऐसा पूर्वाग्रह बना कर बैठे है वे ऐसा प्रश्न पूछ सकते हैं कि उपर्युक्त दोनों ही दृश्य मौलिक पाठ के रूप में इस नाट्यकृति में पहले से ही थे ऐसा कैसे सिद्ध हो सकेगा? तो तीसरे अङ्क के उपान्त्य श्लोक में जो बिसाभरण (अर्थात् लीलाभरण या मृणालवलय) का निर्देश आता है उससे ही सिद्ध होता है पहलेवाला दृश्य मूल में था। यदि शकुन्तला के हाथ में मृणाल-वलय पहनाने का प्रसंग कवि ने लिखा ही नहीं था तो फिर उपान्त्य श्लोक में वे शकुन्तला की जिन तीन चीजों का परिगणन दुष्यन्त के मुख से करवाते हैं उसमें बिसाभरण(= मृणालवलय) का उल्लेख ही नहीं करते। एवमेव, इस मृणालवलय का बार बार गिरना भी अवश्यंभावी था, क्योंकि इस अङ्क के आरम्भ में ही, जब शकुन्तला रंग पर प्रविष्ट हुई है तब से दुष्यन्त ने ही कहा है कि उसने अपने हाथ में एक मृणाल-वलय पहना है, जो शिथिल भी है।[10]

इस मृणाल-वलय का प्रसंग मूलगामी पाठ में होना एक अन्य आन्तरिक सम्भावना से भी समर्थित होता हैः- जिस लतामण्डप में दुष्यन्त-शकुन्तला का एकान्त मिलन होता है वहाँ आरम्भ में शकुन्तला लतामण्डप से बाहर चली जाती है। तब दुष्यन्त शकुन्तला के मणिबन्धन से गलित हुए मृणालवलय को देखता है, जिसको वह *"हृदयस्य निगडम् इव"* कहता है,[11] फिर उसको उठा लेता है और अपने गले लगाता है। उस वलय को वापस लेने के बहाने शकुन्तला लतामण्डप में जब पुनःप्रविष्ट होती है वहाँ प्रिया शकुन्तला को देखते ही दुष्यन्त सहर्ष बोलता हैः- *"अये, जीवितेश्वरी में प्राप्ता।"* इसके बाद, दुष्यन्त ने जब शकुन्तला के

हाथ में उसे पहनाया तब शकुन्तला के मुख से *"त्वरताम् त्वरताम् आर्यपुत्रः।"* ऐसा सम्बोधन निकल जाता है। कङ्कण-स्वरूप मृणाल-वलय पहनाने के अवसर पर शकुन्तला के मन में दुष्यन्त के लिये पतिभाव प्रकट हुआ हो यह अत्यन्त स्वाभाविक है। इस दृष्टि से, मृणाल-वलय प्रसंग में नायक-नायिका ने परस्पर जो "जीवितेश्वरी" और "आर्यपुत्रः" कहा है, उससे मालूम होता है कि इन दोनों के दिल में दाम्पत्य भाव प्रकट हुआ है। यह क्षण प्रेक्षकों को दिखाना जरूरी था। क्योंकि मुद्रिका मिल जाने के बाद अन्तःपुर की अन्य स्त्रियों के सामने दुष्यन्त के मुख से कदाचित् "गोत्र-स्खलन" हो जाता है, ऐसा षष्ठाङ्क में निरूपण आता है तो *(दाक्षिण्येन ददाति वाचमुचिताम् अन्तःपुरेभ्यो यदा, गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षिश्चिरम्। शाकु. 6,)* वह बिल्कुल निराधार है ऐसा नहीं लगता है।

किन्तु देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना के पाठ में तो यह मृणाल-वलय का प्रसंग नहीं है। अतः वहाँ षष्ठाङ्क में गोत्र-स्खलन का जब निर्देश आता है तब उसका कोई पूर्व-निर्दिष्ट आधार नहीं मिलता है। कहने का तात्पर्य यही है कि बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में मृणाल-वलय का प्रसंग है और उस प्रसंग के निमित्त से दोनों के चित्त में जो सहज दाम्पत्यभाव प्रकट हुआ था, उससे ही षष्ठाङ्क में दुष्यन्त से अनजान में होनेवाले गोत्र-स्खलन की स्वाभाविकता प्रतीतिकर बनती है। और इस तरह से, बृहत्पाठ में आया हुआ मृणाल-वलय का प्रसंग षष्ठाङ्क में आनेवाले गोत्र-स्खलन के निर्देश को उपकारक भी प्रतीत होता है।

बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं के तृतीयाङ्क में प्रक्षिप्त माने गये दूसरे प्रसंग की, अर्थात् शकुन्तला की दृष्टि पुष्परज से कलुषित होने पर दुष्यन्त उसे अपने वदन-मारुत से निर्मल कर देता है, उस प्रसंग की मौलिकता भी कृति-निष्ठ अन्तःसाक्ष्य से समर्थित होती है। यहाँ प्रथमतः यही बात विचारणीय है कि शकुन्तला की दृष्टि कलुषित होने जैसे किसी प्रसंग की हम अपेक्षा रख सकते हैं या नहीं? प्रथमाङ्क में वृक्षसेचन के दौरान परिश्रान्त हुई शकुन्तला का दुष्यन्त ने जो वर्णन किया है, इस

श्लोक में कहा गया है कि, *स्रस्तं कर्णशिरीषरोधि वदने घर्माम्भसां जालकं, बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः* (शाकु. 1-26, (राघवभट्ट, 2004) पृ. 47) अर्थात् शकुन्तला अपने कर्णों में शिरीष पुष्पों को लगाती थी। और इसी लिये षष्ठाङ्क में शकुन्तला का चित्र अंकित करते हुए दुष्यन्त ने फिर से कहा भी है कि–*कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे, शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्। न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे।* (शाकु. 6-18, राघवभट्ट, पृ. 213) इस तरह शकुन्तला अपने कानों में प्रसाधन के रूप में पुष्प लगाती थी, और इसी लिये कदाचित् उसके नेत्र में पुष्परेणु गिरने की सम्भावना (एवं नाटकीय अपेक्षा) तो थी ही। लेकिन यहाँ ऐसा प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या ऐसा कोई प्रसंग महाकवि ने ही अपने हाथों से लिखा होगा? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये उच्चतर समीक्षा को मान्य हो ऐसा कोई प्रमाण देना आवश्यक है : -

महाकवि कालिदास ने इस नाट्यकृति की दृश्यावली में सर्वत्र एक रूप के सामने दूसरा प्रतिरूप खड़ा करने की जिस नाट्यकला का साद्यन्त विनियोग किया है उसकी ओर सब का ध्यान आकृष्ट करने की जरूरत है। उदाहरण के रूप में,

(1) प्रथमाङ्क में पिनाकी स्वरूप दुष्यन्त का मालिनी नदी की उपत्यका में मृगया के लिए प्रवेश होता है। वैसे ही सप्तमाङ्क के आरम्भ में इन्द्रसखा दुष्यन्त मारीच के आश्रम में प्रवेश करता है। यहाँ प्रथमाङ्क में शिकारी दुष्यन्त का जो एक रूप प्रस्तुत किया था, उसका ही दूसरा प्रतिरूप दानवहन्ता के रूप में खड़ा किया गया है।

(2) द्वितीयांक में मृगया से विषण्ण और रोता हुआ विदूषक हमारे सामने आता है, तो षष्ठांक के आरम्भ में अकारण ताडित हो रहा दयनीय धीवर हमारे सामने खड़ा किया जाता है। दोनों दृश्य हास्य प्रेरक हैं और दोनों पात्र प्रेक्षकों की सहानुभूति प्राप्त करते हैं। अन्त में एक युवराज हो कर हस्तिस्कन्ध पर

आरूढ होता है, तो धीवर भी शूली से उतार कर हस्तिस्कन्ध पर आरोपित होने जैसा अकल्प्य सुख प्राप्त करता है।

(3) इसी अङ्क में राजमाताएँ पुत्रपिण्डपालन (पुत्रपिण्डपर्युपासन) व्रत कर रही हैं ऐसी खबर लेकर करभक आता है, तो उसके सामने षष्ठाङ्क में धनमित्र की विधवा निर्वृत्तपुंसवना है ऐसा सुना जाता है।

(4) राजा ने कनक-वलय पहना है, तो शकुन्तला ने मृणाल-वलय पहना है। दुष्यन्त अपनी भुजाओं पर उसको बार बार ऊपर उठाता है,[12] तो शकुन्तला का मृणाल-वलय भी बार बार नीचे गिर जाता है!

(5) प्रथमांक में दुष्यन्त भ्रमर की असूया करता हुआ उसके प्रतिस्पर्धी के रूप में सामने आता है, तो वही दुष्यन्त षष्ठाङ्क में भ्रमर का उपदेष्टा[13] एवं शास्ता[14] बन जाता है।

(6) तृतीयाङ्क के अन्त में प्रेमाविष्ट नायक को रंगभूमि से बाहर ले जाने के लिए यज्ञ में बाधा डालनेवाला राक्षसोपद्रव होता है, और राजा धनुष्य उठाके रंगभूमि से निष्क्रमण करता है। तथैव, षष्ठाङ्क के अन्त में भी विदूषक को किसी अज्ञात शोणितार्थी से बचाने के लिए विरहसंतप्त नायक धनुष्य उठा कर रंगभूमि से बाहर जाता है।

(7) प्रथमाङ्क में शकुन्तला के दुर्दैव का शमन करने एक ऋषि कण्व सोमतीर्थ की यात्रा पर दूर चले जाते हैं, तो चतुर्थाङ्क में दूसरे ऋषि दुर्वासा शकुन्तला के दुर्भाग्य का विधाता बन कर सामने आते हैं।

इस तरह महाकवि ने सम्पूर्ण कृति में एक रूप के सामने दूसरा प्रतिरूप (एक दृश्य के सामने दूसरा प्रतिदृश्य) खड़ा करने की स्पृहणीय नाट्य-शैली का मार्ग अपनाया है। यह शैली भी हमारे लिये कृति-निष्ठ अन्तःसाक्ष्य बनती है, और उसके आधार पर काश्मीरी, मैथिली और बंगाली वाचनाओं के तृतीयाङ्क में शकुन्तला की दृष्टि कर्णोत्पल रेणु से कलुषित

होने का जो प्रसंग वर्णित किया है उसका समर्थन किया जा सकता है। जैसे कि—तृतीयाङ्क में दुष्यन्त ने अपने वदन-मारुत से शकुन्तला की दृष्टि निर्मल कर दी थी—उसी एक दृश्य के सामने, षष्ठाङ्क में कवि ने दूसरा प्रतिदृश्य भी खड़ा किया है। मुद्रिका मिल जाने पर जब दुष्यन्त को शकुन्तला का पुनःस्मरण हो जाता है तब वह शकुन्तला का चित्राङ्कन करते हुए एक श्लोक बोलता हैः-

> कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी,
> पादास्तामभितो निषण्णचमरा गौरीगुरोः पावनाः।
> शाखालम्बित-वल्कलस्य च तरोर्निर्मातुम् इच्छाम्यधः,
> शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥ 6-17॥

इसमें कहा गया है कि मुझे (दुष्यन्त को) इस चित्र में बह रही मालिनी नदी की बालुका में बैठा एक हंस-मिथुन आकारित करना है। हिमालय की उपत्यका में बैठे चमरों के समूह को बनाना है। वृक्ष की डालियाँ पर वल्कल वस्त्र टाँगे हों, एवं उस वृक्ष के अधोभाग में कृष्णमृग के शृङ्ग पर अपना वाम-नेत्र खुजलाती हुई एक हरिणी भी चित्रित करने की चाहत हो रही है।—यहाँ *"कण्डूयमानां मृगीम्"* का जो चित्र बनाने की इच्छा प्रकट की गई है वह निरतिशय व्यञ्जना पूर्ण है। षष्ठाङ्क में वर्णित इस प्रसंग का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से तृतीयाङ्क में पुष्परज से कलुषित हुए शकुन्तला के नेत्रवाले प्रसंग के साथ ही है। वहाँ पर दुष्यन्त ने जब अपने वदन-मारुत से शकुन्तला की दृष्टि को निर्मल कर देने का प्रस्ताव रखा था, तब शकुन्तला ने कहा था कि मेरे मन में तुम्हारे लिये विश्वास नहीं है। किन्तु दुष्यन्त इस चित्र से व्यंजित करना चाहता है कि वह अब शिकारी के रूप में शकुन्तला को प्राप्त करना नहीं चाहता है। परन्तु हरिणी स्वरूपा शकुन्तला का "सगन्ध" और विश्वसनीय हरिण बनकर, शकुन्तला का जीवनाधार बनना चाहता है। दुष्यन्त ने तृतीयाङ्क के उसी प्रसंग को स्मरण-पट में रख कर एक प्रतिदृश्य के रूप में, यह *"कण्डूयमानां मृगीम्"* का चित्र बनाने की इच्छा प्रकट की है। इस तरह एक दृश्य के सामने दूसरा प्रतिदृश्य खड़ा करने की

जो नाट्य-शैली समग्र कृति में बार बार दिखाई देती है उसको तार्किक दृष्टि से आन्तरिक सम्भावना के रूप में स्वीकारना ही चाहिये। और इसके आधार पर शकुन्तला के नेत्र पुष्परज से कलुषित होने का जो प्रसंग है वह प्रक्षिप्त नहीं है, बल्कि सर्वथा मौलिक है–ऐसा स्वीकारना ही चाहिए।

एवमेव, सप्तमाङ्क में शकुन्तला दुष्यन्त को पूछती है कि इस दुःखभागी व्यक्ति की याद आपको कैसे आयी? तब दुष्यन्त कहता है कि पहले तुम्हारी आंसू-भीगी आँखों को पोंछने दो, बाद में अङ्गूठी कैसे मिली उसकी कहानी सुनाऊँगा। यहाँ पर फिर से शकुन्तला के अश्रु भरे नेत्रों का परिमार्जन करने[15] का जो निर्देश आया है वह भी एक रूप के सामने दूसरा प्रतिरूप खड़ा करने की नाट्यशैली का ही अनुमोदन एवं दृढीकरण करता है।

देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के मुख्य स्थान में, अर्थात् तृतीयाङ्क के पाठ में संक्षेपीकरण हुआ है इतना सयुक्तिक सिद्ध करने के बाद, अन्य अङ्कों में भी बृहत्पाठ की अपेक्षा से लघुपाठवाली वाचनाओं में कम-ज्यादा श्लोक मिल रहे हैं उसकी भी चर्चा करनी आवश्यक है। क्योंकि अल्प कालावधि में नाट्य-प्रस्तुति करने के लिए संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति शुरू होती है तब केवल एक ही अङ्क में तो कटौती नहीं की जाती है। अतः इस नाटक की अन्य कौन सी दृश्यावली में, तथा अन्य वर्णनात्मक श्लोकों में कहाँ कटौती की गई है वह भी विवेचनीय बिन्दु है। एवमेव, प्रतिलिपिकरण के दौरान या मंचन के अवसर पर मूल पाठ्यांश में न केवल अशुद्धियाँ ही प्रविष्ट होती हैं, किन्तु कदाचित् संक्षेप भी होता है, और प्रक्षेप भी होते हैं। अतः अभिज्ञानशकुन्तल में संक्षेपीकरण की चर्चा करने के साथ साथ प्रक्षेपों की चर्चा भी अविनाभाव सम्बन्ध से आगन्तुक रहेगी, किन्तु विस्तारभय से हम उसे श्लोकात्मक भाग पर्यन्त ही मर्यादित रखेंगे।

चतुर्थाङ्क में कन्या-विदाई का प्रसंग आलिखित है। शकुन्तला की बिदाई के समय आश्रमस्थित सभी पेड़-पौधे और पशु-पक्षी आदि संतप्त हैं। यहाँ पर अनुसूया कहती है कि इस आश्रम में ऐसा कोई नहीं है

जो तेरे विरह से दुःखी न हो। देख यह चक्रवाक की स्थिति ... इत्यादि। इस प्रसंग में केवल अनसूया की ही चक्रवाक पक्षी सम्बन्धी एक उक्ति मिलती है। रिचार्ड पिशेल के द्वारा सम्पादित बंगाली वाचना के पाठ में अनुसूया की मूल प्राकृत उक्ति इस तरह की है : "सहि, ण णो अस्समपदे अत्थि को वि चित्तवन्तो जो तए विरहीअन्तो अज्ज ण ऊसुओ ण किदो। पेक्ख,

पुडइणिवत्तन्तरिदं वाहरिदो णाणुवाहरेइ पिअं।
मुहउव्वूढमुणालो तइ दिट्ठिं देइ चक्काओ॥ 4-18॥

(सखि, न नः आश्रमपदे अस्ति कोऽपि चित्तवान् यः त्वया विरह्यमाणः अद्य न उत्सुकः कृतः। प्रेक्षस्व—

पुटकिनीपत्रान्तरितां व्याहृतः नानुव्याहरति प्रियाम्।
मुखोद्व्यूढमृणालः त्वयि दृष्टिं ददाति चक्रवाकः॥)"

बंगाली पाठ में अनुसूया के मुख में रखी चक्रवाक-सम्बन्धी यह एक ही उक्ति मिलती है। और जिसको सुन कर शकुन्तला ने कोई प्रतिक्रिया नहीं दी है। दूसरी ओर, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य पाठ में इस सन्दर्भ में शकुन्तला एवं अनसूया के द्वारा बोली गई दो उक्तियाँ मिलती हैं। जो निम्न स्वरूप में मिलती है, यहाँ शकुन्तला की उक्ति से आरम्भ हो रहा हैः-

शकुन्तला : हला, पश्य, नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरम् अपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारौति, दुष्करमहं करोमीति।

अनसूया : सखि, मा मैवम् मन्त्रय।
एसा वि पिएण विणा गमेइ रअणिं विसाअदीहअरं।
गरुअं पि विरहदुक्खं आसाबन्धो सहावेदि॥
(एषापि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम्।
गुर्वपि विरहदुःखम् आशाबन्धः साहयति॥)

यानि यहाँ पर (बंगाली वाचना में आयी हुई) अनुसूया की उपर्युक्त उक्ति को संक्षेप करने के आशय से देवनागरी में से हटाया गया है। और एक नयी उक्ति अनसूया के मुख में रखी गई है वह मिलती है।

किन्तु बंगाली वाचना में से शकुन्तला एवं प्रियंवदा की एक एक उक्ति का संक्षेप किया गया है। देवनागरी में अनसूया की पहली उक्ति हटाई गई है और (शकुन्तला की उक्ति के बाद) जो प्रियंवदा की उक्ति थी उसे अनसूया की उक्ति बनाकर रखी है। वस्तुतः चक्रवाक-पक्षी के सन्दर्भ में तीनों सहेलियों की एक एक उक्ति मूल में थी, जिसमें संक्षेप किया गया है, और उसकी जानकारी हम जब काश्मीरी वाचना की शारदा-पाण्डुलिपिओं में देखते हैं तब मिलती है। क्योंकि उसमें तीनों सहेलियों की तीन उक्तियोंवाला अखण्ड पाठ सुरक्षित रहा हैः-

अनसूया : सहि, ण सो अस्समपदे अत्थि को वि चित्तवन्तो जो तए विरहअन्तीए ण उस्सुओ किदो अज्ज। पेक्ख दाव,
पुडइणिवत्तन्तरिदं वाहरिदो णाणुवाहरेइ पिअं।
मुहउव्वूढमुणालो तइ दिट्ठिं देइ चक्काओ॥ 4-18॥
(सखि, न सः आश्रमपदे अस्ति कोऽपि चित्तवान् यः त्वया विरह्यमाणया न उत्सुकः कृतः अद्य। पश्य तावत्
पद्मिनीपत्रान्तरिताम् व्याहतः नानुव्याहरति प्रियाम्।
मुखोदूढमृणालः त्वयि दृष्टिं ददाति चक्रवाकः॥)।

शकुन्तला : (जनान्तिकम्) हला पेक्ख, नलिनीपत्तन्तरिदंपि सहअरं अदेक्खन्ती आदुरं चक्कवाई आरडइ। दुक्करं खु अहं करेमित्ति। (हला, पश्य, नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरम् अपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारटति, दुष्करं खलु अहं करोमीति।)

प्रियंवदा : सहि, मा एव्वं मन्तेहि। (सखि, मा मैवम् मन्त्रय।) एसा वि पिएण विणा गमेइ रअणिं विसूरणादीहं। गरुअं पि विरहदुक्खं आसाबन्धः सहावेदि॥
(एषापि प्रियेण विना गमयति रजनीं विसूरणादीर्घाम्।
गुर्वपि विरहदुःखम् आशाबन्धः साहयति॥)

जिस तरह से चक्रवाकी से सम्बद्ध तीनों उक्तियाँ काश्मीरी में सुरक्षित रही हैं वैसे ही मैथिली वाचना में भी ये तीनों सुरक्षित रही हैं, और हम तक पहुँची भी हैं।[16] (जिसका उल्लेख डॉ. बेलवालकर जी ने नहीं किया

है[17]।) यद्यपि चक्रवाक की उक्तियों में कटौती हुई है इसकी ओर सब से पहले ध्यान आकृष्ट करनेवाले मूर्धन्यविद्वान् श्री एस. के. बेलवालकर जी ही थे। (निसर्ग कन्या शकुन्तला, 1962 (वि. सं. 2019)) उन्होंने शकुन्तला की एक "निसर्ग-कन्या" के रूप में पहचान प्रस्थापित करके ऐसी अपेक्षा व्यक्त की है कि शकुन्तला जब पतिगृह की ओर प्रस्थान कर रही है तब भले ही सहेलियों ने एवं पिता कण्व ने दुर्वासा के शाप की जानकारी शकुन्तला को न दी हो, किन्तु प्रकृति-समस्त में से किसी वनस्पति ने या पशु-पक्षी ने क्यूँ शकुन्तला को इस शाप के सन्दर्भ में सावधान नहीं किया? यही एक बड़ी समस्या है। ऐसा कुछ होना न केवल अपेक्षित था, अनिवार्य भी था। काश्मीरी वाचना में, चक्रवाकवाले प्रसंग में यह आकारित किया गया है। किन्तु दुर्भाग्य से बंगाली एवं देवनागरी वाचनाओं में कुल तीन उक्तियों में से एक एवं दो उक्तियाँ ही हम तक संचरित हो कर आई हैं। यदि काश्मीरी वाचना की (तथा मैथिली वाचना की) पाण्डुलिपियाँ प्राप्त करके देखा जाए तो तीनों उक्तियोंवाला पूर्ण संवाद, जो उपर्युक्त अवतरण में दिया है वह हम तक संचरित होकर आया ही है। चक्रवाक के इस प्रसंग में (तीनों संवादों के द्वारा) शकुन्तला को दुष्यन्त की ओर से नकारात्मक प्रतिभाव ही मिलेगा और शकुन्तला को कुछ कालावधि तक पुनर्मिलन की प्रतीक्षा करनी होगी ऐसा व्यंजित किया गया है।

श्री बेलवालकर जी के शब्दों में देखें तो–''यहाँ पर पूरी घटना शकुन्तला को यह समझाने के लिए लाई गई है कि आगे तुम्हारे भाग्य में क्या बदा है? चकवी पुकारती है किन्तु चक्रवाक उत्तर नहीं देता, क्योंकि उत्तर न देने के कारणों पर उसका कोई वश नहीं है, उसका हृदय शकुन्तला के वियोग से भरा हुआ है। इसी प्रकार शीघ्र ही शकुन्तला भी पुकारेगी और दुष्यन्त भी उसका उत्तर नहीं देगा। अनसूया अपनी सखी को सान्त्वना देती है और वह विश्वास के साथ सान्त्वना दे भी सकती थी क्योंकि उसके हाथ में शाप का अन्त करानेवाली अँगूठी तो थी ही। इसीलिए ठीक इस घटना से अगले संवाद में ये सखियाँ शकुन्तला को अँगूठी का स्मरण करा देती हैं। दूसरी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि कण्व ने अपने

जिस शोक को प्रकट नहीं होने दिया उसी को चक्रवाक ने एक प्रकार के दैवी परिज्ञान से समझकर शकुन्तला को भावी विपत्ति और दुःख की चेतावनी दे दी।[18] "इस उच्च स्तरीय पाठालोचना से यह सुदृढ हो जाता है कि बंगाली वाचना में और देवनागरी वाचना में संचरित होकर जो पाठ हम तक पहुँचा है वह प्रकृत सन्दर्भ में संक्षिप्त किया गया पाठ है।

सामान्यतया तो देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में ही संक्षेप के पदचिह्न मिलते हैं। लेकिन बंगाली वाचना के पाठ में भी प्रस्तुत सन्दर्भ में संक्षेप हुआ है ऐसा सिद्ध होता है। (इस विषय की चर्चा डॉ. दिलीपकुमार ने नहीं की है।)

अभिज्ञानशकुन्तल का पाठ पञ्चविध वाचनाओं में संचरित होकर हम तक पहुँचा है। उन सब में तीसरे अङ्क के पाठ में जो सब से बडा विवादास्पद भाग था उसकी चर्चा हो गई। किन्तु इसके साथ साथ पूरे नाटक में आये हुए अन्य श्लोकों के सन्दर्भ में भी व्यापक विमति प्रवर्तमान है। निम्नोक्त श्लोक-सरणी देखने से मालूम होता है कि प्रत्येक वाचना में श्लोक-संख्या कम-ज्यादा मिल रही है। तो वह भी संक्षेप या प्रक्षेप का ही परिणाम होगा। अब किस दृष्टि से इस संक्षेप एवं प्रक्षेप को पकड़े जा सकते हैं उसकी चर्चा की जाती है :-

	बृहत्पाठ परम्परा में			**लघुपाठ परम्परा में**	
अङ्क	**काश्मीरी**	**मैथिली**	**बंगाली**	**देवनागरी**	**दाक्षिणात्य**
1	30	33	33	30	31
2	19	19	19	18	18
3	35	40	41	24	24
4	26	26	24	22	22
5	33	34	32	32	32
6	34	37	37	32	32
7	36	36	35	34	35
योग	213	225	221	191	193

यहाँ पर विभिन्न वाचनाओं में जो कम-ज्यादा श्लोक संख्या दिख रही है वह ज्यादा तौर पर वर्णनात्मक श्लोकों को लेकर ही है। लेकिन यहाँ अमुक श्लोक "कालिदासीय काव्य-स्वरूप" में लिखा गया है या नहीं लिखा गया है? ऐसे स्वाभिप्रायों से प्रेरित होकर उसकी मौलिकता निर्धारित नहीं करनी चाहिए। क्योंकि उसमें आत्मलक्षिता प्रविष्ट होनी अनिवार्य है, जो विवाद का घर है। अतः इस नाटक में जहाँ पर भी "अपि च" एवं "अथवा" जैसे निपातों का विनियोग करके दो दो, अथवा तीन-चार श्लोकों को प्रस्तुत किये है उनकी परीक्षा पर ध्यान केन्द्रित करना व्याकरणनिष्ठ रहेगा।

प्रस्तुत पाँचों वाचनाओं के तुलनात्मक अभ्यास से ऐसा मालूम होता है कि "अपि च" एवं "अथवा" जैसे निपातों से बांधे गये दो दो श्लोकों में ही ज्यादातर संक्षेप एवं प्रक्षेप की लीला खेली गई है। अतः शाकुन्तल में प्रयुक्त इस समुच्चयार्थक "अपि च" के प्रयोग का स्वारस्य सर्वप्रथम गवेषणीय बनता है। उदाहरण के रूप में भ्रमरबाधा प्रसंग को हम लेते हैं: यहाँ पर बंगाली एवं मैथिली वाचना में "अपि च" से सम्बद्ध किये गये दो श्लोक हैं। :-

''**राजा**–(सस्पृहम्)

यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते, ततस्ततः प्रेरितवामलोचना।
विवर्तितभ्रूरियमद्य शिक्षते भयादकामापि हि दृष्टिविभ्रमम्॥ 1-22॥

अपि च–(सासूयमिव)

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करं व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वम् अधरं
वयं तत्त्वान्वेषान् मधुकर, हतास्त्वं खलु कृती॥ 1-23॥''

इन शब्दों से वर्णित भ्रमरबाधा प्रसंग में, पहले (22) श्लोक में भ्रमर से संत्रस्त हो रही शकुन्तला का चित्र खींचा गया है।[19] तत्पश्चात् दूसरे (23) श्लोक में शकुन्तला के मुखारविन्द पर घूम रहे ईर्ष्याजनक भ्रमर का चित्र खींचा गया है।[20] यहाँ एक ही दृश्य की द्विपार्श्वी रमणीयता

को दो अलग अलग श्लोकों में वर्णित करने की आवश्यकता है। अतः कालिदास ने यहाँ समुच्चयार्थक "अपि च" का प्रयोग करके इन दोनों को परस्पर बांधा है। नायक के द्वारा भ्रमरबाधा प्रसंग की प्रथम क्षण में नायिका के लोचन का सौन्दर्य प्रेक्षणीय है, और इसी लिये कवि ने भी "सस्पृहम्" ऐसी रंगसूचना लिखी है। दूसरे क्षण में, नायक के मन में भ्रमर के प्रति प्रतिस्पर्धी का भाव जाग उठता है, इस लिए उस भाव को भी अभिव्यक्त करने के लिए "अपि च" से दूसरे श्लोक का अवतार किया जाता है। और वहाँ पर "सासूयम्" ऐसी रंगसूचना दी जाती है। यहाँ दोनों श्लोकों में दृष्टिकोणों का ही भेद होने से उसमें पुनरुक्ति का कोई अवकाश ही नहीं है। अतः दो श्लोकों से प्रस्तुत हुआ यह वर्णन मूलगामी पाठ हो सकता है, जो बंगाली एवं मैथिली वाचना में संचरित होता रहा है। लेकिन समय-मर्यादा की बाधा से पीडित सूत्रधारों ने उन दोनों में से पहलेवाले श्लोक को हटा दिया होगा। परिणामतः देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचना की पाठपरम्परा ने केवल चलापाङ्गां वाला श्लोक ही सुरक्षित रखा है।

बंगाली वाचनानुसारी चतुर्थांक के पाठ में दूसरे स्थान पर एक श्लोक का जो संक्षेप मिलता है वह इस तरह का हैः-शकुन्तला पतिगृह की ओर प्रस्थान कर रही है तब (बंगाली वाचनानुसारी चतुर्थांक के पाठ में) इस तरह का संवाद हैः-शकुन्तला कण्व को पूछती है कि मैं पति के घर जा रही हूँ, लेकिन पिताजी आपका विरह कैसे सह पाऊँगी? तब पिता कण्व श्लोक 4-22 से उत्तर देते हैं कि कुलीन व्यक्ति के घर में गृहिणी पद प्राप्त होने के बाद तूँ बहुविध कार्यकलाप में व्यस्त हो जायेगी और तेरे अङ्क में पुत्र का आगमन हो जाने के बाद तो सुख ही सुख होने से तूँ मेरे विरह से उत्पन्न होनेवाले दुःख को भूल जायेगी। इतना सुनने के बाद शकुन्तला पिता के चरणों में प्रणाम करती है (ऐसी रंगसूचना है)। अर्थात् बंगाली में कण्वमुनि एक ही श्लोक बोलते हैं। किन्तु इस सन्दर्भ का काश्मीरी एवं मैथिली पाठ निम्नोक्त है, जिसमें कण्व दो श्लोक बोलते हैं—

कण्व : *वत्से,*

शकुन्तला : कधं तादस्स अङ्कादो परिब्भट्ठा मलअपव्वदुम्मूलिदा विअ चन्दणलदा देसन्तरे जीविदं धारइस्सं। (इति रोदिति) (कथं तातस्याङ्कात् परिभ्रष्टा मलयपवनोन्मूलिता इव चन्दनलता देशान्तरे जीवितं धारयिष्ये॥)

कण्व : वत्से, किमेवं कातरासि।

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे, विभवगुरुभिः कृत्यैरस्य प्रतिक्षणमाकुला।

तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं, मम विरहजं न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि॥ 4-22॥

अपि च, इदमवधारय—

यदा शरीरस्य शरीरिणश्च पृथक्त्वमेकान्तत एव भावि।
आहार्ययोगेन वियुज्यमानः परेण को नाम भवेद् विषादी॥ 4-23॥

शकुन्तला : (पितुः पादयोः पतित्वा) ताद वन्दामि।

यहाँ श्लोक 22 के नीचे, "अपि च" निपात से बाँधा गया एक श्लोक—23 दिख रहा है, जो केवल काश्मीरी एवं मैथिली वाचना के पाठ में ही उपलब्ध होता है। बंगाली, देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में वह नहीं मिलता है। (तथा डॉ. एस. के. बेलवालकर जी के द्वारा सम्पादित अभिज्ञानशाकुन्तल में भी वह श्लोक नहीं मिलता है, किन्तु) ऑक्सफर्ड लाईब्रेरी आहि में सुरक्षित पाँच शारदा पाण्डुलिपियों में यह श्लोक "अपि च" निपात से अवतारित किया गया है। अतः विचारणीय है कि क्या "अपि च" के विनियोग से दूसरा श्लोक काश्मीरी-मैथिली में प्रक्षिप्त किया गया होगा? या फिर वह मौलिक होते हुए भी बंगाली, देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं में से हटाया गया है। यहाँ पूर्वधारणा के रूप में मान लिया जाए कि मूल पाठ में पहलेवाला एक ही श्लोक रचा गया था। अब, पहले श्लोक 22 में शकुन्तला को पिता की याद नहीं आयेगी उसके बहुत प्रतीतिकारक कारण पेश किये गये है। फिर भी यह चिन्त्य

तो है ही कि पुत्री को ससुराल में कितना भी सुख मिल जाए तो भी क्या वह अपने पिता को भूला सकती है? सब का अनुभवजन्य उत्तर यही है कि ढेर सारे सुख में भी पुत्री अपने पिता को कदापि नहीं भूला सकती है। अतः प्रश्न होगा ही कि क्रान्तद्रष्टा महाकवि ने यहाँ सर्वजनानुभव-विरुद्ध क्यों लिखा है। क्या सचमुच में शकुन्तला सुखातिशय में भी पिता कण्व को भुला देगी? वृद्ध पिता के स्वास्थ्यादि को लेकर कोई चिन्ता उसे नहीं सताती रहेगी। इस प्रश्न का एक ही उत्तर सभी रसिकों के मन में होगा कि शकुन्तला अपने पिता को हरगिज़ नहीं भूल सकती है। यह बात कण्व भी जानते होंगे, अतः यहाँ उनको कुछ अधिक कहने की आवश्यकता होगी। यदि मूल पाठ में पहलेवाला एक ही श्लोक था ऐसी पूर्वधारणा को छोड़ कर, काश्मीरी और मैथिली वाचना में आया हुआ दूसरा श्लोक भी मूल में होगा ऐसा स्वीकारते हैं तो उपर्युक्त क्षति का विसर्जन होता है।

प्रस्तुत चर्चा में पहले कहा गया है कि इस नाट्यकृति में एक श्लोक के बाद "अपि च" से अवतारित दूसरे श्लोक में प्रवर्तमान दृश्य या विचार का दूसरा पहलू रखा जाता है तो वह दूसरा श्लोक मौलिक होगा। क्योंकि समुच्चयार्थक "अपि च" का प्रयोग तभी हो सकता है कि जब प्रस्तुत विचार का दूसरा पहलु भी सम्मीलित करना हो। इस दृष्टि से सोचा जायेगा तो पहले श्लोक में शकुन्तला को ससुराल में सुख मिलने पर वह पिता को भूल जायेगी ऐसा कहा जाता है। तत्पश्चात् दूसरे ही श्लोक में कहा जाता है कि इन ऐहिक सुखों के बीच में भी शकुन्तला के हृदयाकाश में पिता के वार्धक्य को लेकर सदैव चिन्ता विद्यमान रहनेवाली है। तो उसका निरसन करने के लिए क्रान्तद्रष्टा कालिदास ने ऋषि कण्व से निम्नोक्त दूसरा श्लोक कहलाया हैः-

अपि चेदमवधारय–

यदा शरीरस्य शरीरिणश्च पृथक्त्वमेकान्तत एव भावि।
आहार्ययोगेन वियुज्यमानः परेण को नाम भवेद् विषादी॥ 4-23॥

शकुन्तला : ताद वन्दामि। (पितुः पादयोः पतति।)

अर्थात् कण्व ने शकुन्तला को आश्वासन देते हुए "अपि च" से अवतारित 23 वें श्लोक से यह भी कह दिया है कि शरीर और शरीरी का पृथक्त्व अवश्यंभावी है। जैसे कोई नट अपनी पहनी हुई मुकुटादि आहार्य चीजों का त्याग करते समय दुःखी नहीं होता, (वैसे ही कल कण्वमुनि के देहावसान की खबर मिले तो भी शकुन्तला को दुःखी नहीं होना चाहिए।) यहाँ "अपि च" का प्रयोग यथार्थ सिद्ध होता है। अतः काश्मीरी और मैथिली वाचना में दृश्यमान यह दूसरा श्लोक मौलिक होने में संदेह नहीं रहता है। उपर्युक्त दो श्लोकोंवाला काश्मीरी पाठ, जो पहले मैथिली पाठ में संक्रान्त हुआ होगा वह वहाँ पर सुरक्षित रहा है। लेकिन तीसरे स्तर पर उसे अन्य तीन वाचनाओं में से हटाया गया होगा।

इसी तरह से "अपि च" से बांधे गये श्लोकों में प्रक्षेप होने की भी सम्भावना होती है। जिसका उदाहरण चतुर्थाङ्क के आरम्भ में आये चार श्लोकों में मिलता है। यहाँ पर 1. यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनाम्।, 2. अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती। 3. कर्कन्धूनाम् उपरि तुहिनं। और 4. पादन्यासं क्षितिधरगुरोः। ऐसे चार श्लोकों को "अपि च'', "अपि च" करके प्रस्तुत किये है। किन्तु प्रभातवेला का समय नापने के लिए झोंपड़ी से बाहर निकला शिष्य (जब स्नान-ध्यान सब कुछ बाकी है तब) चार चार श्लोकों में प्रभात का वर्णन करे वह चिन्त्य है। पहले दो श्लोकों में व्यंजना से शकुन्तला का भावि जीवन पतन की ओर जा रहा है वह सूचित जरूर करता है, लेकिन (क) उसमें पुनरुक्ति है। तथा (ख) उसमें प्राकरणिक अर्थ व्यंजित होते हुए भी वह निश्चित रूप से अप्रासंगिक तो है ही। एवं (ग) "अपि च" के प्रयोग का जो पूर्वोक्त स्वारस्य है वह इन पहले दो श्लोकों में घटित नहीं होता है॥ अब तीसरे चौथे श्लोकों का विचार किया जाए तो उसमें "अपि च" के प्रयोग का स्वारस्य घटित होता है। शिष्य पहले कर्कन्धूनाम् वाले श्लोक से अपने सामने स्थित वनस्पति एवं मयूर की अङ्गडाई का अवलोकन करे, तत्पश्चात् चौथे श्लोक में, दृष्टि उठाकर सामनेवाले आकाश में अस्त होता हुआ चन्द्रमा देखे तो उसमें द्विपाश्र्वी दृश्य का निरीक्षण प्रस्तुत हो रहा है इस लिए उसमें

पुनरुक्ति भी नहीं है। तथा ऐसे वर्णन में ही प्रासंगिकता भी झलकती है। सही स्वरूप में तो तीसरे और चौथे श्लोक में ही प्रभात का वर्णन मिलता है। अतः जहाँ "अपि च" के प्रयोग से किसी दृश्य की द्विपार्श्वी रमणीयता वर्णित नहीं होती है वहाँ प्रक्षेप का होना सर्वथा सम्भव है।

कालिदास के काव्यों में "अथ वा" निपात का विनियोग भी परीक्षणीय है। व्याकरण की दृष्टि से पहले सोचें तो "अथ" का अर्थ प्रारम्भ होता है, एवं "वा" से विकल्प या पक्षान्तर दिखाया जाता है। जहाँ दोनों की सहोपस्थिति है वहाँ नये पक्ष का आरम्भ प्रस्तुत करने का खयाल होता है। कालिदास जब ऐसे "अथ वा" निपात का प्रयोग करते हैं तो वहाँ केवल नये पक्षान्तर की प्रस्तुति ही नहीं होती है, वहाँ नये, लेकिन अभीष्ट हो ऐसे नये पक्षान्तर की प्रस्तुति की जाती है। उदाहरण के रूप में, इस नाटक में कण्वाश्रम में प्रविष्ट हुआ दुष्यन्त बोलता है कि, *इदमाश्रमद्वारम्। यावत् प्रविशामि। (प्रविश्य, निमित्तं सूचयन्) शान्तमिदमाश्रमपदं, स्फुरति च बाहुः, कुतः फलमिहास्य। अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र॥* (अभि. शाकु. 1-15) कालिदास कथाप्रवाह में जहाँ पर भी अभीष्ट पक्षान्तर को उपस्थापित करना चाहते हैं वहाँ "अथ वा" निपात का विनियोग करते हैं। इस स्वारस्य को याद रखेंगे तो हम अभिज्ञानशकुन्तल नाटक के श्लोकों में कहाँ संक्षेप हुआ है वह जान सकेंगे।

"अथवा" निपात से बांधे गये दो श्लोकों में जहाँ संक्षेप-लीला खेली गई है उसका उदाहरण नीचे दिया गया हैः- (बंगाली वाचना के पाठ में) शकुन्तला के वल्कल के लिए निम्नोक्त संवाद-शृंखला प्रस्तुत होती हैः-

राजा : (आत्मगतम्) कथमियं सा कण्वदुहिता शकुन्तला। (सविस्मयम्) अहो असाधुदर्शी तत्रभवान् कण्वो य इमां वल्कलधारणे नियुङ्क्ते।
इदं किलाव्याजमनोहरं वपु-
स्तपःक्लमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया
शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति॥ 1-17॥

भवतु, पादपान्तरितो विश्वस्तां तावदेनां पश्यामि। (इत्यपवार्य स्थितः)

शकुन्तला : हला, अणुसूए, अदिपिणद्धेण एदिणा वक्कलेण पिअंवदाए दढं पीडिद म्हि। ता सिढिलेहि दाव णं। (अनुसूया शिथिलयति), (सखि अनुसूये, अति पिनद्धेनैतेन वल्कलेन प्रियंवदया दृढं पीडितास्मि। तत् शिथिलय तावदेनम्।)

प्रियंवदा : (विहस्य) एत्थ दाव पओहरवित्थारइत्तअं अत्तणो जोव्वणारम्भं उवालहसु।

(अत्र तावत् पयोधरविस्तारयितृकमात्मनो यौवनमुपालभस्व।)

राजा : सम्यगियमाह

इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना स्कन्धदेशे
स्तनयुगपरिणाहाच्छादिना वल्कलेन।
वपुरभिनवमस्याः पुष्यति स्वां न शोभां
कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्रोदरेण॥ 1-18॥

अथ वा काममप्रतिरूपमस्य वयसो वल्कलं न पुनरलङ्कारश्रियं न पुष्णाति। कुतः सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति। इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥ 1-19॥

बंगाली वाचना के पाठ में उपर्युक्त तीनों श्लोक मिलते हैं। (टीकाकार चन्द्रशेखर ने भी इन पर टीका लिखी है।) किन्तु राघवभट्ट द्वारा जिस पर टीका लिखी गई है उस देवनागरी वाचना में दो ही (पहला और तीसरा) श्लोक है। (अर्थात् इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना वाला श्लोक देवनागरी में नहीं मिलता है) अतः चर्चा करनी आवश्यक हो जाती है कि बंगाली पाठ्यांश में उपरि स्थित दूसरा श्लोक प्रक्षिप्त है या फिर देवनागरी पाठ में उसका संक्षेप हुआ है? जैसा कि पहले कहा गया है कालिदास जब एक विचार की प्रस्तुति करते हैं तो वहाँ तर्क की दृष्टि से प्रतिपक्ष में भी कोई विरोधी, किन्तु अभीष्ट विचार प्रस्ताव के योग्य होगा तो उसको तुरन्त "अथवा" निपात से अवतारित कर ही देते हैं। उदाहरण के रूप में–क्व सूर्यप्रभवो

वंशः, क्व चाल्पविषया मतिः। इत्यादि (रघुवंशम् 1, 2, 3) लिखने के बाद तो, काव्यसर्जन के लिये उद्यत हुए कवि को उस कविकर्म से विरत ही हो जाना चाहिये। लेकिन हमारे कवि यहाँ तुरन्त "अथवा" निपात का प्रयोग करते हुए पक्षान्तर को प्रस्तुत कर देते हैं कि—अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।

मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥ (रघुवंशम् 1-4)

इस तरह से, सूर्यवंश अतिमहान् होते हुए भी उनके द्वारा रघुवंश का वर्णन कैसे सम्भव है वह लिख देते हैं।[21]

(बंगाली पाठ के अनुसार) शकुन्तला की सहेलियों के ऐसे उपर्युक्त संवाद को सुन कर वृक्ष के पीछे खड़े दुष्यन्त ने दो (18 एवं 19) श्लोकों का उच्चारण किया है। और इन दोनों के बीच में "अथवा" निपात का विनियोग किया है। श्लोक—18 में पहले कहा गया है कि स्तन-युगल के विस्तार को वल्कल से बाँधा गया है, जिससे शकुन्तला का अभिनव शरीर अपनी निजी शोभा को नहीं बढ़ाता है। जैसे कि पाण्डु पर्णों के अन्दर बांधे गये पुष्प शोभा नहीं देते हैं। इतना कह देने के बाद नायक को अपने विचार में रहा एक सूक्ष्म दोष भी दिखाई देता है। अभी जो कहा गया है उसका मतलब तो यही होगा कि शकुन्तला के सौन्दर्य को निखारने के लिए वल्कल नहीं, किन्तु कुछ अच्छे वस्त्र होने चाहिये। नायक तुरन्त अपने वाग्दोष को सुधारने के लिए, (स्वोक्तिम् आक्षिपति—अथवेति।) "अथ वा" शब्द का प्रयोग करता हुआ, इस सन्दर्भ में एक नया पक्षान्तर प्रस्तुत करता है कि शकुन्तला के वल्कल भी उसकी शोभा नहीं बढ़ाते हैं ऐसा नहीं है। क्योंकि जो मधुर आकृतिवाले लोग होते हैं उनको तो सब कुछ अच्छा ही लगता है।

इस तरह से पूरे नाटक में, जहाँ जहाँ पर अमुक विचार को प्रस्तुत करने के बाद पक्षान्तर में दूसरा विचार भी कहना तर्क की दृष्टि से अनिवार्य लगता है तो कवि ने वहाँ "अथवा" का प्रयोग किया है। अर्थात् "अथवा" निपात से अवतारित किये दो दो श्लोकों का जो भी सन्दर्भ है वह मौलिक होने की सम्भावना बहुत है। तथा देवनागरी (एवं दाक्षिणात्य)वाचना के

पाठ के संक्षिप्त करनेवालों ने ऐसे "अथवा" निपात से जूड़े दो दो श्लोकवाले सन्दर्भों को ही कटौती करने के लिए प्रायः पसंद किया है॥ राघवभट्ट के द्वारा स्वीकृत पाठ में उपर्युक्त श्लोक—18 इसी कारण से नहीं मिलता है। तथा "अथवा" से शुरू होनेवाली (बंगाली वाचना के पाठ की) वाक्य-रचना भी बदल दी गई है। इस तरह से देवनागरी में इदमुपहितसूक्ष्मग्रन्थिना। श्लोक का न होना संक्षेपीकरण का परिणाम है ऐसा सिद्ध होता है।

उच्चतर समीक्षा का निष्कर्ष : (1) अनेक बहिरंग प्रमाणों से सिद्ध होता है कि बृहत्पाठ परम्परा प्राचीनतर है। (2) उसमें भी शारदा-पाण्डुलिपियों में संचरित हुई काश्मीरी वाचना का पाठ प्राचीनतम प्रतीत होता है। (3) देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के तृतीयाङ्क के पाठ में संक्षेप के दो असंदिग्ध पदचिह्न दिख रहे हैं। (4) काश्मीर की शारदा-पाण्डुलिपियों में गान्धर्वेण विवाहेन श्लोक का न होना अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है। बृहत्पाठ की रंगसूचनाओं से भी यह सिद्ध होता है कि यह श्लोक प्रक्षिप्त है। इस एक प्रक्षिप्त श्लोक ने शाकुन्तल नाटक के मूल पाठ में दो तरह से क्षति पहुँचाई है : (क) शकुन्तला को मृणाल-वलय पहनाना एवं शकुन्तला के नेत्रकलुषित होने का जिसमें निरूपण है वैसे दो दृश्यों की कटौती का मार्ग प्रशस्त किया, (और लघुपाठ परम्परा का जन्म हुआ) तथा (ख) यह श्लोक मैथिली से बंगाली पाठ में भी गया है। जिसके कारण उनमें सुरक्षित रहा नैसर्गिक प्रेम का चित्र प्रदूषित भी हो गया। (5) इस नाटक में साद्यन्त प्रयुक्त हुई रूप-प्रतिरूप की नाट्यशैली ही आन्तरिक प्रमाण बनती है, जिससे बृहत्पाठ परम्परा के दो अधिक दृश्यों की मौलिकता प्रमाणित होती है। (6) "अपि च'', एवं "अथवा" की यथार्थता परखने से अन्यान्य श्लोकों के सन्दर्भ में खेली गई संक्षेप-प्रक्षेपलीला निश्चित की जाती है। (7) प्राचीनतम सिद्ध होनेवाली काश्मीर की शारदा-पाण्डुलिपियों के साक्ष्य से एवं कृतिनिष्ठ आन्तरिक प्रमाणों से परिपुष्ट होनेवाली उच्चतर समीक्षा से एक "अधिकृत पाठ" तैयार हो सकेगा। (9) ऐसे अधिकृत पाठ में आविष्कृत हुए बृहत्पाठ को लेकर इस कृति की अभिनव साहित्यालोचना

की जायेगी तो सर्वथा नवीन काव्यार्थ अभिव्यक्त होगा, और वह अपूर्व रसानुभव करायेगा।

सन्दर्भ

1. यद्यपि उन्होंने अपने अन्य लेख में निर्देश किया है उनके पास भूर्जपत्र पर लिखी हुई एक शारदा-पाण्डुलिपि थी, जो डॉ. ब्युल्हर को 1875 को काश्मीर से मिली थी। द्रष्टव्य–निसर्ग कन्या शकुन्तला। (शोध-आलेख), कालिदास ग्रन्थावली, अनु. सीताराम चतुर्वेदी, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, 1964, पृ. 66
2. ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी की बोडलीयन लाईब्रेरी में संगृहीत 1247 एवं 159 क्रमांक की दो पाण्डुलिपियाँ।
3. SACONTALA; OR, *THE FATAL RING:* AN INDIAN DRAMA. By CALIDAS. TRANSLATED FROM THE ORIGINAL SANSCRIT AND PRACRIT. by Sir William Jones (1789) [online version prepared by FWP, January 2004]
4. पाण्डुलिपियों में नायक के नाम ही दुष्मन्त, दुष्वन्तादि पाठभेद मिलते हैं। किन्तु महाभारत में तो दुःषन्त ऐसा ही मिलता है, जो कालिदास के समक्ष रहा होगा। अतः उसे मूलगामी पाठ मानना चाहिए।
5. A chance remark made by that acute French scholar, Professor Sylvain Le'iv, in his epoch-making work, *Le The'atre Indien*, note. 1 to page (Append ice, page 37), set me, however, on the track, and I Believe that it is now possible to arrive at a text of the scene neither too long, which retains only the dramatically essential elements, ... See : S'ringaric Elaboration in S'aakuntala act-3, by S.K. Belvelkar, Pub. In the Indian Studies in Honor of C.R. Lanman, Harvard Univ. Press, 1929, pp. 187-192.
6. राजा–सुन्दरि, त्वं दूरमपि गच्छन्ती हृदयं न जहासि मे। दिनावसानच्छायेव पुरोमूलं वनस्पतेः॥ 3-29
7. डॉ. रिचार्ड पिशेल, डॉ. बेलवालकर एवं डॉ. दिलीप कुमार काञ्जीलाल ने इस गान्धर्वेण विवाहेन श्लोक के सन्दर्भ में पाठालोचन के नाम पर कुछ भी टिप्पणी नहीं की है। (द्रष्टव्य–A Reconstruction of the S'akuntalam, (p. 68)
8. यहाँ कोई कहेगा कि सप्तमांक में दुष्यन्त ने स्वयं अपने विवाह को "गान्धर्व-विवाह" नाम दिया है। जैसे कि–इमाम् आज्ञाकरीं वो गान्धर्वेण विवाहविधिनोपयम्य कस्यचित् कालस्य बन्धुभिरानीतां स्मृतिदौर्बल्यात् प्रत्यादिशन्नपराद्धोस्मि। तो इस

वाक्य को देखकर कैसे कहेंगे कि प्रकृत श्लोक प्रक्षिप्त ही है? इसका समाधान यह है कि किसी विवाह को गान्धर्व विवाह शब्द से परिभाषित करना एक बात है, और गान्धर्वविवाह शब्द का उपयोग करके किसी नारी को विवाह के लिए सद्यः उत्तेजित करना—वह दूसरी बात है। दुष्यन्त ने इस शब्द का विनियोग करके नायिका को उकसाया है।

9. ससजाः प्रथमे पदे गुरु चेत् सभरा येन च मालभारिणीयम् इति राघवभट्टः। (पृ. 111)
10. स्तनन्यस्तोशीरं प्रशिथिलमृणालैकवलयम्, प्रियायाः साबाधं तदपि कमनीयं वपुरदिम्। (3-10)
11. इस श्लोक को वर्द्धमान ने गणरत्नमहोदधि (12वीं शती) में उद्धृत किया है।
12. अनतिलुलितज्याघाताङ्कान्मुहुर्मणिबन्धनात् कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते॥ (अ. शा. 3-15)
13. एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि। (अ. शा. 6-22)
14. बिम्बाधरं दशसि चेत् भ्रमर प्रियायास्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम्॥ (अ. श. 6-23)
15. **राजा**—उद्धृतविषादशल्यः कथयामि। मोहान्मया सुतनु पूर्वमुपेक्षितस्ते यो बाष्पबिन्दुरधरं परिबाधमानः। तं तावद् आकुटिलपक्ष्मविलग्नमद्य कान्ते प्रमृज्य विगतानुशयो भवामि॥ (अ. श. 7-25)
16. द्रष्टव्य—मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा से प्रकाशित श्रीरमानाथ झा द्वारा संपादित—अभिज्ञानशकुन्तलम्, पृ. 75।
17. लेकिन चक्रवाक सम्बन्धी जो तीन उक्तियाँ काश्मीरी में होने के साथ साथ मैथिली में भी मिल रही है वह उसी बात की साक्षी दे रहा है कि शाकुन्तल की उपलब्ध पाठपरम्परा काश्मीरी वाचना में से पहले मैथिली वाचना में गई होगी। अथवा ये दोनों पाठ समान-पूर्वज से प्रवर्तित हुआ हो सकता है। और तदनन्तर ही वह पाठ बंगाली में गया होगा।
18. निसर्ग कन्या शकुन्तला—शीर्षकवाला आलेख, जो कालिदास-ग्रन्थवली, (तीसरा खण्ड, समीक्षा निबन्ध, पृ. 59 से 70), अनुवादन—सीताराम चतुर्वेदी ने अलीगढ़ से 1962 में प्रकाशित किया है वह द्रष्टव्य है।
19. यह श्लोक वंशस्थविल वृत्त में लिखा गया है।
20. यह श्लोक शिखरिणी वृत्त में लिखा गया है।
21. टीकाकार चन्द्रशेखर ने ऐसे सन्दर्भों के लिए लिखा है कि—स्वोक्तिम् आक्षिपति—अथवेति।
22. कालिदास अकादेमी एवं विक्रम युनिवर्सिटी, उज्जयिनी द्वारा आयोजित कालिदास-समारोह (24-29 नवम्बर, 2012) में प्रस्तुत शोध-आलेख।

(ट) अभिज्ञानशकुन्तला के पाठविचलन की आनुक्रमिकता[1]

भूमिका : अभिज्ञानशाकुन्तल शीर्षक से सुप्रसिद्ध नाटक न केवल संस्कृत वाङ्मय की अद्वितीय शोभा है, वह विश्वनाट्यसाहित्य का भी बहुमूल्य रत्न है। यह नाटक नाट्यतत्त्व और काव्यतत्त्व जैसी उभयविध दृष्टि से आकर्षक है। इन दोनों में भी काव्यतत्त्व इतना अधिक हृद्य और सुन्दर है कि इस नाटक की साहित्यशास्त्रीय समीक्षा करने में ही विद्वज्जगत् रममाण रहता है। परन्तु इस नाटक का जो देवनागरी पाठ प्रचलित हुआ है उसकी नाटकीयता के सन्दर्भ में परीक्षा करने के लिए कोई उद्यत होगा तो उसे मालूम होगा कि यह प्रचलित पाठ तो निश्चित रूप से रंगावृत्ति ही है! क्योंकि इस पाठ में जो रंसूचनायें हैं वह विसंगतता से भरी पड़ी हैं। अतः इस नाटक के काव्यतत्त्वीय पक्ष को लेकर जो पाठान्तर दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उसकी अपेक्षा से नाट्य-तत्त्वीय पक्ष से जुडे पाठभेदों की पाठालोचना अनुपेक्ष्य है। यदि इस दिशा में कोई नाट्य-रसिक प्रवृत्त होगा तो आज प्रचलित हुआ देवनागरी वाचना का जो पाठ है वह बहुशः परिवर्तित एवं संक्षिप्त किया गया है यह बात तुरंत समझ में आयेगी। तथा अन्ततो गत्वा, इस नाटक के मंचन का इतिहास भी दृश्यमान होने लगेगा।

अभिज्ञानशाकुन्तल इस शीर्षक से जो नाटक सुप्रसिद्ध है उसकी देवनागरी एवं दाक्षिणात्य नामक दो वाचनायें उपलब्ध होती हैं। अभिज्ञानशकुन्तला शीर्षक से काश्मीर की वाचना का पाठ शारदालिपि में लिखी हुई पाण्डुलिपियों में सुरक्षित है। तथा अभिज्ञानशकुन्तलम् जैसे तीसरे शीर्षक से प्रचलित हुआ पाठ मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में

संचरित हुआ है। इस तरह, एक ही नाटक की पञ्चविध वाचनाओं को देख कर भी किसी को भी स्वाभाविकतया "इन में से मूलपाठ कहाँ छिपा हुआ होगा?" उसकी जिज्ञासा होती है। अद्यावधि जिन विद्वानों ने इस विषय में प्रारम्भिक रूप से जो कुछ सोचा है उसमें (1) "अमुक वाचना का पाठ काव्यत्वपूर्ण या व्यञ्जनापूर्ण है इस लिए वही वाचना मौलिक हो सकती है।'', अथवा (2) "अमुक वाचना का पाठ बृहत्काय है, क्योंकि उसमें अश्लीलांशों का प्रक्षेप हुआ है। ऐसा पाठ कदापि मौलिक नहीं हो सकता।" अथवा, (3) "उपलब्ध हो रही अनेक पाण्डुलिपियों में से जो पाण्डुलिपि सब से प्राचीनतम काल में लिखी गई हो, उसमें सुरक्षित रहे पाठ को सर्वाधिक श्रद्धेय मान कर उसका स्वीकार करना चाहिए''। अथवा (4) "बहुसंख्यक पाण्डुलिपियों में, जो पाठ उपलब्ध होता हो, एवमेव जो पाठ बहुसंख्यक टीकाकारों के द्वारा समादृत हो उस पाठ को मान्यता दी जानी चाहिए''। अथवा (5) "सामान्यतया किसी भी कृति का लघुपाठ ही पहले आकारित होता है, और उसमें से कालान्तर में बृहत्पाठ बनाया जाता है। अतः इस नाटक का लघुपाठ जिसमें संचरित हुआ है वही, यानि देवनागरी वाचना ही मौलिक है।" अथवा (6) "इस नाटक की पाँचों वाचनाओं में से जहाँ जहाँ सब से अधिक नाट्यक्षम पाठ मिलता हो उसका चयन करके, उसका पुनर्गठन करना चाहिए।" ऐसे बहुविध विकल्प प्रस्तुत किये गये हैं। कालिदास के इस नाटक की पाठसंशुद्धि करने के लिए सोचे गये इन मार्गों का अनुगमन किया जाए तो उनसे हमारे सामने अभिज्ञानशाकुन्तल के बहुविध संस्करण आयेंगे। और उनमें से एक भी संस्करण सर्वसम्मत नहीं होगा। क्योंकि इन मार्गों में एक या दूसरे प्रकार का तर्कदोष अन्तर्निहित है। अतः इन सभी विचारधाराओं से हट कर, प्रस्तुत परामर्श में तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक जैसी उभयविध दृष्टि का उपयोग किया गया है। जिसमें वस्तुलक्षी बन कर सब से पहले यह निश्चित किया जायेगा कि उपर्युक्त पाँचों वाचनाओं में से प्राचीनतम वाचना कौन सी है? तथा अन्यान्य वाचनाओं में उपलब्ध हो रहे पाठान्तरों का तुलनात्मक अभ्यास करके, उसमें संनिहित पाठविचलन की आनुक्रमिकता उजागर की

जायेगी। जिससे इस नाटक के मौलिक पाठ की गवेषणा का मार्ग प्रशस्त होगा।

[1]

बृहत्पाठवाली तीन वाचनाओं का पुरोवर्तित्व

उपर्युक्त पाँचों वाचनाओं में से जो काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचनायें हैं उन सब में इस नाटक का बृहत्पाठ मिलता है। तथा जो देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनायें हैं उन दोनों में लघुपाठ संचरित हुआ है। अतः प्रथम दृष्टि में तो लघुपाठवाली वाचनायें ही अधिक श्रद्धेय या मौलिक होने की सम्भावना सोची जा सकती है। पाठालोचना का एक अधिनियम यह भी है कि बृहत् एवं अलंकृत पाठ की अपेक्षा से जो लघुपाठ होता है वही मूलपाठ होने की सम्भावना होती है। किन्तु यह अधिनियम अभिज्ञानशाकुन्तल जैसी एककर्तृक रचना को लागु नहीं किया जा सकता। यह अधिनियम तो महाभारत जैसे प्रोक्त प्रकार के (अनेक-कर्तृक) ग्रन्थों के लिए ही सही है। नाट्यकृतियों के लिए सोचा जाए तो, उनमें तो कविप्रणीत बृहत्पाठ में से सूत्रधारों के द्वारा अमुक अंशों की कटौती करके, मंचन के योग्य लघुपाठ को (जिसको हम "रंगावृत्ति" कहते हैं) तैयार करने की प्रवृत्ति ही प्रायः देखी जाती है। अतः प्रस्तुत सन्दर्भ में उपर्युक्त अधिनियम मार्गदर्शक नहीं बन सकता है॥ वर्तमान समय में "अभिज्ञानशाकुन्तल" शीर्षक से जो देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचना का पाठ प्रचलित है, उसका स्वरूप भी इसी तरह का, यानि रंगावृत्ति स्वरूप का ही है। इस बात के प्रमाण प्रमुखतया तीसरे अङ्क में उपलब्ध हैं। तद्यथा (क) शकुन्तला की दोनों सहेलियाँ मृगबाल के पास जाती है और रंगमंच पर दुष्यन्त-शकुन्तला अकेले है तब शकुन्तला उस लतामण्डप से बाहर जाने का उपक्रम करती है। उसको दुष्यन्त कहता है कि "उत्सृज्य कुसुमशयनं ... कथमातपे गमिष्यसि।" यानि इस दृश्य का समय मध्याह्न का है। लेकिन देवनागरी वाचना में इस उक्ति के बाद, नायक-नायिका के छोटे छोटे केवल छह वाक्य आते हैं, और तुरंत नेपथ्य-उक्ति से कहा

जाता है कि "चक्रवाकवधूके, आमन्त्रयस्व प्रियसहचरम्, उपस्थिता रजनी।" यहाँ मध्याह्न और रात्रि के बीच का समय व्यतीत हुआ है ऐसा प्रतीत होने के लिए पर्याप्त संवाद शृंखलामाला का नितान्त अभाव है। प्रोफेसर एस. के. बेलवालकर जी को यहाँ लगता है कि जो एकान्त-मिलन मध्याह्न में अभी शूरू ही हुआ था, वहाँ केवल छह वाक्यों में ही रात्रि कैसे उपस्थित हो गई? यहाँ समयनिर्देशन की दृष्टि से जो सुसंगति का अभाव है उससे अनुमित होता है कि यहाँ पर कुछ पाठ्यांश में कटौती हुई है।

(ख) इसी दिशा में आगे चल कर, हमने इसी तीसरे अङ्क के उपान्त्य श्लोक[2] की ओर विद्वज्जगत् का ध्यान आकृष्ट किया है कि नाटक के मूलपाठ में हुई कटौती के पदचिह्न इस श्लोक में प्रकट रूप से अङ्कित हो गये हैं। जैसा कि, यहाँ दुष्यन्त ने शकुन्तला की तीन चीजों का परिगणन करवाया है। 1. पुष्पमयी शय्या, 2. मदनलेख और 3. उसके हाथ से निकल गया बिस तंतु का वलय (जिसको बिसाभरण या मृणालवलय कहा गया है।) इनमें से पहले दो पदार्थों से जुडे प्रसंग तो इस तीसरे अङ्क में दृश्यमान हुए हैं, [अङ्क के आरम्भ में ही कहा गया है कि शकुन्तला कामज्वर से पीडित होने के कारण कुसुमास्तरणवाले शिलापट्ट पर लेटी हुई है, तथा प्रियंवदा के कहने पर उसने कमलदल पर अपने नाखून से मदनलेख लिखा है]। किन्तु इस श्लोक में जो बिसाभरण का निर्देश मिलता है उसके साथ जुड़ा हुआ कोई दृश्य देवनागरी वाचना में मिलता ही नहीं है।[3] मंचन की दृष्टि से नाटक में किसी भी चीज का निर्देश अहेतुक नहीं हो सकता है। इससे भी अनुमित होता है कि इस तीसरे अङ्क में कोई दृश्य पहले रहा होगा, जो किसी अज्ञात रंगकर्मी के द्वारा हटाया गया है। दुष्यन्त ने शकुन्तला के हाथ में एक मृणालवलय (बिसाभरण) पहनाया है और उसको देखते समय ही शकुन्तला के नेत्र में पुष्पों की रज गिरने से उसकी दृष्टि कलुषित होती है। तब दुष्यन्त उसके नेत्र को अपने वदनमारुत से परिमार्जित कर देता है। ऐसे दो दृश्यों का निरूपण करनेवाला पाठ्यांश काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में विद्यमान है।

(ग) प्रथमांक के भ्रमरबाधा प्रसंग में देखा जाए तो (राघवभट्ट के

द्वारा स्वीकृत देवनागरी वाचना के पाठ में) राजा के मुख में “चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीम्।” श्लोक को “सस्पृहम्” जैसी रंगसूचना के साथ रखा गया है। तथा इस पाठ में “यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते” वाला दूसरा श्लोक मिलता ही नहीं है। यहाँ नायक के मन में भ्रमर के प्रति ईर्ष्याभाव उदित हुआ है ऐसा दिखाना अभिप्रेत है। अतः राजा ने जो “चलापाङ्गां दृष्टिं” वाला श्लोक प्रस्तुत किया है, उसको तो “सासूयम्” जैसी रंगसूचना के साथ होना अनिवार्य था। किन्तु देवनागरी वाचना के पाठ में संक्षेपीकरण करते समय यह बात किसी अज्ञात पाठशोधक के ध्यान में नहीं आई। इस लिए “सस्पृहम्” जैसी रंगसूचना के साथ जो “यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते” वाला श्लोक मूल में था, उस श्लोक की कटौती की जाने के बाद भी वह “सस्पृहम्” रंगसूचना यथावत् बनी रही! तथा वह अनुगामी “चलापाङ्गां दृष्टिं” वाले श्लोक के साथ जुड़ गई!! (रंगसूचना सम्बन्धी ऐसी विसंगति की ओर किसी भी पाठसम्पादक का अद्यावधि ध्यान गया ही नहीं है!!!) इससे सिद्ध होता है कि वर्तमान देवनागरी वाचना के पाठ में अनेक स्थानों पर संक्षेप किया गया है।

(घ) वर्तमान देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में स्त्री वर्ग एवं विदूषकादि की प्राकृत उक्तिओं में महाराष्ट्री प्राकृत का ही ध्वनिरूप बहुशः दिखाई दे रहा है, इस तरह की प्राकृत कालिदास के समय में विद्यमान ही नहीं थी। इसके प्रतिपक्ष में, यानि काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में शौरसेनी प्राकृत का ध्वनि रूप सुरक्षित रह पाया है। भरत मुनि ने स्त्री पात्रों के लिए शौरसेनी (और मागधी) का विधान किया है, अतः कवि कालिदास के द्वारा भी वही शौरसेनी का विनियोग किया गया होगा ऐसा मानना विसंगत नहीं होगा।

यदि दाक्षिणात्य तथा तदनुसारिणी देवनागरी वाचना में संक्षेप हुआ है, तथा शौरसेनी प्राकृत का स्वरूप ही परिवर्तित किया गया है ऐसा सप्रमाण सिद्ध होता है तो स्वाभाविक क्रम में यह स्वीकारना होगा कि जिसमें इस नाटक का बृहत्पाठ सुरक्षित रहा है वैसी काश्मीरी, मैथिली एवं बंगाली वाचनाएं ही पुरोगामिनी वाचनाओं के रूप में प्रचलित रही

होगी। निष्कर्षतः कहा जाए तो इस नाटक का लघुपाठ जिसमें संचरित हुआ है वे दोनों वाचनाओं का जन्म उत्तरवर्ती काल में हुआ है। तथा बृहत्पाठ जिसमें संचरित हुआ है वैसी तीनों वाचनाएं पुरोगामिनी हैं।

[2]

काश्मीरी वाचना की प्राचीनतमता

अब कालिदास के इस नाटक की बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में से कौन सी वाचना प्राचीनतम है? यह विचारणीय बिन्दु है। क्योंकि पाठालोचना का प्रथम लक्ष्य यही होता है कि प्राचीन से प्राचीनतर, एवं प्राचीनतर से प्राचीनतम पाठ की पहले गवेषणा की जाये। अतः लघुपाठ की अपेक्षा से यदि बृहत्पाठवाली तीनों वाचनायें पुरोवर्तिनी है, तो उन तीनों में से कौन सी वाचना सब से पुरानी है? यह सोचना चाहिए। क्योंकि किसी एक वाचना की प्राचीनतमता निश्चित हो जाने के बाद ही अन्यान्य वाचनाओं में पाठविचलनक्रम की आनुक्रमिकता निर्धारित हो सकती है। वर्तमान में उपलब्ध हो रही इस नाटक की पाण्डुलिपियाँ नेवारी, मैथिली, बंगाली, शारदा, नन्दिनागरी, देवनागरी, ग्रन्थ, तेलुगु आदि लिपियों में लिखी हुई मिलती हैं। लिपियों के इतिहास की दृष्टि से सोचा जाए तो शारदा लिपि ही प्राचीनतम है। अतः उस शारदालिपि में लिखी हुई पाण्डुलिपियों में संचरित हुआ पाठ ही प्राचीनतम हो सकता है। मतलब कि काश्मीरी वाचना का पाठ, जो कि शारदा लिपि में लिखी हुई पाँच पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रहा है, उसीको प्राचीनतम वाचना माननी चाहिए। क्योंकि ई. स. 850 में लिखा हुआ राजा मेरु वर्मा का एक शिलालेख शारदा लिपि में उत्कीर्ण किया गया है। अतः शारदा लिपि का प्रचलन 6 या 7वीं शती में भी होगा, तो आज उपलब्ध हो रही शारदा पाण्डुलिपियों में जो पाठ परम्परागत रीति से संचरित होकर हम तक पहुँचा है, उसको हमें 7वीं शती का तो मानना ही चाहिए। यद्यपि केवल लिपियों के पुरातत्त्वीय प्रमाण से ही किसी एक वाचना की प्राचीनतमता घोषित करना पर्याप्त नहीं है। इस लिए इस नाटक की जो पाँच शारदा पाण्डुलिपियाँ मिल रही हैं, उनमें

से कुछ पाठान्तरों की ओर विद्वज्जगत् का ध्यान आकृष्ट करना चाहेंगे। जिनसे इस वाचना की प्राचीनतमता का दृढीकरण हो सकता है। तद्यथा,

(क) काश्मीरी वाचना में, तृतीयांक के आरम्भ में रंगसूचना है : "ततः प्रविशति कामयानावस्थो राजा"। किन्तु मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में इसी सन्दर्भ में "ततः प्रविशति मदनावस्थो राजा" है। देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में यहाँ "ततः प्रविशति कामयमानावस्थो राजा है।" इन पाठान्तरों में से कौन सा पाठान्तर सब से प्राचीनतम होगा? आचार्य वामन ने काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में "कामयानशब्दः सिद्धोऽनादिश्चेत्। (5-2-82)" इस सूत्र से लिखा है कि कामयान शब्द (व्याकरण से सिद्ध करना मुश्कील है, तथापि) यदि वह अनादि काल से चला आ रहा है तो उसे सिद्ध शब्द ही मानना होगा। काशी के मूर्धन्य आलंकारिक पं. श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी जी ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है कि स्वयं कालिदास ने रघुवंश (19-50) में भी इस शब्द का प्रयोग किया है। अतः मैथिली, बंगाली या देवनागरी वाचनाओं में जो पाठान्तर मिलते हैं वे सभी परवर्ती काल के निश्चित होते हैं। केवल काश्मीरी वाचना में सुरक्षित रहा "कामयान" शब्द ही प्राचीनतम सिद्ध होता है। इस तरह से काश्मीरी वाचना में "कथमप्युन्नमितं, न चुम्बितं तु। (3-32)" श्लोक आता है। इसका मैथिली एवं बंगाली वाचना में जो पाठ है वह "कथमप्युन्नमितं, न चुम्बितं तत्। (3-37, एवं 3-38)" ऐसा है। इस तरह के दो पाठभेदों में से कौन पाठ प्राचीनतम होगा? यह प्रश्न है। तो आनन्दवर्धन ने निपातों की व्यंजकता के बारे में चर्चा करते हुए इस श्लोक का उद्धरण दिया है, जिसमें काश्मीरी वाचना के अनुसार ही "कथमप्युन्नमितं, न चुम्बितं तु।" पाठ रखा गया है। आनन्दवर्धन का सर्वमान्य समय 840-890 ई. स. अनुमाना गया है। इस दूसरे बहिरंग प्रमाण से भी सिद्ध होता है कि काश्मीरी वाचना में संचरित हुआ पाठ ही प्राचीनतम है।

(ख) तृतीयांक में, दुष्यन्त मध्याह्न की वेला में प्रिया शकुन्तला को ढूँढ़ता हुआ मालिनी नदी के तट पर पहुँचता है। लतावलय में सखियों के साथ शकुन्तला को देख कर उसके मुख में से वाक्य निकलता है :

"अये लब्धं मया नेत्रनिर्वाणम् ।" यह पाठ सभी वाचनाओं में एक समान है। केवल काश्मीरी वाचना में "अये लब्धं मया नेत्रनिर्वापणम् ।" ऐसा पाठभेद मिल रहा है। पाण्डुलिपियों के प्रतिलेखन की सुदीर्घ परम्परा में, किसी भी लिपिकार के द्वारा "निर्वापण" या "निर्वाण" लिखने में अनवधान से या दृष्टिभ्रम से एक के स्थान में दूसरा शब्द स्थानापन्न हो सकता है। (इसी को अनुलेखनीय सम्भावनायुक्त पाठभेद कहा जाता है।) अतः इन दोनों में से कौन सा पाठभेद मूल में होगा यह निश्चित करना कठिन है। किन्तु इसी अङ्क के आरम्भ में, कण्वाश्रम का शिष्य प्रियंवदा को आकाशोक्ति से पूछता है कि अरे, तुम किसके लिए यह उशीरानुलेप और नलिनीपत्र ले जा रही हो? तब प्रियंवदा उसका प्रत्युत्तर देती है कि "आतपलङ्घनाद् बलवदवस्था शकुन्तला, तस्याः शरीरनिर्वापणायेति।" यहाँ पर सभी वाचनाओं में एक समान "शरीरनिर्वापणायेति" ऐसा ही पाठ है, इसमें अन्य कोई पाठान्तर नहीं है। एवमेव, आगे चल कर दुष्यन्त की उक्ति है कि "स्मर एवं तापहेतुर्निर्वापयिता स एव जातः।" उसमें भी "निर्वापयिता" शब्द ही है। इस तरह से इसी कृति के आन्तरिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि काश्मीरी वाचना में बहुशः मौलिक पाठ सुरक्षित रहा है। अतः इस वाचना को ही प्राचीनतम होने का गौरव प्राप्त हो रहा है।

(ग) शकुन्तला प्रियंवदा को कहती है कि "हला, अलं वः अन्तःपुरविरह पर्युत्सुकेन राजर्षिणा उपरुद्धेन।" यह वाक्य काश्मीरी वाचना को छोड़ कर अन्य सभी वाचनाओं में एक समान है। काश्मीरी वाचना में इस वाक्य का स्वरूप ऐसा है : "हला, अलं वः अन्तःपुरविहारपर्युत्सुकेन राजर्षिणा उपरोधेन।" यहाँ पर भी किसी भी लिपिकार के द्वारा पाण्डुलिपियों के प्रतिलेखन के दौरान विरह के स्थान पर विहार हो सकता है, अथवा विहार के स्थान में विरह हो सकता है। अतः मूल में कौन सा पाठ कवि ने अपने हाथों से लिखा होगा? उसका निर्णय करना मुश्कील है, एवं विवादास्पद भी है। तथापि प्रकृत में पूर्वापर सन्दर्भ में कहे गये वाक्यों को बारिकी से देखा जाए तो अनसूया की उक्ति महत्त्वपूर्ण है। उसने कहा है कि वयस्य, बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते। यथा नः सखी बन्धुजनशोचनीया

न भवति, तथा निर्वाहय। इसमें राजाओं को बहुसंख्यक वल्लभाओं वाले कहे गये हैं, इसको यदि ध्यान में लिया जाए तो "बहु" शब्द का "विहार" शब्द के साथ ही सामञ्जस्य ठीक बैठता है। मतलब कि काश्मीरी वाचना के पाठ में ही आन्तरिक सम्भावनापूर्ण पाठ संचरित होकर सुरक्षित स्वरूप में हम तक पहुँचा है। अतः काश्मीरी वाचना के पाठ को प्राचीनतम मानना प्रमाणसिद्ध है।

(घ) चतुर्थांक में, शकुन्तला पिता कण्व से पूछती है : कथमिदानीं तातेन विरहिता करिसार्थपरिभ्रष्टा करेणुकेव प्राणान् धारयिष्ये। (इति रोदिति)। यह काश्मीरी वाचना का पाठ है। लेकिन मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में एक नया ही उपमान रखा गया है। जैसे कि, कथमिदानीं तातस्य अङ्कात् परिभ्रष्टा मलयपर्वतादुन्मूलिता इव चन्दनलता देशान्तरे जीवितं धारयिष्यामि॥ इन दोनों पाठान्तरों की उच्चतर समीक्षा की जाए तो मालूम होगा कि कण्वाश्रम हिमालय की गोद में अवस्थित था। अतः वहाँ शकुन्तला के सामने करिसार्थ का होना ही भौगोलिक सत्य है। उस स्थान में चन्दनलता का होना सम्भव ही नहीं है। इस तरह सोचा जायेगा तो काश्मीरी वाचना का पाठ प्राचीनतम एवं मौलिकता के नजदीक सिद्ध होता है।

(ङ) षष्ठांक में, राजा दुष्यन्त अपनी परिचारिका मेधाविनी के द्वारा शकुन्तला का चित्र मंगवाता है। उस चित्र को देख कर विरही राजा अपने मन के भावों को व्यक्त कर रहे थे। तब सूचना मिलती है कि मेधाविनी के हाथ में से वर्तिका-करण्डक छिन कर, रानी वसुमती स्वयं आ रही है। अतः राजा उस चित्र को सुरक्षित करने के लिए विदूषक को विनति करते हैं। विदूषक चित्रफलक को उठा कर भागता है, लेकिन (1) मैथिली पाठ के अनुसार, ऐसा कह कर जाता है कि राजा जब "अन्तःपुर के कूटपाश" से मुक्त हो सके तब मुझे मेघछन्दप्रासाद से बुला लेना। (2) बंगाली पाठ के अनुसार, राजा जब "अन्तःपुर की वागुरा से" मोक्ष प्राप्त करे तब मुझे मेघछन्नप्रासाद से बुला लेना। (3) और देवनागरी पाठ के अनुसार, राजा जब "अन्तःपुर के कालकूट से" मोक्ष प्राप्त करे, तब मेघप्रतिछन्न प्रासाद

से मुझे बुला लेना। (4) दाक्षिणात्य वाचना के अनुसार, राजा जब "अन्तःपुर के कलह से" मुक्त हो जाये, तब मुझे मेघप्रतिछन्द प्रासाद से बुला लेना। रानी के आगमन से सम्बद्ध विदूषक की ऐसी टीका सभी वाचनाओं में है, केवल काश्मीरी वाचना में नहीं है। काश्मीरी वाचना के पाठ में रानी का नाम कुलप्रभा है, और वह राजा का शकुन्तला-विषयक प्रेमप्रसंग जान कर किसी भी तरह से ईर्ष्या-कषायिता नहीं होती है। राजा को अधिक प्रिय बनने की स्पर्धा में भी वह मेधाविनी के हाथ में से वर्तिका-करण्डक छिन कर स्वयं अपने हाथ से राजा को पहुँचाने का मनोरथ भी नहीं करती है। काश्मीरी वाचना में जो स्पर्धा का चित्र मिलता है वह तो राजा की परिचारिका मेधाविनी और रानी की दासी पिङ्गलिका के बीच चलता है॥ यहाँ विचार करने पर एक गम्भीर बात प्रकट होती है। कालिदास ने जब इस अपूर्व और नवीन कहे गये नाटक में पूर्वपरिणीताओं की ओर से उपस्थित होनेवाले अन्तराय (या संघर्ष) को प्रदर्शित करने का मार्ग छोड़ कर, दुर्वासा के शाप को अन्तराय के रूप में उद्भावित किया है, तब परोक्ष रूप में भी पूर्वपरिणीता रानी कुलप्रभा या वसुमती की ओर से किसी तरह के ईर्ष्याभाव को, स्पर्धा को प्रदर्शित करना अनुचित ही है। ऐसे स्थानों से शारदा पाठ मौलिकता के नज़दीक है ऐसा कहना होगा, तथा इस महत्त्वपूर्ण बिन्दु से ही इस शारदा पाठ को एक स्वतन्त्र वाचना का गौरव देना होगा। तथा जो पाठ मौलिकता के नज़दीक है ऐसा सिद्ध होता है वही पाठ प्राचीनतम कहना होगा।

निष्कर्षत : इस नाटक के पाठविचलन का क्रम निर्धारित करते समय यह बात ध्यान में रखनी है कि मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं की अपेक्षा से काश्मीरी वाचना का पाठ पुरोवर्ती है। तथा अन्य दो वाचनाओं का पाठ पश्चाद्वर्ती है।

[3]

द्वितीय क्रम पर मैथिली, एवं तीसरे क्रम पर बंगाली वाचना का समुद्भव

काश्मीरी वाचना का पाठ ही प्राचीनतम होने के कारण "अभिज्ञानशकुन्तला"

नाटक प्रथम क्रम में आता है। अब प्रश्न होगा कि बृहत्पाठ की अन्य दो, मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में कौन सा पौर्वापर्य होगा? यद्यपि यह प्रश्न सुलझाना बहुत कठिन है। क्योंकि इन दोनों वाचनाओं में इस नाटक का शीर्षक "अभिज्ञान-शकुन्तलम्" है। तथा विद्वानों के द्वारा ऐसा कहा गया है कि मैथिली वाचना का स्वतन्त्र अस्तित्व मानना उचित नहीं है। प्रोफेसर वी. राघवन् ने कहा है कि मैथिली वाचना का पाठ कदाचित् बंगाली की ओर झुकता है, एवं कदाचित् काश्मीरी पाठ की ओर झुकता है।[4] यही बात डॉ. दिलीपकुमार काञ्जीलाल ने भी कही है। इस तरह के निरीक्षण में सच्चाई अवश्य है। किन्तु मैथिली वाचना का इस तरह का उभयत्र साम्य कुछ राझ की बात कह रहा है। जैसे कि, (1) मैथिली वाचना के पाठ का जहाँ जहाँ बंगाली वाचना के साथ वैषम्य है और काश्मीरी पाठ के साथ साम्य है, वहाँ उस मैथिली पाठ को पाठविचलन के द्वितीय क्रमांक पर रखना होगा। एवमेव, (2) जहाँ मैथिली पाठभेदों का काश्मीरी पाठ के साथ वैषम्य है, एवं बंगाली पाठभेदों के साथ साम्य है वहाँ ऐसा अनुमान करना होगा कि जो पाठभेद एवं प्रक्षेप (पहले काश्मीरी वाचना में नहीं थे,) वे सब पहले मैथिली में दाखिल हुए होंगे। तथा उन सब पाठभेदादि उत्तरवर्ती काल में (यानें तृतीय स्तर पर) बंगाली वाचना में प्रविष्ट हुए होंगे॥ ऐसे मैथिली वाचना के पाठ को काश्मीरी से पश्चाद्वर्ती काल का, और बंगाली वाचना से पुरोगामी काल का मानने से, मैथिली के उस उभयत्र दिख रहे साम्य-वैषम्य को हम सटीक समझा सकते हैं। इस सन्दर्भ में निदर्श रूप कुछ उदाहरण देखना जरूरी है :

(क) तीसरे अङ्क में दुष्यन्त-शकुन्तला का गान्धर्व-विवाह होता है। इसमें शृङ्गारिक दृश्यावली होने के कारण रंगकर्मिओं के द्वारा अनेक श्लोकों का प्रक्षेप हुआ हैं। काश्मीरी वाचना में इस अङ्क के 35 श्लोक हैं। मैथिली वाचना के पाठ में 40 श्लोक है, तथा बंगाली वाचना में 41 श्लोक है। यहाँ श्लोकों की संख्या में जो क्रमिक वृद्धि दिखाई रही है, उसमें भी ये तीन वाचनाओं की क्रमिक पाठयात्रा स्पष्ट हो रही है। जैसे कि, काश्मीरी वाचना में "तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वम्" (3-4) श्लोक के पीछे, पाँचवे

श्लोक के रूप में "शक्योऽरविन्दसुरभिः" आता है। किन्तु इसी सन्दर्भ में, मैथिली वाचना की श्लोक शृंखला देखते हैं तो वहाँ पर तीन श्लोकों का प्रक्षेप मिलता है :- 1. "अनिशमपि मकरकेतु", 2. "वृथैव संकल्पशतैर", तथा "संमीलन्ति न तावद् बन्धनकोषाः"। बंगाली वाचना ने इन्हीं तीन श्लोकों को स्वीकार लिये हैं। एवमेव आगे चल कर एक चौथे श्लोक का नया प्रक्षेप भी किया है। यह चौथा श्लोक मैथिली वाचना में नहीं था। "स्तनन्यस्तोशीरं प्रशिथिलमृणालैकवलयं", एवं "क्षाम-क्षाम-कपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं" इन दोनों के बीच में बंगाली पाठशोधकों ने एक नया श्लोक दाखिल किया, तथा उस श्लोक के पूर्व में प्रियंवदा और अनुसूया की दो नवीन उक्तिओं को भी प्रक्षिप्त की हैं। इस नये प्रक्षिप्तांश का पाठ इस तरह का हैः-

"**प्रियंवदा** : *(जनान्तिकम्) अणुसूये, तस्स राएसिणो पढमदंसणादो आरम्भिअ पज्जुस्सुअमणा सउन्तला। ण क्खु से अण्णणिमित्तो आदङ्को भवे॥*

अनुसूया : *ममावि एरिसी आसङ्का। भोदु। पुच्छिस्सं। सहि, पुच्छिदव्वा सि किं पि। बलीओ क्खु अङ्गसंतावो॥*

राजा : *वक्तव्यमेव,*
शशिकरविशदान्यस्यास्तथा हि दुःसहनिदाघशंसीनि।
भिन्नानि श्यामिकया मृणालनिर्माणवलयानि॥ (3-12)॥"

इस पूरे सन्दर्भ में हम देख सकते हैं कि मैथिली वाचना के द्वारा प्रक्षिप्त किये तीन श्लोकों का बंगाली पाठशोधकों ने पहले अनुगमन किया है। तदनन्तर उसी दिशा में आगे बढते हुए, एक नवीन चौथे श्लोक का प्रक्षेप भी अपनी ओर से कर दिया है। अतः इस नाटक के पाठविचलन की आनुक्रमिकता में काश्मीरी वाचना के तुरंत पीछे, याने दूसरे क्रम में, मैथिली वाचना खड़ी है। तथा मैथिली के पीछे, यानि तीसरे क्रम में, बंगाली वाचना का पाठ आता है। कवि के द्वारा प्रणीत जो पाठ था वह इस तरह से बृहत् से बृहत्तर, और बृहत्तर से बृहत्तम बनता चला है। (रिचार्ड पिशेल द्वारा सम्पादित अभिज्ञानशकुन्तल की समीक्षितावृत्ति में 221 श्लोकों

को मान्य किये गये हैं। किन्तु बंगाली पाठ के टीकाकार चन्द्रशेखर चक्रवर्ती ने 225 श्लोकों पर टीका लिखी हैं।[5] सारांशतः बंगाली वाचना में ही इस नाटक का कलेवर सब से बड़ा है!)।

(ख)काश्मीरी पाठ के द्वितीयांक का एक स्थान परीक्षणीय है। विदूषक के कहने से राजा ने मृगया-कर्म से विरत होने का सोच लिया और अपने सेनापति को बुलाया। दुष्यन्त सूचना देना चाहता है कि मृगया के लिए एकत्र किये जंगल के प्राणिओं को मुक्त किये जाये। दौवारिक जा कर सेनापति को ले आता है। रंगमंच पर आकर सेनापति ने राजा के शरीर को देखा। मृगया के कारण राजा जी को जो शारीरिक लाभ हुआ था उसका गुण-वर्णन वह शूरू करता है। जैसे कि, “अनवरतधर्नुज्यास्फालन-क्रूरपूर्वम्''। काश्मीरी वाचना में यहाँ पर दौवारिक की एक उक्ति हैः- *अय्य, एसो क्खु अणुवअणदिण्णकण्णो इदो दिण्णदिठ्ठि येव भट्टा तुमं पडिवालेदि। ता उवसप्पदु अय्यो। (आर्य, एष खल्वनुवचनदत्तकर्ण इतो दत्तदृष्टिरेव भर्ता त्वां प्रतिपालयति। तस्माद् उपसर्पत्वार्यः।)* पूर्वापर सन्दर्भ में इस उक्ति को देखेंगे तो मालूम होगा कि राजा जी ने सामने से आ रहे सेनापति के शब्दों को ध्यान से सुने थे, और वे उसकी प्रतीक्षा भी कर रहे थे। मतलब कि यहाँ राजा के लिए प्रयुक्त “अनुवचनदत्तकर्ण” एवं “इतो दत्तदृष्टिः” ये दोनों विशेषण राजा के आङ्गिक अभिनय के साथ ही जुड़े हुए है। नाट्य प्रयोग के दौरान ही राजा के आङ्गिक अभिनय से समझ में आयेगा कि ये दोनों शब्द सर्वथा उपयोगी है।

इसी उक्ति का मैथिली वाचना में जो स्वरूप है वह निम्नोक्त हैः- एदु एदु अज्जो। एसो अणुवअण-दिण्णकण्णो भट्टा तुमं जेव्व पडिवालेदि, ता उअसप्पदु अज्जो। यहाँ मैथिली पाठ में “इतो दत्तदृष्टिः” इतने शब्द नहीं है। अर्थात् नाट्यप्रयोग के दौरान राजा के आङ्गिक अभिनय से स्पष्ट होगा कि राजा जी केवल सेनापति के शब्दों को सुन रहे थे, किन्तु उनकी दृष्टि सेनापति के आने की दिशा में नहीं घुमाई गई थी।

बंगाली वाचना में इस सन्दर्भ की उक्तियाँ परीक्षणीय है। जिसमें सब से पहले यह ज्ञातव्य है कि राजा की आज्ञा से दौवारिक जब सेनापति

को लेकर रंगमंच पर आता है, तो वहाँ किसी रंगकर्मी ने समय की बचत करने के लिए "निष्क्रम्य- प्रविश्य" की युक्ति का विनियोग किया है, और सेनापति की उक्ति को स्थानान्तरित करके पीछे ले ली है। अब बंगाली वाचना का पाठ्यांश प्रथम द्रष्टव्य हैः-

राजा : *रैवतक, सेनापतिस्तावद् आहूयताम्।*

दौवारिक : *तथा। (इति निष्क्रम्य पुनः सेनापतिना सह प्रविश्य) एदु एदु अज्जो। एस आलावदिण्णकण्णो भट्टा इदो जेव चिट्ठदि। उवसप्पदु णं अज्जो। (तथा। एतु एतु आर्यः। एष आलापदत्तकर्णो भर्ता इत एव तिष्ठति। उपसर्पतु एनमार्यः।)*

सेनापति : *(राजानमवलोक्य स्वगतम्) कथं दृष्टदोषापि मृगया स्वामिनि केवलं गुणायैव संवृत्ता। तथा हि देवः,*

अनवरतधनुर्ज्यास्फालनक्रूरकर्मा रविकिरणसहिष्णुः स्वेदलेशैरभिन्नः।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वादलक्ष्यं, गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति॥(2-4)

इसमें सेनापति के मुख में रखा गया जो श्लोक है, वह अन्य सभी वाचनाओं में, (दौवारिक उसको बुलाकर साथ में ला रहा है तब) सेनापति के मुख में है। वह आते समय रास्ते में ही इस श्लोक के द्वारा राजा का शरीर, जो मृगया के व्यायाम से कसा गया है, उसका निरूपण करता है। इस श्लोक का उच्चारण (या गान) पूरा हो जाने पर ही दौवारिक उसको कहता है कि राजा आपके कथन को सुन रहे है, अतः आप उसके निकट में जा सकते हो। लेकिन बंगाली पाठ में इस श्लोक को पीछे कर देने से दौवारिक जब कहता है कि राजा, जो आलापदत्तकर्ण है, वह यहीं खड़े है और अब आप उसके निकट जा सकते हैं, तो वह वाक्य विसंगत लगता है। क्योंकि इस बंगाली पाठ में तो अभी तक सेनापति ने रास्ते में आते समय यह श्लोक बोला (या गाया) ही नहीं है! तो फिर दौवारिक कैसे कह सकेगा कि राजा आपके आलाप की ओर ध्यान देकर सुन रहे है? बंगाली पाठ की इस तरह की नवीन पाठयोजना असम्बद्ध है उसमें कोई शक नहीं है।[6]

काश्मीरी और मैथिली पाठों में इस तरह की विसंगति नहीं है। तथा

देवनागरी वाचना ने यद्यपि बंगाली वाचना की नवीन पाठयोजना का अनुसरण किया है, किन्तु उपर्युक्त विसंगति से बचने के लिए दौवारिक की पूर्वोक्त उक्ति में "आलापदत्तकर्ण" शब्द के स्थान में, *[एसो आण्णावअणुक्कंठो भट्टा इदो दिण्णदिठ्ठी एव्व चिठ्ठदि। उवसप्पदु अज्जो। (एष आज्ञावचनोत्कण्ठो भर्ता इतो दत्तदृष्टिरेव तिष्ठति। उपसर्पतु आर्यः।)]* "आज्ञावचनोत्कण्ठ" शब्द से नया ही (चौथा) पाठान्तर अवतारित किया है।

उपर्युक्त चर्चा में पाठविचलन की यात्रा भी स्पष्टतया उद्भासित हो रही है। जैसे कि, उपलब्ध प्राचीनतम काश्मीरी वाचना के शारदा पाठ में पहले "अनुवचनदत्तकर्णः, इतो दत्तदृष्टिः" ऐसे दो शब्द थे।, द्वितीय क्रम में, मैथिली वाचना ने काश्मीरी पाठ का अनुसरण जरूर किया, लेकिन एक शब्द "इतो दत्तदृष्टिः" को कम कर दिया। तथा सेनापति के श्लोक को, राजा के सामने लाने से पहले, प्रस्तुत करनेवाली मूलयोजना को नहीं बदली। तीसरे क्रम में, बंगाली पाठ में सेनापति के मुख में रखे श्लोक को स्थानान्तरित किया गया। तथा "आलापदत्तकर्णः" जैसे तीसरे पाठान्तर को जन्म दिया। लेकिन उसमें पूर्वोक्त प्रकार की विसंगति आने के कारण देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में एक चौथे पाठान्तर ने जन्म लिया, जिसमें "आज्ञावचनोत्कण्ठः" शब्द आ गया॥ यद्यपि इस चौथे पाठान्तर के कारण भी एक नयी विसंगति पैदा हो रही है। जैसे कि, दौवारिक ने जब राजा की मानसिकता को "आज्ञावचनोत्कण्ठः" से शब्दबद्ध की है तब सेनापति के मुख में मृगया की प्रशंसा करनेवाला श्लोक असामयिक बन जाता है! यदि उसने सुना है कि राजा कुछ आज्ञा देने के लिए उत्कण्ठित है तो सेनापति को तुरंत ही "जयतु जयतु स्वामी, गृहीतश्वपदमरण्यम्" इत्यादि बोलते हुए सीधे राजा के सामने प्रस्तुत होना ही उचित लगता है।

(ग) काश्मीरी पाठ में राजा के परिजन-वर्ग में लिपिकरी मेधाविनी नामक दासी है। और देवी कुलप्रभा के परिजन-वर्ग में एक दासी पिङ्गलिका है। काश्मीरी पाठ में, इन दोनों दासियों के बीच में टकराव होता है। इसमें कुलप्रभा ईर्ष्या-कषायित नहीं होती है, वह सर्वथा सौजन्यपूर्ण है। मैथिली पाठ में, मेधाविनी एवं पिङ्गलिका की उपस्थिति तो यथावत् रूप

में मिलती है। किन्तु जो पहला परिवर्तन आया है वह ऐसा है कि पिङ्गलिका को साथ में लेकर आ रही रानी वसुमती स्वयं ईर्ष्याग्रस्त होकर, मेधाविनी के हाथों में से वर्तिका-करण्डक छिन लेती है। राजा को अधिक प्रिय होने की स्पर्धा में वह अपने आप राजा के पास जा कर वर्तिका देना चाहती है। तीसरी ओर, बंगाली पाठ में देखा जाए तो, राजा के परिजन-वर्ग में अब मेधाविनी के स्थान पर "चतुरिका" आ जाती है! जो राजा के लिए चित्रफलक ले आती है, और बाद में वर्तिका-करण्डक को लेने भी जाती है। तथा रानी वसुमती की दासी के रूप में पिङ्गलिका यथावत् रूप में विद्यमान है। किन्तु बंगाली पाठ में जो एक असाधारण विसंगति प्रकट रूप में अद्यावधि विद्यमान दिख रही है वह यह है कि मेधाविनी को बदल कर चतुरिका का बंगाली पाठ में नया प्रवेश करवाने के बावजुद भी, पाठशोधक लोग एक स्थान पर पुरानी मेधाविनी को बदल देना भूल गये हैं! जैसे कि, विदूषकः *(कर्णं दत्त्वा) भो अहिधावन्ती एसा अन्तेउरवग्घी मेधाविणिं मइं विअ कवलिदुं उवत्थिदा।* (देखो रिचार्ड पिशेल, द्वितीय संस्करण, 1922, पृ. 86, तथा डॉ. दिलीपकुमार कांजीलाल, 1980, पृ. 324) यदि बंगाली पाठ में मेधाविनी के स्थान पर "चतुरिका" नया नाम प्रस्तुत करना ही था, तो उसको षष्ठांक में सर्वत्र क्यूं नहीं बदला? लेकिन यह असावधानी हमारे लिए बड़ी कामकी सामग्री बन गई है। यह विसंगति इस बात की गवाह दे रही है कि मैथिली पाठ का अनुगमन करनेवाला (आज का) बंगाली पाठ तृतीय क्रमांक पर ही तैयार किया गया है॥ दाक्षिणात्य एवं देवनागरी पाठ में, बंगाली पाठ की उपर्युक्त विसंगति सम्पूर्णतया हटाई गई है। उसमें सर्वत्र "चतुरिका" ही मिलती है। तथा दाक्षिणात्य एवं देवनागरी पाठ में, पिङ्गलिका को बदल करके "तरलिका" नाम की दासी दाखिल की गई है। अतः वह चतुर्थ-पंचम क्रमांक पर तैयार किया गया पाठ सिद्ध होता है।

(घ) चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ में दुर्वासा का शाप-प्रसंग निरूपित है। देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में शापमोचन का उपाय मांगने के लिए प्रियंवदा जाती है, और उस शापवृत्तान्त को गुप्त रखने का प्रस्ताव

अनसूया करती है। किन्तु तीन अङ्कों के कार्यकलाप के दौरान इन दोनों सहेलियों के व्यक्तित्व का जो परिचय दर्शकों (या पाठकों) को मिला है उसको देखते हुए तो यह प्रतीतिकर नहीं है। अतः अन्य वाचनाओं में क्या स्थिति है उसका तुलनात्मक अभ्यास करना जरूरी है। काश्मीरी वाचना में शापमोचन की याचना के लिए अनसूया जाती है, और शापगुप्ति का प्रस्ताव प्रियंवदा ने किया है। इस तरह का वक्त्री-क्रम समुचित लगता है। जब मैथिली वाचना को देखते हैं तो उसमें शापमोचन की याचना करने के लिए जाती तो है अनसूया ही। लेकिन शाप वृत्तान्त को शकुन्तला से छिपा कर रखने का प्रस्ताव भी अनसूया ही करती है! यह कैसे हो गया? तो प्रियंवदा ने जब कहा कि राजा के द्वारा दी गई अंगुठी शकुन्तला के पास है, इस लिए वह स्वाधीनोपाय है। तब अनसूया ने कहा कि चलो, हम देवकार्य का निर्वतन कर ले। (उसके बाद मैथिली वाचना के पाठ में रंगसूचना है : इति परिक्रामतः।) यह उक्ति पहले काश्मीरी वाचना में नहीं थी। किन्तु किसी अज्ञात मैथिली रंगकर्मी ने उसे नयी दाखिल की। क्योंकि पुष्पचयन करने के स्थान से चल कर शकुन्तला की कुटिर पर पहुँचने के लिए रंगमंच पर परिक्रमण दिखाना आवश्यक था। और उस समय अनसूया के मुख में कुछ वाक्य होना चाहिए ऐसा सोच कर एक नये वाक्य का प्रक्षेप किया गया। अब, यानि अनसूया की उक्ति के बाद जो दूसरी उक्ति होगी वह प्रियंवदा को बोलनी होगी। बस ऐसा होने के कारण, उपर्युक्त नये वाक्य के प्रक्षेप के कारण, अनुगामी संवादों की वक्त्रियाँ उलटा-पुलटा हो गई। वक्तृ विशेष का क्रम बदल जाने के कारण जो कार्य जिस व्यक्तित्व के साथ सुसंगत लगता था वह पश्चाद्वर्ती समय में विकृत हो जाता है। मैथिली वाचना का अनुसरण करते हुए बंगाली वाचना में भी उपर्युक्त दोनों बातें अनसूया के ही मुख में रखी गई है। जब इसी सन्दर्भ में देवनागरी पाठ का अवलोकन किया जाता है तो एक और नया परिवर्तन मिल रहा है! वहाँ पर शाप-मोचन की याचना के लिए प्रियंवदा जाती है, और शाप-वृत्तान्त को संगोपित रखने का प्रस्ताव अनसूया ने किया है। इस नाटक की पाँचों वाचनाओं में मिल रहे विविध

पाठान्तरों का इस तरह से तुलनात्मक अभ्यास करने से, काश्मीरी से शूरू हुई पाठयात्रा प्रथम मैथिली वाचना में संक्रान्त होकर, द्वितीय क्रम पर बंगाली वाचना में प्रवेश करती है। वहाँ आगे बढ़ती हुई पाठयात्रा चतुर्थ क्रम में दाक्षिणात्य वाचना में जाती है, और अन्त में देवनागरी वाचना में पहुँचती है। किन्तु प्रत्येक स्तर पर उसमें (काव्यतत्त्वीय पक्ष को कम से कम हानि पहुँचाई गई है, परन्तु) रंगमंचीय परिवर्तन ही प्रायः ज्यादा होते रहे हैं।

[4]

काश्मीरी वाचना को विरासत में मिले कुछ प्रक्षेपादि

जैसा कि पहले कहा गया है इस नाटक का काश्मीरी वाचना में सुरक्षित रहा पाठ ही प्राचीनतम पाठ है, और यह वाचना ई. स. 700 के आसपास में ग्रथित हुई होगी। कवि कालिदास के समय से लेकर, अर्थात् प्रथम शताब्दि से सातवी शताब्दि तक के अन्तराल में इस पाठ में कौन से परिवर्तन, प्रक्षेपादि हुए होंगे वह भी विचारणीय है। क्योंकि काश्मीरी वाचना प्राचीनतम सिद्ध होती है इस लिए उसमें ही सर्वथा मौलिक पाठ संगृहीत हुआ है, या सुरक्षित रहा है ऐसा मान लेने की जल्दबाजी हम नहीं कर सकते हैं। कालिदास और शारदा पाण्डुलिपियों में संचरित हुए पाठ के बीच में जो 700 वर्षो का सुदीर्घ काल खण्ड पड़ा है, वह हमारे लिए अन्धकार ग्रस्त है। शारदालिपि में लिखी गई भूर्जपत्रवाली (क्रमांक - 192) पाण्डुलिपि की भाग्यवशात् प्राप्ति हो जाने से उस अन्धकार भरे समय में क्या क्या हुआ होगा, तथा उसके बाद क्या होता रहा है उसका कुछ अन्दाजा लगाया जा सकता है। क्यूंकि, अब ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी की दो शारदा पाण्डुलिपियाँ (क्रमांक : 159 एवं 1247), तथा श्रीनगर की शारदा पाण्डुलिपि (क्रमांक : 1345) की भी प्राप्ति हो गई है। इसके लिए निदर्श के रूप में तृतीयांक का कुसुमशयना शकुन्तला वाला दृश्य बारिकी से देखने की जरूरत है।

तृतीयांक के आरम्भ में कहा गया है कि कामज्वर से पीडित शकुन्तला

बलवद्-अस्वस्थ अवस्था में है। प्रियंवदा उसके शरीरदाह के निर्वापण के लिए उशीर का लेप और नलिनीपत्रादि को ले जा रही है। तब कण्वाश्रम का एक शिष्य भी प्रियंवदा को कहता है कि शकुन्तला तो कण्व मुनि का श्वासोच्छ्वास है, अतः उसको बहुत सम्भाल के रखना। दृश्य का आरम्भ होते ही, मालिनी नदी के तट ऊपर लतावलय में एक शिलातल पर बिछाये कुसुमास्तरण में वह लेटी हुई है। दोनों सहेलियाँ उसको नलिनीदल से पंखा झल रही हैं। यहाँ कालिदास की मूल योजना तो यही रही है कि दृश्य के आरम्भ में शकुन्तला पुष्पमयी शय्या पर लेटी हो और मदनलेख लिखते समय भी वह लेटी रहे। तथा मदनलेख के शब्दों को सुन कर राजा प्रकट हो जाए और उसको उसी शिलातल पर बिठाया जाये, जिस पर शकुन्तला लेटी हो, तब भी वह वहीं पर लेटी रहे। जब दोनों सहेलियाँ रंगमंच से बिदा ले और दुष्यन्त शकुन्तला को कहे कि तुम आवेग में मत आओ। तेरी सखियों की भूमिका में रहा मैं तेरा आराधयिता व्यक्ति बन कर तेरे पास में हूँ। "अङ्के निधाय चरणावुत पद्मताम्रौ, संवाहयामि करभोरु यथासुखं ते। (3-20)" तब, वह अपनी मदनावस्था के अनुरूप धीरे से, कष्ट के साथ कुसुमास्तरण से उठ कर चलने का आरम्भ करें।(यहाँ शारदा पाण्डुलिपियों में रंगसूचना है : अवस्थासदृशमुत्थाय प्रस्थिता।) नायिका शकुन्तला कहाँ से लेकर, कहाँ तक कुसुमास्तरण पर लेटी रहे इसकी कवि निर्धारित योजना यही है। लेकिन वर्तमान में उपलब्ध हो रहे शारदा-पाठ का गठन होने से पूर्व में, अतीत के रंगकर्मिओं ने, नायिका की उस लेटी हुई अवस्था का तथा लतावलय में एकान्त की स्थिति का अनुचित फायदा उठा कर अश्लील श्लोक युक्त कुछ पाठ्यांशों का प्रक्षेप किया है। ऐसे स्थान का प्रतीकात्मक निर्देश करें तो, "अपराधमिमं ततः सहिष्ये रम्भोरु तवाङ्गरेचितार्धे। कुसुमास्तरणे क्लमापहं मे सुजनत्वादनुमन्यसेऽवकाशम्॥ (3-19)"॥ ऐसा अश्लील पाठ्यांश बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में कुछ पाठभेद के साथ उपलब्ध होता है। इसी लिए अनुमान किया जाता है कि ऐसे पाठ्यांश का प्रक्षेप काश्मीरी वाचना की शारदा पाण्डुलिपियों का गठन होने से पहले, सुदूर अतीत में, हुआ होगा।

स्वयं कवि कालिदास ने नायिका को रंगमंच पर लेटी हुई अवस्था में प्रस्तुत की वही पाठविचलन का प्रथम उद्गम बिन्दु बन गया है। यद्यपि हमारे लिए यह आशाजनक बात है कि इन्हीं चार शारदा पाण्डुलिपियों में कुछ अंश ऐसे भी मिलते हैं कि हम उन प्रक्षिप्तांशो को पहचान भी सके। उदाहरण के रूप में, (क) उपर्युक्त 3-19 श्लोक के पहले, (श्लोक 3-17 से भी पहले) अनसूया ने कहा है कि देखो देखो, मेघ-नाद से आहत मयूरी की तरह हमारी प्रियसखी के जीव में जीव आ गया! उसके बाद रंगसूचना है : "शकुन्तला सलज्जा तिष्ठति।" इस तरह, नायिका को लेटी हुई अवस्था से पहले ही सलज्जा खड़ी की गई है, उसके पास उपर्युक्त शब्दों के द्वारा सहशयन की याचना कैसे की जाये? तथा श्लोक 3-20 के नीचे जो रंगसूचना "अवस्थासदृशम् उत्थाय प्रस्थिता" है, उसके साथ "शकुन्तला सलज्जा तिष्ठति।" वाली रंगसूचना भी विसंगति पैदा करती है! अतः शारदालिपि में लिखी पाण्डुलिपियों में ही रंगसूचना-सम्बन्धी जो विसंगतियाँ हैं, वही इस बात की गवाह देती हैं कि शकुन्तला की लेटी हुई अवस्था की मूल दृश्य-योजना बदलने की चेष्टा 700 ई. स. से पहले से हो चूकी थी। (ख) इस सन्दर्भ में दूसरा उदाहरण भी देखना रसप्रद होगा : प्रियंवदा के सुझाव पर शकुन्तला जब मदनलेख लिखने के लिए मानसिक रूप से तैयार होती है तब, कवि की मूल दृश्य-योजना के अनुसार वह लेटी हुई रह कर ही गीत के अक्षर सोचती है और लेटी हुई रह कर ही लिखती है। भूर्जपत्रवाली शारदा-प्रति में "आसीना चिन्तयति" या "उपविष्टा चिन्तयति" जैसी एक भी रंगसूचना नहीं है। किन्तु परवर्ती काल में, ऑक्सफर्ड की 159 क्रमांकवाली पाण्डुलिपि में केवल "चिन्तयति" ऐसी रंगसूचना प्रविष्ट होती है। तदनन्तर, ऑक्सफर्ड की 1247 क्रमांक वाली तथा श्रीनगर की 1435 क्रमांकवाली पाण्डुलिपिओं में "आसीना चिन्तयति" ऐसी रंगसूचना दाखिल की गई है। जैसा कि पहले कहा गया है, यहाँ पर हमें याद रखना है कि दुष्यन्त जब तक शकुन्तला के पादसंवाहन का प्रस्ताव न करे तब तक नायिका को लेटे ही रहना है। क्योंकि पादसंवाहन का प्रस्ताव होने के (श्लोक 3-20) बाद जो "अवस्थासदृशम् उत्थाय प्रस्थिता" ऐसी रंगसूचना है, उसका इङ्गित यही है कि मदन लेख-प्रसंग में भी नायिका लेटी रहे।

रंगमंच पर शकुन्तला को लेटी हुई स्थिति में प्रस्तुत करने का कालिदास का विचार पश्चाद्वर्ती काल के **रंगकर्मिओं के लिए चुनौती रूप बना है**, और कहना होगा कि **प्रायः सभी काल के रंगकर्मी लोग उसमें निष्फल रहे हैं**। इस बात का अन्दाजा शकुन्तला को कब बिठाई जाये, कब खड़ी की जाये, एवं कब उसे चलाई जाय? इस विषय को लेकर रंगसूचना-सम्बन्धी जो विसंगति प्रायः सभी वाचनाओं में फैली हुई आज भी मिलती है, उससे देखा जा सकता है :-(क) भूर्जपत्रवाली प्राचीनतम शारदा पाण्डुलिपि में, राजा को जब शिलातल पर बिठाया जाता है तब, शकुन्तला को मेघनादाहत मयूरी का उपमान देकर लज्जा के साथ खड़ी की जाती है वही एक विसंगति है। किन्तु यह उपमान रमणीय होते हुए भी प्रक्षिप्त है ऐसा निश्चित हो सकता है। (ख) ऑक्सफर्ड की 1247 क्रमवाली एवं श्रीनगर की 1435 क्रमवाली पाण्डुलिपियों में (और तदनुसारिणी मैथिली वाचना में) एक दूसरी विसंगति ने प्रवेश किया है। जैसे कि, इन दो शारदा पाण्डुलिपिओं में लेटी हुई शकुन्तला को खड़ी करने से पहले, मदनलेख लिखवाते समय "आसीना चिन्तयति" जैसी रंगसूचना से बिठाई जाती है। तथा मदनलेख को सुन कर सहसा प्रकट हुए राजा को शिलातल पर बिठाया जाता है, तब "पादौ अपसारयति" नवीन रंगसूचना से, बैठी हुई शकुन्तला के दो पाँव को थोड़े से सीकुड़ने का कहा जाता है। उक्त दो शारदा प्रतिओं में बैठी हुई शकुन्तला के पाँव को सीकुड़ने की सूचना है, किन्तु मैथिली पाठ में मदनलेख लिखवाते समय शकुन्तला को "आसीना चिन्तयति" नहीं बताई है, उसमें तो शकुन्तला को केवल "चिन्तयति" रंगसूचना से, लेटी रह कर ही चिन्तन करने का कहा है। परिणामतः मैथिली वाचना में "पादौ अपसारयति" रंगसूचना का फलितार्थ यही होगा कि जिस शिलातल पर शकुन्तला लेटी है उसी पर राजा को बिठाने के लिए, लेटी हुई स्थिति में ही वह अपने दोनों पाद को अपसारित करती है। (ग) बंगाली वाचना में मैथिली वाचना जैसा ही पाठ संचरित हुआ है, किन्तु उसमें एक परिष्कार भी किया गया है। जैसे कि, इसमें "सलज्जा तिष्ठति" वाली रंगसूचना नहीं है। अर्थात् इस वाचना के अनुसार, जब

से लेटी हुई शकुन्तला का दृश्य शूरू हुआ है वहाँ से लेकर राजा ने पाद-संवाहन का प्रस्ताव रखा तब तक वह सातत्यपूर्वक रंगमंच पर लेटी ही रहती है, जो कवि की मूल योजना थी। किन्तु ऐसा पाठ बाद में परिष्कृत किया गया है उसका क्या प्रमाण? ऐसा प्रश्न हमें कोई भी कर सकता है। इसके प्रत्युत्तर में कहेंगे कि, (भूर्जपत्रवाली पाण्डुलिपि में आये हुए) मेधनादाहत मयूरी के उपमान का प्रयोग करते हुए शकुन्तला को सलज्जा खड़ी करनेवाली जो उक्ति है, वह बंगाली वाचना में भी है। लेकिन उसके साथ में जुड़ी "सलज्जा तिष्ठति" वाली रंगसूचना को ही केवल हटाई गई है। तथा उस उक्ति को स्थानान्तरित करके, जब राजा के द्वारा "परिग्रहबहुत्वेपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य नः" वाले श्लोक से शकुन्तला को कुल प्रतिष्ठा कही जाती है तब, रखी गई है। प्रियंवदा जनान्तिक उक्ति से कहती है : "अणुसूये, पेक्ख पेक्ख मेहवादाहदं विअ गिम्हे मोरिं खणे खणे पच्चाअदजीविदं पिअसहिं।'' लेकिन इसके बाद शकुन्तला के किसी भी तरह के अनुभावों का प्रदर्शन नहीं है। बल्कि वह सहेलियों को राजा की क्षमायाचना करने को कहने लगती है, जिसके अनुसन्धान में, काश्मीरी वाचना को विरासत में मिले एक अश्लील अंश का प्रक्षेप स्वीकार लिया गया है।

(घ) इस सन्दर्भ में, देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं में कैसी विसंगति अनुसंचरित हुई है वह भी द्रष्टव्य है : दृश्य के आरम्भ में शकुन्तला कुसुमास्तरण पर लेटी हुई थी। मदनलेख लिखते समय, देवनागरी पाठ में, उसे "आसीना चिन्तयति" की रंगसूचना से बिठाई जाती है। तत्पश्चात् राजा को उसी शिलातल पर बिठाया जाता है तब वह सलज्जा खड़ी हो जाती है। किन्तु आगे चल कर दुष्यन्त जब एकान्त में, उसका पादसंवाहन करने की तत्परता दिखाता है तब (दाक्षिणात्य पाठ में) एक नवीन रंगसूचना के माध्यम से हमें कहा जाता है कि "इत्युत्थाय गन्तुमिच्छति''। जिसको देख कर तुरंत प्रश्न होता है कि जो शकुन्तला पहले से सलज्जा खड़ी है, तो अब "खड़ी होकर जाने की इच्छा कर रही है" ऐसी रंगसूचना कैसे दी जा रही है? एवमेव, खड़ी हुई शकुन्तला को राजा ऐसा कहे कि मैं

क्या तुम्हें शीतल नलिनीदल से पवन झलुं, या पद्म जैसे ताम्र वर्णवाले पाँव को मेरे अङ्क में लेकर क्या मैं संवाहन करुं? तो इन शब्दों का सन्दर्भगत औचित्य बिल्कुल नहीं रहता। अतः सिद्ध होता है कि कुसुमशयना शकुन्तला का दृश्य अपने मूल स्वरूप में से बहुत पुराने समय से विचलित हो गया है। तथा यह विसंगति काश्मीरी वाचना को विरासत में मिली है। कालिदास के समय से, यानी प्रथम शताब्दि से लेकर सप्तम शताब्दि के बीच में इस नाटक का जो रंगमंचीय इतिहास अन्धकारग्रस्त है, उसमें दृष्टिपात करानेवाली यह विसंगतियाँ है। एवं देवनागरी तथा दाक्षिणात्य वाचनाओं के सभी सम्पादनों और संस्करणों में आज भी वह मौजुद है!!

काश्मीरी वाचना को विरासत में मिले कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों में चतुर्थाङ्क के आरम्भ में आये चार श्लोकों का भी परिगणन करना चाहिए। इन श्लोकों में कण्वाश्रम का एक शिष्य कितनी प्रभात-वेला हुई है उसका अन्दाजा लगाने के लिए रंगमंच पर आया है और प्रभात का वर्णन करता है। इन श्लोकों में 1. कर्कन्धूनाम् उपरि तुहिनम्। 2. पादन्यासं क्षितिधरगुरोर। 3. यात्येकतोऽस्तशिखरं। एवं 4. अन्तर्हिते शशिनि सैव। का समावेश होता है। मैथिली वाचना में भी इन सब का (और इसी क्रम में) संग्रह किया गया है। किन्तु बंगाली वाचना के पाठशोधकों ने तीसरे-चौथे क्रमांक के श्लोकों को पहला-दूसरा श्लोक बना दिया है, और पहले-दूसरे श्लोकों को तीसरे-चौथे क्रम में रखे हैं। तथा देवनागरी और दाक्षिणात्य वाचनाओं में जब संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति होती है तब 1. कर्कन्धूनाम् उपरि तुहिनम्। 2. पादन्यासं क्षितिधरगुरोर। श्लोकों को निरस्त किये गये हैं। हमने इन श्लोकों की मौलिकता सम्बन्धी चर्चा की है[7], जिसमें यह बताया है कि काश्मीरी वाचना के पहले दो श्लोकों को जो दाक्षि. एवं देवनागरी में से हटाये गये हैं वही मौलिक श्लोक हो सकते हैं। किन्तु "अपि च" जैसे समुच्चयार्थक निपात का विनियोग करके, इस नाटक के पाठ में अनेक स्थानों में प्रक्षेप करने की प्रवृत्ति बहुत पुराने समय से कार्यरत हुई थी। इस विमर्श से सिद्ध किया गया है कि उपर्युक्त चार श्लोकों में से तीसरा-चौथा श्लोक काश्मीरी वाचना में प्राचीन काल के प्रक्षेपों की विरासत के रूप में मिले होंगे॥

[5]

नाटक के पाठ्यांश में कटौती करने का मार्ग जतानेवाला प्रक्षेप

कवि के द्वारा ही मूल में नायिका की लेटी हुई अवस्था और लतावलय के एकान्त की जो परिस्थितियों का निर्माण किया गया है वह शृंगार रस का परिपोषक उद्दीपन विभाव है। लेकिन कमजोर रंगकर्मिओं के हाथों में जब ऐसा पाठ्यांश अभिनीत करने के लिए जाता है तो शृंगार जैसे अतिमसृण रस को अश्लील में फिसल जाने की भारी सम्भावना रहती है। परिणामतः तीसरे अङ्क में 1. अप्यौत्सुक्ये महति न वरप्रार्थनासु प्रतार्याः, काङ्क्ष्यन्त्योऽपि व्यतिकरसुखं कातराः स्वाङ्गदाने। (3-22), एवं 2. यदा सुरतज्ञो भविष्यामि। जैसे अश्लील पाठ्यांश भी बहुत पहले से प्रविष्ट हो गये हैं। शारदा पाठपरम्परा को ऐसे प्रक्षिप्त पाठ्यांश विरासत में मिले थे, उसका संचरण (कुछ परिवर्तनों के साथ) मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं के पाठों में भी होता रहा हैं। जिसके कारण बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाएँ निन्दनीय एवं अग्राह्य बनी रही॥ किन्तु बात यहाँ तक सीमित भी नहीं रही। सुरुचि का भङ्ग करनेवाले उपर्युक्त अश्लील पाठ्यांशों को हटाने के लिए, या फिर इस नाटक को अल्प कालावधि में प्रस्तुत करने के लिए, **अथवा उभयविध कारणों से प्रेरित** होकर जब भी इस नाटक के बृहत्पाठ में संक्षेप करने का सोचा गया होगा तब कौन सा वह स्थान था कि जो संक्षेपीकरण के लिए काम आया? क्योंकि विरासत में मिले अश्लील पाठ्यांश शारदा पाण्डुलिपियों में से अन्य दो वाचनाओं में भी प्रविष्ट हुए थे। उसको तो संक्षेपीकरण के दौरान सीधे उठा लेने से प्रणय-प्रसंग में कोई बाधा नहीं आती है। किन्तु बृहत्पाठवाली तीनों वाचनाओं में जो नैसर्गिक प्रेम सहचार की दृश्यावली थी उसमें कहीं पर भी विच्छेद करने की सम्भावना ही नहीं थी। इस लिए यह खोजना अतीव आवश्यक है कि इस नाटक के संक्षेपीकरण का मार्ग प्रशस्त करनेवाला स्थान कहाँ से मिला? शारदा पाण्डुलिपियों की उपलब्धि होने से, एवं उपर्युक्त चर्चा से प्रस्थापित की गई पाठविचलन की आनुक्रमिकता को

ध्यान में लेने से यह बात प्रकाश में आ सकती है। जैसा कि पहले यह सयुक्तिक सिद्ध किया गया है कि प्राचीनतम काश्मीरी वाचना के बाद ही, द्वितीय क्रम में मैथिली वाचना का उद्भव हुआ है। तो अब जो श्लोक काश्मीरी वाचना में कहीं पर न हो, और प्रथम बार मैथिली वाचना में दाखिल किया गया हो उसको ढूँढ़ना चाहिए। वैसा एक श्लोक है, जो अन्य सभी वाचनाओं में स्वीकृत हुआ है : गान्धर्वेण विवाहेन बह्वयो हि मुनिकन्यकाः। श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चानुमोदिताः॥ (मै. वा. 3-27)। यह श्लोक सब से पहली बार मैथिली वाचना के पाठशोधकों ने प्रक्षिप्त किया है ऐसा सिद्ध होता है। पाठविचलन की पूर्वोक्त आनुक्रमिकता से जब हम देखते हैं कि यह श्लोक पहले काश्मीरी वाचना की एक भी शारदा-पाण्डुलिपि में मिलता नहीं है, और बाद में वह मैथिली वाचना में दृष्टिगोचर होता है तो हम कह सकते हैं कि यह मैथिली परम्परा का अवदान है। यहाँ (ऐसा नहीं है कि काश्मीरी वाचना के पाठ में लिपिकारों के प्रमाद से यह श्लोक निकल गया होगा,) उच्चतर समीक्षा से भी सिद्ध होता है कि यह श्लोक प्रक्षिप्त ही है। शकुन्तला दुष्यन्त को जब सावधान करती है :-

शकुन्तला : *(कृतकृतककोपा) पोरव रक्ख अविणअं। इदो तदो इसिओ संचरन्ति।*

राजा : *सुन्दरि, अलं गुरुजनाद् भयेन। न ते विदितधर्मा तत्रभवान् कण्वः खेदमुपयास्यति।*

गान्धर्वेण विवाहेन बह्वयो हि मुनिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चानुमोदिताः॥ (3-27)

(दिशोऽवलोक्य) कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि। (ससम्भ्रमम् शकुन्तलां हित्वा तेनैव पथा पुनर्निवर्तते)

शकुन्तला : (पदान्तरे प्रतिनिवृत्य) पोरव, अणिच्छापूरओ वि खणमेत्तपरिचिदो अअं जणो ण विसुमरिदव्वो॥ (मैथिली वाचना, पृ. 52)

उपरि भाग में दिये गये पाठ्यांश को देखने से मालूम होगा कि,

शकुन्तला जब दुष्यन्त को सावधान करती है कि "यहाँ वहाँ ऋषिमुनि लोग घूम रहे होंगे'', तब दुष्यन्त कहता है कि गुरुजनों से भय रखने की आवश्यकता नहीं है, कण्व भी तुझे प्रेमासक्त या विवाहित जान कर खेद का अनुभव नहीं करेंगे। अर्थात् तेरे पर नाराज़ नहीं होगें। दुष्यन्त यहाँ विशेष में यह भी कहता है कि गान्धर्व-विवाह से विवाहित हुई बहुत सी मुनिकन्यायें (या राजर्षिओं की कन्यायें) है, जो (बाद में) पिताओं के द्वारा अनुमोदित (अभिनन्दित) भी की गई है। लेकिन शकुन्तला जब कह रही है कि आसपास में ऋषिमुनि घूम रहे होंगे, तब तो विनीत वर्ताव की ही अपेक्षा है। उससे विपरीत दुष्यन्त गुरुजनों से डर ने की कोई ज़रूरत नहीं है ऐसा समझाने का उपक्रम शुरु करे वह दुष्यन्त के धीरोदात्त चरित के अनुरूप नहीं है। अतः दुष्यन्त के मुख में रखा गया प्रथम वाक्य एवं "गान्धर्वेण विवाहेन" वाला श्लोक बीच में से हटाया जाए तो, जो रंगसूचना-पुरस्सर का अनुगामी वाक्य है : (दिशोऽवलोक्य) कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि। (शकुन्तलां हित्वा पुनस्तैरेव पदैः प्रतिनिवर्तते), वह बिल्कुल सही सिद्ध होता है। इसमें विचार-सातत्य भी है और दुष्यन्त का लतामण्डप में वापस चला जाना भी शकुन्तला की उक्ति से सुसम्बद्ध है।

महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान में दुष्यन्त बहुत उतावला हो गया है। उस मूल कथा में सुधार के लिए उद्यत हुए महाकवि के लिए प्रेम का उदात्त चित्र खींचना मुनासिब है, तो उसको अपनी कलम से गान्धर्व-विवाह का प्रस्ताव कराके किसी मुग्धा मुनिकन्या को उकसाने की ज़रूरत नहीं थी। इसे, अर्थात् गान्धर्वेण विवाहेन वाले श्लोक को प्रक्षिप्त मान कर, बीच में से हटा देने से दुष्यन्त के उदात्त चरित की भी रक्षा होती है और शकुन्तला की उक्ति के साथ "कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि" जैसा दुष्यन्त का प्रतिभाव भी सुसंगत ठहरता है। इस तरह की उच्चतर समीक्षा का निष्कर्ष यही है कि शकुन्तला का लतावलय से बाहर चले जाने के बाद, दुष्यन्त भी जब वहाँ से बाहर आ जाता है तब "यहाँ वहाँ ऋषिमुनि लोग घूम रहे होंगे" ऐसी प्रिया शकुन्तला की चेतावनी के साथ तो, "(दिशोऽवलोक्य) कथं प्रकाशं निर्गतोऽस्मि" का सन्धान ही मौलिक प्रतीत होता है। तथा

मैथिली वाचना ने किया "गान्धर्वेण विवाहेन" श्लोक का प्रक्षेप सिद्ध होता है।

अब यह बताना है कि अतीत के कोई दाक्षिणात्य रंगकर्मी ने इस नाटक के पाठ्यांश में कटौती करने का जब सोचा होगा तब उसके लिए दो तरह के लक्ष्य रहे होंगे : (क) परापूर्व से चले आ रहे अश्लील पाठ्यांशो की कटौती की जाये, और (ख) इस नाटक की रंगमंच पर अल्प समयावधि में प्रस्तुति करने के लिए कौन से दृश्यों की कटौती की जाये, एवं प्रवर्तित कथा का कहाँ से पुनःसन्धान कर लिया जाये? उस स्थान को पसंद करना। इन दोनों में से पहला लक्ष्य सिद्ध करना तो सरल था, जो भी सुरुचि का भङ्ग करनेवाले अश्लील पाठ्यांश काश्मीरी आदि तीन वाचनाओं में चले आ रहे थे उनको चुन चुन कर हटा लिया होगा। तदनन्तर, इस नाटक के तीसरे अङ्क में जहाँ से नायक-नायिका का सहज सुन्दर नैसर्गिक प्रेमसहचार शूरू होता है, (जिसमें दुष्यन्त शकुन्तला के हाथ में मृणाल-वलय पहनाता है, तथा दुष्यन्त शकुन्तला को पास में बिठा कर पुष्परज से कलुषित हुए उसके नेत्र को अपने वदनमारुत से प्रमार्जित कर देता है) ऐसे दो दृश्यों को हटा दिये है। ऐसे सुन्दर प्रेमभरे दो दृश्यों को हटाने का साहस वह इस लिए कर सका है कि उसके हाथ में मैथिली वाचना ने प्रक्षिप्त किया "गान्धर्वेण विवाहेन" वाला श्लोक था। स्वाभाविक प्रेमोपचार के विकल्प में शास्त्रसम्मत गान्धर्व-विवाह का नामशः निर्देश करके नायक एक **आश्रम-कन्या को उकसाने में सफल रहा ऐसा निरूपण कार्यरत किया गया, और दुर्भाग्यवशात् वह अद्यावधि कामयाब भी रहा है।** दाक्षिणात्य व देवनागरी वाचना में उक्त श्लोक के बाद केवल चार-पाँच संवाद आते हैं और तुरंत नेपथ्योक्ति से अङ्क समाप्त करने की दिशा में अवशिष्ट पाठ उपयुक्त किया गया है।

हाँ, एक बात और बताना जरूरी है कि नाटक के पाठ्यांश में यह जो कटौती की गई है, उसका अन्दाजित समय 14 या 15वीं शती से पूर्व नहीं होगा। इस तरह का अन्दाजा लगाने के पीछे दो हेतु हमारे पास है : (1) इस नाटक के उपलब्ध टीकाकारों में से सब से पहले दक्षिण

भारत के काटयवेम को रखे जाते हैं, और उनका अनुमानित समय 15वीं शती है। अतः उससे पचास या सो साल इस नाटक ही इस नाटक का पाठ संक्षिप्त किया गया होगा। और उस नवीन संक्षिप्त रंगावृत्ति का देवनागरी पाठपरम्परा ने सद्यः अनुसरण भी किया होगा। (2) जोधपुर की राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान से 21422 क्रमांक की एक पुरानी शैली के देवनागरी अक्षरों में लिखी पाण्डुलिपि मिल रही है, (जिसका लेखनकाल 1684 विक्रम संवत, यानि 1627 ई.स. है) उसमें काश्मीरी एवं बंगाली वाचनाओं जैसा ही बृहत्पाठ सुरक्षित है। मतलब कि 16वीं शती तक तो देवनागरी पाण्डुलिपियों की परम्परा में भी इस नाटक का बृहत्पाठ भी चल रहा था। अतः दाक्षिणात्य में संक्षेपीकरण का काल 14वीं या 15वीं शती से अधिक पूर्व में नहीं माना जा सकता है।

[6]

दाक्षिणात्य एवं देवनागरी वाचना में संक्षेपीकरण के साथ साथ अन्य वाचनाओं के पाठान्तरों का संमिश्रण

''देवनागरी वाचना में व्यञ्जनापूर्ण पाठ समुपलब्ध होता है और इसलिए वही मौलिक हो सकता है" ऐसा माननेवाले विद्वान् आज सर्वाधिक है। किन्तु जब इस नाटक की पाठालोचना उच्चतर समीक्षा के मानदण्ड से की गई है, (और उससे ऐसा सिद्ध हो रहा है कि में वह संक्षिप्त किया गया पाठ है) तब मालूम होता है कि यह रंगावृत्ति स्वरूप का पाठ है। प्रस्तुत नाटक के देवनागरी पाठ का इस तरह का नया अभिज्ञान प्राप्त करने के साथ एक दूसरी बात भी ज्ञातव्य है। देवनागरी वाचना का पाठ न केवल संक्षिप्ततर किया गया पाठ है, उसमें तो अन्यान्य वाचनाओं के पाठान्तरों को भी संमिश्रित किये गये हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि देवनागरी वाचना का वर्तमान स्वरूप पाठविचलन के पंचम क्रमांक पर खड़ा है। अब पाठान्तरों के संमिश्रण के कतिपय उदाहरण देखेंगे।

(क) प्रथमांक में, काश्मीरी वाचना के पाठ का अनुसरण करते हुए

देवनागरी पाठ में “तदिदानीं कतमत् प्रकरणमाश्रित्यैन-माराधयामः।” वाक्य में प्रकरण शब्द माना है। इसी सन्दर्भ में मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में “तत् कतमं प्रयोगमाश्रित्यैनमाराधयामः।” ऐसा पाठान्तर है।

(ख) दाक्षिणात्य और देवनागरी वाचनाओं ने “न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्” श्लोक का स्वीकार किया है। यह श्लोक मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में से लिया गया है। क्योंकि यह श्लोक काश्मीरी वाचना में नहीं है॥ (यद्यपि राघवभट्ट ने इस श्लोक पर टीका नहीं लिखी है।)

(ग) द्वितीयांक में, देवनागरी वाचना के पाठ में विदूषक की उक्ति है कि “तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयमभ्यर्थना''। किन्तु मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में तो “स्त्रीरत्नपरिभोगिनः” ऐसा पाठभेद मिलता है। तो यहाँ पर दाक्षि. एवं देवनागरी वाचना ने जो पाठ स्वीकारा है वह काश्मीरी वाचनानुसारी है।

(घ) दाक्षि. एवं देवनागरी वाचना में राजा की उक्ति है कि किस उपाय से फिर से कण्वाश्रम में जाया सकता है? तो विदूषक कहता है—कः अवरोऽपदेशस्तव राज्ञः।” मैथिली एवं बंगाली वाचनों में इस सन्दर्भ में “कः अवर अपदेशः। ननु भवान् राजा।” ऐसा सद्यः प्रत्युत्तर दिया जाता है। किन्तु काश्मीरी वाचना में तो विदूषक रंगमंच पर समाधि लगा के सोचने लगता है। “एष चिन्तयामि, मा खल्वस्यालीकपरिदेवितैः समाधिं भाङ्क्षीः''। अर्थात् इस स्थान में देवनागरी वाचना ने काश्मीरी वाचना के पाठ का अनुसरण नहीं किया है। किन्तु बंगाली पाठ का अनुसरण किया है।

(ङ) तीसरे अङ्क में, शकुन्तला दुष्यन्त में अनुरक्त हुई है ऐसा जान कर प्रियंवदा बोलती है “सागरमुज्झित्वा कुत्र वा महानद्यवतरति। क इदानीं सहकारमन्तरेण अतिमुक्तलतां पल्लवितां सहते।” दाक्षि. एवं देवनागरी वाचना में, इसको सुन

कर राजा कहते हैं कि "किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते।" राजा की इस तरह की उक्ति मैथिली या बंगाली वाचना में नहीं मिलती है। ऐसी उक्ति तो काश्मीरी वाचना में से ली गई है। "किमत्र चित्रम्। यदि चित्राविशाखे शशाङ्कलेखाम् अनुवर्तेते।''

(च) शकुन्तला ने प्रियंवदा को कहा है, "हला, किमन्तःपुरविरह पर्युत्सुकस्य राजर्षेरुपरोधेन।" यह देवनागरी वाचना का पाठ है। यह पाठ मैथिली और बंगाली वाचनाओं में मिलता है, अतः दाक्षि. एवं देवनागरी वाचनावालों ने उसे वहाँ से स्वीकारा है। इन सब के प्रतिपक्ष में काश्मीरी वाचना में "हला, अलं वोऽन्तःपुर-विहारपर्युत्सुकेन राजर्षिणा उपरोधेन।" ऐसा सर्वथा भिन्न पाठ सुरक्षित है।

(छ) चतुर्थांक में, शकुन्तला-विदाय प्रसंग में (देवनागरी पाठ में) काश्यप मुनि ने शकुन्तला को ससुराल में कैसे रहना है उसका उपदेश करते हुए कहा है कि "भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी''। यह पाठ काश्मीरी वाचना में से लिया गया है। उसके सामने मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में जो पाठ है वह, "भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी" है।

(ज) शकुन्तला पिता कण्व से पूछती है : "कथमिदानीं तातस्याङ्कात् परिभ्रष्टा मलयतरोन्मूलिता चन्दनलतेव देशान्तरे जीवितं धारयिष्ये।" इस तरह का दाक्षि. एवं देवनागरी पाठ मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में से लिया गया है। क्योंकि यहाँ जो काश्मीरी वाचना का पाठ है उसमें सर्वथा पृथक् उपमान मिल रहा है। जैसे कि, "कथमिदानीं तातेन विरहिता करिसार्थपरिभ्रष्टा करेणुकेव प्राणान् धारयिष्ये।''

(झ) पञ्चमांक में, राजा ने गौतमी को कहा कि, "तापसवृद्धे, स्त्रीणाम् अशिक्षितपटुत्वममानुषीषु... अन्यै-र्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति॥" तब उसको सुन कर शकुन्तला रोष पूर्वक कहती

है : “अनार्य, आत्मनो हृदयानुमानेन पश्यसि” इत्यादि। यहाँ देवनागरी वाचना में दुष्यन्त को जो “अनार्य” शब्द से सम्बोधित किया है, वह मैथिली एवं बंगाली वाचना में से लिया गया है। क्योंकि काश्मीरी वाचना में ऐसा कोई सम्बोधन शकुन्तला ने नहीं किया है।

(ञ) राजा ने निष्ठुरतापूर्वक शकुन्तला का प्रत्याख्यान कर दिया। शकुन्तला रोने लगती है, तब गौतमी पूछती है : “वत्स शाङ्र्गरव, अनुगच्छतीयं खलु नः करुणपरिदेविनी शकुन्तला। प्रत्यादेशपरुषे भर्तरि किं वा मे पुत्रिका करोतु।” देवनागरी का यह पाठ काश्मीरी वाचना में से लिया गया है। क्योंकि मैथिली एवं बंगाली पाठ में शकुन्तला को पुत्रिका शब्द से उल्लिखित नहीं की है। वहाँ तो “प्रत्यादेश-पिशुने भर्तरि किं कुर्याद् तपस्विनी।” ऐसा तपस्विनी शब्द रखा गया है।

(ट) षष्ठांक में, धीवर कहता है कि, “पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पा-मृदुरेव श्रोत्रियः।” दाक्षि. एवं देवनागरी वाचना का यह पाठ काश्मीरी में से लिया गया है। काश्मीरी में भी श्रोत्रिय शब्द मिलता है। किन्तु इस स्थान में बंगाली वाचना में “पशुमारणं करोति दारुणमनुकम्पामृदुलः अपि सौनिकः।” ऐसा परिवर्तन करके सौनिक शब्द रखा गया है।

(ठ) देवी वसुमती स्वयं वर्तिका-करण्डक लेकर आ रही है, ऐसा सुन कर विदूषक कहता है कि “यदि भवान् अन्तःपुर कालकूटान्मोक्ष्यते तदा मां मेघप्रतिच्छन्दे प्रासादे शब्दापय।” देवनागरी वाचना का यह पाठ मैथिली एवं बंगाली पाठों से प्रभावित है। मैथिली में देवी वसुमती के लिए “अन्तःपुरकूटपाश” शब्द दिया है। एवं बंगाली में “अन्तःपुरवागुरातः” शब्द मिलता है। किन्तु काश्मीरी वाचना में अन्तःपुर की देवी कुलप्रभा ईर्ष्या कषायिता होती ही नहीं है, और उसके लिए विदूषक ने कुछ कहा भी नहीं है।

इन उदाहरणों से इतना स्पष्ट होता है कि देवनागरी वाचना के पाठ को संक्षिप्ततर कर देने के साथ साथ पूरी नाट्यकृति का जो पाठसम्पादन किया गया है उसमें जगह जगह पर जो पाठान्तर चुने गये हैं, वे कुत्रचित् काश्मीरी वाचना में से संगृहीत किये गये हैं, अथवा कुत्रचित् मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में से लिये गये हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि दाक्षिणात्य एवं देवनागरी वाचना न केवल संक्षिप्त की गई वाचना है, वह संमिश्रित की गई वाचना भी कहने योग्य है। हाँ, इसके साथ साथ यहाँ अनतिविलम्बेन यह भी कहना आवश्यक है कि दाक्षिणात्य वाचना के अज्ञात सम्पादक ने अपनी स्वतन्त्र सम्पादन दृष्टि भी कार्यान्वित की है। जिसके फल स्वरूप पञ्चम अङ्क का आरम्भ अन्य वाचनाओं से सर्वथा पृथक् ही है। एवमेव, षष्ठांक में अप्सरा का नाम सानुमती दिया है, जो काश्मीरी एवं मैथिली-बंगाली से भिन्न ही है। विस्तारभय से इस चर्चा को रोक लेते हैं। किन्तु दाक्षिणात्य एवं देवनागरी वाचना का 'रंगावृत्ति' के रूप में पुनर्मूल्यांकन करना अतीव आवश्यक है॥ इति दिक्॥

[7]

उपसंहार : प्रस्तुत परामर्श में कालिदास के अभिज्ञानशकुन्तला (अभिज्ञानशकुन्तलम् या अभिज्ञान-शाकुन्तलम्) नाटक के पाठविचलन की आनुक्रमिकता प्रस्थापित करने का उपक्रम सप्रमाण किया गया है। इसमें इस नाटक का प्राचीनतम पाठ काश्मीर की शारदालिपि में लिखी हुई पाण्डुलिपियों में सुरक्षित रहा है ऐसा दिखलाया है। तथा उस काश्मीरी वाचना में भी परापूर्व से चले आ रहे कुछ प्रक्षेप विरासत में मिले हैं ऐसा दिखला कर, यह भी स्पष्ट किया है कि प्राचीनतम होने मात्र से काश्मीरी वाचना के पाठ को ही उसके साद्यन्त स्वरूप में सर्वथा मौलिक नहीं मानना चाहिए। शारदालिपि में संचरित हुए पाठ का भी उच्चतर समीक्षा से परीक्षण करने की आवश्यकता है।

काश्मीरी वाचना में से द्वितीय क्रमांक पर मैथिली वाचना निकली है, तत्पश्चात् तृतीय क्रमांक पर बंगाली वाचना को बनाई गई है ऐसा

उदाहरणों से सिद्ध किया गया है। (तथा बृहत्पाठ वाली तीनों वाचनाओं में भी 'रंगावृत्ति' का पाठ ही दिखना है।) चतुर्थ एवं पञ्चम क्रमांक पर दाक्षिणात्य तथा देवनागरी वाचनायें गठित की गई है। इस तरह की आनुक्रमिकता में यह भी देखा जाता है कि कविप्रणीत मूल पाठ क्रमशः बृहत् से बृहत्तर, और बृहत्तर से बृहत्तम बनता गया है। जिसमें तीनों वाचनाओं का पौर्वापर्य भी प्रतिबिम्बित हो रहा है। ऐसा होने के बाद, उस पाठ में भारी कटौती करके दाक्षिणात्य एवं देवनागरी वाचना का संक्षिप्त एवं संक्षिप्ततर पाठ तैयार किया गया है। अल्प समयावधि में इस नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करने की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए ऐसी रंगावृत्तियाँ बनाने की प्रवृत्ति सदैव कार्यरत रहती है। इस संक्षिप्तीकरण के साथ साथ उसमें जिन पाठभेदों को स्वीकारे गये हैं वे कुत्रचित् काश्मीरी वाचना में से लिये गये हैं, तो कुत्रचित् मैथिली-बंगाली वाचनाओं में से संगृहीत किये गये हैं, यानि दाक्षिणात्य एवं देवनागरी वाचना न केवल संक्षिप्त वाचना है, उन दोनों को संमिश्रित वाचनाएं भी कहनी होगी।

हमने दाक्षिणात्य एवं देवनागरी पाठों की आलोचना एक स्वतन्त्र लेख में की है, जिसका प्रकाशन भी ''नाट्यम्'' (अंक-77, 2015) में हुआ है। उसमें दाक्षिणात्य पाठ का आविष्कार चतुर्थ क्रमांक पर सिद्ध किया है; तथा देवनागरी वाचना का आविष्कार पंचम क्रमांक पर हुआ है॥ एवं च दाक्षिणात्य पाठ संक्षिप्त है, किन्तु देवनागरी पाठ संक्षिप्ततर किया गया है। इस हकीकत को स्वीकारने में अब देरी नहीं होनी चाहिए। क्योंकि पूर्वोक्त विमर्श अन्तः प्रमाणों से अनुमोदित है ॥अस्तु॥

एवञ्च, ''अभिज्ञानशकुन्तला की पाँच रंगावृत्तियाँ'' शीर्षकवाले हमारे आगामी ग्रन्थ में पाँचों वाचनाओं का पाठ एकत्र उपलब्ध होगा। जिसकी भूमिका में बताया है कि इन सब में केवल रंगावृत्ति का ही पाठ संचरित हुआ है; जिसका प्रकाशन उज्जयिनी से सद्यः होने वाला है ॥इति शिवम्॥

सन्दर्भ

1. गुवाहाटी युनिवर्सिटी, गोहत्ती के द्वारा आयोजित अखिल भारतीय प्राच्य विद्या परिषद् (47 अधिवेशन) के पाण्डुलिपि विज्ञान विभाग में (2-4 जनवरी, 2015) प्रस्तुत किया गया शोध-आलेख।

2. तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं, क्लान्तो मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः।
हस्ताद् भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासज्यमानेक्षणो, निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहाच्छक्नोमि शून्यादपि॥3-23॥
3. द्रष्टव्य अभिज्ञानशाकुन्तल की देवनागरी वाचना में संक्षेपीकरण के पदचिह्न। शीर्षकवाला हमारा शोध-आलेख "नाट्यम्", अंक-71-74, (पृ. 27 से 57), संपादक : श्रीराधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, 2011-12।
4. Its editor claims that this text represents a Maithili recension of the play but such a fifth recession is not justified by facts. This text belongs to the Bengali-Kashmiri family, sometimes leaning towards the Bengali and sometimes towards the Kashmiri.–V. Raghavan, Introduction, p. 3, The Abhijnanasakuntala, Ed. S. K. Belvalkar, Sahity Akademy, Delhi, 1965.
5. द्रष्टव्य : अभिज्ञानशकुन्तलम्, (चन्द्रशेखरचक्रवर्तिकृतया सन्दर्भदीपिकया समेतम्' सं. वसन्तकुमार म. भट्ट, प्रकाशक : राष्ट्रिय पाण्डुलिपि मीशन, दिल्ली, 2013
6. इस तरह की असम्बद्धता डॉ. रिचार्ड पिशेल (पृ. 19) एवं डॉ. दिलीपकुमार कांजीलाल (पृ. 223) द्वारा सम्पादित बंगाली वाचना के समीक्षित पाठों में समान रूप से दृष्टिगोचर हो रही है।
7. द्रष्टव्य है:-चिन्मय शोध-संस्थान, एरानाकुलमम् की पत्रिका "धीमहि"। वॉ. 3, 2012 में प्रकाशित लेख।
8. क्योंकि नायक-नायिका के नैसर्गिक प्रेमसहचार (संवनन) से पहले ही दुष्यन्त प्रकट शब्दों में शारीरिक सुखभोग की याचना करे, और अनुगामी दो दृश्यों में 1. दुष्यन्त शकुन्तला के हाथ में मृणालवलय पहनावे तथा 2. पुष्परज से कलुषित हुए उसके नेत्र को अपने वदनामारुत से प्रमार्जित कर दे ऐसे प्रसंग बाद में प्रस्तुत हो वह युक्तिसंगत नहीं है। दूसरे दृष्टिकोण से सोचा जाये तो सखियों की उपस्थिति में भी नायक यदि सहशयन की मांग कर सके तो अनुगामी दृश्यावली में बलात्कारपूर्वक भी वह शकुन्तला को प्राप्त करने की चेष्टा करें ऐसे दृश्य आने की ही हम उम्मीद रखेंगे। लेकिन इस अङ्क के उत्तरवर्ती भाग में ऐसा तो कुछ होता नहीं है। अतः इस अङ्क के सभी अश्लील पाठ्यांश प्रक्षिप्त ही सिद्ध होते हैं।
9. इस तरह की बृहत्पाठवाली देवनागरी वाचना की अन्य पाण्डुलिपियाँ भी ग्रन्थभण्डारों में है ऐसी हमारी जानकारी है। यु.जी.सी. के द्वारा अनुदानित मेजर रिसर्च प्रोजेक्ट में उसका अन्वेषण अभी चल रहा है।

अभिज्ञानशकुन्तला (1)[1]

प्रथमोऽङ्कः2

[3]या स्रष्टुस्सृष्टिराद्या, पिबति विधिहुतं या हवि[4], र्या च होत्री,
ये द्वे कालं विधत्तः, श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुस्सर्वबीजप्रकृतिरिति, यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रसन्नस्तनुभिरवतु नस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥1-1॥

(नाद्यन्ते)

सूत्रधारः : (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये, यदि नेपथ्यविधानमवसितं तदितस्तावद् आगम्यताम्।

≠(2) (प्रविश्य)

नटी– अय्य, इअम्हि। आणवेदु अय्यो को णिओओ अणुचिट्ठीअदु त्ति[5]। (आर्य, इयमस्मि। आज्ञापयत्वार्यः को नियोगोऽनुष्ठीयताम् इति।)

सूत्रधारः : (दृष्ट्वा) आर्ये, अभिरूपप्रायभूयिष्ठेयं[6] परिषत्। अस्यां च किल कालिदासग्रथितवस्तुना नवेन [अभिज्ञानशकुन्तला नाम][7] नाटकेनोपस्थातव्यम् अस्माभिः। तत्प्रतिपात्रम् आस्थीयतां यत्नः।

नटी : सुविहिदप्पओअदाए अय्यस्स ण किं चि परिहाइस्सदि[8]। (सुविहितप्रयोगतयाऽऽर्यस्य न किंचित् परिहास्यते।)

सूत्रधारः : (सस्मितम्) आर्ये, वेदयामि ते भूतार्थम्।[9]
आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।

बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः ॥1-2॥

नटी10 : एवं णेदं। अणन्तरकरणीअं दाणिं अय्यो आणवेदु।
(एवमेतत्। अनन्तरकरणीयमिदानीमार्य आज्ञापयतु।)

सूत्रधारः : (दृष्ट्वा[11]) किमन्यत्। अस्याः परिषदः श्रुतिप्रसादहेतोरिमम् एव नातिचिरप्रवृत्त[12] मुपभोगक्षमं ग्रीष्मकालम् अधिकृत्य गीयतां तावत्। सम्प्रति हि–
सुभगसलिलावगाहाः पाटलिसंसर्ग[13] सुरभिवनवाताः।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः ॥1-3॥

[1] **(3)नटी**– (तथा गायति)
खण[14] चुम्बिआइं भमरेहिं[15] सुअअ सुउमारकेसरसिहाइं।
अवदंसअन्ति पमदा दअमाणाओ सिरीसकुसुमाइं ॥1-4॥
(क्षणचुम्बितानि भ्रमरैस्सुभग-सुकुमार-केसर-शिखानि।
अवतंसयन्ति प्रमदा दयमानाः शिरीषकुसुमानि[16] ॥1-4॥)

सूत्रधारः : आर्ये, सुष्ठु गीतम्। एष हि–गीतरागावबद्धचित्तवृत्ति[17] रालिखित इव स्थितस्सर्वतो रङ्गः। तदिदानीं कतमत् प्रकरणमाश्रित्य जनमाराधयावः।

नटी : णं पढमं येव अय्येण[18] आणत्तं जहा ण अहिणाणसउन्तला नाम अपुरवं णाडअं पओएण अधिअरीअदु[19] त्ति। (ननु प्रथममेवार्येणाज्ञप्तं यथा न अभिज्ञानशकुन्तला नामापूर्वं नाटकं प्रयोगेणाधिक्रियताम् इति।)

सूत्रधारः : भवतु, सम्यग् अनुप्रबोधितोऽहम्, अस्मिन् क्षणे खलु विस्मृतं मया तत्। कुतः
तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
(नेपथ्याभिमुखम् अवलोक्य)
एष राजेव दुष्ष्यन्त[20] स्सारङ्गेणातिरंहसा ॥1-5॥
(इति निष्क्रान्तौ॥)

॥ प्रस्तावना ॥

(ततः प्रविशति (तः)[21] रथयातकेन मृगानुसारी चापहस्तो राजा दुष्यन्तस्सूतश्च ।)

सूतः : (राजानं मृगं चावलोक्य) [1] (4)
कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि चाधिज्यकार्मुके ।
मृगानुसारिणः साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम् ॥1-6॥

राजा : सुदूर[22] मनेन कृष्णसारेण वयमाकृष्टाः । अयमिदानीमपि—
ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।
शष्पै[23] रर्धावलीढैः श्रमविततमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतित्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥1-7॥
कथमनुपातिन एव मे प्रयत्नप्रेक्षणीयस्संवृत्तः ।

सूतः : आयुष्मन्, उद्घातिनी भूमिरियम्, मया रश्मिसंयमनाद् रथस्य वेगो मन्दीकृतः ।[24] तेनैष ते मृगो विप्रकृष्टान्तरस्संवृत्तः । सम्प्रति तु समदेशवर्ती, न ते दूरासदो भविष्यति ।

राजा : मुच्यन्ताम् अभीषवः ।

सूतः : यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । (तथा कृत्वा रथवेगान्तरं निरूपयन्) आयुष्मन् पश्य, पश्य । एते—
मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया
निष्कम्पचामरशिखा [1] (5) निभृतोच्चकर्णाः ।
आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलंघनीया
धावन्ति ते मृगजवाक्षमयेव रथ्याः ॥1-8॥

राजा : सत्यम्, अतीत्य हरिहरीनपि हरयो वर्तन्ते । तथा हि—
यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद् विपुलताम्
यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसन्धानमिव तत् ।
प्रकृत्या यद् वक्रं तदपि समरेखं नयनयो-
र्न मे दूरे किञ्चिन्, न च भवति पार्श्वे रथजवात् ॥1-9॥

सूतः : आयुष्मन्, अस्य खलु बाणपथवर्तिनः कृष्णसारङ्गस्यान्तरे तपस्विनः ।[25]

राजा : (ससंभ्रमम्) तेन हि, निगृह्यन्ताम् वाजिनः।

सूतः : तथा करोमि। (इत्युक्त्वा रथं स्थापयति)[26]

(ततः प्रविशत्यात्मना तृतीयस्तापसः[27])

तापसः : (ससंभ्रमं हस्तम् उद्यम्य) राजन्, राजन्। आश्रममृगोऽयम्, आश्रममृगोऽयम्।

तत्साधु[28] कृतसन्धानं प्रतिसंहर सायकम्।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि ॥1-10॥

राजा : एषः प्रतिसंहृतः। (यथोक्तं करोति)

तापसः : (सहर्षम्) साधु भोः। सदृशम् एतत् पुरुवंशजातस्य भवतः। सर्वथा चक्रवर्तिनं पुत्रमवाप्नुहि।

राजा : (सप्रणामम्[29]) प्रतिगृहीतं तपोधनवचनम्।

तापसः : समिदाहरणा[1] **(6)** य प्रस्थिता वयम्। एष चास्मद्गुरोः काश्यपस्य संसक्तहिमवत्सानुरनुमालिनीतीरम् आश्रमो दृश्यते। न चेद् अन्यकार्यातिपातस्तत् प्रविश्यात्र प्रतिगृह्यता-मतिथिसत्कारः। अपि च,

धन्यास्तपोधनानां प्रतिहतविघ्नाः[30] क्रिया[31] स्समालोक्य।
ज्ञास्यसि कियद् भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति ॥1-11॥

राजा : अयं संनिहितोऽत्र[32] कुलपतिः।

तापसः : अद्यैवानवद्याम् दुहितरं शकुन्तलाम् अतिथिसत्काराय संदिश्य, प्रतिकुलं दैवं चास्याः[33] शमयितुं सोमतीर्थं प्रभासं गतः।

राजा : (आत्मगतम्[34]) भवतु, तां द्रक्ष्यामि, सा माम् विहितभक्तिं[35] महर्षेः करिष्यति।

तापसः : साधयामस्तावत्। (इति सशिष्यो निष्क्रान्तः)

राजा : सूत, चोदयाश्वान्। पुण्याश्रमदर्शनेन तावदात्मानं पुनीमहे।[36]

सूतः : यदाज्ञापयत्यायुष्मान्। (परिक्रम्य रथयातकं निरूपयति)

राजा : (समन्ताद् विलोक्य) सूत, अकथितोऽपि ज्ञायत[37] एव यथायमाभोगस्तपोवनस्येति।

सूतः : कथमिति।

राजा : न[38] पश्यति भवान्। इह हि—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणाम् अधः
प्रस्निग्धाः क्वचिद् इङ्गुदीफलभिदस्सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमाद् अभि1(7) न्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखा निष्यन्दलेखाङ्किताः ॥1-12॥

सूतः : सर्वम् उपपन्नम्।

राजा : (स्तोकमन्तरं गत्वा)[39]

कुल्याम्भोभिः प्रसृतचपलैः शाखिनो धौतमूला
भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन।
एते चार्वागुपवनभुवि च्छिन्नदर्भाङ्कुरायां
नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति ॥1-13॥

मा[40] तपोवनवासिनामुपरोधो भूत्। तद् एतावत्येव रथं स्थापय, यावद् अवतरामि।

सूतः : धृताः प्रग्रहाः, अवतरत्वायुष्मान्।

राजा : (अवतीर्य) विनीतवेषेण प्रवेश्यानि तपोवनानि। तदिदमाभरणं तावद् प्रगृह्यताम्। (इति सूतायाभरणं दत्त्वा धनुश्चोत्सृज्य) सूत, यावदहम् उपास्य महर्षीन् उपावर्ते, तावद् आर्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः।

सूतः : यदाज्ञापयत्यायुष्मान्। (इति निष्क्रान्तः)

राजा : (परिक्रम्यावलोक्य च) इदमाश्रमद्वारं, यावत् प्रविशामि। (प्रविश्य[41] निमित्तं सूचयन्) (विमृशति)

शान्तमिदम् आश्रमपदं, स्फुरति च बाहुः, कुतः फलमिहास्य।
अथ वा, भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति[42] सर्वत्र ॥1-14॥

(नेपथ्ये)

इदो इदो पिअसही। (इत इतः प्रियसखी)

राजा : (कर्णं दत्त्वा) अये दक्षिणेन कुसुमपादपवीथीमालाप1(8) म् {आलाप}[43] इव, यावदत्र गच्छामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) एतास्तपस्विकन्यकास्स्वप्रमाणानुरूपैस्सेचनघटकै[44] र्बालपादपान्

सिञ्चन्त्य इत एवाभिवर्तन्ते। (निपुणं निर्वर्ण्य) अहो माधुर्यकान्तं खलु दर्शनम् आसाम्।[45] तद् यावदेतां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि। (विलोकयन् स्थितः)

(ततः प्रविशति यथोक्तव्यापारा सह सखीभ्यां शकुन्तला)

सख्यौ : हला सउन्तले, तइत्तो वि खु[46] ताद कस्सवस्स अस्सम-रुक्खआ पिअत्ति तक्केम्ह, जेण णवमालिआ[47] पेलवावि तुममेदस्स आलवालपूरणे णिउत्ता। (हले शकुन्तले, त्वत्तोऽपि खलु तातकाश्यपस्याश्रमवृक्षकाः प्रिया इति तर्कयामो, येन नवमालिका-पेलवापि त्वम् एतस्यालवालपूरणे नियुक्ता।)

शकुन्तला : सहि, ण केअलं ताद णिओओ त्ति। बहुमाणो जाव ममावि। सुअरिसिणिहो[48] एदेसु अत्थि य्येव।
(सखि, न केवलं तातनियोग इति। बहुमानो यावन् ममापि। सोदरीस्नेह एतेष्वस्त्येव।)

(वृक्षसेकं निरूपयति)

उभे : हले सउन्तले, उदअं लम्भिदा[49] गिम्हकालकुसुमदाइणो गुम्मआ। दाणिं अदिक्कन्तसमए वि रुक्खए सिञ्चम्ह[50]। तसुणो अणहिसन्धिदपुरवो[51] धम्मो भविस्सदि। (हले शकुन्तले, उदकं लम्भिता ग्रीष्मकाल-कुसुमदायिनो गुल्मकाः। इदानीमतिक्रान्तसमयेऽपि वृक्षकान् सिञ्चामः। तस्माद् अनभिसन्धितपूर्वो धर्मो भविष्यति।)

शकुन्तला : अहिणन्दणीअं मन्तेधि। (अभिनन्दनीयं मन्त्रयथः।)

(नाट्येन सिञ्च[1] (**9**)ति)

राजा : (निर्वर्ण्य सकौतुकम्) कथमियं सा कण्वदुहिता, अहो विस्मयः।
शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥1-15॥
भवतु, पादपान्तरित एव विश्वस्तभावाम् एनां पश्यामि।

(तथा करोति)

शकुन्तला : एसो वादेरिदपल्लवाङ्गुलीहिं तुवरावेदि विअ मं बउलरुक्खको,

जाव णं सम्भावेमि। (एष वातेरितपल्लवाङ्गुलिभिस्त्वरयतीव मां बकुलवृक्षकः। यावदेनं संभावयामि।)

(राज्ञः संनिकर्षमागच्छति।)

राजा : (निर्वर्ण्य) असाधुदर्शी तत्रभवान् काश्यपः य इमाम् आश्रमधर्मचरणे नियुङ्क्ते।

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं भविष्यति।[52]

ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया समिल्लतां छेत्तुम् ऋषिर्व्यवस्यति॥1-16॥

शकुन्तला : हला अणसूए, अदिपिणद्धेण पिअंवदाए वक्कलेण णिअन्तिदाम्हि। ता से(सि)ढिलेहि दाव णम्। (हले अनसूये, अतिपिनद्धेन प्रियंवदया वल्कलेन नियन्त्रितास्मि, तच्छिथिलय तावदेनम्।)

(अनसूया शिथिलयति[53])

प्रियंवदा : (सस्मितम्) पओहरवित्थारइत्तुअं[54] अप्पणो जोव्वणं उवालह। (पयोधरविस्तारयितृकम् आत्मनो यौवनम् उपालभस्व।)

राजा : कामम् अप्रतिरूपम् अस्य वयसो वल्कलम्। न पुनरलंकारश्रियं न पुष्यति। कुतः ≠(10)

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा[55] वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं[56] नाकृतीनाम् ॥1-17॥

प्रियंवदा : हला सउन्तले, एसा तादकस्सवेण तुअं विअ संवड्ढिदा अलिन्द {आ} ए माहवीलदा। पेक्ख णम्। किं विसुमरिदा दे। (हले शकुन्तले, एषा तातकाश्यपेन त्वमिव संवर्द्धितालिन्दके माधवीलता। प्रेक्षस्वैनाम्। किं विस्मृता ते।)

शकुन्तला : अत्ता पि विसुमरिस्सदि। (आत्मापि विस्मरिष्यते।)

(इति तत्समीपं गच्छति)

प्रियंवदा : हला सउन्तले, चिट्ठिआ इध य्येव मुहुत्तअअं, दाव बउलरुक्खसमीवे। (हले शकुन्तले, तिष्ठेहैव मुहूर्तकम्, तावद्

बकुलवृक्षसमीपे।)

शकुन्तला : किं ति। (किम् इति।)

प्रियंवदा : तए समीवट्ठीदाए लदासणाहो विअ मे बउलरुक्खको पडिभादि[57]।
(त्वया समीपस्थितया लतासनाथ इव मे बकुलवृक्षः प्रतिभाति।)

शकुन्तला : अदो खु पिअंवदासि। (अतः खलु प्रियंवदाऽसि।)

राजा : प्रियं (य) मपि तथ्यमाहैषा। अस्याः खलु,
अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनम् अङ्गेषु सन्नद्धम्॥ 1-18॥

अनसूया : हला सउन्तले, इअं स्वअंवरवहूस्सहआरस्स तए किदणामधेअस्स[58] वणदोसिणो णवमालिका।[59] (हले शकुन्तले, इयं स्वयंवरवधूः सहकारस्य त्वया कृतनामधेयस्य वनतोषिणः नवमालिका।)

शकुन्तला : (उपगम्यावलोक्य ≠(11) च) हला रमणीये काले इह(म) स्स पादवमिहुणस्य वदिअरो संवुत्तो। इअं णवकुसुमजोव्वणा अअं वि बद्धफलदाए उवभोअक्खमो सहआरो। (हले, रमणीये काले अस्य पादपमिथुनस्य व्यतिकरस्संवृत्तः, इयं नवकुसुमयौवना, अयमपि बद्धफलतयोपभोगक्षमस्सहकारः।) (पश्यन्ती तिष्ठति)

प्रियंवदा : हला अणसूए, जाणासि किं णिमित्तं सउन्तला वणदोसिणं अधिमेत्तं पेक्खदि त्ति। (हले अनसूये, जानासि किं निमित्तं शकुन्तला वनतोषिणम् अधिमात्रं प्रेक्षत इति।)

अनसूया : ण खु[60] विभावेमि। (न खलु विभावयामि।)

प्रियंवदा : जधा वनदोसिणा अणुसदिसेण पादपेण सङ्गदा णवमालिआ।[61] अवि णाम एवं अहम्पि अत्तणो अणुरूवं वरं लभेमि त्ति। (यथा वनतोषिणानुसदृशेन पादपेन संगता नवमालिका, अपि नाम एवमहम् अप्यात्मनोऽनुरूपं वरं लभ इति।)

शकुन्तला : एस णूणं अत्तणो दे चित्तगदो मणोरहो ।[62] (एष नूनम् आत्मनस्ते चित्तगतो मनोरथः।) (इति कलशम् आवर्जयति)[63]

राजा : अपि नाम कुलपतेरियम् असवर्णक्षेत्रसम्भवा स्यात्। अथ वा, असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदेवम् अस्याम् अभिलाषि मे मनः। सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥ 1-19॥ तथापि तत्त्वत एनां[64] वेदितुमिच्छामि[65]।

शकुन्तला : (भ्रमरसम्पातं नाटयति) अम्हो, सलिलसेअसंवुत्तो णवमालिअं[66] उज्झिअ वअणं मे महुअरो अणुवत्तदि ।[67] (अहो सलिलसेकसंवृत्तो नवमालिकाम् उज्झित्वा वदनं मे मधुकरोऽनुवर्तते।) (भ्रमरबाधां निरूपयति)

राजा : (विलोक्य सस्पृहम्)[68]
≠(12) चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं,
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकगतः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं देवैर्मौग्ध्यान् {मौग्ध्यान्}[69] मधुकर हतास्त्वं खलु कृती॥ 1-20॥

शकुन्तला : परित्ताअध मं इमिणा कुसुमपाडच्चरेण अभिभूअमाणं। (परित्रायध्वम् मामनेन कुसुमपाटच्चरेणा[70] भिभूयमानाम्।)

उभे : (विहस्य) केवअं परित्ताणे दुस्सन्तं आकन्द। राअरक्खिदाणि[71] खु तवोवणाणि होन्ति। (केवलं परित्राणे दुष्यन्तम् आक्रन्द। राजरक्षितानि खलु तपोवनानि भवन्ति।)

राजा : अवसरः खल्वयं ममात्मानं दर्शयितुम्। (उपसृत्य) न भेतव्यम्, न भेत्तव्यम्। (इत्यर्धोक्तेऽपवार्य) एवं राजाहमिति प्रतिज्ञातं भवति। भवत्वतिथिसमुचिताचारसत्कारम्[72] अवलम्बिष्ये।

शकुन्तला : (सत्रासम्) ण एसो मे पुरदो अइधट्ठो[73] विरमदि। ता अण्णदो ग {द} मिस्सं। (इति पटान्तरेण स्थित्वा सदृष्टिक्षेपम्) हद्धी कधं इतो वि मं अणुसरदि। (नैष मे पुरतोऽतिधृष्टो विरमति। तदन्यतो गमिष्यामि। हा धिक्, कथम् इतोऽपि मामनुसरति।)

राजा : (सत्वरम् उपेत्य)

कः पौरवे वसुमतीं शासति[74] शासितरि दुर्विनीतानाम्।
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु॥ 1-21॥
(सर्वा राजानं दृष्ट्वा किञ्चिदिव सम्भ्रान्ताः।)

अनसूया : ण खु किञ्चि अच्चाहिदं। इअं पुणो ण पिअ ≠(13) सही महुअरेण आउलीअइ(किअ) माणा[75] कादरी- भूदा। (न खलु किञ्चिदत्याहितम्। इयं पुनर्नः प्रियसखी मधुकरेणाकुलीक्रियमाणा कातरीभूता।)

(शकुन्तलां दर्शयति)

राजा : (शकुन्तलामुपेत्य) भवति, अपि तपस्ते वर्धते[76]।

(शकुन्तला ससाध्वसाऽवनतमुखी अवचना[77] तिष्ठति)

अनसूया : (राजानं प्रति) दाणिं अदिधिविसेसलाभेण[78]। (इदानीमतिथि-विशेषलाभेन।)

प्रियंवदा : साअदं अय्यस्स[79]। (स्वागतमार्यस्य)

अनसूया : हला सउन्तले, गच्छ तुमं उडआदो फलमिस्सं[80] उवाहर, पादोदअं अत्थिय्येव[81]। (हले शकुन्तले, गच्छ त्वं, उटजतः फलमिश्रम् उपाहर, पादोदकम् अस्त्येव।)

राजा : भवतु, सुनृतयैव वाचा[82] कृतमातिथ्यम्।

प्रियंवदा : तेण इमस्सिं दाव पादवच्छाआसीअलाए सत्तवण्णवेदिआए अय्यो उपविसिअ मुहुत्तअं परिस्समं अवणेदु[83]। (तेनास्मिन् तावत् पादपछायाशीतलायां सप्तपर्णवेदीकायाम् आर्य उपविश्य मुहूर्तं परिश्रमम् अपनयतु।)

राजा : ननु यूयम् अप्यनेन धर्मकर्मणा परिश्रान्ताः, तन्मुहूर्तम् उपविशत।

प्रियंवदा : (जनान्तिकम्) हला सउन्तले, उइदं णो अदिधिपय्युवासणं[84], ता इध उवविसम्ह। (सर्वा[85] उपविशन्ति) (हले शकुन्तले, उचितं नोऽतिथि-पर्युपासनम्। तद् इहोपविशामः।)

शकुन्तला : (आत्मगतम्) किं णु खु[86] इमं पेक्खिअ तवोवणविरोधिणो

विआरस्स गमणीअम्हि संवुत्ता। (किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता।)

राजा : (सर्वा विलोक्य) अहो समानवयोरूपरमणीयं सौहार्दं भवतीनाम्।

प्रियंवदा : (जनान्तिकम्) को णु खु[87] एसो महु ≠(14) रगम्भीराकिदी, महुरं[88] पिअं आलवन्तो। पहवन्तं दक्खिण्णं विअ करेदि। (को नु खल्वेष मधुरगम्भीराकृतिर्मधुरं प्रियमालपन् प्रभवन्तं दाक्षिण्यमिव करोति।)

अनसूया : (जनान्तिकम् एव) सहि, ममावि कोदूहलम् अत्थि य्येव। ता पुच्छिस्सं दाव णं। (प्रकाशम्) अय्यस्स णो महुरालावजणिदो विसम्भो मन्तावेदि। कदमं पुण अय्यो वण्णं अलंकरेदि। किं णिमित्तं वा सुउमारेण अय्येण तवोवणागमणपरिसमस्स अत्ता पत्थिकिदो। (सखि, ममापि कौतूहलम् अस्त्येव। तत् प्रक्ष्यामि तावदेनम्। आर्यस्य नो मधुरालापजनितो विस्रम्भो मन्त्रयति। कतमं पुनरार्यो वर्णम् अलंकरोति। किं निमित्तं वा सुकुमारेण आर्येण तपोवनागमनपरिश्रमस्यात्मा पात्रीकृतः।)

शकुन्तला : (आत्मगतम्) हिअअ, मा उत्तम्म जं तए चिन्तिदं तं अणसूआ मन्तेदि। (हृदय, मा उत्ताम्य, यत् त्वया चिन्तितं तद् अनसूया मन्त्रयति।)

राजा : (स्वगतम्) कथम् इदानीम् आत्मानं निवेदये [89] कथं वात्मपरिहारं करोमि। भवत्वेवं तावदेनां वक्ष्ये। (प्रकाशम्) भवति, वेदविदस्मि पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः। सोऽहम् आश्रमिणाम्[90] अविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः।

अनसूया : सणाधा धम्मआरिणो। (सनाथा धर्मचारिणः।)

(शकुन्तला शृङ्गारलज्जां निरूपयति)

सख्यौ : (उभयोराकारं विदित्वा) (जनान्तिकम्) हला सउन्तले, जदि अज्ज तादो इध सण्णिहिदो भवे। (हले शकुन्तले, यद्यद्य तात इह संनिहितो भवेत्।)

शकुन्तला : (सभ्रूभेदम्) ≠(15) तदो किं भवे। (ततः किं भवेत्।)

उभे91 : तदो इमं अदिधिं जीविदसव्वस्सेणावि कदत्थं[92] करे। (तत इमम् अतिथिम् जीवितसर्वस्वेनापि कृतार्थं कुर्यात्।[93])

शकुन्तला : (सरोषम्) इं अवेध, किं पि हिदए करेअ[94] मन्तेध, ण खु[95] सुणिस्सं। (परावृत्य तिष्ठति) (युवाम् अपेतम्। किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयथः। न खलु श्रोष्यामि।)

राजा : वयमपि तावद् भवत्यौ सखीगतं पृच्छामः।

उभे : अय्य, अणुग्गहेवि अब्भत्थणा। (आर्य, अनुग्रहेऽप्यभ्यर्थना।)

राजा : भगवान् काश्यपः शाश्वते ब्रह्मणि वर्तते, इयं च वां सखी तदात्मजेति कथमेतत्।

अनसूया : सुणादु अय्यो। अत्थि कोसिओ त्ति गोत्तणामधेओ महाप्पहावो राएसी। (शृणोत्वार्यः, अस्ति कौशिक इति गोत्रनामधेयो महाप्रभावो राजर्षिः।)

राजा : प्रकाशस्तत्रभवान्।

अनसूया : तं सहीअणे पहवं अवगच्छ। उज्झिअसरीरसंरक्खणादीहिं[96] उण तादकस्सवो से पिदा। (तं सखीजने प्रभवम् अवगच्छ। उज्झितशरीरसंरक्षणादिभिः पुनस्तातकाश्यपोऽस्याः पिता।)

राजा : उज्झितशब्देन जनितं में कुतूहलम्।[97] तदामूलाच्छ्रोतुमिच्छामि।

अनसूया : पुराकिल तस्स कोसिअस्स राएसिणो उग्गे तवसि वट्टमाणस्स किं वि जादसंकेहिं देवेहिं मेणआ णाम अच्छरा णिअमविग्घकारिणि पहिदा। (पुरा किल तस्य कौशिकस्य राजर्षेरुग्रे तपसि वर्तमानस्य किमपि जातशङ्कैर्देवैर्मेनका नामाप्सरा नियमविघ्नकारिणी प्रहिता।)

राजा : अस्त्येतद् अन्यसमाधिभीरुत्वं देवानाम्, ततस्ततः।

अनसूया : ≠(16) तदो वसन्तोदयसमए तए उम्मादइत्तअं रूवं पेक्खिअ ... (इत्यर्धे लज्जया विरमति।[98])

(ततो वसन्तोदयसमये तस्या उन्मादयितृकं रूपं प्रेक्ष्य...)

राजा : भवतु, पुरस्ताद् अवगम्यत एव। अप्सरस्सम्भवैषा।

अनसूया : अध इं। (अथ किम्।)

राजा : युज्यते।

मानुषीषु कथं वा स्याद् अस्य रूपस्य सम्भवः।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्॥ 1-22॥

(शकुन्तलाऽधोमुखी तिष्ठति)

राजा : (स्वगतम्) लब्धावकाशो मे मनोरथः। किन्तु परिहासोदाहृतां वरप्रार्थनां[99] श्रुत्वापि[100] न श्रद्-दधते कातरं मे मनः।

प्रियंवदा : (शकुन्तलां सस्मितं विलोक्य[101]) (नायकाभिमुखी) पुणो वि[102] वत्तुकामो अय्यो। (पुनरपि वक्तुकाम आर्यः।)

(शकुन्तला सखीम् अङ्गुल्या तर्जयति)

राजा : सम्यगुपलक्षितं भवत्या। अस्ति नस्सच्चरितश्रवणलोभाद् अन्यद् प्रष्टव्यम्[103]।

प्रियंवदा : तेण हि विआरिदेण अलम्[104]। णियन्तणाजुत्तो[105] तवस्सिअअणो[106]। (तेन हि, विचारितेनालम्। नियन्त्रणायुक्तस्तपस्विजनः।)

राजा : उपपद्यते। भवति, सखीं ते विज्ञातुमिच्छामि।

वैखानसं किम् अनया व्रतम् आप्रदानाद्
व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।
अत्यन्तम् आत्मसदृशेक्षण-वल्लभाभि-
राहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः ॥1-23॥

प्रियंवदा : अय्य, धम्माचरणे[107] वि एस प ≠(17) राधीणो जणो। गुरुणो उण से अणुरूववरपडिवादणे संकप्पो। (आर्य, धर्माचरणेऽप्येष पराधीनो जनः। गुरोः पुनरस्या अनुरूपवरप्रदाने सङ्कल्पः।)

राजा : न खलु दुर्लभैषा[108] प्रार्थना। (आत्मगतम्)[109]

भव हृदय साभिलाषं, सम्प्रति सन्देहनिर्णयो जातः।
आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्॥ 1-24॥

शकुन्तला : (सरोषमिव) अणसूए, गमिस्से[110] अहं। (अनसूये, गमिष्याम्यहम्।)

अनसूया : किं णिमित्तं। (किं निमित्तम्।)

शकुन्तला : इमं असम्बद्धालाविणीं[111] पियंवदां अय्याए गोदमीए णिवेदयिस्से[112]। (इत्युतिष्ठति) (इमाम् असम्बद्धालापिनीं प्रियंवदाम् आर्याया(यै) गौतम्या(यै) निवेदयिष्ये।)

अनसूया : सहि, ण जुत्तं अस्समवासिणो जणस्स[113] अकिदसक्कारं अदिधिविसेसं उज्झिअ सच्छन्ददो गमणं। (सखि, न युक्तम् आश्रमवासिनो जनस्य अकृतसत्कारमतिथिविशेषमुज्झित्वा स्वच्छन्दतो गमनम्।)

(शकुन्तला न किञ्चिद् उक्त्वा प्रस्थितैव।)

राजा : (अपवार्य) कथं गच्छति। (ग्रहीतुमिच्छन् पुनरात्मानं निगृह्य) अहो चेष्टाप्रतिरूपिका कामिनो मनोवृत्तिः। अहं हि,
अनुयास्यन् मुनितनयां सहसा विनयेन वारितप्रसरः।
स्थानाद् अनुच्चलन्नपि गत्वैव पुनः प्रतिनिवृत्तः॥ 1-25॥

प्रियंवदा : (शकुन्तलाम् उपसृत्य) हला चण्डि, ण दे जुत्तं गच्छिदुम्।[114] (हले चण्डि, न ते युक्तं गन्तुम्।)

शकुन्तला : (सभ्रूभङ्गम्[115]) किं ति। (किमिति)

प्रियंवदा : रुक्खसेचके[116] दुए मे धारय ≠(18) सि।[117] (वृक्षसेचनके द्वे मे धारयसि।) तेहिं दाव अत्ताणअं मोआवेहि[118]। तदो गमिस्ससि। (बलादेनां निवारयति[119]) (ताभ्यां तावद् आत्मानं मोचय। ततो गमिष्यसि।)

राजा : भद्रे, वृक्षसेचनकाद्[120] एव परिश्रान्ताम् अत्रभवतीं लक्षये। तथा ह्यस्याः,
स्रस्तांसावतिमात्रलोहित[121]—करौ बाहू घटोत्क्षेपणाद्
अद्यापि स्तनवेपथुं जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः।
बद्धं कर्णशिरीषरोधि[122] वदने घर्माम्भसां जालकं,
बन्धे स्रंसिनि चैकहस्तयमिताः पर्याकुला मूर्धजाः ॥1-26॥
तदहमेनाम् अनृणां त्वयि करोमि। (स्वम्[123] अङ्गुलीयं प्रयच्छति)
(उभे नाममुद्राक्षराण्यनुवाच्य परस्परं मुखमवलोकयतः)

राजा : अलम् अस्माकम् अन्यथा सम्भावितेन। राज्ञः परिग्रहोऽयम्।

प्रियंवदा : तेण हि णारहदि[124] इदं अण्णो अङ्गुलीकविओगकारणं[125]। अय्यस्स तुह वअणेण एसा अरिणा येव मम[126]। (तेन हि नार्हतीदमन्यो- ऽङ्गुलीयक-वियोगकारणम्। आर्यस्य तव वचनेनैषाऽनृणैव मम।)

प्रियंवदा[127] : (परिवृत्यापवार्य च) हला सउन्तले, मोइदासि[128] अणुअम्पिणा अय्येण, अहवा[129] महाणुभावेण। किदण्णा दाणिं होहिसि[130]। (हले शकुन्तले, मोचितास्यनुकम्पिनार्येणाथ वा महानुभावेन। कृतज्ञेदानीं भविष्यसि।)

शकुन्तला : (अपवार्य निःश्वस्य) ण इदं विसुमरिस्सदि जदि अत्तणो पहवे[131]। (न इदं विस्मरिष्यते, यद्यात्मनः प्रभवामि।)

प्रियंवदा : हला, किं दाणिं ≠(19) सम्पदं जदि ण गच्छसि। (हला, किमिदानीं साम्प्रतं यदि न गच्छसि।)

शकुन्तला : दाणिं किं पि तए वत्तव्वं। जदा रोइस्सदि तदा गमिस्सं[132]। (इदानीं किमपि त्वया वक्तव्यम्। यदा मे रोचिष्यते तदा गमिष्यामि।)

राजा : (शकुन्तलां विलोकयन् स्वगतम्) किं नु खलु यथा वयम् अस्याम्, एवम् इयमपि अस्मान् प्रति स्यात्। अथवा लब्धगाधा मे प्रार्थना। कुतः-

वाचं न मिश्रयति यद्यपि मद्वचोभिः
कर्णं ददात्यवहिता[133] मयि भाषमाणे।
कामं न तिष्ठति मदाननसम्मुखीयं
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः ॥1-27॥

(नेपथ्ये)

भो भोस्तपस्विनः, अवहितास्तपोवने सत्त्वरक्षायै भवन्तु भवन्तः। पर्याप्लुतं स्त्रीकुमारम्, प्रत्यासन्नः किल मृगयाविहारी पार्थिवः।
तुरगखुरहतस्तथा हि रेणुर्विटपविषक्त[134]–जलार्द्रवल्कलेषु।
पतति परिणतारुणप्रकाशः शलभसमूह इवाश्रमद्रुमेषु॥ 1-28॥

राजा : अहो धिक्। एष खलु तथा निभृतचारी भूत्वा,

तीव्राघातप्रतिहततरुस्कन्धलग्नैकदन्तः
प्रौढासक्तव्रततिवलयासङ्गसञ्जातपाशः।
मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारंगयूथो
धर्मारण्यं विरुजति गजस्स्यन्दनालोकभीतः ॥1-29॥

राजा : (स्वगतम्) अहो धिक् प्रमादः। मदन्वेषिणः[135] सै ≠(20) निकाः तपोवनमुपरुन्धन्ति। तदपराद्धं तपस्विनाम् अस्माभिः। भवतु, गमिष्यामि[136] तावत्। (सर्वाः कर्णं दत्त्वा ससंभ्रमम् उत्तिष्ठन्ति)

अनसूया : अय्य इमिणा अक्कन्दिदेण पय्याउलम्ह[137]। ता अणुजाणिहि णो उडअगमणाअ[138]। (आर्य, अनेनाक्रन्दितेन पर्याकुलास्स्मः। तदनुजानीहि न उटजगमनाय।)

राजा : (ससम्भ्रमम्) गच्छन्तु भवत्यः। आश्रमबाधा यथा न भविष्यति, तथा प्रयतिष्यामहे।

सख्यौ : असम्भाविदसक्कारं[139] भूओ वि दाव पच्चवेक्खणनिमित्तं लज्जामो अय्यं विण्णवेदुं। विदिदभूइट्ठो सि णो सम्पदं जं दाणिं उवआर मज्झत्थदाए अवरद्धम्ह तं मरिसेसि[140]। (असम्भावितसत्कारं भूयोऽपि तावत्प्रत्यवेक्षणनिमित्तं लज्जाम आर्यं विज्ञापयितुम्। विदितभूयिष्ठोऽसि नस्साम्प्रतं यदिदानीम् उपकारमध्यस्थतयाऽपराद्धास्स्मः, तन्मर्षयसि।)

राजा : मा मैवम्। दर्शनेन भवतीनां पुरस्कृतोऽस्मि।

उभे : हला सउन्तले, एहि सिग्घतरं[141]। आउला अय्या गोदमी भविस्सदि।
(हले शकुन्तले, एहि शीघ्रतरम् आकुलार्या गौतमी भविष्यति।)

शकुन्तला : (सव्याजविलम्बितं कृत्वाऽत्मगतम्) हद्धी ऊरुत्थम्भेण विअलम्हि[142] संवुत्ता। (हा धिक्। ऊरुस्तम्भेन विकलास्मि संवृत्ता।)

राजा : स्वैरं स्वैरं गच्छन्तु भवत्यः। वयम् आवेगम्[143] आश्रमस्यापनेष्यामः।

(शकुन्तलासव्याजविलम्बितं कृत्वा परिक्रम्य सखीभ्यां सह निष्क्रा ≠(21) न्ता।)

राजा : (उत्थाय सखेदम्) मन्दौत्सुक्योऽस्मि नगरं प्रति, यावद् अनुयात्रिकजनं समेत्य नातिदूरे तपोवनस्य निवेशयामि। न खलु शक्नोमि शकुन्तलाव्यापाराद् आत्मानं निवर्तयितुम्। मम हि,

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चाद् असंवृतं[144] चेतः।
चिह्नांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ॥1-30॥

(सचिन्तः स्खलितानि[145] पदानि दत्त्वा निष्क्रान्तः)

इति प्रथमोऽङ्कः146॥

सन्दर्भ

1. अत्र ≠ अनेन चिह्नेन भूर्जपत्रोपरिलिखिताया मातृकायाः पृष्ठाङ्का निर्दिश्यन्ते।
2. चतसृणां मातृकाणां सांकेतिकानि नामानि—भूर्जपत्रस्योपरि लिखितायाः (क्र. 192 मातृकायाः कृते (भूर्ज.), ऑक्सफर्ड युनि. बोडलीयन-ग्रन्थभण्डारस्य (क्र. 1247) मातृकायाः कृते (ऑ. 1), क्र 159 इति मातृकायाः कृते (ऑ. 2), एवं श्रीनगरस्य ग्रन्थभण्डारस्य (क्र. 1435) मातृकायाश्चः कृते (श्री.) इति प्रयुज्यन्ते। ऑक्सफर्ड युनि. बोडलीयन-ग्रन्थभण्डारस्य क्र. 87 (93/170) मातृकायाः कृते (भूर्ज.-ऑ. 3), एवञ्च कार्ल बुरखाडेन स्वीकृतस्य पाठस्य कृते (बु.) इति प्रयुज्ये।
3. (भूर्ज.) श्रीगणेशयाय नमः।, (ऑ.-1) सरस्वत्यै नमः।, (ऑ.-2) नमो गणपतये। अथ शकुन्तला नाटकं लिख्यते।, (श्री.) श्रीगणेशाय नमः॥ श्रीसरस्वत्यै नमः॥
4. हविर्घृतमित्यर्थः, पिबतिशब्दसाहचर्यात्।, "तत्रैक एव जलहुताशनाभिनय उत्तमेनेत्यभिनवगुप्ताः। (नाट्यशास्त्रम् 9-173)"
5. (ऑ.-2) आणदु अय्यो को विणिओओ अनुचिट्ठीअदु त्ति।, (श्री.) इत्यत्र को णिवुत्त अनचिष्टीअअं त्ति।
6. (श्री.) अभिरूपभूयिष्ठेयं पर्षत्।
7. इतः पूर्वम् [ ] कोष्ठान्तर्गताः शब्दा भवितुमर्हन्ति। (भूर्जपत्रे, ऑ.-1, ऑ.-2, इत्यत्र नास्ति शीर्षकम्।)
8. (श्री.) सुविहिदप्पओदाए... परिहाइस्सिदि।
9. (ऑ. 1), (ऑ. 2) एवं (श्री.) इत्यत्र स्मितं कृत्वा। आर्ये, कथयामि ते भूतार्थम्।
10. (श्री.) नटी वक्ति। एवं ण्णेदं इति।
11. (ऑ.-2) एवं (श्री.) इत्यत्र रंगसूचनेयं नास्ति।

12. (ऑ.-2) नातिचिरप्रपन्न।
13. (श्री.) इत्यत्र पाटलिसंसगि. इत्यशुद्धः पाठः।
14. (ऑ. 1) इत्यत्र क्खण इति।
15. (ऑ. 1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) इत्यत्र भमलेहिं इति।
16. (श्री.) इत्यत्र संस्कृतच्छायानुवादो न प्रदत्तः।
17. (भूर्ज.) गीतरसावबद्धचित्तवृत्ति।
18. (भूर्ज.) पढमध तय्येव अव्वरेत्यशुद्धं लिखितम्, (ऑ.-2) णं पभुम य्येव।
19. (ऑ.-2) अहिण्णाणसउन्तला णाम, (बु.) जधा ण अभिण्णाणसउन्तला णाम... अधिकरीअदु त्ति।
20. (ऑ.-1) एवं (ऑ.-2) दुष्ष्वन्तः, (श्री.) दुसुष्वन्तः इत्यशुद्धः पाठः।
21. पाठसंशुद्ध्यर्थम् ( ) इति कोष्टकस्य विनियोगः क्रियते। तस्मिंश्च व्याकरणानुसारी पाठः संसूच्यते।
22. (ऑ. 1) (ऑ.-2) एवं (श्री.) इतः पूर्वम्—सारथे। इति पदमस्ति।
23. (श्री.) शेषैः इति पाठभेदः।
24. (ऑ. 1) एवं (श्री.) मन्दीकृतो वेगः इति पदक्रमः।
25. (श्री.) ... तपस्विनोपस्थिताः इत्यशुद्धः पाठः।
26. (श्री.) तथेति। रथं स्थापयति।
27. (ऑ. 1), (ऑ. 2) एवं (श्री.) तपस्वी।
28. (ऑ. 1) एवं (श्री.) तत् साधो।
29. (भूर्ज.) रंगसूचनेयं नास्ति।
30. (भूर्ज.) विग्नाः।
31. (ऑ.-1) क्रियाः इति नास्ति।
32. (श्री.) अथ संनिहितस्तत्र कुलपतिः।
33. (भूर्ज.) दैवं चास्या दैवं।
34. (भूर्ज.) इत्यत्र नास्ति।
35. (ऑ. 1) विदितभक्तिम्, (श्री.) विदितभक्त।
36. (श्री.) वाक्यमिदं नास्ति।
37. (श्री.) सारथे, ... विज्ञायत एव।
38. (ऑ.-1) एवं (श्री.) किं न।
39. (ऑ.-1) एवं (ऑ.-2) अपि चेत्यधिकं पठ्यते।
40. (ऑ.-2) एवं (श्री.) इतः पूर्वं, सारथे इत्यधिकं पठ्यते।
41. (श्री.) प्रवेशं कृत्वा।
42. (ऑ.-2) भवितव्यतानां द्वाराणि भवन्ति। (श्री.) वहन्ति।
43. (भूर्ज.) इत्यत्राधिकं पठ्यते।

44. (ऑ.-2) एवं (श्री.) सेचनघटै।
45. (ऑ.-1) एषाम्।
46. (बु.) क्खु।
47. (बु.) णोमालिआ।
48. (ऑ.-1) सुअरसिणिहो। (ऑ.-2) एवं (श्री.) सोदरसिणिहो।
49. (श्री.) आलम्भिदा।
50. (ऑ.-2) रुक्खए सिञ्चाम्हे। (श्री.) रुक्खके सिञ्चम्हे।
51. (भूर्ज.) अनहिसन्धिपुरवो। (ऑ.-2) अणहिसन्धिपुरवो। (श्री.) अनभिसन्धितपुरवो।
52. (बु.) भविष्यति। इत्यस्य स्थाने "य इच्छति" पाठः स्थापयति।
53. (ऑ.-1) एवं (श्री.) तथा करोति।
54. (बु.) पओहरवित्थारइत्तअं।
55. (श्री.) इयमधिकतमोज्ञा इत्यशुद्धं पठ्यते।
56. (श्री.) मण्डलमित्यशुद्धं पठ्यते।
57. (भूर्ज.) पडिवादि।
58. (बु.) किदणामहेअस्स।
59. (ऑ.-2) एवं (श्री.) वणदोसिणि णवमामालिआ। (बु.) णोमालिआ।
60. (बु.) क्खु।
61. (बु.) णोमालिआ।
62. (बु.) मणोरधो। (बु. एवं पठति—मणोरहइओ)
63. (भूर्ज.) आवर्जन्ति। (ऑ.-1) एवं (बु.) कलशमावर्जयति।
64. (ऑ.-1) एवैनाम्।
65. (श्री) एवैनामुपलप्स्ये।
66. (बु.) णोमालिअं।
67. (ऑ.-2) अभिवत्तदि।
68. रंगसूचनानन्तरं [यतो यतः षट्चरणोभिवर्तते] इति श्लोको भवितुमर्हति। यतो हि चलापाङ्गामिति तु सासूयमुच्यते। (शारदा पाठेऽपि संक्षेपीकरणं दृश्यते।)
69. (भूर्ज.) द्विरुक्तिरत्र कदाचिद् वाचिकाभिनयप्रसंगे प्रयुक्ता स्यात्, (ऑ.-1) एवं (ऑ. -2) तत्त्वान्वेषान् मधुकर।
70. (ऑ.-2) कुसुमपादपच्चरेण।
71. (बु.) राअरक्खिदाइं।
72. (ऑ.-2) अतिथिसमुचिताचारम्। (श्री.) अतिथिसमुदाचारम्।
73. (ऑ.-1) पुरदो दिट्ठो। (श्री.) पुरओ घट्टो, (बु.) पुरदो अदिघट्टो।
74. (श्री.) पदमिदं नास्ति।
75. (श्री.) मधपअरेण आउलीअमाणा।

76. (ऑ.-1) अपि ते तपः प्रवर्तते। (श्री.) अपि ते तपो वर्धते।
77. (श्री.) ससाध्वसा अवसानानतमुखी तिष्ठति।
78. (बु.) लाहेण।
79. (श्री.) सागदं आय्यस्स।
80. (ऑ.-1) एवं (श्री.) गच्छ, उडआदो फलमिस्सं अग्घं।
81. (श्री.) इदं पादोदअं भविस्सदि।
82. (भूर्ज.) पदमिदं नास्ति।
83. (ऑ.-1) विणोदअदु।
84. (ऑ.-1) उचिदं णो अदिहिपय्युपासणं।
85. (ऑ.-1) सर्वे।
86. (बु.) क्खु।
87. (बु.) क्खु।
88. (ऑ.-2) महुरं पिअं। (बु.) महुरं आलवन्तो।
89. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) आवेदये।
90. (ऑ.-2) आश्रमवासिनाम्।
91. (ऑ.-1) सख्यौ।
92. (श्री.) इमं जीविदसव्वस्सेणावि अदिधि कदत्थं।
93. (ऑ.-1) करिष्यामि। (दक्षिणपार्श्वे छायारूपेण लिखितम्)
94. (ऑ.-1) एवं (श्री.) करिअ। (ऑ.-2) करेअ। (बु.) कदुअ।
95. (श्री.) खु।
96. (ऑ.-1) एवं (श्री.) संरक्खणादीणा।
97. (ऑ.-2) उज्झितशब्देन मे कुतूहलं जनितम्।
98. (ऑ.-1) एवं (श्री.) लज्जां नाटयति।
99. (श्री.) वरप्रार्थनामस्याः।
100. (ऑ.-1) श्रुत्वा।
101. (ऑ.-1) वीक्ष्य।
102. (ऑ.-1) एवं (श्री.) विअ।
103. (बु.) एवं (ऑ.-1) द्रष्टव्यम्।
104. (श्री.) अलं विआरिदेण एसो।
105. (ऑ.-1) णिअन्तणा-जोग्ग। (श्री.) णिअत्तणा जोण। इत्यशुद्धं पठ्यते।
106. (श्री.) तवस्सिजणो।
107. (श्री.) धम्माचलणे।
108. (श्री.) अदुर्लभैषा खलु।
109. (श्री.) रंगसूचनेयं “न खलु” इत्यतः पूर्वं प्रदीयते।

110. (श्री.) गमिस्सम्ह। (बु.) गमिस्सं।
111. (ऑ.-1) असम्बद्धप्पलाविणीं। (श्री.) असम्बद्धपलाविणीं।
112. (ऑ.-1) एवं (श्री.) निवेदयिस्से। (बु.) णिवेदइस्सं।
113. (ऑ.-1) एवं (श्री.) आस्समवासिणो जनस्स।
114. (ऑ.-1) न दे सच्छन्ददो गमणम्।
115. (ऑ.-2) परिक्रम्य सभ्रूभेदम्।
116. (ऑ.-2) रुक्खसचेनका दूए मे धारेसि। (श्री.) किं नु रुक्खसेअणका एमे दुवे धारसि। (बु.) रुक्खसेअणए।
117. (ऑ.-1) रुक्खसेचनके दुइ मे धारयसि।
118. (ऑ.-2) आमोएहि। (बु.) मोआवेहि।
119. (श्री.) बलादेवारयति। —इति प्रमादात् लिखितम्।
120. (ऑ.-1) भद्रे, सेचनकादेव।
121. (ऑ.-1) रोहित।
122. (श्री.) बद्धं कर्णशरीषरोधि—इति प्रमादात् लिखितम्।
123. (ऑ.-1) एवं (श्री.) पदमिदं नास्ति।
124. (ऑ.-1) णारिहदि।
125. (ऑ.-2) विओअकारिअं।
126. (ऑ.-1) अय्य, तअ वअणेण अनृणा एवं एसा मम।
127. (बु.) अनसूया। इति [ ] कोष्टके सूचितः पाठः। किन्तु परावृत्येति रंगसूचनानुसारेण प्रियंवदैव स्यात्।
128. (बु.) मोआविदासि।
129. (बु.) अधवा।
130. (ऑ.-1) किदज्ञा दाणिं होसि। (बु.) भविस्ससि।
131. (ऑ.-2) इमं विसुमरिस्सदि जदि अत्तणो पभवे।
132. (ऑ.-1) गमिस्से। (ऑ.-2) इदाणिं म्पि तए किं कत्तव्वं, जदा रोअस्सदि मे तहा गमिस्से।
133. (ऑ.-1) ददात्यविहिता।
134. (ऑ.-1) विषिक्त।
135. (ऑ.-1) अहो धिक्। पुरो मदन्वेषिणः।
136. (ऑ.-1) प्रत्यागमिष्यामि।
137. (ऑ.-1) अय्य, इमणा अक्कन्दवुत्तान्तेण।
138. (ऑ.-1) अणुजानीधि णः उडअगमनाअ। (श्री.) मरिस्से असि।—इति प्रामादिकः पाठः।
139. (ऑ.-1) अय्य, संभाविदसक्कारं।

140. (ऑ.-1) विरमीसि।
141. (श्री.) सिग्घदुरं।—इति प्रामादिकः पाठः।
142. (श्री.) विलम्बि।
143. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) आवेगहेतुम्।
144. (श्री.) पश्वादावस्तितं।
145. (ऑ.-2) इति निष्क्रान्तः। (श्री.) सस्खलितं सचिन्तः।
146. (ऑ.-2) इति महाकवि-कालिदास—विरचिते शकुन्तला नामनि नाटके प्रथमोऽङ्कः॥,
(श्री.) इति शकुन्तला प्रथमोऽङ्कः॥

॥ अथ द्वितीयोऽङ्कः॥

[1](ततः प्रविशति परिश्रान्तो विदूषकः)

विदूषकः : (श्रमं नाटयति[2] निःश्वस्य) भोः दिढ म्हि[3] एदस्स मिगआ[4] सीलस्स रण्णो वअस्सभ(भा)वेण णिविण्णो।[5] अअं मिगो[6], अअं वराहो त्ति। मज्झंदिणे वि गिम्हविरलपादवच्छायासु वणराईसु आफ(ह?) ण्डीयदि[7]। पत्तसङ्कर-कसाआणि पीअन्ते, कडुआणि उण्हाइं गिरिणदीजलाइं अणिअदवेलं सूलमंस-सउण-मंस[8] भूइट्ठं अण्ही ≠(22[9]) अदि[10]। तुरगआण-कण्ठइद[11] सन्धि-बन्धणाणं अङ्गाणं रत्तिं पि णत्थि पकामं सयितव्वं[12]। तदो मम महन्ति य्येव पच्चीसे[13] दासीए पुत्तेहिं, सउणलुब्धएहिं कण्णघादिणा[14] वणगहण-कोलाहलेण पडिबोधीआमि।

(विचिन्त्य)

एत्तिएण वि मे पाणा ण णिक्कन्ता[15]। (सासूयं विहस्य) तदो गण्डोवरि[16] पिडिआ संवुत्ता। हिय्यो अम्हेसु ओहीणेसु तत्थभवदो महा(आ) णुसारेण[17] अस्समपदं पइट्ठस्स किल तावसकण्णआ[18] सउन्तला णाम म अधण्णदाए दसिदा। सम्पदं णअरगमणस्स सङ्कधं पि[19] ण करेदि। अज्ज तं य्येव सञ्चिन्तअन्तस्स विभादं अच्छीसु[20]। ता का गदी। जाव णं किदाचारपरिक्कमं कहिं पेक्खामि।

(परिक्रम्यावलोक्य च)

एसो राआ बाणासणहत्थाहिं जवणीहिं परिवुदो वणपुप्फमालाधारी[21] इदो य्येवागच्छदि। ता जाव णं उ ≠(23) वसप्पामि। (किञ्चिद् उपसृत्य[22]) भोदु। अंगसम्मङ्डविहलो दाणिं भविअ इध य्येव चिट्ठिसं। जदो एवं पि दाव विसामं लभेमि[23]॥

(दण्डकाष्ठम् अवलम्ब्य तिष्ठति)

(भोः दृढोऽस्मि एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञो वयस्यभावेन निर्विण्णः, अयं मृगः, अयं वराह इति। मध्यंदिनेऽपि ग्रीष्मविरलपादपच्छायासु वनराजिसु आहिण्ड्यते[24]। पत्रसंकरकषायाणि पीयन्ते कटुकान्युष्णानि गिरिनदीजलानि, अनियतवेलं शूलमांसशकुणमांसभूयिष्ठं अद्यते। तुरगयानकण्ठ-कृतसन्धिबन्धनानाम् अङ्गानां रात्रिमपि नास्ति प्रकामं शयितव्यम्। ततो मम महत्येव प्रत्यूषे दास्याः पुत्रैः शकुनलुब्धकैः कर्णघातिना वनग्रहणकोलाहलेन प्रतिबोध्ये। एतावतापि मे प्राणा न निष्क्रान्ताः। ततो गण्डोपरि पिटिका संवृत्ता। ह्योऽस्मास्वहीनेषु तत्रभवतो मृगानुसारेणाश्रमपदं प्रविष्टस्य किल तापसकन्यका शकुन्तला नाम ममाधन्यतया दर्शिता। साम्प्रतं नगरगमनस्य संकथामपि न करोति। अद्य तामेव सञ्चितयतो विभातम् अक्ष्णोः। तत्का गतिः। यावदेनं कृताचार- परिक्रमं कुत्र प्रेक्ष्ये। एष राजा बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिः परिवृतो वनपुष्पमालाधारीत इवागच्छति। तद् यावद् एनम् उपसर्पामि। भवतु, अङ्गसम्मर्दविह्वल इदानीं भूत्वेहैव स्थास्यामि। यत एवमपि तावद् विश्रामं लभे॥)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टपरिवारो राजा।)

राजा : (सचिन्तम्। निःश्वस्यात्मगतम्)

कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाश्वासि।

अकृतार्थे[25] मनसिजे रतिम् उभयं प्रार्थना[26] कुरुते ॥2-1॥
(स्मृतिमभिनीय[27]) (विहस्य) एवमात्माभिप्रायसंभावितेष्ट-जनचित्तवृत्तिः प्रार्थयिता[28] विडम्ब्यते। कुतः,
स्निग्धं वीक्षितमन्यतोऽपि नयने यत्प्रेरयन्त्या तया,
यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव।
मा गा इत्यवरुद्धया यदपि सा सासूयम् उक्ता सखी,
सर्वं तत् किल मत्परायणमहो कामः स्वतां पश्यति ॥2-2॥

(परिक्रामति)

विदूषकः : (तथा स्थित एव) भो राअं, ण मे हत्थो पसरदि[29]। वाआमेत्तकेण[30] जआवीअसि। जअदु जअदु भवं। (भो राजन्, न मे हस्तः प्रसरति। वाङ्मात्रकेण जाप्यसे। जयतु जयतु भवान्।)

राजा : (विलोक्य सस्मितम्) वयस्य, ≠(24) कुतोऽयं गात्रोपघातः।

विदूषकः : [31]कुदो किल। स्वअं मेवं[32] अच्छी आकूलीकरेअ[33] अंसुकारणं पुच्छसि। (कुतः किल, स्वयमेवाक्षीण्याकुली-कृत्याऽश्रुकारणं पृच्छसि।)

राजा : वयस्य, न खल्वगच्छामि।

विदूषकः : (सरोषमिव) भोः तए णाम राअकय्याइं[34] उज्झिअ तादिसे अ कीलापसादे वणअरेकवित्तिणा होदव्वं। जं सच्चं पच्चहं सावदसऊणाणुगमणेहिं सङ्खोहिद-सन्धिबन्धणाणं अङ्गाणं अणीसोम्हिं संवुत्तो। (सप्रणयम्) ता पसीद। मं वज्जेहि एक्काहं पि दाव वी(वि)समीअदु। (भोः त्वया नाम राजकार्याण्युज्झित्वा तादृशाञ्च क्रीडाप्रसादानां वनचरैकवृत्तिना भवितव्यम्। यत्सत्यं प्रत्यहं श्वापदशकुनानुगमनैः सङ्क्षोभितसन्धिबन्धनानाम् अङ्गानाम् अनीशोऽस्मि संवृत्तः। तत्प्रसीद, मां वर्जय एकाहमपि तावद् विश्राम्यताम्।)

राजा : (आत्मगतम्) अयमेवमाह। ममापि काश्यपसुताम् अनुसृत्य मृगयाविक्लवं चेतः। कुतः-

न नमयितुम् अधिज्यम् उत्सहिष्ये
धनुरिदम् आहितसायकं मृगेषु।
सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः
कृत इव लोचनकान्तिसंविभागः ॥2-3॥

विदूषकः : (राज्ञो मुख[35] मवलोक्य) भो अत्थभवं हिअएण किं पि मन्तेदि। अरण्णे मए रुदिदं।
(भोः अत्रभवान् हृदयेन किमपि मन्त्रयति। अरण्ये मया रुदितम्[36]।)

राजा : (सस्मितमिव) किमन्यत्। अन≠(25) तिक्रमणीयं सुहृदवाक्यमिति स्थितोऽस्मि।

विदूषकः : चिरं जीव। (चिरं जीव)

राजा : तिष्ठ। सावशेषं मे वचः।

विदूषकः : आणवेदु भवं। (आज्ञापयतु भवान्।)

राजा : विश्रान्तेन भवता ममान्यस्मिन्ननायासे कर्मणि[37] सहायेन भवितव्यम्।

विदूषकः : (साभिलाषम्) अवि मोदअखाज्जिआए[38]। (अपि मोदकखादिकायाम्।)

राजा : यत्र वक्ष्यामि।

विदूषकः : गहिदो खणो। (गृहीतः क्षणः।)

राजा : कः कोऽत्र भोः।

दौवारिकः : (प्रविश्य) आणवेदु भट्टा। (आज्ञापयतु भर्ता।)

राजा : रेवक, सेनापतिस्तावद् आहूयताम्[39]।

रेवकः : जं भट्टा आणवेदि[40]। (यद् भर्ता आज्ञापयति।) (इति निष्क्रान्तः।)

(ततः प्रविशति सेनापतिर्दौवारिकश्च[41]।)

सेनापतिः : (राजानं विलोक्य) दृष्टदोषापि मृगया स्वामिनि[42] खलु केवलं गुणायैव संवृत्ता। तथाहि,
अनवरतधनु-र्ज्यास्फालनक्रूरपूर्वं

रविकिरण-सहिष्णुस्स्वेदलेशैरभिन्नम्[43]।
अपचितमपि गात्रं व्यायतत्वाद् अलक्ष्यं
गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति ॥2-4॥

दौवारिकः : अय्य, एसो खु[44] अणुवअणदिण्णकण्णो ≠(26) इदो दिण्णदिट्ठी एव भट्टा तुमं पडिवालेदि। ता उवसप्पदु अय्यो।(आर्य, एष खल्वनुवचनदत्तकर्ण इतो दत्तदृष्टिरेव भर्ता त्वां प्रतिपालयति। तस्माद् उपसर्पत्वार्यः।)

सेनापतिः : (उपसृत्य सप्रणामम्) जयतु जयतु स्वामी। स्वामिन्, गृहीतं प्रचारसूचितश्वापदमरण्यम्। किम् अन्यद् अवस्थीयते।

राजा : भद्र सेनापते, मन्दोत्साहः[45] कृतोऽस्मि मृगयापवादिना माधव्येन।

सेनापतिः : (जनान्तिकम्) माधव्य, स्थिरप्रतिबन्धो[46] भव। अहमपि तावत् स्वामिनश्चित्तम् अनुवर्तिष्ये। (प्रकाशम्) देव, प्रलपत्वेष वैधेयः[47]। ननु प्रभुरेव निदर्शनं मृगया-गुणाणाम्।
मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
उत्कर्षस्स च धन्विनां यदिषवः सिद्ध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्या हि व्यसनं वदन्ति मृगयाम् ईदृग्विनोदः कुतः ॥2-5॥

विदूषकः : (कृतकरोषम्) अत्थभवं दाव पकिदिं आवण्णो[48]। तुमं पुण अडवीदो अडविं आहिण्ड जाव सीमासिआलो[49] विअ जुण्णरिक्खस्स मुहे पडिस्ससि। (अत्रभवांस्तावत् प्रकृतिम् आपन्नः। त्वं पुनरटवीतोऽटविं भ्रम, यावत् सीमाशृगालस्येव[50] जीर्णर्क्षस्य मुखे पतिष्यसि।)

राजा : भद्र सेनापते, आश्रमसंनिकर्षे वर्तामहे। अत ≠(27) स्ते वचो नाभिनन्दामि। अद्य तावत्—
गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विश्वस्तैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः[51] पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धम् अस्मद्धनुः॥ 2-6॥

सेनापतिः : यथा प्रभविष्णवे रोचते।

राजा : तेन निवर्त्यन्तां[52] वनग्राहिणः। यथा च सैनिकास्तपोवनं दूरात् परिहरन्ति तथा निषेद्धव्याः। पश्य–

शमप्रधानेषु तपोधनेषु[53] गूढं हि दाहात्मकम् अस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तद् अन्यतेजोऽभिभवाद् वमन्ति॥2-7॥

सेनापतिः : यदाज्ञापयति देवः[54]।

विदूषकः : गच्छ, सम्पदं दासीए पुत्त। (गच्छ, साम्प्रतं दास्याः पुत्र।)

(इति निष्क्रान्तस्सेनापतिः)

राजा : (परिजनमवलोक्य[55]) अप[न]यतु भवन्तो मृगयावेषम्। रेवक, त्वमपि स्वनियोगम् अशून्यं कुरु।

परिजनः : जं भट्टा आणवेदि। (यद् भर्ताज्ञापयति) (इति निष्क्रान्तः परिजनः)

विदूषकः : (सहासम्) किदो भवदा णिद्धूम {म} को दंसपडीआरो[56]। ता सम्पदं एदस्सिं आवासपादव ≠(28) च्छाआपरिवुदे विदाणअ-सणाहे आसणे जहा[57] सुहं उवविसदु भवं, जाव अहं पि सुहासन त्थो होमि।[58] (कृतो भवता निर्धूमको दंशप्रतिकारः। तत् साम्प्रतम् एतस्मिन्नावासपादपच्छाया-परिवृत्ते वितानक-सनाथ आसने
यथासुखम् उपविशतु भवान्, यावदहमपि सुखासनस्थो भवामि।)

(उभावुपविष्टौ)

राजा : सखे, माधव्य, अनवाप्तचक्षुः फलोऽसि, येन त्वया दर्शनीयं न दृष्टम्।

विदूषकः : णं भवं अग्गदो मे चिट्ठदि। (ननु भवान् अग्रतो मे तिष्ठति।)

राजा : सर्वः कान्तमात्मानं पश्यति। किन्तु[59] तामेवाहम् आश्रमललामभूतां शकुन्तलाम् अधिकृत्य ब्रवीमि।

विदूषकः : (अपवार्य) भोदु। ण से पसरं वद्धयिस्सं। (प्रकाशम्) जदा दाव सा तावसकञ्ञका[60] अप्र (प्रा) र्थनीया[61], ता किं तए दिट्ठए[62]। (भवतु, नास्य प्रसरं वर्धयिष्यामि। यदा तावत् सा

तापसकन्यकाऽप्रार्थनीया, तत् किं तया दृष्टया।)

राजा : मूर्ख, परिहार्येऽपि वस्तुनि दुष्यन्तस्य मनः प्रवर्तते।

[विदूषक[63]:] : ता कधं एदम्। (तत् कथमेतत्।)

राजा : ललितान्यसम्भवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम्।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालती[64] कुसुमम्॥ 2-8॥

विदूषकः : जदि वि ण कस्सवस्स मह(हे)सिणो ओरसा दूधा, तधा[65] वि किं तए दिट्ठए। (यद्यपि न काश्यपस्य महर्षेरौरसा दुहिता, तथापि किं तया दृष्टया।)

राजा : अविशेषज्ञ,

चिरं गतनिमेषाभिर्नेत्रपङ्क्तिभिर् उन्मुखः
नवाम् इन्दु ≠(29) कलां लोकः केन भावेन पश्यति।
न च सा मादृशानाम् अप्रार्थनीया
समासतः समिन्मध्यकालागुरुखण्डवत् ॥2-9॥

विदूषकः : (विहस्य) भो जधा कस्सा वि पिण्डखज्जूरीहिं उव्वेजिदस्स तिन्तिआणं[66] अहिलासो होदि तहा[67] इत्थीरअणपरिभाविणो[68] भवदो इअं पत्थणा। (भोः यथा कस्यापि पिण्डखर्जूरिभिरुद्वेजितस्य तिन्तिकानाम् अभिलाषो भवति, तथा स्त्रीरत्नपरिभाविनो भवत इयं प्रार्थना।)

राजा : सखे,[69] न तावद् एनां पश्यसि, येन त्वमेवं वादीः।

विदूषकः : तं खु रमणीअं णाम जं भवदो वि विम्हअं जनदि।
(तत्खलु रमणीयं नाम यद् भवतोऽपि विस्मयं जनयति।)

राजा : वयस्य, किं बहुना,

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगाद्
रूपोच्चयेन विहिता मनसा कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे
धातुर्विभुत्वम् अनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥2-10॥[70]

विदूषकः : (सविस्मयम्) पच्चादेसो दाणिं रूववदीणम्। (प्रत्यादेश इदानीं रूपवतीनाम्।)

राजा : इदं च मे मनसि वर्तते।

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनामुक्तं[71] रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं,
न जाने भोक्तारं कमिव समुपस्थास्यति भुवि[72] ॥2-11॥

विदूषकः : दे (ते) ण हि लघु परिणदु भवं, मा कस्स वि तपस्सिणो इङ्गुदीत(ति)लचिक्कणसीसस्स आ- ≠(30) रण्णकस्स[73] हत्थे पडिस्सदि। (तेन हि, लघु परिणयतु भवान्, मा कस्यापि तपस्विन इङ्गुदीतैलचिक्कणशीर्षस्य आरण्यकस्य हस्ते पतिष्यति।)

राजा : परवती खलु तत्रभवती, न च सन्निहितगुरुजना।

विदूषकः : अध भवन्तं अन्तरेण कीदिसो से चित्ताणुराओ। (अथ भवन्तम् अन्तरेण कीदृशोऽस्याश्चित्तानुरागः।)

राजा : सखे, स्वभावाद् अप्रगल्भस्तपस्विकन्यकाजनः। तथापि तु,

अभिमुखं मयि संहृतमीक्षितं हसित[74] मन्यनिमित्तकथोदयम्।
विनयबाधितवृत्तिरतस्तया न विवृतो मदनो, न च संहृतः[75]॥2-12॥

विदूषकः : (विहस्य) किं खु सा भवदो दिट्ठमेत्तस्स य्येव अङ्कं आरुहदु। (किं खलु सा भवतो दृष्टमात्रस्यैवाङ्कमारोहतु।)

राजा : सखे, सखीभ्यां मिथः प्रस्थाने शालीनयापि तत्रभवत्या मयि भूयिष्ठम् आविष्कृतो भावः। तदा खलु—

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिद् एव पदानि गत्वा।
आसीद् विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलम् असक्तमपि द्रुमाणाम् ॥2-13॥

विदूषकः : भो गिहीदपाधेओ[76] होसि। कधं पुणः (णो) उण[77] तवोवणगमणं त्ति पेक्खामि। (भोः गृहीतपाथेयो भवसि। कथं पुनः-

पुनस्तपोवनगमनमिति प्रेक्षे।)

राजा : सखे, चिन्तय तावत् केनोपायेन पुनराश्रमपदं गच्छामः[78]।

विदूषकः : एसो चिन्तेमि। मा खु से अलिअपरिदेविदेहिं समाधिं भ ≠(31) ञ्जिहिसि[79]। (एष चिन्तयामि, मा खल्वस्यालीकपरिदेवितैः समाधिं भाङ्क्षीः।)[80] (चिन्तयित्वा) भो को अण्णो उपाओ, णं भवं राआ। (भोः कोऽन्य उपायो, ननु भवान् राजा।)

राजा : ततः किम्।

विदूषकः : णिवारच्छब्भाअं दाव सामि उवहरदु त्ति। (निवारषड्भागं तावत् स्वाम्यु (मिने उ) पहरत्विति)

राजा : मूर्ख, अन्यं भागम् एते रक्षिणे निर्वपन्ति, रत्नराशीन् अपि विहायाभिनन्द्यम्। पश्य,

यद् उत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत् फलम्[81]।
तपष्षड्भागम् अक्षयं[82] ददात्यारण्यको जनः ॥2-14॥

(नेपथ्ये) हन्त, सिद्धार्थौ[83] स्वः।

राजा : (कर्णं दत्वा) अये धीरप्रशान्तस्वरै[84] स्तपस्विभिर् भवितव्यम्।

(प्रविश्य)

दौवारिकः : जअदु जअदु भट्टा। एदे दुवे इसिकुमारआ पडिहारभूमिं उवत्थिदा।

(जयतु जयतु भर्ता। एतौ द्वावृषिकुमारकौ प्रतिहारभूमिम् उपस्थितौ।)

राजा : अविलम्बितं प्रवेशय।

दौवारिकः : अअं पवेसामि। (अयं प्रवेशयामि।) (इति निष्क्रान्तः)

(ततः प्रविशतस्तापसौ दौवारिकश्च[85]।)

दौवारिकः : इदो इदो भवन्तो। (इत इतो भवन्तः।)

तापसौ : (राजानं दृष्ट्वा) अहो दीप्तिमतोऽपि विश्वसनीयता वपुषः। अथवा, उपपन्नमेतद् अस्मिन्नृषिकल्पे राजनि। तथाहि,

अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाऽप्याश्रमे सद्द(र्व)पूर्वे[86]
रक्षायोगाद् अयमपि तपः प्रत्यहं सञ्चिनोति।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राज ≠(32)पूर्वः ॥2-15॥

द्वितीयः : गौतम, अयं स बलभित्सखो दुष्यन्तः[87]।

प्रथमः : अथ किम्।

द्वितीयः : तेन हि,

नैतच्चित्रं यदयमुदधिश्यामसीमां धरित्रीम्,
एकः कृत्स्नां नगरपरिघप्रांशुबाहुर्भुनक्ति।
आशंसन्ते सुरसमितयस्सक्तवैरा हि दैत्यैर्
अस्याधिज्ये धनुषि विजयं पौरहूते च वज्रे ॥2-16॥

उभौ : (उपसृत्य) स्वस्ति भवते। (फलान्युपनयतः)

राजा : (सादरम् उत्थाय) अभिवादये भवन्तौ[88]।
(सप्रणामं गृहीतासन उपविश्य) किमाज्ञापयतो भवन्तौ।

ऋषिः : विदितो भवान् आश्रमवासिनाम् इहस्थः। तेन भवन्तम् अभ्यर्थयन्ते।

राजा : किमाज्ञापयन्ति[89]।

उभौ : तत्रभवतः काश्यपमुनेरसांनिध्याद् रक्षांसि परापतिष्यन्ति, विघ्नमुत्पादयितुम्[90] इच्छन्ति। तत्कतिपयरात्रं सारथिद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियताम् आश्रम इति।

राजा : अनुगृहीतोऽस्मि।

विदूषकः : (अपवार्य) इअं दाणिं अणुऊलगलत्था[91]। (इयमिदानीम् अनुकूलप्रेरणा।)

राजा : रेवक, मद्वचनाद् उच्यतां सारथिः। सबाणकार्मुकं रथम् उपनयेति[92]।

दौवारिकः : जं भट्टा आणवेदि। (यद् भर्ताऽऽज्ञापयति।) (इति निष्क्रान्तः)

ऋषिः : (सहर्षम्)

अनुका ≠(33)रिणि पूर्वेषां युक्तरूपमिदं त्वयि।

आपन्नाभयसत्त्रेण दीक्षिताः खलु पौरवाः॥ 2-17॥

राजा : गच्छतां भवन्तौ। अहम् अप्यनुपदम् आगत एव।

ऋषिः : विजयस्व। (इत्युत्थाय निष्क्रान्तौ)

राजा : माधव्य, अप्यस्ति शकुन्तलादर्शनकौतुकम्[93]।

विदूषकः : पढमं अपरिबाधं आसि। (सभयम्) रक्खसवुत्तान्तेण उण सम्पदं विसाददंसिणा विसेसिदम्। (प्रथमं अपरिबाधमासीत्। राक्षसवृत्तान्तेन पुनस्साम्प्रतं विषाददर्शिना विशेषितम्।)

राजा : मा भैषीः। ननु मत्समीपे भविष्यसि।

विदूषकः : एस चक्काकी[94] भूदो म्हि। (एषः चक्राकी भूतोऽस्मि।)

(प्रविश्य)

दौवारिकः : भट्टा, सज्जो रहो भट्टिणो विजअपत्थाणं उदीक्खदि[95]। एसो उण णअरादो देवीणं सआसादो कर [भ] ओ उपत्थिदो। (भर्तः, सज्जो रथो, भर्तुर्विजयप्रस्थानम् उदीक्षते। एष पुनर्नगरतो देवीनां सकाशतः करभकः उपस्थितः।)

राजा : सादरम्। किमज्जुभिः[96] प्रेषितः।

दौवारिकः : अध इं। (अथ किम्)।

राजा : प्रवेश्यताम्।

दौवारिकः : जं भट्टा आणवेदि। (यद् भर्ताज्ञापयति) (इति निष्क्रान्तः)

॥ ततः प्रविशति दौवारिकेण सह करभकः[97]॥

करभकः : (उपसृत्य) जयदु जयदु भट्टा। देविओ आणवेन्ति, जहा आगामिणि चउत्थे दिअसे पुत्तपिण्डओ-दाणओ[98] णाम उववासो भविस्सदि। तत्थ दीहाउणा[99] अवसं(स्सं) सण्णिहिदेण होदव्वम्। (जयतु जयतु भर्ता। देव्य आज्ञापयन्ति यथागामिनि चतुर्थे दिवसे पुत्रपिण्डकदानको नामोपवासो भविष्यति। तत्र दीर्घायुषाऽवश्यं सन्निहितेन भवितव्यम्।)

राजा : साकुलम्[100]। ≠(34) माधव्य, इतस्तपस्विकार्यम् इतो गुरुजनाज्ञा। उभयमपि अनुल्लङ्घनीयं[101] मया। कथमत्र प्रतिविधेयम्।

विदूषकः : तिसङ्कु विअ अन्तरे चिट्ठ। (त्रिशङ्कुरिवान्तरे तिष्ठ।)

राजा : सत्यम् आकुलो[102]ऽस्मि।

कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद् द्वैधीभवति मे मनः।
पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतस्स्रोतोवहो यथा ॥2-18॥

(सखेदम् चिन्तयित्वा) सखे माधव्य, त्वम् अज्जुभिः पुत्र इति परिगृहीत[103] स्तद् भवान् इतः प्रतिनिवृत्य, तत्रभवतीनां पुत्रकार्यम् अनुष्ठातुमर्हति। तपस्विकार्यव्यग्रितास्स्मः इत्यावेदय।

विदूषकः : (सगर्वम्) साधु, रक्खसभीरुअं मं गणयिसदि। (साधु, राक्षसभीरुकं मां गणयिष्यति।)

राजा : (सस्मितम्) महाब्राह्मण, कथमेतद् भवति सम्भाव्यते।

विदूषकः : तेण हि जधा राआणुराजेण[104] गन्तव्वं तधा गमिस्सं[105]। (तेन हि यथा राजानुराजेन गन्तव्यम् तथा गमिष्यामि।)

राजा : ननु तपोवनोपरोधः[106] परिहरणीय इति सर्वम् अनुयात्रिकजनम् त्वया सह प्रस्थापयामि।

विदूषकः : (सगर्वम्) तेण हि, जुअराआ[107] खु अम्हि संवुत्तो[108]। (तेन हि, युवराजा खल्वस्मि संवृत्तः।)

राजा : (आत्मगतम्) चपलोऽयं बटुः। कदाचिद् अस्मत्प्रार्थनाम् अन्तःपुरेभ्यः कथयेत्। भवतु, एवं तावद् वक्ष्यामि। (प्रकाशम्) (विदूषकं हस्ते गृहीत्वा) वयस्य, ऋषिगौरवाद् आश्रमं गच्छामि। न खलु सत्यमेव तापसकन्यकायाम् ममाभिलाषः। पश्य,

क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो ≠(35) मृगशावैस्समम् एधितो[109] जनः।
परिहासविकल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यते[110] वचः॥ 2-19॥

विदूषकः : एवम् णेदम्। स(सो) त्थि[111] भवदे। (एवमेतत्[112]। (एवं न्विदम्।)), (स्वस्ति भवते।)

(इति निष्क्रान्तास्सर्वे ॥)

॥ द्वितीयोऽङ्कः ॥

सन्दर्भ

1. (भूर्ज.) श्रीगणेशाय नमः।, (ऑ.-1) श्रीगुरवे नमः। (ऑ.-2) श्रीगणेशाय नमः। (श्री.) नमः शिवाय।
2. (ऑ.-1) एवं (श्री.) नाट्यन्।
3. (बु.) भो दृढो म्हि।
4. (बु.) मिअआ।
5. (श्री.) भोः दढ म्हि एदस्सि मिगयासीलस्स रण्णो वयस्स भवण निर्विण्णो।
6. (ऑ.-1) मिग। (बु.) मओ।
7. (ऑ.-1) एवं (श्री.) छायासु वणराइसु आहिण्डीअदि। (भूर्ज.) आफण्डीयदि। (ऑ. -2) आहण्डीअदि।
8. (श्री.) अणिअद-वेलासकुलमंससूलमंसं।
9. अत्र ≠ अनेन चिह्नेन भूर्जपत्रोपरिलिखिताया मातृकायाः पृष्ठाङ्का निर्दिश्यन्ते।
10. (ऑ.-1) अण्हेअदि। (श्री.) आहारीअदि।
11. (ऑ.-1) तुरगआणकण्ठकिद। (श्री.) कण्ठोइस। (बु.) खण्डीकद।
12. (बु.) सइदव्वं।
13. (बु.) पच्चूसे।
14. (श्री.) कण्णघाइणा।
15. (श्री.) इत्तकेण वि प्राणा ण णिक्खत्ता। (भूर्ज.) निष्क्रान्ताः।
16. (श्री.) गण्डस्सोवरि।
17. (ऑ.-2) मिआनुसारेण।
18. (ऑ.-1) (ऑ.-2) एवं (श्री.) तावसकण्णका।
19. (ऑ.-2) संकतम्पि। (श्री.) कधम्पि।
20. (श्री.) पभादमच्छीसु।
21. (श्री.) वणपुप्फधारी।
22. (ऑ.-2) विचिन्त्य।
23. (श्री.) वाक्यमिदं नास्ति।
24. (बु.) भ्रम्यते।
25. (बु.) "अकृतार्थे" इत्यनन्तरं "अपि" शब्दं संयोजयति।
26. (ऑ.-2) रतिमुभयप्रार्थना। (श्री.) उभयप्रार्थनापि।
27. (श्री.) इतः परं "स्मितं कृत्वा" इत्यधिकं लिखितम्।
28. (श्री.) संभावितेष्टचित्तवृत्तिः प्रार्थयता।
29. (श्री.) पसरेदि।
30. (बु.) वाआमात्तएण।

31. (ऑ.-2) विहस्येत्यधिकम्।
32. (ऑ.-1) सअं मे। (ऑ.-2) सअं एव। (बु.) सअं येव।
33. (ऑ.-1) आउलीकरिअ। (ऑ.-2) आउलीकरअ अंसुकारिअं। (श्री.) आउलीकरइ। (बु.) आउलीकदुअ।
34. (श्री.) राअकय्ययाणि।
35. (श्री.) राजानमव।
36. (श्री.) भो अत्थभवं किम्पि हिअए मन्तेदि। अरण्ये मए रुदिदं।
37. (ऑ.-1) एवं (श्री.) ममान्यस्मिन् कर्मणि निरायसेन।
38. (ऑ.-1) अवि मोदअखण्डिआइ। (ऑ.-2) अवि मोदकखादितायाम् (श्री.) अवि मोदकखण्ण्किाइ।
39. (ऑ.-2) तावदिहानीयताम्।
40. (ऑ.-1) एवं (श्री.) दौवारिकस्तथेति निष्क्रान्तः।
41. (ऑ.-1) ततः प्रविशति दौवारिकेन सह सेनापतिः। (श्री.) ततः प्रविशति रेवकेण सह सेनापतिः।
42. (ऑ.-1) एवं (श्री.) स्वामिनः।
43. (बु.) रभिन्नः।
44. (बु.) क्खु।
45. (ऑ.-1) एवं (श्री.) भग्नोत्साहः।
46. (श्री.) स्थिरप्रबद्धो।
47. (श्री.) माधव्यः।
48. (श्री.) पकिदमापण्णो।
49. (बु.) मअआलू।
50. (बु.) मृगयालुरिव।
51. (श्री.) मुक्ताक्षतिः।
52. (श्री.) इतः परं "मूर्खशताम्" इत्यधिकं लिखितम्।
53. (श्री.) तपोनिधीषु।
54. (श्री.) स्वामी।
55. (श्री.) निर्वर्ण्य।
56. (ऑ.-2) किदो भवदा निद्धूमक दंसअपदीआरो। (श्री.) किदो भवदा निद्धूमको दंसप्रपचीआरो।
57. (बु.) सणाधे आसणे जधा।
58. (ऑ.-2) एवं (श्री.) इत परं "राजा—गच्छ गच्छाग्रतः। विदूषकः इदो इदो भवं। परिक्रम्य उभावुपविष्टौ" इत्यधिकम्।
59. (बु.) अहं तु।

60. (श्री.) तावसकण्णका। (बु.) तावसकण्णआ।
61. (ऑ.-2) एवं (श्री.) अपत्थणीआ। (बु.) अप्पत्थणीआ।
62. (बु.) ता किं ताए दिट्ठाए।
63. (भूर्ज.) पदमिदं नास्ति, लेखकस्यानवधानात्।
64. (ऑ.-2) एवं (श्री.) नवमालिका।
65. (श्री.) जधि ... दूदा, तहा। (बु.) जइ... धूदा, तधा।
66. (ऑ.-1) तिन्तिणीआणं उवरि। (ऑ.-2) पिप्पलआणं उवरि। (बु.) तिन्तिलिआणं।
67. (बु.) भोदि तधा।
68. (श्री.) परिहाविणो।
69. (भूर्ज.) नास्तीदं सम्बोधनम्।
70. (भूर्ज.) इतः परं लेखकस्यानवधानाद् "राजा—इदं च में मनसि वर्तते।" इत्यधिकं पठ्यते।
71. (श्री.) रनासक्तं।
72. (श्री.) समुपास्यति भुवि यत्।
73. (ऑ.-1) एवं (श्री.) आरण्णकस्स।
74. (श्री.) सहित।
75. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) संवृत्तः।
76. (ऑ.-1) गिहीदपथेओ। (श्री.) गिहेद। (बु.) गहिदपाधेओ।
77. (श्री.) कधं ताए।
78. (ऑ.-2) केनोपायेनाश्रमपदं गच्छामः। (श्री.) केनोपायिनाश्रंपथं गच्छावः।
79. (श्री.) एस चिन्तस, मा खु से अलिअपरिदेविदं विदेण समाधिं भञ्जि... मिमि।
80. विक्रमोर्वशीये नाटकेऽपि (2-9) विदूषकः समाधिं नाटयति।
81. (ऑ.-1) एवं (श्री.) तद्धनम्।
82. (ऑ.-1) अक्षय्यं। (श्री.) कधं।
83. (श्री.) कृतार्थौ।
84. (ऑ.-1) अये प्रशान्तस्वरै। (श्री.) स्वैर।
85. (श्री.) ताभ्यां सह प्रविष्टः।
86. (ऑ.-1) श्रमे सस्स पूर्वे (?)। (ऑ.-2) श्रमे स-पूर्वे (?)। (श्री.) श्रमे सद् पूर्वे (?)। (बु.) "सर्वभोग्ये" इति सूचितः पाठः। मैथिलपाठेऽपि स एव शब्दः पठ्यते।
87. (ऑ.-2) दुष्वन्तः। (श्री.) पदमिदं नास्ति।
88. (श्री.) किमाज्ञापयति। (केवलमिदमेव वाक्यं लिखितम्।)
89. (श्री.) ऋषि-राज्ञोर्वाक्यद्वयं नैव वर्तते।
90. (ऑ.-) रक्षांसि इष्टिविघातमुत्पादयितुम्।
91. (श्री.) इयं दाणिं सा अणुउलगलिता।

92. (श्री.) उपस्थापयेति।
93. (ऑ.-2) एवं (श्री.) दर्शने कुतूहलम्।
94. (श्री.) चक्क रक्खी।
95. (श्री.) अविक्खदि।
96. (श्री.) किं राज्ञीभिः।
97. (ऑ.-2) एवं (श्री.) करभको दौवारिकेण सह प्रविष्टः।
98. (ऑ.-2) एवं (श्री.) पुत्तपिण्डदाणको।
99. (श्री.) देहाउणा।
100. (बु.) सौकुलम्।
101. (श्री.) नतिक्रमणीयम्।
102. (श्री.) सत्यमाकुलीभूतो।
103. (ऑ.-2) गृहीतः। (बु.) प्रतिगृहीतः।
104. (ऑ.-1) राआणुरागेण। (श्री.) रायाणुजेण।
105. (ऑ.-1) गमिस्से।
106. (श्री.) तपोवनानुरोधः।
107. (श्री.) युवरायु।
108. (ऑ.-1) तेण हि युअराआअणुराएण गन्तव्वं।
109. (ऑ.-1) शावैस्सममीक्षितो।
110. (ऑ.-1) परार्थे न निगृह्यते।
111. (ऑ.-1) एवं (श्री.) सत्थि।
112. (बु.) छायानुवादोऽसमीचीनः प्रतिभाति। (अतः प्रकोष्ठे शुद्धीकरणं प्रदीयते।)

॥ अथ तृतीयोऽङ्कः॥

1(**ततः प्रविशति यजमानशिष्यः ।**)

शिष्य : (कुशान् आदाय) अहो महाप्रभावो दुष्यन्तः[2]। प्रविष्टमात्र एव सारथिद्वितीये तत्रभवतीदम् आश्रमपदं निवृत्त[3] रक्षोविघ्नं संवृत्तम्, निरुपप्लवानि च नः कर्माणि सिद्धानि[4]।

का कथा बाणसन्धाने ज्याशब्देनैव[5] दूरतः।
हुङ्कारेणेव धनुषस्स हि विघ्नान् अपोहति ॥3-1॥

यावदिमान् वेदिसंस्तरणार्थं दर्भान् ऋत्विग्भ्य उपाहरामि। (परिक्रम्याकाशे) प्रियंवदे, कस्येदम् उशीरानुलेपनं मृणालवलयवन्ति च कमलिनीपत्राणि नीयन्ते। (श्रुतिमभिनीय) किं ब्रवीषि। आतपलङ्घनाद् बलवद् अस्वस्था[6] शकुन्तला। तस्या दाहे निर्वापणायेति[7]। अहो यत्नाद् उपक्रम्यतां सखी यतस्तत्रभवतः कुलपतेस्तद् उच्छ्वसितम्, अहमपि ≠(36)[8] वैतानिक[9]-शान्त्युदकम् अस्यै गौतमीहस्ते प्रहेष्यामि[10]।(इति निष्क्रान्तः)

॥ प्रवेशकः ॥

(ततः प्रविशति कामयाना[11] वस्थो राजा)

राजा : (सवितर्कम्[12])

जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम्।
अलमस्मि ततो हृदयं तथापि नेदं निवर्तयितुम्॥ 3-2॥

[<(सदैन्यम्) भगवन् काम, एवमप्युपपद्यते न ते मय्यनुक्रोशः।

कुतश्च ते कुसुमायुधस्य सततीक्ष्णत्वम्। (विचिन्त्य) आं ज्ञातम्,

अद्यापि नूनं हरकोपवह्निस्त्वयि ज्वलत्यौर्व इवाम्बुराशौ।
त्वमन्यथा मन्मथ मद्विधानां भस्मावशेषः कथमेवमुष्णः॥ 3-3॥>][13]

(सासूयम्) कुसुमायुध[14], त्वया चन्द्रमसा च विश्वसनीय-नामा-भ्यामभिसन्धीयते कामिजनसार्थः[15]। कथमिति।

तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दो-
र्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेषु।
विसृजति हिमगर्भैरग्निम् इन्दुर्मयूखै-
स्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्रसारीकरोषि ॥3-4॥

(सखेदम्)क्व नु खलु संस्थिते कर्मणि सदस्यैरनुज्ञातविश्रान्तिः श्रान्तम्[16] आत्मानं[17] विनोदयामि। (निःश्वस्य) किं नु खलु प्रियादर्शनाद् ऋते शर ≠(37)णम् अन्यत्। यावदेनाम् अन्विष्ये[18]। (सूर्यम् अवलोक्य) इमाम् उग्रतमां[19] वेलां प्रायेण लतावलयवत्सु मालिनीतीरेषु[20] तत्रभवती ससखीजना गमयति। तत्रैव तावद् गमिष्यामि[21]।

(परिक्रम्य साह्लादं वायुस्पर्शं निरूपयन्) अहो, प्रवातसुभगोऽयमुद्देशः।

शक्योऽरविन्दसुरभिः कणवाही मालिनीतरङ्गाणाम्।
मदनग्लानैरङ्गैः पीडितमालिङ्गितुं पवनः ॥3-5॥

(परिक्रम्यावलोक्य च) अस्मिन् वेतसपरिक्षिप्ते लतामण्डपके शकुन्तलया भवितव्यम्। तथा हि, (अधोऽवलोक्य)

अल्पनिहिता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात्।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥3-6॥

यावद्विटपान्तरेणावलोकयामि। (तथा कृत्वा सहर्षम्) अये, लब्धं खलु नेत्रनिर्वापणम्[22]। एषा मनोरथभूमि-प्रियतमा मे सकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्याम् अन्वास्यते। भवतु। लताव्यवहितः श्रोष्यामि यावदासां

विप्र(स्र)ब्ध[23]-कथितानि। (तथा कुर्वन्[24] स्थितः)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा शकुन्तला सख्यौ च[25])

सख्यौ : (उपवीज्य ≠(38) सस्नेहम्) सहि सउन्तले, अवि[26] सुहाअदि दे णलिणीपत्तवादो। (सखि शकुन्तले, अपि सुखायते ते नलिनीपत्रवातः।)

शकुन्तला : (वेदनां नाटयित्वा[27]) किं वा वीजअन्ति मं सहीओ। (किं वा वीजयन्ति मां सख्यः।) (उभे सविषादं मुखम् अन्योन्यं पश्यतः[28]।)

(शकुन्तला सखेदं निश्श्वसिति[29]।)

राजा : बलवदस्वस्था[30] खल्वत्रभवती[31]। (सवितर्कम्) किमत्रायमातपदोषः स्याद्, उत यथा[32] मे मनसि वर्तते। (साभिलाषं निर्वर्ण्य) अथवा कृतं सन्देहेन।

स्तनन्यस्तोशीरं प्रशिथिलमृणालैकवलयं[33]
प्रियायाः साबाधं तदपि कमनीयं वपुरिदम्।
समस्तापः कामं मनसिजनिदाघप्रसरयो-
र्न तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्धं युवतिषु ॥3-7॥

अनसूया : हला सउन्तले, अनन्तरण्णा अम्हे[34] मअणगदस्स वुत्तन्तस्स। तहावि[35] {किन्तु} जादिसी इदिहास-गदेसु मअणवुत्तन्तेसु कामअमाणस्स अवत्था सुणीअदि तादिसं च लक्खम्ह। ता कहेहि[36] किं णिमित्तं दे अअं आआसो, विआरं खु परमत्थदो अआणिअ अणारम्भो पदि(डी)आरस्स।

(हला शकुन्तले, अनन्तरज्ञा वयं मदनगतस्य वृत्तान्तस्य। तथापि यादृशीतिहासगतेषु मदनवृत्तान्तेषु कामयमानस्यावस्था श्रूयते तादृशञ्च लक्षावहे। तत्कथय, किं निमित्तं तेऽयम् आयासो, विकारं खलु परमार्थतोऽ-ज्ञात्वाऽनारम्भः प्रतिकारस्य।)

राजा : अनसूययाप्यनुगतो मदीयस्तर्कः[37]।

शकुन्तला : (आत्मगतम्) बलवं च मे अहिणिवेसो[38]। ण अ सक्कणोमि सहसा ≠(39) णिवट्टिदुम्[39]। (बलवान् च मेऽभिनिवेशः। न

च शक्नोमि सहसा निवर्तितुम् ।)

प्रियंवदा : सहि, सुट्ठु एसा भणादि। किं णेदं अत्तणो उवद्दवं[40] निगूहसि। अणुदिअसं च परिहीअसे अङ्गेहिं। केवलं लावण्णमण्ण[41] च्छाआ तुमं ण मुञ्चदि। (सखि, सुष्ठ्वेषा भणति। किमेतमात्मन उपद्रवं निगूहसि। अनुदिवसं च परिहीयसेऽङ्गकैः। केवलं लावण्यमयीच्छाया त्वां न मुञ्चति।)

राजा : अवितथमाह प्रियंवदा। तथा ह्यस्याः,

क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं
मध्यं कान्ततरं प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा।
शोच्या च प्रियदर्शना च मदनक्लिष्टेय[42] मालक्ष्यते
पत्राणामिव शोषणेन मरुता स्पृष्टा[43] लता माधवी ॥3-8॥

शकुन्तला : कस्स वा अण्णस्स इदं कधइदव्वं[44]। आआसइत्ति[45] दाणिं वो भविस्सं। (कस्य वा अन्यस्येदं कथयितव्यम्। आयासयित्रीदानीं वो भविष्यामि।)

उभे : अदो य्येव णो णिब्बन्धो। संविभत्तं खु दुःखं सज्झवेअणं होसि(दि)[46]। (अत एव नो निर्बन्धः। संविभक्तं खलु दुःखं सह्यवेदनं भवति।)

राजा : पृष्टा जनेन समदुःखसुखेन बाला
नेयं न वक्ष्यति मनोगतमाधिहेतुम्।
दृष्टो विवृत्य बहुशोऽप्यनया सहावम्
अत्रोत्तरं श्रवणकातरतां गतोऽस्मि ॥3-9॥

शकुन्तला : (सलज्जम्) जदो पहुदि स(सो) तवोवणरक्खिदा राएसि मम दंसणपधं गदो, तदो आरभिअ उग्गदेण अहिलासेण एदावत्थम्हि संवुत्ता। (यतः प्रभृति सः तपोवनरक्षिता राजर्षिर्मम दर्शनपथं गतः, तत आरभ्योद्गतेनाभिलाषेणैतदवस्थास्मि संवृत्ता।)

≠(40)**राजा** : (सहर्षम्) श्रुतं श्रोतव्यम्[47]।

स्मर एव तापहेतुर्निर्वापयिता स एव मे जातः।
दिवस इवाभ्रश्यामस्तपात्यये जीवलोकस्य ॥3-10॥

शकुन्तला : एवं जदि वो अहिमदं[48] तत् तधा मन्तेधं मं जदा तस्स राएसिणो अणुअम्पणीआ होमि। अण्णधा मां सिञ्चध दाणिं {मं} उदएण। (एवं यदि वोऽभिमतं तत्तथा मन्त्रयेथां मां यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि। अन्यथा मां सिञ्चतमिदानीम् उदकेन।)

राजा : विमर्शच्छेदि वचनम्।[< *एतावत् कामफलं, यत्फलमन्यत्।*>][49]

प्रियंवदा : (अपवार्य (जनान्तिकम्)[50]) अणुसूए, दूरेगदमम्महा इअं अक्खमा कालहरणस्स। जस्सिं बद्धभावा सो वि ललामभूदो[51] पोरवाणं। ता तुरिदव्वं येव से अहिलासं अणुवट्टिदुं। (अनुसूये, दूरेगतमन्मथेयम् अक्षमा कालहरणस्य। यस्मिन् बद्धभावा सोऽपि ललामभूतः पौरवाणाम्, तत् त्वरितव्यम् एवास्या अभिलाषम् अनुवर्तितुम्।)

अनसूया : (अपवार्य[52]) जधा भणसि।
[< *(प्रकाशम्) सहि, दिट्ठिआ अणुरुवो से अहिलासो। साअरं वज्जिअ कहिं वा महाणदीओ गन्तव्वं। (यथा भणसि। सखि, दिष्ट्या अनुरूपस्तस्या अभिलाषः। सागरं वर्जयित्वा कुत्र वा महानद्या गन्तव्यम्।)*

प्रियंवदा : *को दाणिं सहआरं अदिमुत्तलदाए पल्लविदुं[53] न इच्छदि। (क इदानीं सहकारम् अतिमुक्तलतया पल्लवितुं नेच्छति।)*

राजा : *किमत्र चित्रम्। यदि चित्राविशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते। अयमत्रभवतीभ्यां क्रीतो जनः।*>][54]

अनसूया : को उण उवाओ भवे जेण सहीए अविलम्बिदं णिगूढं मणोरहं संपादेम्ह। (कः पुनरुपायो भवेद् येन सख्या अविलम्बितं निगूढं मनोरथं सम्पादयावः।)

प्रियंवदा : णि ≠(41)उणं पअदिदव्वंत्ति चिन्तणीअं भवे। सिग्धं त्ति ण दुक्करं।
(निगूढं प्रयतितव्यम् इति चिन्तनीयं भवेद्। शीघ्रमिति न दुष्करम्।)

अनसूया : कधं विअ। (कथमिव।)

प्रियंवदा : सो राएसी इमाए[55] सिणद्धदृट्ठि सूइदाहिलासो इमाइं दिवसाइं[56] पआअरकिसो विअ लक्खेअदि। (स राजर्षिरस्यां स्निग्धदृष्टिः सूचिताभिलाष इमानि दिवसानि प्रजागरकृश इव लक्ष्यते।)

राजा : सत्यमित्थंभूतोऽस्मि। तथा हि

इदमशिशिरैरन्तस्तापैर्विवर्णमणीकृतं
निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रवृत्तिभिरश्रुभिः।
अनभिलुलित[57] ज्याघाताङ्कान्मुहुर्मणिबन्धनात्
कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते[58] ॥3-11॥

प्रियंवदा : (विचिन्त्य) अणसूए[59], मअणलेहो दाणिं करीअदु। तं सुमणोगोविदं करिअ[60] देवसेसावदेसेण तस्स रण्णो हत्थे पाडइस्सं। (अनसूये, मदनलेख इदानीं क्रियताम्। तं सुमनोगोपितं कृत्वा देवशेषापदेशेन तस्य राज्ञो हस्ते पातयिष्यामि।)

अनसूया : रोअदि मे सुउमारपओओ[61]। किं वा सउन्तला भणादि। (रोचते मे सुकुमार-प्रयोगः। किं वा शकुन्तला भणति।)

शकुन्तला : (सलज्जम्) णिओओ वि विकप्पीअदि। (नियोगोऽपि विकल्प्यते।)

प्रियंवदा : (शकुन्तलां प्रति) तेण हि उवण्णासपुरवं अत्तणो चिन्तेहि किंपि सुललिदं पदबन्धं[62]। (तेन हि उपन्यासपूर्वम् आत्मनश्चिन्तय किमपि सुललितं पदबन्धम्।)

शकुन्तला : चिन्तइस्सं। अवधीरणाभीरुअं पुणो वेवदि मे हिअअं। (चिन्तयिष्यामि। अवधीरणाभीरुकं पुनर्वेपते मे हृदयम्।)

राजा : (सहर्षम्)

अयं स ते तिष्ठति संगमोत्सुको
विशङ्कसे भीरु यतोऽवधीरणाम्।
लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं
श्रियो दुरापः ≠(42) कथमीप्सितो भवेत् ॥3-12॥

सख्यौ : अत्तगुणावमाणिणि। को दाणिं सारदिअं जोण्हं आदवत्तेण वारयिस्सदि। (आत्मगुणावमानिनि, क इदानीं शारदीयां ज्योत्स्नाम् आतपत्रेण वारयिष्यति[63]।)[64]

राजा : (विलोकयन्) स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि।

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः।
कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन ॥3-13॥

शकुन्तला : हला, चिन्तिदा मए गीदिया। असण्णिहिदाणि उण लेहसाहणाणि। (हले, चिन्तिता मया गीतिका। असन्निहितानि पुनर्लेखसाधनानि।)

प्रियंवदा : णं इमस्सिं सुओदरसुउमारे णलिणीवत्ते पत्तच्छेदभत्तीए णहेहिं णिक्खित्तवण्णं करेहि[65]। तदो सुणम्ह से अक्खराइं।[66] (नन्वस्मिंश्शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे पत्रच्छेदभक्त्या नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु। ततः शृणुमोऽस्याक्षराणि।)

शकुन्तला : (तथा कृत्वा) सुणेह[67] दाव णं संगदत्था ण वे त्ति। (शृणुतं तावदेनां सङ्गतार्था न वेति।)

उभे : अवहिदम्ह। (अवहिते स्वः।)

शकुन्तला : (पठति)

तुज्झ ण आणे हिअअं मम उण कामो दिवा अ रत्तिं अ।
णिक्कीव तवेइ बलिअं तुह हुत्तमणोरहाइ[68] अङ्गाइं॥ 3-14॥
(तव न जाने हृदयं मम पुनः कामो दिवा च रात्रिञ्च।
निष्कृप तपति बलीयस्तवाभिमुखमनोरथान्यङ्गानि)॥ 3-14॥

राजा : (सहर्षमुपगम्य)

तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं, मां पुनर्दहत्येव।
ग्लपयति यथा शशाङ्कं न तथा हि कुमु ≠(43)द्वतीं दिवसः॥3-15॥

सख्यौ : (विलोक्य सहर्षमुत्थाय) सागदं जहा चिन्तिदफलस्स अवलम्बिणो मणोरहस्स[69]। (स्वागतं यथा चिन्तितफल-स्यावलम्बिनो मनोरथस्य।

शकुन्तला : (आत्मगतं ससाध्वसं च) हिअअ, तह[70] उत्तम्मिअ इआणिं ण किंचि पडिवज्जसि। (हृदय, तथोत्ताम्येदानीं न किञ्चित् प्रतिपद्यसे।
(इत्युत्थातु[71] मिच्छति)

राजा : अलमायासेन।

संस्पृष्टकुसुमशयनान्याशुर्विवर्णितमृणालवलयानि।
गुरुसंतापानि न ते गात्राण्युपचारमर्हन्ति[72] ॥3-16॥

अनसूया : इदो सिलादलेक्कदेसं अणुगेण्हदु वअस्सो। (इतः शिलातलैकदेशमनुगृह्णातु वयस्यः।)[73]

राजा : (उपविश्य) प्रियंवदे, कच्चित् सखीं वो नातिबाधते शरीरसंतापः।

प्रियंवदा : (सख्या सहोपविष्टा) लब्धोसधो संपदं उवसमं गमिस्सदि कालेण।
(लब्धौषधस्साम्प्रतम् उपशमं गमिष्यति कालेन।)

[< **अनसूया** : *(जनान्तिकम्) पिअंवदे, कालेण (त्ति)[74] किम्। पेक्ख, मेहणादाहदं विअ मयूरिं[75] णिमिसन्तरेण पच्चागदं पिअसहिं। (प्रियंवदे, कालेन इति किम्। प्रेक्षस्व, मेघनादाहताम् इव मयूरीं निमेषान्तरेण प्रत्यागताम् प्रियसखीम्।)*

शकुन्तला : *(सलज्जा तिष्ठति)*>][76]

प्रियंवदा : महाभाअ, दोण्हं पि वो अण्णोण्णाणुराओ पच्चक्खो। सहीसिणेहो उण मं पुणरुत्तवादिणीं करेदि। (महाभाग, द्वयोरपि वाम् अन्योन्यानुरागः प्रत्यक्षः। सखीस्नेहः पुनर्माम् पुनरुक्तवादिनीं करोति।)

राजा : उच्यताम्[77], विवक्षितं ह्यनुक्तम् अनुतापं जनयति।

प्रियंवदा : तेण हि सुणादु ≠(44) महाराओ। (तेन हि शृणोतु महाराजः।)

राजा : अवहितोऽस्मि।[78]

प्रियंवदा : इअं णो सही तुमं य्येव उद्देसिअ भअवदा मअणेण इमं ईदिसं अवत्थन्तरं णीदा[79]। ता अरिहसि अब्भुवत्तीए से जीविदं अवलम्बिदुं। (इयं नस्सखी त्वाम् एवोद्दिश्य भगवता मदनेनेदम् ईदृशम् अवस्थान्तरं नीता। तदर्हस्यभ्युपपत्त्याऽस्या जीवितम् अवलम्बितुम्।)

राजा : अनुगृहीतोऽस्मि।

शकुन्तला : (सस्मितम्) हला, अलं वो अन्दा (न्त) उरविहार[80] पय्युस्सुएण राएसिणा उवरुद्धेण। (हला, अलं वोऽन्तःपुरविहारपर्युत्सुकेन राजर्षिणोपरोधेन।)

राजा : सुन्दरि,
इदमनन्यपरायणमन्यथा हृदयसन्निहिता[81] हृदयं मम।
यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे मदनबाणहतोऽपि हतः पुनः॥ 3-17॥

अनसूया : वअस्स, बहुवल्लभा[82] राआणो सुणीअन्ति। जहा णो सही बन्धुअणे असोअणीआ होदि तहा[83] णिव्वाहेहि। (वयस्य, बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते। यथा नः सखी बन्धुजनेऽशोचनीया भवति, तथा निर्वाहय।)

राजा : भद्रे,
परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।
धर्मेणोल्लिखिता लक्ष्मीस्सखी च युवयोरियम् ॥3-18॥

उभे : [84]अणुगिहिद म्ह। (अनुगृहीते स्वः।)

*[< **शकुन्तला** : हला मरिसावेध लोअवालं जं किञ्च अम्हेहिं उवआरादिक्कमेण बीसम्भपलाविणीहिं भणिदं। (हले, मर्षयतं लोकपालं यत् किञ्चास्माभिरुपचारातिक्रमेण विस्रम्भप्रलापिनीभिः भणितम्।)*

सख्यौ : *जेण तं मन्तिदं सो मरिसावेदु। अणस्स 1 (45) जणस्य को अच्चओ।[85] परोक्खं को वा किं ण मन्तेदि[86]। (येन तन्मन्त्रितं स मर्षयतु। अन्यस्य जनस्य कोऽत्ययः। परोक्षं को वा किं न मन्त्रयति।)*

राजा : *(सस्मितम्)*
अपराधमिमं ततः सहिष्ये यदि रम्भोरु तवाङ्गरेचितार्द्धे।
कुसुमास्तरणे क्लमापहं मे सुजनत्वादनुमन्यसेऽवकाशम्॥3-19॥

प्रियंवदा : *एत्तिएण उण दे तुट्ठि भवे[88]। (एतावता पुनस्ते तुष्टिर्भवेत्।)*

शकुन्तला : *(सरोषमिव) विरम दुल्ललिदे। एदावत्थाए वि मे कीलसि[89]। (विरम दुर्ललिते, एतावदवस्थयापि मे क्रीडसि।) >][90]*

अनसूया : (बहिर्विलोक्य) पिअंवदे, एसो मिअपोदओ[91] इदो तदो दिण्णदिट्ठी उस्सुओ णूणं मादरं परिब्भट्ठं अण्णेसदि। ता संजोजइस्सं दाव णम्। (इत्युत्तिष्ठति) (प्रियंवदे, एष मृगपोतक इतस्ततो दत्तदृष्टिरुत्सुको नूनं मातरं परिभ्रष्टाम् अन्वेषति। तत्संयोजयिष्यामि तावदेनम्।)

प्रियंवदा : णं चवलओ[92] खु एसो। एआइणी णिओजेदुं ण पारेसि। ता अहं पि दे अणुवत्तिदुं[93] करयिस्सं।(ननु चपलकः खल्वेषः। एकाकिनी नियोजयितुं न पारयसि। तदहमपि ते अनुवर्तितुं करयिष्यामि।)

(इत्युभे प्रस्थिते)

शकुन्तला94 : हला अण्णदरा ओ(वो) गच्छदु, अण्णहा असरण म्हि। (हले, अन्यतरा वो गच्छतु। अन्यथाऽशरणाऽस्मि।)

उभे : (सस्मितम्) जो पुहवीए सरणं, सो तुह समीवे। (यः पृथिव्याः शरणं स तव समीपे।)

(इति निष्क्रान्ते)

शकुन्तला : कधं गदं य्येव। (कथं गतम् एव।)

राजा : [95]अलमावेगेन। नन्वयमाराधयिता जनस्तव सखीभूमौ वर्तते। तदुच्यताम्

किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातं
संचालयामि नलिनीदलतालवृन्तैः।
अङ्के निधा ≠(46) य चरणावुत पद्मताम्रौ
संवाहयामि[96] करभोरु यथासुखं ते ॥3-20॥

शकुन्तला : ण माणणीए जणे अत्ताणअं अवराधइस्सं[97]। (न माननीये जने आत्मानम् अपराधयिष्यामि।)

(अवस्थासदृशमुत्थाय प्रस्थिता)[98]

राजा : (अवष्टभ्य) सुन्दरि, अपरिनिर्वाणोऽयं दिवसः। इयं च तेऽवस्था।
उत्सृज्य कुसुमशयनं[99] कदलीदलकल्पितस्तनावरणम्[100]।
कथमातपे गमिष्यसि परिपाण्डुरपेलवैरङ्गैः ॥3-21॥

[< **शकुन्तला**– *सहिमेत्तसरणा, कं वा सरणयिस्सम्। (सखीमात्रशरणा, कं वा शरणयिष्यामि।)*

राजा : *इदानीं व्रीडितोऽस्मि।*

शकुन्तला : *ण खु[101] अय्यं, देव्वं उवालहामि। (न खल्वार्यम्, दैवमुपालभे।)*

राजा : *किम् अनुकूलकारिण उपालभ्यते दैवस्य[102]।*

शकुन्तला : *कधं दाणिं उवालभिस्सं[103] जो अत्तणो अणीसं परगुणेहिं मं ओहासेदि [104]।*
(कथमिदानीम् उपालप्स्ये य आत्मनोऽनीशां परगुणै र्मामुपहासयति।)[105]

राजा : *(स्वगतम्)*

अप्यौत्सुक्ये महति न वरप्रार्थनासु प्रतार्याः
काङ्क्षन्त्योऽपि व्यतिकरसुखं कातराः स्वाङ्गदाने।
आबाध्यन्ते न खलु मदनेनापि[106] लब्धास्पदत्वाद्
आबाधन्ते[107] मनसिजमपि क्षिप्तकालाः कुमार्यः॥3-22॥

(शकुन्तला प्रस्थितैव) >][108]

राजा : (स्वगतम्) कथमात्मनः प्रियं न करिष्ये[109]। (उत्थायोपसृत्य पटान्तादवलम्बते)

[< **शकुन्तला** : *पोरव, मुञ्च मं। (पौरव, मुञ्च माम्।)*

राजा : *भवति, मोक्ष्यामि[110]।*

शकुन्तला : *कदा।*

राजा : *यदा सुरतज्ञो[111] भविष्यामि।*

(47)शकुन्तला : *मअणावट्ठद्धो वि ण अत्तणो कण्णआअणो पहवदि। भूयो वि दाव सहीअणं अणुमाणइस्सम्।*
(मदनावष्टब्धोऽपि नात्मनः कन्यकाजनः प्रभवति। भूयोऽपि तावत् सखीजनम् अनुमानयिष्यामि।)

राजा : *(मुहूर्तम् उपविश्य) ततो मोक्ष्यामि[112]। >][113]*

शकुन्तला : (कृतककोपा[114]) पोरव, रक्ख विणअं। इदो इदो इसिओ[115] सञ्चरन्ति। (पौरव, रक्ष विनयम्। इत इत ऋषयः सञ्चरन्ति।)

राजा : (दिशोऽवलोक्य) कथं प्रकाशम् अस्मि निर्गतः। (ससंभ्रमम्, शकुन्तलां मुक्त्वा[116] तैरेव पदैर्निवर्तते)[117]

शकुन्तला : (स्तोकमुपगम्य साङ्गभङ्गम्) पोरव, अणिच्छापो(पू) रओ वि दंसणमेत्तसुहदो[118] ण ते अअं जणो विसुमरिदव्वो। (पौरव, अनिच्छापूरकोऽपि दर्शनमात्रसुखदो न तेऽयं जनो विस्मर्तव्यः)

राजा : सुन्दरि,

त्वं दूरमपि गच्छन्ती हृदयं न जहासि मे।
दिनावसानच्छायेव पुरोमूलं वनस्पतेः[119] ॥3-23॥

शकुन्तला : (स्तोकमिव गत्वा) हद्धी, ण मे चरणा पुरोमुहा पहवन्ति[120]। इमेहिं अय्यउत्तस्स[121] कुरवएहिं ववहिदा पच्छादो लदामण्डवअस्स पेक्खिस्सं दाव से भावानुबन्धं। (तथा करोति[122]) (हा धिक्, न मे चरणौ पुरोमुखौ प्रभवतः। एभिरार्यपुत्रस्य, कुरबकैर्व्यवहिता पश्चाल्लता–मण्डपकस्य प्रेक्षिष्ये तावद् अस्य भावानुबन्धम्।)

राजा : प्रिये, मामेवम् अनुरागैकरसं समुत्सृज्य[123] प्रस्थितैवासि निरपेक्षं गन्तुम्।

अनिर्दयोपभोग्यस्य रूपस्य मृदुनस्तथा।
दा ≠(48)रुणं खलु ते चेतः शिरीषस्येव बन्धनम् ॥3-24॥

शकुन्तला : इमं सुणिअ ण मे अत्थि विहवो गन्तुम्[124]। (इमं श्रुत्वा न मेऽस्ति विभवो गन्तुम्।)

राजा : किमिहाहं सम्प्रति प्रियाशून्ये करोमि। गमिष्यामि। (प्रस्थितः। [125]भूमिं विलोक्य) हन्त, व्याहतं मे गमनम्।

मणिबन्धविगलित[126] मिदं संक्रान्तोशीरपरिमलं तस्याः।
हृदयस्य निगडमिव मे मृणालवलयं स्थितं पुरतः ॥3-25॥

(सबहुमानमादत्ते)

शकुन्तला : (हस्तमवलोक्य) अम्मो, दुब्बलसिधिलदाए पब्भट्ठं पि एदं मुणालवलअं मए ण विण्णादं। (अहो, दुर्बलशिथिलतया प्रभ्रष्टमपि एतन्मृणालवलयं मया न विज्ञातम्।)

राजा : (वलयाभरणमुरसि विन्यस्य[127]) अहो सुखस्पर्शः।
अनेन लीलाभरणेन ते प्रिये विहाय कान्तं भुजमत्र तिष्ठता।
जनः समाश्वासित एष दुःखभाग् अचेतनेनापि सता, न तु त्वया॥ 3-26॥

शकुन्तला : अदो अवरं असमत्थ म्हि विलम्बिदुं। भोदु। एदेण य्येव ववदेसेण से [128]अत्ताणअं दंसयिस्सं[129]। (अतोऽपरमसमर्थास्मि विलम्बितुम्। भवतु। एतेनैव व्यपदेशेनास्यात्मानं दर्शयिष्यामि।)
(इत्युपगच्छति)

राजा : (दृष्ट्वा सहर्षम्) अये, जीवितेश्वरी मे प्राप्ता। परि ≠(49) देवितानन्तरं प्रसादेनो [प] कर्तव्यो[130] ऽस्मि खलु दैवस्य।
पिपासाक्षामकण्ठेन याचितं चाल्पयाचिना।
नवमेघोज्झिता चास्य धारा निपतिता मुखे[131] ॥3-27॥

शकुन्तला : (राज्ञः प्रमुखे स्थिता[132]) अङ्ग, अद्धपहे सुमरिअ एदस्स हत्थब्भंसिणो मुणालवलअस्स किदे सण्णिअत्तम्हि। आचक्खिअं विअ मे हिअएण तए गिहीदं त्ति। ता क्खिव इदं, मा मुणिअणे अत्ताणअं मं च सुअइस्ससि[133]। (अङ्ग, अर्धपथे स्मृत्वैतस्य हस्तभ्रंशिनो मृणालवलयस्य कृते सन्निवृत्तास्मि। आख्यातमिव मे हृदयेन त्वया गृहीतमिति। तत् क्षिपेदम्। मा मुनिजन आत्मानं मां च सूचयिष्यसि।)

राजा : एकेनाभिसन्धिना[134] प्रत्यर्पयेयम्, नान्यथा।

शकुन्तला : केण। (केन।)

राजा : यदीदमहमेव यथास्थानं निवेशये।[135]

शकुन्तला : (स्वगतम्) का गदी। (का गतिः।)[136]

राजा : इमं शिलापट्टमेव संश्रयावः। (उभौ परिक्रम्योपविष्टौ)

राजा : (शकुन्तलाहस्तमादाय स्वगतम्[137])
हरकोपाग्निदग्धस्य, दैवेनामृतवर्षिणा।
प्ररोहः संभृतो भूयः, किं स्वित्कामतरोरयम् ॥3-28॥

शकुन्तला : (हर्षरोमाञ्चं रूपयति[138]) तुरव(तुवर)अदु[139] अय्यउत्तो।

(त्वरयत्वार्यपुत्रः ।)

राजा : (स्वगतम्) इदानीमस्मि विश्वस्तो भर्तुराभाषणेन। (प्रकाशम्) सुन्दरि, नातिश्लिष्टः ≠(50) सन्धिरस्य[140] मृणालवलयस्य। यदि तेऽभिप्राय[141] एतद् अन्यथा घटयिष्यामि[142]।

शकुन्तला : (विहस्य) कालक्खेवकुसलो, जं दे रोअदि। (कालक्षेपकुशलः, यत् ते रोचते।)

राजा : (सव्याजं विलम्बितम् अवमुच्यावलम्ब्य[143] च) सुन्दरि, दृश्यताम् इदम्—

अयं हि ते श्यामलतामनोहरो[144]
विशेषशोभार्थम् इवोज्झिताम्बरः।
मृणालरूपेण नवो निशाकरः
करं समेत्योभयकोटिराश्रितः ॥3-29॥

शकुन्तला : ण दाव णं पेक्खामि। पवणकम्पिणा कण्णुप्पलरेणुणा कलुसीकिदा[145] मे दिट्ठिः(ट्ठि)। (न तावदेनं प्रेक्षे। पवनकम्पिना कर्णोत्पलरेणुना कलुषीकृता मे दृष्टिः।)

राजा : (सस्मितम्) यदि मन्यसे ता(तदा)हमेनां वदनमारुतेन विशदां[146] करिष्ये।

शकुन्तला : अणुकम्पिदा भवेअं। ण उवणदे विस्ससामि[147]॥ (अनुकम्पिता भवेयम्। न उपनते विश्वसिमि।)

राजा : मा मैवम्। नवो हि परिजनः सेव्यानामादेशात्परं न वर्तते।

शकुन्तला : एसो य्येव दे अच्चुवआरो[148] अविसम्भजणओ। (एष एव तेऽत्युपचारोऽविश्रम्भजनकः।)

राजा : नाहमेवं रमणीयम् आत्मनस्सेवाकालं[149] शिथिलयिष्यामि। (मुखम् उन्नमयितुं प्रवृत्तः। शकुन्तला अकामप्रतिषेधं रूपयन्ती विहरति[150]।)

राजा : अये पर्यश्रुतां[151] ते गतं चक्षुः। अलमस्मान् प्रत्यविनयशङ्कया[152]। ≠(51) उन्नीयतामाननम्।

(शकुन्तला किंचिद्दृष्ट्वा स्थिता)

राजा : (मुखमुन्नमय्याङ्गुलीभ्यां स्वगतम्)

चारुणा स्फुरितेनायमपरिक्षतकोमलः।

पिपासतो ममानुज्ञां करोत्येव प्रियाधरः ॥3-30॥

शकुन्तला : पडिण्णादं मन्थरो[153] विअ अय्यउत्तो संवुत्तो। (प्रतिज्ञातं मन्थर इवार्यपुत्रस्संवृत्तः।)

राजा : सुन्दरि, कर्णोत्पलसन्निकर्षाद् ईक्षणसादृश्येन मूढोऽस्मि। (मुखमारुतेन नेत्रं[154] सिञ्चति।)

शकुन्तला : भोदु। पकिदित्थम्हि[155] संवुत्ता। लज्जामि उण अणुवआरिणी पिअआरिणो अय्यउत्तस्स। (भवतु, प्रकृतिस्थाऽस्मि संवृत्ता। लज्जे पुनरुनुपकारिणी प्रियकारिण आर्यपुत्रस्य।)

राजा : किमन्यत्।

इदमप्युपकृतमबले सुरभि मुखं ते मया यदाघ्रातम्।

(सस्मितम्) न तु कमलस्य मधुकरस्सन्तुष्यति गन्धमात्रेण ॥3-31॥

शकुन्तला : असंतोसेण किं करयिस्ससि[156]। (असंतोषेण किं करिष्यसि।)

राजा : इदम्। (इति व्यवसितः)

(नेपथ्ये)

अय्या गोदमी। (आर्या गौतमी)

शकुन्तला : (कर्णं दत्त्वा ससंभ्रमम्) पोरव, एसा मम सरीरवुत्तान्तो[157] वलम्भाअ तादस्स धम्म-कणिअसी[158] उवत्थिदा, ता विडवान्तरिदो होहि। (पौरव, एषा मम शरीरवृत्तान्तोपालम्भाय तातस्य धर्मकनीयस्युपस्थिता। तद् विटपान्तरितो भव।)

राजा : (तथा ≠(52) करोति।[159])

(ततः प्रविशति पात्रहस्ता गौतमी)

गौतमी : (उपसृत्य) अच्चाहिदं। इदो देवदासहाआ चिट्ठसि। (अत्याहितम्, इत देवतासहाया तिष्ठसि।)

शकुन्तला : इदाणिं य्येव मालिणिं अवदीण्णाओ पिअंवदामिस्साओ। (इदानीमेव मालिनीम् अवतीर्णाः प्रियंवदामिश्राः।)

गौतमी : (दर्भोदकेन शकुन्तलामभ्युक्ष्य) वत्से, निराबाधा त्वं चिरं

जीव। अवि लहुसंतावाइं दे अङ्गाइं। (वत्से, निराबाधा त्वं चिरं जीव। अपि लघुकसन्तापानि तेऽङ्गानि।)

शकुन्तला : अत्थि विसेसो। (अस्ति विशेषः।)

गौतमी : वच्छे, परिणदो दिअसो। ता एहि। उडअं य्येव गच्छम्ह।[160] (वत्से, परिणतो दिवसः। तदेहि। उटजमेव गच्छामः।)

शकुन्तला : (अपवार्य) हिअअ, मणोरहदुल्लहं जणं पाविअ[161] कालहरणं करेसि। अणुसअ विघट्टिदस्स कधं दे सम्पदं। (पदानि गत्वा प्रतिनिवृत्य[162] प्रकाशम्) लदागहअ आमन्तए तुमं पुणो वि परि [भो] आअ। (इति निष्क्रान्ता) (हृदय, मनोरथदुर्लभं जनं प्राप्य कालहरणं करोषि। अनुशयविघट्टितस्य कथं ते साम्प्रतम्। लतागृहक, आमन्त्रये त्वां पुनरपि परिभोगाय।) (इति निष्क्रान्ते)[163]

राजा : (पूर्वस्थानमेत्य सनिःश्वासम्) अहोऽविघ्नवत्यः प्रार्थितसिद्धयः[164]। मया हि,

मुहुरङ्गुलिसंवृत्ताधरोष्ठं
प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिधानम्।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मला ≠(53) क्ष्याः
कथमप्युन्नमितं, न चुम्बितं तु[165] ॥3-32॥

क्व नु खलु साम्प्रतं गच्छामि। अथवा इहैव तावत् प्रियापरिभुक्तेऽतिमुक्तकलतावलये स्थास्यामि[166]।

(सर्वतो विलोक्य)

तस्याः पुष्पमयी शरीरलुलिता शय्या शिलायामियं
कान्ते[167] मन्मथलेख एष नलिनीपत्रे नखैरर्पितः।
हस्ताद्भ्रष्टमिदं बिसाभरणमित्यासाद्य हीनेक्षणान्
निर्गन्तुं सहसा न वेतसगृहादीशोऽस्मि शून्यादपि ॥3-33॥

[< हा हा धिक्, न सम्यग् आचेष्टितं मया प्रियामासाद्य[168] कालहरणं कुर्वता। इदानीं–

रहः प्रत्यासत्तिं यदि सुवदना यास्यति पुन-
र्न कालं हास्यामि प्रणयिदुरवापा हि विषयाः।

इति क्लिष्टं विघ्नैर्गणयति च मे मूढहृदयं
प्रियायाः प्रत्यक्षं किमपि च तथा कातरमिदम् ॥3-34॥ >][169]

(नेपथ्ये)

राजन् .. राजन्...।

सायन्तने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते
वेदीं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताम्।
छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः
सन्ध्याभ्रकूटकपिशाः पिशिताशनानाम् ॥3-35॥

राजा : (ससम्भ्रमम्) भो भोस्तपस्विनः। मा भैष्ट। अयमहमागतोऽ ≠(54) स्मि।

(इति निष्क्रान्तः)

॥ इति शकुन्तला-नाटके तृतीयोऽङ्कः॥

सन्दर्भ

1. (भूर्ज.) श्रीगणेशाय नमः। (ऑ.-1) नमो विघ्नहन्त्रे। (श्री.) "नमो सरस्वत्यै। ॐ नमो नारायणाय''।
2. (ऑ.-1) एवं (ऑ.-2) दुष्यन्तः।
3. (श्री.) तत्रभवतीदं विवृत।
4. (श्री.) प्रसिद्धानि।
5. (भूर्ज.) शब्देनेव।
6. (श्री.) बलवदवस्था।
7. (ऑ.-1) दाहनिर्वापणाय।
8. अत्र ≠ अनेन चिह्नेन भूर्जपत्रोपरिलिखिताया मातृकायाः पृष्ठाङ्का निर्दिश्यन्ते।
9. (ऑ.-1) एवं (श्री.) वैतान।
10. (ऑ.-1) प्रहिष्यामीति। (श्री.) प्रेष्यामि।
11. कामयानशब्दः सिद्धोऽनादिश्वेत्। (वामनः 5-2-82), रघुवंशे 19-50 चायं शब्दः। (ऑ.-2) कामायमाना
12. (श्री.) सचिन्तः निश्वस्य।
13. तिसृषु बृहत्पाठपरम्परासूपलभ्यामानोऽप्ययं [< ... >] कोष्ठान्तर्गतः पाठ प्रक्षिप्त एवेति उच्चतर-समीक्षातो निर्णीयते। पाठोऽयं पुनरुक्तिरूप एवेति निश्वप्रचम्। अतः सर्वथा त्याज्यः, समीक्षेयं प्रस्तावनायामुपस्थापिता।

14. (श्री.) कुसुमबाण।
15. (भूर्ज.) लिपिकारप्रमादादयं शब्दो द्विवारं लिखितः।
16. (ऑ.-1) एवं (ऑ.-2) क्लान्तम्।
17. (बु.) आत्मना।
18. (ऑ.-2) एवं (श्री.) अन्विष्यामि।
19. (ऑ.-1) उग्रातपां। (ऑ.-2) उग्रातप।
20. (श्री.) तटेषु।
21. (ऑ.-2) वाक्यमिदं नास्ति।
22. अत्र नेत्रनिर्वाणमिति पाठोऽन्यासु वाचनासु प्रचलति। किन्तु "तस्या दाहे निर्वापणाय" इति प्रवेशके स्थितं वाक्यं, "स्मर एवं तापहेतुर्निर्वापयिता स एव मे जातः" इति (3-10) च श्लोके स्थितं "निर्वापयिता" पदं दृष्ट्वा निश्चीयते यदुपरि निर्दिष्टः शारदापाठो यदेतासु मातृकासु संचरितः स एव अन्तः प्रमाणेन साधु सिध्यति। (ऑ.-2) अये लब्धं निर्वापणम्। (श्री.) वाक्येऽस्मिन् खल्विति पदं नास्ति।
23. (ऑ.-1) विश्रब्ध। (ऑ.-2) विस्रब्ध। (श्री.) आसामोविप्रब्ध। (बु.) [अ] विप्रलब्ध।
24. (ऑ.-1) एवं (ऑ.-2) अवलोकयन्। (श्री.) विलोकयन्।
25. (ऑ.-1) एवं (श्री.) यथानिर्दिष्टपरिवारा शकुन्तला। (ऑ.-2) यथानिर्दिष्टा सपरिवारा।
26. (भूर्ज.) अभि। किन्तु (बु.) अवि।
27. (ऑ.-1) सखेदम्, वेदनां नाटयित्वा। (श्री.) नाटयति।
28. (ऑ.-1) विषादं नाटितकेन परस्परमवलोकयतः। (श्री.) विषादं नाटितके परस्परि अवलोक्ययतः।
29. (ऑ.-1) एवं (श्री.) शकुन्तला तदेव वक्ति। (ऑ.-2) शकुन्तला सखेदं पुनस्तदेव।
30. (श्री.) बलवदवस्था।
31. (ऑ.-1) त्रभवती दृश्यते। (ऑ.-2) तत्रभवती दृश्यते।
32. (बु.) उभयथा।
33. (श्री.) प्रशिथिलावलयं।
34. (ऑ.-2) एवं (श्री.) वयं।
35. (बु.) तधावि। (भूर्ज.) "किन्तु" इत्यधिकं निरर्थकम्।
36. (बु.) कधेहि।
37. (ऑ.-1) एवं (श्री.) तर्को मदीयः।
38. (श्री.) बलवं एसो अभिणिवेसो।
39. (ऑ.-1) णिवेदिदुं।
40. (श्री.) इतः परं "निगूहसि अणुदिअसं च परिहीअसि अङ्गेहिं। केवलं" इत्यंशो नोपलभ्यते। (ऑ.-2) किलेदं अत्थणो च परिहीअसे अङ्गेहिं। केवलं। इत्यपि लिपिकारस्यानवधानात्।

41. (ऑ.-1) लावण्णमए। (श्री.) लावण्णसर।
42. (भूर्ज.) मदनपरिक्लिष्टेयमा। (अत्र परीत्यधिकम् छन्दोभङ्गञ्च जनयति।)
43. (श्री.) श्लिष्टा।
44. (श्री.) कधयितव्वं।
45. (बु.) आआसइत्तिआ।
46. (ऑ.-1) सहमाण होदि। (श्री.) सज्झवेदणं होदि। (भूर्ज.) होसि। (बु.) भोदि।
47. (ऑ.-1) एवं (श्री.) यच्छ्रोतव्यम्। (ऑ.-2) श्रोतव्यं श्रुतम्।
48. (श्री.) जदि वो अणुमदं।
49. अग्रिमे भागे ये प्रक्षेपा अभिलषिताः स्युः, तान्सर्वान् मनसि निधायेदं वाक्यं तेषां बीजत्वेन निक्षिप्तं प्रतिभाति।
50. सर्वासु मातृकासु "अपवार्य" ति लिखितम्, किन्तूक्तिरियं जनान्तिकमेव भवितुमर्हति।
51. (ऑ.-2) सो वि विलासभूदो।
52. (ऑ.-1) एवं (श्री.) जनान्तिकम्।
53. (ऑ.-1) वेल्लिदुं। (श्री.) वलिदुं।
54. अस्मिन् [< ... >] प्रकोष्ठो प्रदर्शितानि वाक्यानि प्रक्षिप्तान्येव स्युः।
55. (भूर्ज.) सो ए राएसी इमाए। (श्री.) "सिग्घं" इत्यत आरभ्य, "इमाए" पर्यन्तः पाठ्यांशो नोपलभ्यते।
56. (ऑ.-2) इमाणि दिणाणि।
57. (ऑ.-1) अनतिलुलित। (श्री.) अनतिललित।
58. (ऑ.-2) प्रतिपद्यते।
59. (भूर्ज.) "विचिन्त्य अ'', ततः "अणलेहो" इत्युपलभ्यते। अतोऽत्र "विचिन्त्" अणसूये, मअणलेहो" इति स्यात्।
60. (बु.) कदुअ।
61. (भूर्ज.) सुउमारा पओओ वि। (लिपिकारस्य प्रमादादत्र पार्श्वभागे क्षतिपूर्तिर्लिखिता।)
62. (श्री.) तेण हि अत्तणो उवण्णासपुरुवं चिन्तेहि कि पि सुललिअं पअबन्धं।
63. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) इतः परं शकुन्तलाया उक्तिः "सस्मितम्। णिओजिदा दाणिं म्हि''। इति।
64. (ऑ.-1) एवं (श्री.) "आसीना चिन्तयति'', (ऑ.-2) चिन्तयति। इत्यधिकं पठ्यते, (भूर्ज.) इत्यत्र नास्ति।
65. (ऑ.-1) करेदि। (छाया-करोति [तु])।
66. (ऑ.-2) तदो सुणुम्हहे से अक्खरं। (छाया-ततः शृणुमहे अक्षरम्), (श्री.) वाक्यमिदं प्राथम्यं भजते।
67. (श्री.) सुणुह। (बु.) सुणध।
68. (बु.) हुत्तमणोरधाइ।

69. (बु.) मनोरधस्स।
70. (बु.) तधा।
71. (श्री.) अभ्युत्थातु।
72. (श्री.) गुरुतापानि ... मर्हति।
73. (ऑ.-1) एवं (श्री.) इतः परं "शकुन्तला पादावपसारयति" इति। (भूर्ज.) एवं (ऑ.-2) इत्यत्र नास्ति।
74. (ऑ.-1) "कालेण त्ति" इति नास्ति।
75. (श्री.) मयुरीं। (बु.) मऊरिं।
76. अस्मिन् [<...>] प्रकोष्ठो प्रदर्शितानि वाक्यानि प्रक्षिप्तान्येव स्युः। यतो हि, 1. अपराधमिमं ततः सहिष्ये। 3-19 श्लोकानुसारं तुशकुन्तला शयनावस्थायामेव भवितुमर्हति। 2. शकुन्तलया कदोत्थातव्यमिति कवेर्मूलयोजना भिन्नैव वर्तते।
77. (ऑ.-1) एवं (श्री.) पदमिदं नास्ति।
78. (ऑ.-1) एवं (श्री.) उपरि स्थिता प्रियंवदाया उक्तिः, राज्ञश्चेयमुक्तिः नैर्व विद्येते मातृकायाम्।
79. (ऑ.-2) इमं अवत्थान्तरं पाविदा। (श्री.) इमं अवत्थारन्त आवादिदा, ता अरिहसि अत्रभवत्तीए।
80. (ऑ.-1) अन्दउरविहार। (श्री.) अन्तेउरविराह। (परिग्रहबहुत्वे 3-18 इति बहुशब्देन अन्तःपुर-विहारेत्येव पाठः मूलपाठत्वेन समर्थ्यते।), (ऑ.-2) अन्दाउरविरहप—स्स जसि।
81. (बु.) हृदयसंनिहिते। इति कल्पितः पाठः।
82. (ऑ.-1) (ऑ.-2) एवं (श्री.) बहुवल्लहा।
83. (बु.) जधा ... भोदि, तधा। (ऑ.-2) जधा णो इअं ... होदि तहा णिव्वाहसे।
84. (श्री.) राअ इत्यधिकम्।
85. (ऑ.-1) एवं (श्री.) इतः परं शकुन्तलाया उक्तिरूपेण "अरहदि क्खु मे महाराओ पच्चक्ख वअणाणि सोढुं। परोक्खं को वा ण किं मन्तेदि।" इति पठ्यते।
86. (श्री.) वाक्यमिदं नास्ति।
87. (ऑ.-1) क्लमाहं मे।
88. (ऑ.-2) एदावदा उण ते तुष्टीभवेत्।
89. (ऑ.-1) मे सम कीलसि।
90. अस्मिन् [<...>] प्रकोष्ठे प्रदर्शितानि वाक्यानि प्रक्षिप्तान्येव स्युः। अश्लीलत्वाप्लावितोऽयं भागः क्षेपक एवास्ति। अन्यथोत्तरवर्तिनि भागे निरूपितो नायकस्य संस्कारयुक्तः प्रेमसहचार असङ्गत एव स्यात्।
91. (बु.) मअपोदओ। (श्री.) मदपोदओ।
92. (ऑ.-2) चलंचलो।

93. (श्री.) अहं दे धरिज्ज।
94. (ऑ.-1) शकुन्तलाया उक्तिरियं नास्ति। (लिपिकारस्यानवधानात्)
95. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) सुन्दरि इति पदमधिकं वर्तते।
96. (श्री.) संभावयामि।
97. (ऑ.-1) अवराहअस्स। (श्री.) अवरइस्स।
98. इदमेव शकुन्तलायाः कृते शयनादुत्थातुं चलितुञ्च कवियोजनानुसारि मूलस्थानं स्यात्। (आसीना चिन्तयति, सलज्जा तिष्ठतीति पूर्वोक्ते रंगसूचने, तत्सम्बद्धश्च निखिलोऽपि संवादः प्रक्षिप्त एव। (श्री.) मातृकायां रंगसूचनासु विसंगतिः स्फुटैव। तेनापि पाठस्यास्य प्रक्षिप्तत्वं सिध्यति।)
99. (ऑ.-1) कुसुमशयिनं।
100. (भूर्ज.) कदलीदलसंवृतावरणे। (ऑ.-2) कदलीदलकल्पितस्तनावरणे। (श्री.) कदलीदलकम्पितस्तनावरणम्।
101. (बु.) क्खु।
102. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) अनुकूलकारिणः किमुपालभ्यते दैवस्य। —इति भिन्नेन पदक्रमेण पठ्यते।
103. (ऑ.-1) कधं दाणिं ण उवालहिस्सं।
104. (श्री.) उवासेदि।
105. (ऑ.-1), (ऑ.-2) इतः परं "राजा—भवतीं तदा मोक्षामि। शकुन्तला हसति।" इत्यधिकं वर्तते।
106. (श्री.) मदनेनाप्य।
107. (श्री.) आबाध्यन्ते।
108. अस्मिन् [< ... >] प्रकोष्ठे प्रदर्शितानि वाक्यानि प्रक्षिप्तान्येव स्युः। पूर्वनिर्दिष्टेनैव हेतुना प्रक्षिप्तः प्रतिभाति।
109. (श्री.) प्रियं करिष्ये।
110. (भूर्ज.) "मोक्ष्यामि। शकुन्तला—क" इत्येते शब्दाः त्रुटिताः। (ऑ.-1) एवं (श्री.) तदा मोक्ष्यामि।
111. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) सुरतरसज्ञो।
112. (श्री.) वक्ष्यामि।
113. [< ... >] प्रकोष्ठे प्रदर्शितानि वाक्यानि प्रक्षिप्तान्येव स्युः।
114. (ऑ.-1) एवं (श्री.) कृतकरुष्टा।
115. (ऑ.-1) ऋसओ। (श्री.) इदो तदो इसवो।
116. (श्री.) शकुन्तलां मुक्त्वा—इति पदद्वयं नास्ति।
117. ध्यातव्यमिदं यदत्र शारदापाठपरम्परायां "गान्धर्वेण विवाहेन" इति श्लोकोक्तिः कुत्रापि न विद्यते।

118. (श्री.) पौरव निच्छा पौरओ विदं सणमेत्त सुहिदो। (ऑ.-2) मोहिदः।
119. (श्री.) पुरोमूलं व। (अत्र लिपिकारस्य प्रमादान्नोपलभ्यते" "वनस्पतेः" इति)
120. (ऑ.-1) हद्धी ण चरणो मे पुरोमहा होन्ति।, (श्री.) हद्धे चलण मे पुरो पहा होन्ति।
121. (ऑ.-1) इतः परं "कुरवएहिं ववहिदा पच्छादो लदामण्डवअस्स" इत्येतानि पदानि न सन्ति।
122. (ऑ.-1) एवं (श्री.) तथा कृत्वा स्थिता।
123. (ऑ.-1) सानुरागैकरसम्। (श्री.) अनुरागैकरसिकमुत्सृज्य।
124. (ऑ.-1) इमं सुणिअ मे अर्थितः।
125. (ऑ.-1) इतः पूर्वम् "राजा—किमिहाहं सम्प्रति प्रियाशून्ये करोमि। गमिष्यामि। (प्रस्थितः)।" इति नास्ति।
126. (ऑ.-1) विचुलितम्।
127. (ऑ.-1) एवं (श्री.) निक्षिप्य।
128. (ऑ.-1) से व्यवदेसेण।
129. (श्री.) अधो अथ वं से वष दे ...(त्रुटितांशः)... अभूअ दंसइस्स।
130. (भूर्ज.) प्रसादेनोकर्तव्यो। (श्री.) प्रसादेन भर्त्तव्योऽस्मि।
131. (श्री.) नवमेघोत्थितास्य दा निपतिता रखे। (ऑ.-2) इतः परमस्या मातृकायाः पाठो न प्राप्यते।
132. (ऑ.-1) एवं (श्री.) प्रस्थिता।
133. (ऑ.-1) सूचयिस्सिदि।
134. (श्री.) एकेनाभिसगन्धिना।
135. (ऑ.-1) शकु. राजा-इत्यनयोः वाक्यद्वयं नास्ति।
136. (श्री.) नास्तीदं वाक्यम्।
137. (ऑ.-1) एवं (श्री.) आत्मगतम्।
138. (ऑ.-1) हर्षरोमाञ्चं सूचयन्ती। (श्री.) स्पर्शरोमाञ्च रूपयन्ती।
139. (भूर्ज.) एवं (ऑ.-1) तथा (श्री.) तुरअदु।
140. (ऑ.-1) मन्दिरस्य।
141. (ऑ.-1) यद्यभिप्रेतम्।
142. (श्री.) गधयिष्यामि।
143. (श्री.) सव्याजं विमुच्यावलम्ब्य।
144. (ऑ.-1) एवं (श्री.) मनोहरं।
145. (बु.) कलुसीकदा।
146. (श्री.) विषदां।
147. (बु.) [किं] उण, ण दे विससामि। (किं पुन, र्न ते विश्वसिमि—इत छाया), (ऑ.-1) ण उण दे विश्वसामि।

148. (ऑ.-2) अच्चाअरो।
149. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) त्मनः सेवावकाशं।
150. (ऑ.-1) एवं (श्री.) शकुन्तला अकामप्रतिषेधं नाटयति।
151. (श्री.) पदश्रुतं।
152. (श्री.) प्रतिशङ्कया।
153. (श्री.) मन्थतो।
154. (ऑ.-1) एवं (श्री.) चक्षुः।
155. (ऑ.-1) एवं (श्री.) पकित्थिदा म्हि। (बु.) पइदित्थ म्हि।
156. (श्री.) करोसि।
157. (ऑ.-1) सरीरवर्तान्तो।
158. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) तादस्स कणीअसी।
159. (ऑ.-1) एवं (श्री.) तथा एकान्ते स्थितः।
160. (ऑ.-1) एवं (श्री.) इतः परं, "संस्पृशति" इति रंगसूचना वर्तते।
161. (ऑ.-1) मणोरहदुल्लभं जणं मुखे पणदं पाविअ। (श्री.) मणोरहदुरुभं जणो सहोपणदं पाविअ।
162. (श्री.) पदान्तरे विवृत्य।
163. (ऑ.-1) एवं (श्री.) इतः परं "गौतमी सहिता निष्क्रान्ते" ति रंगसूचना। (ऑ.-2) निष्क्रान्ते गौतमीशकुन्तले।
164. (ऑ.-1) प्रार्थतार्थिसिद्धयः।
165. आनन्दवर्धनेनोद्धृतोऽयं श्लोकः, त्विति निपातस्य व्यंजकतां प्रकटीकरोति।
166. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) मुहूर्तं स्थास्यामि।
167. (ऑ.-2) एवं (श्री.) कान्तो
168. (श्री.) प्रियां ममासाद्य
169. अस्मिन् [< ... >] प्रकोष्ठे प्रदर्शितानि वाक्यानि प्रक्षिप्तान्येव स्युः।

॥ अथ चतुर्थोऽङ्कः॥

[1](ततः प्रविशतः कुसुमावचयं नाटयन्त्यौ तपस्विकन्यके[2])

अनसूया[3] : पिअंवदे, जदपि गन्धव्वेण विवाहविहिणा णिव्वुत्तकल्लाणा[4] सउन्तला अणुरूवभत्ति[5] भाइणी संवुत्ता[6] तहावि ण णिवुत्तं[7] मे हिअअं। (प्रियंवदे, यद्यपि गान्धर्वेण विवाहविधिना निर्वृत्तकल्याणा शकुन्तलानुरूप- भर्तृभागिनी संवृत्ता, तथापि न निवृत्तं मे हृदयम्।)

प्रियंवदा[8] : कधं विअ[9]। (कथमिव।)

अनसूया[10] : अज्ज सो राआ इट्ठिपरिसमत्तीए[11] इसे (सी) हिं विसज्जिदो अत्तणो णअरं[12] {तत्थ} पविसिअ अन्दउरे[13] इदोगदं सुमरिस्सदि[14] वा ण वेत्ति[15]। (अद्य स राजेष्टिपरिसमाप्ताव् ऋषिभिर्विसर्जित आत्मनो नगरं {तत्र} प्रविश्यान्तःपुर इतो गतं स्मरिष्यति वा न वेति।)

प्रियंवदा : इत्थ विसत्था[16] होहि। ण तादिसा आकिदि[17] विसेसा गुणविरोहिणो होन्ति। इत्थिअं उण चिन्तणिज्जं[18]। तादो दाणिं इमं वुत्तान्तं सुणिअ ण जाणे[19] किं पडिवज्जिस्सदित्ति। (अत्र विश्वस्ता भव। न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति। एतावत्पुनश्चिन्तनीयम्। तात इदानीम् इमं वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यत इति।)

अनसूया : सहि, जहा मं पुच्छसि तहा तादस्स अणुमदं पिअं च[20]। (सखि, यथा मां पृच्छसि तथा तातस्यानुमतं प्रियञ्च।)

प्रियंवदा : कधं विअ अणुमदं पिअं च[21]। (कथमिवानुमतं प्रियं च।)

अनसूया : किम् अण्णं। गुणवदे कण्णआ[22] पडिवादइदव्वेत्ति अअं दाव पढमो से संकप्पो। तं जदि देव्वं सम्पादेदि[23] णणु[24] अप्प ≠(55)[25] आसेण कदत्थो गुरुअणो। (किमन्यत्। गुणवते कन्यका प्रतिपादयितव्येत्ययं तावत्प्रथमोऽस्य संकल्पः। तद्यदि दैवं सम्पादयति नन्वप्रयासेन। कृतार्थो गुरुजनः।)

प्रियंवदा : एवम् णेदम्। (पुष्पभाजनमवलोक्य) सहि, अवचिदाइं खु बलिकम्मपय्यत्ताइं कुसुमाइं। (एवमेतत्। सखि, अवचितानि खलु बलिकर्मपर्याप्तानि कुसुमानि।)

अनसूया : सहि, सउन्तलाएवि सोहग्गदेवदा अच्चणीआ[26]।
(सखि, शकुन्तलयापि सौभाग्यदेवतार्चनीया[27]।)

प्रियंवदा : जुज्जदि[28]। (युज्यते।) (तदेव कर्म नाटयतः[29])

(नेपथ्ये)

अयं अहं भोः।

अनसूया : (श्रुत्वा[30]) अदिधिणा विअ णिवेदिदं। (अतिथिनेव निवेदितम्।)

प्रियंवदा : सहि, णं उडज[31] सण्णिहिदा सउन्तला। आं, अज्ज उण हिअएण असण्णिहिदा। (सखि, नन्वुटज-संनिहिता शकुन्तला। आम् अद्य पुनर् हृदयेनासंनिहिता।)

अनसूया : (सत्वरम्) तेण हि होन्दु (भोदु)[32]। इत्तिआइं[33] कुसुमाइं।(प्रस्थिता[34])
(तेन हि भवतु, एतावन्ति कुसुमानि।)

(नेपथ्ये35)

आः, अतिथिपरिभाविनि,

विचिन्तयन्ती यम् अनन्यमानसा
यतोऽतिथिं वेत्सि न माम् उपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥(4-1)॥

उभे : (श्रुत्वा विषण्णे) हद्धि य्येव[36] संवुत्तं। कस्सिं वि पूआरहे

अवरद्धा[37] सुण्णहिअआ सही। (हा धिग् एव संवृत्तम्, कस्मिन्नपि पूजार्हेऽपराद्धा शून्यहृदया सखी।)

अनसूया : (विलोक्य) ण खु, ण खु जस्सिं तस्सिं[38]। सुलहकोओ खु एसो दुव्वासा महेसि[39]। ≠(56) हुदासो विअ तुरिदपादुद्धाराए[40] गदीए गाच्छिदुं पउत्तो[41]। (न खलु न खलु यस्मिन् तस्मिन्, सुलभकोपः खल्वेष दुर्वासा महर्षिः। हुताश इव त्वरितपादोद्धारया गत्या गन्तुं प्रवृत्तः।)

प्रियंवदा : को अण्णो हुदवहादो दहिदुं पहविस्सदि[42]। अणसूये, गच्छ पादेसु पडिअ पसाएहि[43] णं। जाव अहं से अग्धाइ(दि) अं उपकप्पेमि[44]। (कोऽन्यो हुतवहाद् दग्धुं प्रभविष्यति। अनसूये, गच्छ पादेषु पतित्वा प्रसादयैनम्। यावद् अहम् अस्य अर्घादिकम् उपकल्पयामि।)[45] (अनसूया निष्क्रान्ता)

प्रियंवदा : (पादान्तरे[46] स्खलितं निरूप्य) अम्मो, आवेगक्खलिदाए पब्भट्ठं अग्गहत्थादो पुप्फभाअणं मे। ता पुणो वि अवचिणिस्सं। (अहो आवेगस्खलितायाः प्रभ्रष्टमग्रहस्तात् पुष्पभाजनं मे। तत् पुनरप्यवचेष्यामि।) (तथा करोति[47])

(प्रविश्य)

अनसूया : सहि, सरीरबद्धो कोओ विअ[48] कस्स सो अणुणअं गेण्हदि[49]। किं च उण साणुक्कोसो कदो[50]। (सखि, शरीरबद्धः कोप इव कस्य सोऽनुनयं गृह्णाति। किं च पुनस्सानुक्रोशः कृतः।)

प्रियंवदा : तस्सिं बहुअं एदं। ततः(तदो) कहेहि कधं[51] विअ। (तस्मिन् बहुकं एतत्। ततः कथय कथमिव।)

अनसूया : जदा णिवत्तिदुं ण इच्छदि। तदा विण्णाविदो मए भगवं, पढमभत्तिं[52] अवेक्खिअ अज्ज अत्तपहाव-विण्णाद [सा]मत्थस्स दुहिदाजणस्स भअवदा अवराहो[53] मरिसिदव्वो त्ति। (यदा निवर्तितुं नेच्छति तदा विज्ञापितो मया। भगवन्, प्रथमभक्तिम् अवेक्ष्याद्यात्म- प्रभावविज्ञात-सामर्थ्यस्य दुहितृजनस्य भगवताऽपराधो मर्षितव्य इति।)

प्रियंवदा : तदो तदो। (ततः ततः।)

अनसूया : तदो ण मे वअणं अण्णधा भविदुं अरिहदि[54]। आहरणाहिण्णाण[55] ≠(57) दंसणेण से सावो णिवट्टिस्सदि[56] ति मन्तअन्तो य्येव अन्तरिहिदो[57]। (ततः न मे वचनं अन्यथा भवितुम् अर्हति। आभरणाभिज्ञान-दर्शनेनास्याः शापो निवर्तिष्यत इति मन्त्रयन्नेवान्तर्हितः।)

प्रियंवदा : सक्कं दाणिं अस्ससिदुं। अत्थि तेण राएसिणा सम्पत्थिदेण सणामधेआङ्किदं[58] अङ्गुलीअं सुमरणिअं त्ति सउन्तलाए सअं य्येव हत्थे पिणद्धम्। तस्सिं च साहिणे[59] अअं उवाओ भविस्सदि त्ति।

(शक्यमिदानीम् आश्वासितुम्। अस्ति तेन राजर्षिणा संप्रस्थितेन स्वनामधेयाङ्कितम् अङ्गुलीयं स्मरणीयमिति शकुन्तलायास्स्वयमेव हस्ते पिनद्धम्। तस्मिंश्च स्वाधीनेऽयम् उपायो भविष्यतीति।)

(परिक्रामतः[60])

अनसूया : [61]हला पिअंवदे, पेक्ख पेक्ख वामहत्थोवणिहिद[62]-वअणा आलिहिदा विअ सहि भट्टिगडाए[63] चिन्ताए अत्ताणअं वि एसा ण विभावेदि, किं उण आगन्तुअं। (हले प्रियंवदे, प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। (वाम)हस्तो- पनिहितवदनाऽलिखितेव सखी भर्तृगतया चिन्तया-ऽत्मानम् अप्येषा न विभावयति, किं पुनरागन्तुकम्।)

प्रियंवदा : हला अणसूए, दोण्हं[64] येव अम्हेसु एसो साववुत्तन्तो चिट्ठदु। रक्खणीआ खु पकिदि[65] पेलवा सही। (हला अनसूये, द्वयोरेवावयोरेष शापवृत्तान्तस्तिष्ठतु। रक्षणीया खलु प्रकृतिपेलवा सखी।)

अनसूया : को दाणिं तावोदएण णवमालिअं सिञ्चदि[66]। (क इदानीं तापोदकेन नवमालिकां सिञ्चति।)

(इति निष्क्रान्ते।)

॥ प्रवेशकः ॥

॥ ततः प्रविशति[67] सुप्तोत्थितः काश्यपशिष्यः॥

शिष्यः : वेलोपलक्षणार्थमादिष्टोऽस्मि तत्रभवता प्रभासात् प्रतिनिवृत्तेनो[68] पाध्यायकाश्यपेन। तत् प्रकाश्यं निर्गत्य ताव ≠(58)द् अवलोकयामि किं अवशिष्टं[69] रजन्या इति। (परिक्रम्यावलोक्य च) हन्त प्रभातम्। तथा हि—

कर्कन्धूनाम्[70] उपरि तुहिनं रञ्जयत्यग्रसन्ध्या
दार्भं[71] मुञ्चत्युटजपटलं वीतनिद्रो[72] मयूरः।
वेदिप्रान्तात् खुरविलिखिताद् उत्थितश्चैष सद्यः
पश्चाद् उच्चैर्भवति हरिणो गात्रम् आयच्छमानः ॥4-2॥

अपि च

पादन्यासं क्षितिधरगुरोर्मूर्ध्नि कृत्वा सुमेरोः
क्रान्तं येन क्षपिततमसा मध्यमं धाम विष्णोः।
सोऽयं सोमः[73] पतति गगनाद् अल्पशेषैर्मयूखैस्
सूरारोहो[74] भवति महतामप्यपभ्रंशनिष्ठः ॥4-3॥

[< तत्सत्यं यतस्सूर्याचन्द्रमसौ जगतोऽस्य सम्पद्विपत्त्योरनित्यत्वं दर्शयत इव[75]॥ तथा च—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनाम्
आविष्कृतारुणपुरस्सर एकतोऽर्कः।
तेजो द्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥4-4॥

अपि च—अस्मिन् काले,

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि दूरम्[76] अतिमात्रदुरुत्सहानि ॥4-5॥>][77]

॥ ततः ≠(59) प्रविशत्यपटीक्षेपेणानसूया[78] ॥

अनसूया : एवं णाम विसयपराम्मुहस्स[79] वि एदं ण विदिदं जधा तेण रण्णा सउन्तलाए अणय्यदा आअरिदव्व त्ति। (एवं नाम विषयपराङ्मुखस्यापि एतद् न विदितं यथा तेन राज्ञा शकुन्तलाया अनार्यताऽ चरितव्येति।)

शिष्यः : यावद् उपस्थितां[80] वेलां निवेदयामि। (इति निष्क्रान्तः)

अनसूया : पडिबुद्धा वि किं करयिस्सं। ण मे उत्थिदाए चिन्तीदेसु पहादव्वावारकरणीएसु[81] हत्था पादा वा पहवन्ति। सकामो दाणिं कामो होदु[82]। जेण सिणद्धहिअआ सही असच्चसन्धे जणे पदं कारिदा। (स्मृत्वा) अह वा[83] ण[84] तस्स राएसिणो अवराहो दुव्वासकोवो ईत्थ[85] विप्पकरेदि। अण्णधा कधं तादिसो राएसि तादिसाइं वअणाइं[86] मन्तिअ[87] एत्तिअस्स वि कालस्स लेहमेत्तं वि ण विस्सज्जइस्सदि[88]। (विचिन्त्य) इदं अङ्गुलीअं से अहिण्णाणं विसज्जेम्ह[89]। अह वा दुक्खसीले तवस्सिअणे[90] को अब्भत्थिअदु। ण सहीगमणेण दोसो त्ति ववसिदं(दुं) दाणिं पारेम्ह[91]। पभासणिव्वुत्तस्स[92] ताद-कस्स-≠(60) वस्स दुस्सन्तपरिणीदां आवण्णसत्तां[93] कोवि सउन्तलां णिवेदयिस्सदि। इत्थंगदे किं णु खु अम्हेहिं कादव्वम्[94]। (प्रतिबुद्धाऽपि किं करियष्यामि। न म उत्त्थितायाश्चिन्तितेषु-प्रभात व्यापार-करणीयेषु हस्तौ पादौ वा प्रभवतः। सकाम इदानीं कामो भवतु। येन स्निग्धहृदया सख्यसत्यसन्धे जने पदं कारिता। (स्मृत्वा) अथ वा, न तस्य राजर्षेरपराधो, दुर्वा [स] सः कोपोऽत्र विप्रकरोति। अन्यथा कथं तादृशो राजर्षिस्तादृशानि वचनानि मन्त्रयित्वैतावतोऽपि कालस्य लेखमात्रमपि न विसर्जयति। (विचिन्त्य) इदमङ्गुलीयमस्याभिज्ञानं विसर्जयामः। अथवा, दुःखशीले तपस्विजने कोऽभ्यर्थताम्। न सखिगमनेन दोष इति व्यवसित (तु) म् इदानीं पारयामः। प्रभासनिवृत्तस्य तातकाश्यपस्य दुष्यन्तपरिणीताम् आपन्नसत्त्वां कोऽपि शकुन्तलां निवेदयिष्यति। इत्थंगते किं नु खल्वस्माभिः कर्तव्यम्।)

॥ ततः प्रविशति प्रियंवदा ॥[95]

प्रियंवदा : अणसूये, सउन्तलाए पत्थाणकोदुआणि करेअत्तु[96]। (अनसूये, शकुन्तलायाः प्रस्थानकौतुकानि क्रियन्ताम्।)

अनसूया : सहि, कहं णेदं। (सखि, कथमेतत्।)

प्रियंवदा : अणसूये, सुणिस। दाणिं सुहसयिदविबुद्धाए[97] सउन्तलाए समीवं गदम्ह(म्हिं),[98] जाव तं लज्जावणद-मुहिं परिसजिअ तादकस्सवो अहिणन्ददि[99]। दिट्ठिआ धूमोवरुद्धदिट्ठिणो विअ जणस्स[100] पावक एव आहुदी पडिदा। सुसिस्सपडिपादिआ[101] विअ विज्जा असोअणिज्जा[102] सि मे संवुत्ता। ता अज्ज य्येव इसिपरिगृहीदं[103] तुमं भत्तुणो[104] सआसं विसज्जेमि त्ति। (अनसूये, शृणु, इदानीं सुखशयित-विबुद्धायाः शकुन्तलायास्समीपं गतास्मि, यावत् तां लज्जावनतमुखीम् परिष्वज्य तातकाश्यपो-ऽभिनन्दति। दिष्ट्या धूमोपरुद्धदृष्टेरपि जनस्य पावक एव आहुतिः पतिता। सुशिष्यप्रतिपादितेव विद्याऽशोचनीयासि मे संवृत्ता। तद् अद्यैवर्षिपरिगृहीतां त्वां भर्तुस्सकाशं विसर्जयामीति।)

अनसूया : अध केण आचक्किदो तादस्स[105] अअं सउन्तलावुत्तान्तो। (अथ केन आख्यातस्तातस्यायं शकुन्तलावृत्तान्तः।)

प्रियंवदा : तादस्स अग्ग(ग्गि)सरणं पविट्ठस्स किल सरीरं विणा छन्दोवदीए वाआए। (तातस्याग्निशरणं प्रविष्टस्य किल शरीरं विना छन्दोवत्या वाचा।)

अनसूया : (सविस्मयम्) कधं विअ। (कथमिव।)

प्रियंवदा : सहि, सुणु। (सखि, शृणु।) (संस्कृतमाश्रित्य पठति)[106]

दुष्यन्तेनाहितं वीर्यं[107] दधानां भूतये ≠(61) भुवः।
अवेहि तनयां ब्रह्मन्, नग्निगर्भां शमीमिव ॥4-6॥

अनसूया : (सहर्ष[108] प्रियंवदामाश्लिष्य) सहि, पिअं मे। किं तु अज्ज य्येव[109] सउन्तला णीअदि त्ति उक्कण्ठा-साहारणं खु दाणिं परितोसं समुव्वहामि।[110] (सखि, प्रियं मे। किन्तु अद्यैव शकुन्तला नीयतेत्युत्कण्ठासाधारणं खल्वीदानीं परितोषं समुद्वहामि।)

प्रियंवदा : [111]उक्कण्ठं विणोदयिस्सामो, सा दाणिं णिव्वुदा होदु[112]। (उत्कण्ठां

विनोदयिष्यामः। सेदानीं निर्वृत्ता भवतु।)

अनसूया : तेण हि एदस्सिं चुदसाहावलम्बिदे णालिएर[113] समुग्गए तण्णिमित्तं एव कालान्तर [क्ख] मा क्खित्ता मए सकेसरगुणा। ते तुमं हत्थसण्णिहिदे करेहि, जाव अहं से मअ(?) रोहणं[114] तित्थमित्तिअं दुव्वाकिसलआइं मङ्गलसमा [ल] हणत्थं[115] विरएमि।

(इति निष्क्रान्ता)

(प्रियंवदा नाट्येन सुमनसो[116] गृह्णाति।)

(तेन हि, एतस्मिंश्चूतशाखावलम्बिते नारिकेलसमुद्गके तन्निमित्तम् एव कालान्तरक्षमा क्षिप्ता मया सकेसरगुणा (तथा) त्वं हस्तसन्निहितान् कुरु। यावद् अहम् अस्या मृग-रोचनां (आमयरोधनां?)[117] तीर्थमृत्तिकां दूर्वाकिसलयानि मङ्गलसमालम्भनार्थं विरचयामि।)

(नेपथ्ये)

[118]आदिश्यन्ताम् शाङ्गर्रवमिश्राः शकुन्तलानयनाय सज्जीभवतेति।

प्रियंवदा : (आकर्ण्य[119]) अणसूए, तुवर तुवर[120], एदे खु हत्थिणाउरगामिण इसिओ[121] सज्जीभवन्ति त्ति। (अनसूये, त्वरस्व त्वरस्व। एते खलु हस्तिनापुरगामिन ऋषयः सज्जीभवन्तीति।)

(प्रविश्य समालभनहस्ता)

अनसूया : सहि, एहि गच्छम्ह। (सखि, एहि गच्छावः।)

(उभे परिक्रामतः)

प्रियंवदा : (विलोक्य) एसा खु सुओदय्य एव विसज्जि ≠(62) दा[122] पडिच्छिदणीवारभाअणकाहिं तावसीहिं अहिणन्दीअमाणा सउन्तला चिट्ठदि। ता उपविसप्पम्ह णम्[123]। (तथा कुरुतः) (एषा खलु सूर्योदय एव विसर्जिता। प्रतिष्ठानिवारभाजन काभिस्तापसीभिरभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठति। तदुपसर्पाव एनाम्।)

॥ ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टासनस्था शकुन्तला गौतमी तापस्यश्च॥[124]

एका तापसी : जादे भट्टिणो[125] बहुमाणउत्तअं महादेवीसद्दकं अधिगच्छ। (पुत्रि, भर्तुर्बहुमानयुक्तकं महा [देवी] शब्दकं अधिगच्छ।)[126]

अन्या : वच्छे, वीरपसविणी होहि[127]। (वत्से, वीरप्रसविनी भव।)[128] (आशिसो दत्त्वा गौतमीवर्जं निष्क्रान्ताः)

सख्यौ : (उपगम्य) सहि, सुमज्जणं दे होदु[129]। (सखि, सुमज्जनं ते भवतु।)

शकुन्तला : (दृष्ट्वा सादरम्[130]) साअदं पिअसहीणं। इदो णिसीदध। (स्वागतं प्रियसख्योः। इतो निषीदतम्।)

उभे : (उपविश्य) हला सउन्तले। उज्जुअगदा होहि। जाव दे मङ्गलसमालद्धं अङ्गं करीअदु। (हला शकुन्तले, ऋजुकगता भव। यावत् ते मङ्गलसमालब्द्धं अङ्गं क्रियताम्।)

शकुन्तला : उचितं, इदं पि बहुमणिदव्वं, दुल्लहं दाणिं मे सहीमण्डणं भविस्सदि। (रुदत्युत्तिष्ठति[131]) (उचितमिदमपि बहुमन्तव्यम्। दुर्लभम् इदानीं मे सखीमण्डनं भविष्यति।)

उभे : सहि, ण दे इच्छिदव्वे मङ्गलकाले रोइदव्वं। (अश्रूणि प्रमृज्य नाट्येन प्रसाधयतः) (सखि, न त एष्टव्ये मङ्गलकाले रोदितव्यम्।)

प्रियंवदा : [132]आहरणारहं रूपं। अस्समसुलहेहिं पसाहणेहिं विप्पआरीअदि। (आभरणार्हं रूपम्। आश्रमसुलभैः प्रसाधनैर्विप्रक्रियते।)

॥ ततः प्रविशत उपायनहस्तावृषि ≠(63) कुमारकौ॥

[ऋषिकुमारौ]: इदम् अलङ्करणम्[133]। तावद् अलङ्क्रियताम् अत्रभवती। (तथा विलोक्य विस्मिताः)

गौतमी : वच्छ हारीद, कुदो एदं। (वत्स हारीत, कुत एतत्।)

प्रथमः : तातकाश्यपप्रसादात्[134]।

गौतमी : किं माणसी[135] सिद्धी। (किं मानसी सिद्धिः।)

द्वितीयः : न खलु। श्रूयताम् तत्रभवता वयमाज्ञापिताः। शकुन्तला-

हेतोर्वनस्पतिभ्यः[136] कुसुमान्याहरतेति। तत इदानीं,

क्षौमं केनचिद् इन्दुपाण्डुतरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं,
निष्ठ्यूतश्चरणो[137] पभोगसुभगो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलै रापर्वमूलोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि नः किसलयच्छायाप्रतिस्पर्धिभिः ॥4-7॥

प्रियंवदा : (शकुन्तलां विलोक्य) हला, अब्भुदसम्पत्ति सूइदा। भट्टिणो[138] गेहे अणुभविदव्वा दे राअलच्छी। (हले अद्भुतसम्पत्तिस्सूचिता। भर्तुर्गृहेऽनुभवितव्या ते राजलक्ष्मीः।)

शकुन्तला : (लज्जां निरूपयति) सहि, कल्याणिणी[139] दाणिं सि। कोडरसम्भवा विअ महुअरी पुक्खरमुहं[140] अहिलससि[141]। (सखि, कल्याणिनी- दानीमसि। कोटरसम्भवेव मधुकरी पुष्करमुखमभिलषसि।)

प्रियंवदा : (मण्डयन्ती) अणुभूदभूसणो[142] अअं जणो। चित्तकम्मपरिचिएण दाणिं ≠(64) दे अङ्गेसु आहरण-णिओअं करेदि। (अनुभूतभूषणोऽयं जनः। चित्रकर्मपरिचयेनेदानीं तेऽङ्गेषु आभरणनियोगं करोति।)

शकुन्तला : (सस्मितम्) जाणे वो णिउणत्तणम्। (जाने वो निपुणत्वम्।)

(उभे नाट्येनाभरणम् आमुञ्चतः[143])

ऋषिकुमारः144: गौतम, एहि अभिषेकाद् अवतीर्णाय तातकाश्यपाय वनस्पतिसेवां निवेदयावः।

द्वितीयः : एवं कुर्वः। (इति निष्क्रान्तौ)

॥ततः प्रविशति सुप्तो(स्नानो) त्थितः[145] काश्यपः॥

काश्यपः : (निश्श्वस्य)

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठस्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषं चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥4-8॥

(परिक्रामतः(ति)[146])

सख्यौ : हला सउन्तले, अवसिदमण्डनासि। परिधेहि संपदं इमं पवित्तं खोमणिम्मोअं। (हले शकुन्तले, अवसितमण्डनासि। परिधेहि साम्प्रतम् इमं पवित्रं क्षौमनिर्मोकम्।) (शकुन्तला लतागृहान् निर्गत्य परिधाय पुनः प्रविश्योपविष्टा। काश्यपः उपसर्पति।)

गौतमी : एसो दे आनन्दवप्फपरिवाहिणा चक्खुणा[147] परिस्सजन्तो विअ गुरू उवत्थिदो। ता आआरं से पडिवज्ज।(एष ते आनन्दबाष्पपरिवाहिना चक्षुषा परिष्वजन्निव गुरुरुपस्थितः। तद् आचारमस्य प्रतिपद्यस्व।)

≠(65)**शकुन्तला** : (उत्थाय सव्रीडम्[148]) ताद वन्दामि। (तात वन्दे)

काश्यप : वत्से,

ययातेरिव शर्मिष्ठा पत्युर्बहुमता भव।
पुत्रं[149] त्वमपि सम्राजं सेव पूरुं समाप्नुहि ॥4-9॥

गौतमी : भअवं[150], वरो खु एसो, ण आसिसा। (भगवन्, वरः खल्वेष, न आशीः।)

काश्यपः : वत्से, इतः सद्यो हुतान् अग्नीन्[151] प्रदक्षिणीकुरुष्व। (सर्वे परिक्रामन्ति)

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्या-
स्समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः[152]।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्
वैतानास्त्वां वह्नयः पालयन्तु ॥4-10॥

(शकुन्तला प्रदक्षिणीकरोति)

काश्यपः : वत्से, प्रतिष्ठस्वेदानीम्। (सदृष्टिक्षेपम्) क्व ते शाङ्र्गरवमिश्राः। (प्रविश्य समं त्रयः153) भगवन्, इमे वयम्[154]।

काश्यपः : शाङ्र्गरव, भगिन्या मार्गम् आदेशय।

शाङ्र्गरवः : इत इतो भवती। (सर्वे परिक्रामन्ति)

काश्यपः : वत्से शकुन्तले, विज्ञाप्यन्ताम् सन्निहितदेवतास्तपोवन[155] तरवः।

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वसिक्तेषु या,
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवान्।

आद्ये वः कुसुमप्रबोधसमये यस्या भवत्युत्सवः,
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥4-11॥

≠(66)[156]॥ **नेपथ्ये** ॥

रम्यान्तरः कमलकीर्णजलै[157] स्सरोभि[158]
श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः।
भूयात् कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ॥4-12॥

(सर्वे सविस्मयम् आकर्णयन्ति)

शाङ्र्गरव : अनुमतगमना[159] शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।
परभृतरसितं प्रियं[160] यदा प्रतिवचनीकृतम् एभिरात्मनः॥ 4-13॥

गौतमी : जादे, णादिजणसिणिद्धं अब्भणुण्णादगमणासि तवोवणदेवदाहिं। ता पणम भअवदीओ[161]। (जाते ज्ञातिजनस्निग्धम् अभ्यनुज्ञातगमनासि तपोवनदेवताभिः। तत् प्रणम भगवतीः।)

शकुन्तला : (तथा कृत्वा[162]) (परिक्रम्य जनान्तिकम्) हला पिअंवदे, अय्यउत्तदंसणोस्सुआए वि अस्समं परिच्चअन्तीए[163] दुक्खदुक्खेण[164] मे चलणा पुरदोमुहा पहवन्ति। (हले प्रियंवदे, आर्यपुत्रदर्शनो- त्सुकयाऽप्याश्रमं परित्यजन्त्या दुःखदुःखेन मे चरणौ पुरतो मुखौ प्रभवतः।)

प्रियंवदा : ण केवलं तव विरहपय्युस्सुआओ सहीओ य्येव। जाव तए उवत्थिअविओअस्स तवोवणस्सवि अपेक्खं अवत्थन्तरं। तहा अ,
उल्लदि[165] दव्वकवलो(ली) मईणं (?) परिसन्त-णच्चणा मोरी[166]।
ओसरिअ-पण्डुपत्ता[167] धुअन्ति अङ्गाइ व लदाओ॥ 4-14॥
(न केवलं तव विरहपर्युत्सुकास्सख्य एव, यावत् त्वयोपस्थितवियोगस्य तपोवनस्याप्यवेक्ष्यम् अवस्थान्तरम्। तथा च,
उद्गीर्णदर्भकवला मृगी, परिश्रान्तनर्तना मयूरी।
अपसृतपाण्डुपत्रा धुन्वन्त्यङ्गानीव लताः ॥4-14॥)

*[< **शकुन्तला** – 1 (67) ताद लदाबहिणीअं दाव माधवीं आमन्तयिस्सं[168]।
(तात, लताभगिनीं तावद् माधवीम् आमन्त्रयिष्ये।)*

काश्यपः : *[169]अवैमि तेऽस्यां सौदर्य[170] स्नेहम्, इमां तावत्[171] दक्षिणेनामन्त्रयता[172] भवती।*

शकुन्तला : *(लताम् उपेत्यालिङ्ग्य च सस्नेहगद्गदम्) माहवि, पच्चालिङ्ग मं साहामएहिं बाहुहिं। अज्ज पहुदि दूरवत्तिणी दे भविस्सं। (माधवि, प्रत्यालिङ्ग मां शाखामयैर्बाहुभिः। अद्यप्रभृति दूरवर्तिनी ते भविष्यामि।)*

काश्यपः : *वत्से, इयमिदानीं चिन्तनीया मे। पश्य,*

सङ्कल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे
भर्तारमात्मसदृशं स्वगुणैर्गता त्वम्।
अस्यास्तु सम्प्रति वरं त्वयि वीतचिन्तः
कान्तं समीपसहकारमहं करिष्ये ॥4-15॥>][173]

शकुन्तला : (सख्यावुपेत्य) एसा दोण्हं पि हत्थे णिक्खेवो। (एषा द्वयोरपि हस्ते निक्षेपः।)

सख्यौ : (सास्रम्) अअं जणो दाणिं कस्स सन्दिट्ठो। (रुदतः[174]) (अयं जनः इदानीं कस्य सन्दिष्टः।)

काश्यपः : अनसूये, अलं रुदित्वा। ननु भवतीभ्यामेव शकुन्तला स्थापयितव्या।

(परिक्रामन्ति)

शकुन्तला : (विलोक्य) ताद एसा उडजपय्यन्तचारिणी गब्भमन्थरा मअवहू जदा आसण्णपसविणी[175] भवे तदा मे किं पि पिअं णिवेदइत्तअं विसज्जइस्सध[176]। (तात, एषोटजपर्यन्तचारिणी गर्भमन्थरा मृगवधू-र्यदासन्नप्रसविनी भवेत् तदा मे कम् अपि प्रियं निवेदयितारं विसर्जयिष्यथ।)

≠(68) **काश्यपः** : वत्से, नेदं विस्मरिष्यति[177]। (शकुन्तला गतिभङ्गं निरूपयति[178])

सख्यौ179 : को णु खु एसो मादक्कन्तो[180] विअ पुणो पुणो {रिणी} वसणस्स अन्तं गण्हदि। (को नु खलु एष मात्रा क्रान्त इव पुनःपुनर्वसनस्यान्तं गृह्णाति।)

काश्यपः : वत्से,

यस्य त्वया व्रणविरोहणम्[181] इङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे[182]।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्द्धितको जहाति,
सोऽयं न पुत्रककृतः पदवीं मृगस्ते ॥4-16॥

शकुन्तला : (दृष्ट्वा) वच्छ, किं मं सहवासपरिच्चाइणिं केदवसिणेहं अण्णेससि। अचिरपसूदो वरदाए जणणिए विणा वड्ढिदोसि। इदाणिं पि मए विरहिदं तुवं(मं) तादो चिन्तइस्सदि। ता पडिणिअत्तसु[183]। (रुदती प्रस्थिता) (वत्स, किं मां सहवासपरित्यागिनीं कैतवस्नेहाम् अन्वेषसि। अचिरप्रसूतोपरतया जनन्या विना वर्द्धितोऽसि। इदानीमपि मया विरहितं त्वां तातः चिन्तयिष्यति। तत् प्रतिनिवर्तस्व।)

काश्यपः : वत्से,

उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्ति-
र्बाष्पं कुरु स्थिरतरं[184] विहितानुबन्धम्।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नत[185] भूमिभागे
मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति ॥4-17॥

शाङ्गरवः : आ उदकान्तात् स्निग्धोऽनुगम्यत[186] इति स्मर्यताम्। तदिदं सरस्तीरम्। अत्र संदिश्य ततः प्रतिगन्तुमर्हसि।

काश्यपः : तेन हीमां क्षीरवृक्षच्छायाम् आश्रयामः। (उपविश्य) (सर्वे तथा कृत्वा तिष्ठन्ति।)

काश्यपः : (अपवा ≠(69)र्य) किं नु खलु तत्रभवतो दुष्ष्यन्तस्य युक्तरूपम्[187] अस्माभिस्संदेश्यम्।

(चिन्तयति)

अनसूया : सहि, ण सो अस्समे चिन्तणिज्जो अत्थि। जो तए विरहअन्तीए ण उस्सुओकदो अज्ज, पेक्ख दाव—

पडमिणीपत्तन्तरिदं वाहरिदं[188] णाणुव्या(वा)हरदि जाअं।
मुहोउब्भोढ[189] मिणालो तयि दिट्ठिं देइ चक्काओ ॥4-18॥

(सखि, न स आश्रमे चिन्तनीयोऽस्ति यस्त्वया विरहयन्त्या नोत्सुकीकृतोऽद्य। प्रेक्षस्व तावत्—

पद्मिनीपत्रान्तरितां व्याहृतां नानुव्याहरति जायाम्।
मुखोद्व्यूढमृणालस्त्वयि दृष्टिं ददाति चक्रवाकः ॥4-18॥)

शकुन्तला : (विलोक्य) सहि, सच्चं य्येव णलिणीपत्तन्तरिदं पिअं सहअरं अवेक्खन्ती आदुरं[190] चक्कवाइ आरसदि, दुक्करं[191] खु अहं करेमि। (सखि, सत्यमेव नलिनीपत्रान्तरितं प्रियं सहचरम् अप्रेक्षन्ती आतुरं चक्रवाक्यारसति, दुष्करं खल्वहं करोमि।)

प्रियंवदा : अज्ज वि विणा पिएण[192] गमइ(अ)दि राइं विसूरणादीहं।
हन्त[193] गुरुअं पि दुक्खं आसाबन्धो सहावेदि[194]॥4-19॥
(अद्यापि विना प्रियेण गमयति रात्रिं विसूरणादीर्घाम्।
हन्त गुरुकमपि दुःखम् आशाबन्धस्सहयति ॥4-19॥)

काश्यपः : शाङ्र्गरव, इति त्वया मद्वचनाद् राजा शकुन्तलाम् पुरस्कृत्य[195] वक्तव्यः[196]।

शाङ्र्गरवः : आज्ञापयतु भगवान्[197]।

काश्यपः : अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनान् उच्चैः कुलं चात्मन-
स्त्वय्यस्याः कथमप्यबान्धवकृतां भावप्रवृत्तिं च ताम्।
सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वक [मियं][198] दारेषु दृश्या त्वया
भाग्याधीनमतः परं, न ≠(70) खलु तत्स्त्रीबन्धुभिर्याच्यते॥ 4-20॥

शाङ्र्गरवः : गृहीतस्सन्देशः।

काश्यपः : (शकुन्तलां प्रति) वत्से, त्वमिदानीम् अनुशासनीया[199]। पश्य, वनौकसोऽपि[200] लोकज्ञा वयम्।

शाङ्र्गरवः : भगवन्, न खलु धीमतां कश्चिद् अविषयो नाम।

काश्यपः : वत्से, सा त्वम् इतः पतिकुलम् अवाप्य[201],
शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्व[202] नुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥4-21॥

किं वा गौतमी ब्रवीति।

[गौतमी] : इत्ति [अं] खु य्येव एदं वहूअणे उवदेसो।[203] (शकुन्तलां प्रति) जादे, एवं खु अवधारेहि। (एतावत् खलु एवैतद् वधूजन उपदेशः। जाते, एवं खल्ववधारय ॥)

काश्यपः : वत्से, एहि परिष्वजस्व मां[204] सखीजनं च।

शकुन्तला : ताद, किं इदो य्येव पिअसहिओ णिअत्तन्ति। (तात, किं इत एव प्रियसख्यो निवर्तन्ते।)

काश्यपः : वत्से, इमे अपि प्रदेये। तन्न युक्तमनयोस्तत्रागन्तुम्[205]। त्वया सह गौतमी यास्यति।

शकुन्तला : (उत्थाय पितर ≠(71) मालिङ्ग्य) कधं दाणिं तादेण विरहिदा करिसत्थपरिब्भट्ठा करेणुआ विअ पाणा धारइस्सं। (इति रोदिति)

(कथमिदानीं तातेन विरहिता करिसार्थपरिभ्रष्टा करेणुकेव प्राणान् धारयिष्ये।)

काश्यपः : [206]किमेवं कातरासि।

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैरस्य प्रतिक्षणम् आकुला।
तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजं (जां)[207] न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि ॥4-22॥

अपि चेदमवधारय–

यदा शरीरस्य शरीरिणश्च पृथक्त्वम् एकान्तत एव[208] भावि।
आहार्ययोगेन विभज्यमान[209] परेण को नाम भवेद् विषादी॥ 4-23॥

(शकुन्तला पितुः पादयोः पतति।)

काश्यप : वत्से, यदिच्छसि तत् तेऽस्तु[210]।

शकुन्तला : (सख्यावुपगम्य) हला एध दुवे य्येव मं समं परिस्सजधं[211]। (हले, एतं द्वे एव मां समं परिष्वजेथाम्।)

उभे : (तथा कृत्वा) सहि, सो राआ जदि[212] पच्चभिण्णाण[213] मन्थरो

भवे, तदा से इमं तदीअ-णामधेअङ्किदं[214] अङ्गुलीअं दंसेहि[215]।
(इत्यङ्गुलीयकं दत्तः[216])
(सखि, स राजा यदि प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत्तदास्येदं तदीयनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं दर्शय।)

शकुन्तला : (साशङ्कम्) इमिणा सन्देसेण अणुकम्पिदम्हि[217]। (अनेन सन्देशेनानुकम्पितास्मि।)

उभे : मा भाआहि। सिणिहो वामं[218] आसङ्कदि (मा भैषीः। स्नेहो वामम् आशङ्कते।)

शाङ्र्गरवः : (ऊर्ध्वम्[219] ≠(72) अवलोक्य) युगान्तरमधिरूढस्सविता। तत् त्वरतां भवती।

शारद्वत[220] : (उत्थाय) इत इतो भवती। (सर्वे परिक्रामन्ति)

शकुन्तला : (भूयः पितरमाश्लिष्य सगद्गदम्)[221] ताद, कदा णु खु भूओ तवोवणं पेक्खिस्सं। (तात, कदा नु खलु भूयस्तपोवनं प्रेक्षिष्ये।)

काश्यपः : वत्से, श्रूयताम्—

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिम् अप्रतिरथं तनयं प्रसूय।
तस्मिन् निवेशितधुरेण सहैव भर्त्रा
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥4-24॥

गौतमी : जादे, परिहीअदि गमणवेला। ता णिवट्टेहि पिदरं। (काश्यपं प्रति) अध वा, चिरेण एसा पिदरं ण णिवट्टयिस्सदि[222]। ता णिवट्टदु[223] भवं। (जाते परिहीयते गमनवेला। तन्निवर्तय पितरम्। अथ वा, चिरेण एषा पितरं न निवर्तयिष्यति। तन्निवर्तयतु भवान्।)

काश्यपः : [224]वत्से, उपरुद्धयते मे तपोऽनुष्ठानम्। प्रतिनिवर्तितुमिच्छामि।
(शकुन्तला पुनः पितरमाश्लिष्य)

शकुन्तला : तवोवापारेण तादो णिरुक्कण्ठो भविस्सदि[225]। अहं दाणिं उक्कण्ठाभाइणि[226] संवुत्ता। (तपोव्यापारेण तातो निरुत्कण्ठो भविष्यति। अहम् इदानीं उत्कण्ठाभागिनी संवृत्ता।)

काश्यपः : अयि, किं मां जडीकरोषि।

शममेष्यति मम वत्से कथमिव शोकस्त्वया रचितपूर्वम्।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः ॥4-25॥

वत्से, ≠(73) गच्छ। शिवास्ते पन्थानस्सन्तु।
(इति निष्क्रान्ता शकुन्तलाऽनुयायिभिः सह[227])

सख्यौ : (चिरं विलोक्य) हद्धी अन्तरिआ(दा) सउन्तला वणराइहिं।
(हा धिक्, अन्तरिता शकुन्तला वनराजिभिः।)

काश्यपः : अनसूये, गता वां सहधर्मचारिणी, निगृह्यतां शोकावेगः।
अनुगच्छतं मां प्रस्थितम्।[228]

उभे : ताद, सउन्तलाविरहिदं सुण्णं विअ[229] तवोवणं पविसामो।
(तात, शकुन्तलाविरहितं शून्यम् इव तपोवनम् प्रविशामः।)

काश्यपः : स्नेहवृत्तिरिव दर्शनीया। (सविमर्श[230] परिक्रम्य)
हन्त भोः, शकुन्तलां विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम्। कुतः-

अर्थो हि कन्या परकीय एव
ताम् एव सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातोऽस्मि सद्यो विशदान्त[231] रात्मा
चिरस्य निक्षेपम् इवार्पयित्वा ॥4-26॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति अभिज्ञानाख्ये शकुन्तलाख्ये नाटा(ट)के चतुर्थोऽङ्कः॥232

सन्दर्भ

1. (भूर्ज.) श्रीगणेशाय नमः। (ऑ.-1) ॐ॥, (ऑ.-2) श्रीगणेशाय नमः। (श्री.) ॐ॥
2. (श्री.) अभिनयन्त्यौ सख्यौ।
3. (श्री.) प्रथमा।
4. (ऑ.-2) जद्यपि गन्धवविवाहविहिणा णिवुत्तकल्याणा। (श्री.) निउत्तकलाणा।
5. (ऑ.-1) अणुऊलभत्तु।
6. (श्री.) अणुकूलवन्ध्वाभाइणी संवुत्तौ।
7. (श्री.) तहा भि ण निवुदं। (बु.) तधा।
8. (ऑ.-1) एवं (श्री.) द्वितीया।
9. (ऑ.-2) कधमिव। (श्री.) किं विअ।

10. (श्री.) प्रथमा।
11. (श्री.) परिसमन्ती।
12. (ऑ.-2) इतः परं वाक्यमपूर्णं वर्तते।
13. (श्री.) णअरं तत्र अन्देउरं पविसेअ। (बु.) अन्तेउरे।
14. (ऑ.-1) सुमरेदि।
15. (श्री.) समरदि वा ण अत्ति।
16. (ऑ.-1) वेसत्था। (ऑ.-2) विस्वस्ता। (श्री.) इत्थ वीसद्धा।
17. (ऑ.-1) एवं (श्री.) आकिदि। (बु.) आइदि।
18. (ऑ.-1) चिन्तणीअं। (श्री.) इत्तिअ उण चिन्तणीअं।
19. (ऑ.-1) आणे, (श्री) सणिअ ण आणे।
20. (ऑ.-1) एवं (श्री.) जहा म पुच्छसि, तहा तादस्स अणुमअं पिअं अ।
21. (ऑ.-1) एवं (श्री.) कधं विअ पिअं अणुमदं अ।
22. (ऑ.-1) कञ्जका।
23. (श्री.) तं जदि देव य्येव संवादेदि।
24. (श्री.) ण णु।
25. अत्र ≠ अनेन चिह्नेन भूर्जपत्रोपरिलिखिताया मातृकायाः पृष्ठाङ्का निर्दिश्यन्ते।
26. (ऑ.-2) एवं (श्री.) णं सउन्तलाएवि सोहग्गदेवदा अच्चणीआ। (बु.) सोहग्गदेवदाओ अच्चणीआओ।
27. (श्री.) सौभाग्यदेवता अर्चनीयाः, इति वामपार्श्वे लिखितायां संस्कृतच्छायायां पठ्यते।
28. (श्री.) जुज्यन्ति।
29. (ऑ.-1) एवं (ऑ.-2) तदेव कर्माभिनयतः। (श्री.) देवकर्माभिनयतः।
30. (ऑ.-2) एवं (श्री.) कर्णं दत्त्वा
31. (ऑ.-1) एवं (श्री.) उडअ।
32. (ऑ.-1) होन्तु। (ऑ.-2) होदु। (श्री.) होत्तु
33. (श्री.) इत्तिआइ। (बु.) एत्तिआइं।
34. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) प्रस्थिते।
35. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) पुनर्नेपथ्ये।
36. (ऑ.-2) हद्धी तं य्येव संवुत्तं। (श्री.) हद्धी तं तं य्येव। (बु.) येव।
37. (श्री.) पूआरह अवराद्धा।
38. (ऑ.-1) ण खु ण खु जस्सिं तस्सिं। (श्री.) ण खु जस्सिं। (बु.) ण क्खु, ण क्खु।
39. (ऑ.-1) एवं (श्री.) खु... महेसी।
40. (ऑ.-1) एवं (श्री.) चलिदपादोद्धराए।
41. (भूर्ज.) गच्छिदं पउत्तो। (ऑ.-1) गच्छिडं पउत्तो। (ऑ.-2) गदुं संवुत्तो। (श्री.) गच्छिंद पवित्तो।

42. (ऑ.-1) एवं (ऑ.-2) पभविस्सदि। (श्री.) परिभाविस्सदि।
43. (ऑ.-2) पाए पडिअ पसादेहि। (श्री.) पाएसु पडिअ पसादेहि।
44. (ऑ.-2) कम्पेमि। (श्री.) उवकम्पेमि।
45. (ऑ.-1) इतः परमेकं मातृकापत्रमनुपलब्धम्।
46. (श्री.) पदान्तरे।
47. (ऑ.-2) एवं (श्री.) नाट्येन पुष्पोच्चयमादत्ते।
48. (श्री.) विअ कोवो।
49. (ऑ.-2) एवं (श्री.) गिण्हदि।
50. (ऑ.-2) एवं (श्री.) किं तु साणुक्कोसो किदो।
51. (श्री.) कहं। (बु.) कधेहि कधं।
52. (श्री.) मुण्णवभत्तिं।
53. (ऑ.-2) एवं (श्री.) अवराधो।
54. (भूर्ज.) अहरदि। (ऑ.-2) अरहदि। किन्तु। (श्री.) अण्णदा भविदुं अहरदि।
55. (ऑ.-2) आभरणाभिण्णाणदस्सणेण। (श्री.) आहरणाभिण्णाण।
56. (ऑ.-2) णिवत्तिस्सदि। (श्री.) णिवत्तिस्सिदि।
57. (ऑ.-2) एवं (श्री.) अन्तरहिदो।
58. (श्री.) सणामधेअङ्किअं।
59. (ऑ.-2) साहणीयं। (श्री.) साहीणो।
60. (श्री.) विलोक्येत्यधिकं पठ्यते।
61. (ऑ.-2) विलोक्येति रंगसूचनाधिका।
62. (श्री.) विणिहिद।
63. (ऑ.-2) भत्तिगदाए। (श्री.) भत्तुगदाए।
64. (ऑ.-2) दोहो। (श्री.) दोहा।
65. (ऑ.-2) परिकिदि। (श्री.) पकिदि।
66. (श्री.) उष्णोदएण णवमालिअं सिचेदि।
67. (श्री.) प्रविश्यति।
68. (श्री.) प्रवृत्तेनो।
69. (श्री.) किं अवसेयं।
70. (श्री.) कर्कन्दूनाम्।
71. (श्री.) ख्यानं।
72. (ऑ.-1) इतः परं मातृकापत्रमग्रे मिलति।
73. (ऑ.-1) एवं (श्री.) चन्द्रः।
74. (ऑ.-1) मूरारोहो।
75. (ऑ.-1) एवं (श्री.) सम्पद्विपत्योरनित्यतां दर्शयत एव।

76. (बु.) अत्र कार्ल बुरखाडेन नूनम् इति पदं कोष्ठान्तर्गतं दर्शितम्।
77. श्लोकद्वयमिदं प्रक्षिप्तमेव प्रतिभाति।
78. (ऑ.-1) अपटीक्षेपेण प्रविष्टानसूया। (ऑ.-2) अपटक्षेपेण प्रविशत्यनसूया। (श्री.) अपटीक्षेपेण प्रविशत्यनन्यसूया।
79. (ऑ.-1) विसअपराम्मभस्स। (श्री.) विसअपराङ्मुहस्स।
80. (श्री.) इतः परं त्रुटितांशः प्रदर्शितः। अतो वेलामिति शब्दो नास्ति।
81. (ऑ.-2) प्रभादव्वावपेसु। (श्री.) प्रभादवावारेसु।
82. (बु.) भोदु।
83. (बु.) अधवा।
84. (श्री.) पदमिदं नास्ति।
85. (ऑ.-1) इत्थ। (बु.) एत्थ।
86. (ऑ.-1) एवं (श्री.) तादिसाणि वअणाणि।
87. (भूर्ज.) इतः परं लेखकस्य प्रमादाद् "एदस्स" इत्यधिकम्।
88. (बु.) विस्सज्जेदि।
89. (ऑ.-1) अभिण्णाणं से विसज्जो म्ह। (श्री.) विसज्जम्ह। (बु.) विसज्जेम।
90. (ऑ.-1) दुक्खशीले तवस्सिजणे। (श्री.) दुखशीले तवस्सिजणे।
91. (ऑ.-1) अड ण अ सहीगमणो ण दोसो त्ति ववसिदं, दाणिं पारेम्ह। (श्री.) अड ण अ ... त्ति विवसि।
92. (श्री.) पवासनिउत्तस्स। (बु.) पहासणिव्वुत्तस्स।
93. (ऑ.-1) दुस्सन्तपरिणीआं आवण्णस्सत्तां। (श्री.) दुष्यन्तपरिणीआं आवण्णसत्त्वां।
94. (श्री.) कर्तुं।
95. (ऑ.-1) एवं (श्री.) प्रविश्य।
96. (ऑ.-1) करीअन्ति। (ऑ.-2) करिअन्ते। (श्री.) करीअत्ति। (बु.) पत्थाणकोदुआइं करीअन्तु।
97. (ऑ.-1) सुखे सइद विपृच्छाए।
98. (श्री.) सुहसइए विबुद्धाए समीपं गदाम्हि। (बु.) गदम्हि।
99. (ऑ.-1) अभिणन्ददि। (श्री.) अभिनन्ददि।
100. (श्री.) दिट्ठिणो विअ जनअजानस्स।
101. (ऑ.-1) सुसिस्स पडिवण्णा। (ऑ.-1) वच्छे, सुसिस्स। (श्री.) वच्छे, सिस्स-डिवण्णा। (बु.) सुसीसपडिपादिदा।
102. (ऑ.-2) सोभणीआ। (शोभनीयेति छाया)
103. (ऑ.-1) एवं (ऑ.-2) इसिपरिगिहीदां। (बु.) इसिपरिग्गहिदं।
104. (ऑ.-1) एवं (श्री.) भत्तुणो। (बु.) भट्टिणो।
105. (ऑ.-1) एवं (श्री.) आचिक्खिद तादकस्सवस्स। (ऑ.-2) आचक्खिदो तादकस्सपस्स।

106. (ऑ.-1) एवं (श्री.) संस्कृतं पठति।
107. (ऑ.-1) बीजं।
108. (ऑ.-1), (ऑ.-2) (श्री.) पदमिदं नास्ति।
109. (भूर्ज.) अज्ज य्येव-इति नास्ति। (ऑ.-1) ज्जेव।
110. (ऑ.-1) परितोसमुव्वहामि।
111. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) सहि अम्हे-इत्यधिकम्।
112. (बु.) भोदु।
113. (ऑ.-1) णारिकेल। (बु.) नारिएल।
114. (ऑ.-1) मअरोणाहि। (श्री.) मअगोअणं। (सं.) आमयरोधनामिति स्यात्? (बु.) मअ [गो] रोअणं।
115. (ऑ.-1) मङ्गलसभालभणत्थं। (श्री.) मङ्गलसमालहत्थं।
116. (ऑ.-1) सुमनसो गृह्णाति नाट्येन (श्री.) सुमनसो नाट्येन।
117. (भूर्ज.) यद्यपि मृगरोचनामित्येव छाया प्रदत्ता, किन्तु चकारस्य हकारः कथं भवतीति न ज्ञायते।
118. (ऑ.-1) एवं (ऑ.-2) इतः पूर्वम् "गौतमि" इति सम्बोधनपदमधिकम्।
119. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) कर्णं दत्त्वा।
120. (ऑ.-2) तुअर। (श्री.) त्वर त्वर।
121. (भूर्ज.) हत्थिणाउरयामिण इसिओ। (ऑ.-2) हत्थिणो पुरोगामिणो इसवो।, (ऑ. -1) इस्सओ। (बु.) इसीओ।
122. (ऑ.-1) एवं (श्री.) सज्जिदा।
123. (ऑ.-1) उपसम्पम्हणं, (बु.) उव णं।
124. (ऑ.-1) यथानिर्दिष्टपरिवारा। (ऑ.-2) यथानिर्दिष्टगुणा शकु. आसनस्था। (श्री.) यथानिर्दिष्ट. तापस्यः सानन्दम्।
125. (ऑ.-1) एवं (ऑ.-2) भत्तुणो।
126. (श्री.) इत्यत्र संस्कृतच्छाया प्रायो न दीयते।
127. (ऑ.-1) अन्यास्तापस्यः-जादे, वीरप्पसविणी। (श्री.) अन्यास्तापस्यः- जादे वीरसभविणी होदि।
128. (श्री.) पङ्क्तिद्वयमध्ये वीरप्रसविनी भवेति संस्कृतच्छाया प्रदत्ता।
129. (ऑ.-1) होदु। (बु.) भोदु।
130. (श्री.) पदमिदं नास्ति।
131. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) बाष्पं विहरतीत्युत्तिष्ठति।
132. (ऑ.-2) एवं (श्री.) इतः पूर्वं अहो-इति पदम्।
133. (ऑ.-1) इदमलङ्कारजातं। (श्री.) इदमलङ्करणागतम्।
134. (ऑ.-2) तातकाश्यपप्रतापात् (श्री.) तातप्रभावात्।

135. (श्री.) मासी।
136. (ऑ.-2) वनस्पतिभ्यः इति पदं नास्ति।
137. (श्री.) निष्ठ्यूतचरणो।
138. (ऑ.-1) एवं (ऑ.-2) भत्तुणो।
139. (श्री.) कल्लाणी। (बु.) कल्लाणिणी।
140. (ऑ.-2) कोडरसम्भवा मधुअरी विअ पुक्खरमधु।
141. (ऑ.-1) महुअरी पक्खरमुहं अभिलससि। (श्री.) महुअरी विअ पुष्करमुखमभिलषसि।, (ऑ.-2) अभिलससि
142. (ऑ.-1) अणुपहुत्तभूषणः। (ऑ.-2) अणुपहुदभूसणो।
143. (ऑ.-2) एवं (श्री.) कुरुतः।
144. (बु.) ऋषिकुमाराः।
145. (बु.) एवं (ऑ.-1) सुप्तोत्थितः। (श्री.) स्थान उत्थितः।
146. (भूर्ज.) परिक्रामतः (ऑ.-2) परिक्रामति।
147. (ऑ.-1) एवं (श्री.) जादे, एस दे आणन्दपरिवाहिणा लोअणेणा।
148. (ऑ.-2) एवं (श्री.) सलज्जम्।
149. (श्री.) सूतं।
150. (श्री.) भवअ।
151. (ऑ.-1) एवं (श्री.) हुताग्नीन्।
152. (ऑ.-1) समिद्वन्तः प्रान्तविस्तीर्णदर्भाः।
153. (ऑ.-1) एवं (श्री.) प्रविश्य त्रयः शिष्याः।
154. (ऑ.-1) एवं (श्री.) इमे स्मः।
155. (ऑ.-2) तपोवनेति शब्दो नास्ति।
156. कोकिलरवं सूचयित्वेति रंगसूचना प्रकटरूपेण शारदापाठे नास्ति।
157. (ऑ.-1) कमलकीलजालैः। (श्री.) वनैः।
158. (ऑ.-1) सरिद्भिः।
159. (ऑ.-1) अनुमिकगमना। (ऑ.-2) अनुगतगमना। (श्री.) अनमितगमना।
160. (ऑ.-1) परभृतविरुतं कलं। (ऑ.-2) परभृतविरुतं कलं। (श्री.) परभृतविहितं कलं।
161. (ऑ.-1) भअवदीए। (ऑ.-2) भगवदीः। (श्री.) भवदीए।
162. (ऑ.-2) एवं (श्री.) सप्रणामम्।
163. (श्री.) पिअंवद इति संबोधनानन्तराणि पदानि न सन्ति।
164. (भूर्ज.) दुक्खेण मे। (श्री.) दुःखदुखेन मे।
165. (श्री.) उल्ललइ।
166. (ऑ.-2) पडिसन्तच्चणा मोराओ। (श्री.) पडिसन्तचणा मोरा।
167. (ऑ.-2) अपसरिदा पाण्डुवत्ताणि।

168. (ऑ.-1) माहवि आमन्तयिस्सम्। (श्री.) माहवि आमन्ताणुस्सम्। (बु.) आमन्तइस्सं।
169. (श्री.) इतः पूर्वं वत्से-इति सम्बोधनमधिकम्।
170. (ऑ.-1) सौन्दर्य। (ऑ.-2) एवं (श्री.) सोदर।
171. (बु.) ताम्।
172. (ऑ.-1) एवं (ऑ.-2) इमां तावद् आमन्त्रयितु।
173. *माधवीलता-सम्बद्धोऽयं [< ... >] कोष्ठान्तर्गतः संवादः प्रक्षिप्तः स्याद्। स चांशिकतया नवमालिकामुद्दिश्य स्यात्।*
174. (श्री.) रुदितः।
175. (श्री.) आसण्णप्पसवा।
176. (ऑ.-1) णिवेदइस्सं विसज्जएदस्स। (श्री.) आण्णवेदअ विसज्जइइस्सह।
177. (ऑ.-1) नेदं विस्मरिष्यामि। (ऑ.-2) भवतु, नेदं विस्मरिष्यामि। (श्री.) नेदं विस्मरिष्या (मि) विस्मरिष्यामः।
178. (ऑ.-2) रूपयति। (श्री.) रूपयित्वा।
179. उक्तिरियं शकुन्तलाया भवितुमर्हति।
180. (ऑ.-1) मदक्खित्तो। (श्री.) दक्खिद।
181. (ऑ.-2) व्रणविरोपणम्।
182. (श्री.) कुशसूचिदष्टे।
183. (श्री.) पडिणिअत्तु।
184. (श्री.) प्रियतया।
185. (श्री.) तनोनतभूमि।
186. (श्री.) भगवन्नोदकान्तं स्निग्धेन गम्यते।
187. (श्री.) युक्तयुक्तरूपम्।
188. (ऑ.-1) पदमिणी-पतुन्तरिदं वाहरदि। (ऑ.-2) पद्ममिणी पत्तन्तरिदं वाहरिदि। (श्री.) पधिमिणि पत्तरिदं वहइदं।
189. (ऑ.-1) मुहोउव्वोड। (श्री.) मुहतव्येड। (बु.) मुहइलव्वूढ-मुणालो।
190. (ऑ.-1) अपेक्खन्ती आतलदरं। (ऑ.-2) पेक्खन्ती आउलदरं।
191. (ऑ.-1) एवं (श्री.) दुष्करं।
192. (श्री.) पियेन विना। (विसूरणा-इत्यस्य "खेद, पीड़ा" इत्यर्थः। खिदेर्जुर-विसूरौ। इति हैम। 8-4-132)
193. (ऑ.-1) एवं (श्री.) हन्द।
194. (श्री.) सहावेदि।
195. (भूर्ज.) पदमिदं नास्ति।
196. (ऑ.-1) वाच्यः।
197. (श्री.) भवान्।
198. (भूर्ज.) पदमिदं नास्ति। (श्री.) प्रतिपत्यपूर्वकरियं।

199. (श्री.) अनुशासनीयः।
200. (श्री.) इतः परं "सन्तो" इत्यधिकम्।
201. (ऑ.-1) एवं (श्री.) प्राप्य।
202. (श्री.) भोग्येष्व।
203. (श्री.) इत्तिअ वहुअणे उवदेसो।
204. (भूर्ज.) अत्र "सखीजनं च" इति नास्ति।
205. (ऑ.-1) तत्र गन्तुम्। (श्री.) अत्र गन्तुम्।
206. (श्री.) इतः पूर्वम् "वत्से" इति सम्बोधनम्।
207. (श्री.) विहरजं।
208. (श्री.) एकान्ततयैव।
209. (ऑ.-1) वियुज्यमानः। (श्री.) वियुज्यमाणः।
210. (श्री.) ते तदस्तु।
211. (श्री.) परिस्सजध। (बु.) परिसअधं।
212. (ऑ.-1) सहि, सो राआ जदि। (श्री.) सहि, जधि सो राय। (बु.) जइ।
213. (ऑ.-1) एवं (श्री.) पच्चभिण्णाण। (बु.) पच्चहिण्णाण।
214. (ऑ.-1) णामदीआङ्किदं। (श्री.) णामाङ्किदं। (बु.) णामहेअङ्किदं।
215. (ऑ.-1) सेढि। (श्री.) दंसेई, (बु.) दंसेहि।
216. (श्री.) दधत्त।
217. (श्री.) आकम्पिदाम्हि।
218. (ऑ.-1) मम।
219. (श्री.) सूर्यम्।
220. (बु.) शाङ्‌र्गरवः।
221. (श्री.) "पितरमाश्लिष्य" इत्येव।
222. (ऑ.-1) णिवारयिस्सदि। (बु.) णिवट्टैस्सदि।
223. (ऑ.-1) णिअत्तदु।
224. अत्र "उत्थाय" इति रंगसूचना नास्ति, किन्तु सानुमानगम्या।
225. (ऑ.-2) एवं (श्री.) होदि।
226. (ऑ.-2) उक्कण्ठाभाइणी। (श्री.) उक्कण्ठाभारिणी।
227. (ऑ.-1) एवं (श्री.) सहानुयायिभिः।
228. (श्री.) इतः परं रंगसूचना—सर्वे प्रस्थिता इति।
229. (ऑ.-1) वण्णमिव।
230. (श्री.) सविस्मयम्।
231. (श्री.) विशुन्दन्त।
232. (ऑ.-1) एवं (ऑ.-2) चतुर्थोङ्कः। (श्री.) इति शकुन्तलां चतुर्थोङ्कः॥ॐ॥, (बु.) इत्यभिज्ञानशकुन्तलाख्ये नाटके।

॥ अथ पञ्चमोऽङ्कः ॥

1॥ ततः प्रविशति कञ्चुकी2 ॥

कञ्चुकी : (आत्मानं विलोक्य) (निःश्वस्य) अहो बत कीदृशीं वयोऽव ≠(74) [3]स्थां प्राप्तोऽस्मि।

आचार इत्यधिकृतेन मया गृहीता
या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः[4]।
कालेन सैव परिहीननियोगशक्ते[5]-
र्गन्तुं ममेयम् अवलम्बनवस्तु जाता ॥ 5-1॥

यावद् अभ्यन्तरगताय देवायानुष्ठेयम् अकालक्षेपार्हं निवेदयामि[7]। (द्वे पदे गत्वा) किं पुनस्तत्। (संस्मृत्य) आम्, कण्वशिष्याः तपोधना[8] देवं द्रष्टुम् इच्छन्ति। भोश्चित्रम् इदम्—

क्षणात्प्रबोधमायाति लङ्घ्यते[9] तमसा पुनः।
निर्वास्यतः प्रदीपस्य शिखेव जरतो मतिः ॥5-2॥

(परिक्रम्याकाशे) मौद्गल्य[10], धर्मकार्यमनतिपात्यं, तद्देवस्य तदा[11] वेदयितुमिच्छामि। किं ब्रवीषि। नन्विदानीमेव धर्मासनाद् उत्थितः पुनरुपरुध्यते[12] देव इति। न त्वीदृशो[13] लोकतन्त्राधिकारः। पश्य,

भानुस्सकृद् युक्ततुरङ्ग एव
रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति।
अवेक्ष्य दाह्यं[14] न शमोऽस्ति वह्ने-

षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥5-3॥
किं ब्रवीषि। तेन सङ्गीतकशालासङ्गतं[15] मण्डपं गच्छ, अनुष्ठीयतां नियोग[16] इति। यावत् तत्र गच्छामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) एष देवः।

मनुः प्रजास्स्वा इव तन्त्रयित्वा
निषेवते शान्तमना विविक्तम्।
यूथानि संचार्य रविप्रत ≠(75) प्तः
शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः॥5-4॥

(ततः प्रविशत्यासनस्थः परिमितपरिवारो राजा विदूषकश्च)

विदूषकः : (कर्णं दत्त्वा) भोः णं सङ्गीदसालअं। तेण अवधानं[17] देहि। तालगती (ति) विसुद्धाए[18] खु वीणाए सरसञ्जोआ[19] सुणीअन्ति। जाणे तत्थभोदी हंसवदिआ[20] वण्णपरिचअं करेदित्ति। (भोः, ननु सङ्गीतशालकम्। तेनावधानं देहि। तालगतिविशुद्धायाः खलु वीणायाः स्वरसंयोगाः श्रूयन्ते। जाने तत्रभवती हंसवतिका वर्णपरिचयं करोतीति।)

राजा : (आकर्णयन्) माधव्य, तूष्णीं भव, यावद् आकर्णयामि[21]।

कञ्चुकी : अये, व्यासक्तचित्तो[22] देवः। अवसरं तावत् प्रतिपालयामि। (विलोकयन् स्थितः)

(नेपथ्ये गीयते)[23]

अहिणव-महुलोहभाविणं[24] तह[25] परिचुम्बिअ चूदमञ्जरिं[26]।
कमलवसतिमेत्तणिव्वुदो महुअर वीस्सरदो सि णं कहं[27]॥5-5॥
(अभिनव-मधुलोभभावितस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम्॥ 5-5॥)

राजा : अहो रागपरिवाहिणी गीतिः[28]।

विदूषकः : किं दाव से गीतिआए। अवि गिहिदो भअवदा अक्खरत्थो। (किं तावद् अस्या गीतिकायाः, अपि गृहीतो भगवताक्षरार्थः।)

राजा : (स्मितं कृत्वा) वयस्य, सत्कृत[29] प्रणयोऽयं जनः। तदस्याः कृते

[30]कुलप्रभाम् अन्तरेण समुपालम्भम् उपागतोऽस्मि। तन्मद्वचनाद् उच्यतां हंसवतिका[31]। निपुणम् उपालब्धास्स्म इति।

विदूषकः : जं भवं आणवेदि। (उत्थाय) भो वअस्स। गिहीदो तए पर ≠(76) कीहिं हत्थेहिं सिखण्डए अच्छ-भल्लो अवीदराअस्स विअ णत्थि मे मोक्खो। (यद् भवान् आज्ञापयति। भो वयस्य, गृहीतस्त्वया परकीयैर्हस्तैः शिखण्डके भल्लूकः। अवीतरागस्येव नास्ति मे मोक्षः।)

राजा : वयस्य, गच्छ, नागरक[32] वृत्त्या संज्ञापयैनाम्।

विदूषकः : का गदी। (का गतिः।) (इति निष्क्रान्तः)

राजा : (स्वगतम्[33]) किं नु खलु गीतमाकर्ण्येदम् एवं विधार्थम् इष्टजनविरहाद्[34] ऋतेऽपि बलवद् उत्कण्ठितोऽस्मि। अथवा,

रम्याणि वीक्ष्य[35] मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी[36]—भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनम् अभोग[37] पूर्वम्
भाविस्थितानि जननान्तरसौहृदौ(दा)[नि][38] ॥5-6॥

कञ्चुकी : (उपसृत्य) (प्रणिपत्य) जयतु जयतु देवः। एते खलु हिमगिरेरुपत्यकारण्यकाः[39] काश्यपसन्देशम् आदाय सस्त्रीकास्तपस्विन- स्सम्प्राप्ताः। श्रुत्वा प्रभविष्णुः प्रमाणम्।

राजा : [40]किं काश्यपसन्देशहारिणः सस्त्रीकाः तपस्विनः।

कञ्चुकी : अथ किम्।

राजा : तेन हि, मद् वचनाद् विज्ञाप्यताम् उपाध्यायस्सोमरातः। अमूनाऽऽश्रमवासिनः श्रौतेन विधिना सत्कृत्य स्वयमेव प्रवेशयितुम् अर्हसि। अहम् अप्येनांस्तपस्विदर्शनोचिते देशे प्रतिपालयामीति।

कञ्चुकी : यद् आज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रा ≠(77) न्तः)

राजा : (उत्थाय) वसुमति, अग्निशरणम् आदेशय।

प्रतीहारी : इदो इदो देवः। (परिक्रामन्ति(न्ती)[41]) (इतः इतः देवः।)

राजा : (अधिकारखेदं रूपयित्वा) सर्वः प्रार्थितमधिगम्य सुखी सम्पद्यते,

राज्ञां तु चरितार्थतापि दुःखोत्तरैव[42]। कुतः-

औत्सुक्यमात्रमवसादयति प्रतिष्ठा
क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव।
नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय
राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ॥5-7॥

(नेपथ्ये)[43]

वैतालिका[44] : विजयतां देवः।

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते सृष्टि[45]—रेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥5-8॥

अपि च,

नियमयसि विमार्गप्रस्थितान्[46] आत्तदण्डः
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम् ॥5-9॥

राजा : (आकर्ण्य) एते क्लान्तमनसः पुनर्नवीभूतास्स्मः[47]। (परिक्रम्य)

प्रतीहारी : एसो अहिणवसम्मज्जनरमणीओ सण्णिहिदक ≠(78) विल-धेणू अग्गिसरणालिन्दो। ता आरुहदु देवो।(एषोऽभिनव सम्मार्जनरमणीयस्सन्निहितकपिलधेनुरग्निशरणालिन्दः। तद् आरोहतु देवः।)

राजा : (आरोहणं नाटयित्वा) (परिजनांसावलम्बी तिष्ठति) (सवितर्कम्) वसुमति, किम् उद्दिश्य तत्रभवता काश्यपेन मत्सकाशम् ऋषयः प्रहितास्स्युः[48]।

किं तावद् व्रतिनाम् उपोढतपसां विघ्नैस्तपो दूषितं[49]
धर्मारण्यगतेषु केनचिद् उत प्राणिष्वसच्चेष्टितम्।
आहोस्वित्[50] प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधाम्
इत्यालीढ[51] बहुप्रतर्कम् अपरिच्छेदाकुलं मे मनः ॥5-10॥

प्रतीहारी : देवस्स भुअणपरिसङ्गणिव्वुदे[52] चतुरस्समे कुदो एदं। किं तु सुअरिदाभिणन्दिणो इसओ[53] देवं सभाजइदुं आगदित्ति तक्केमि।
(देवस्य भुवनपरिष्वङ्गनिर्वृते चतुराश्रमे कुत एतत्। किन्तु सुचरिताभिनन्दिन ऋषयो देवं सभाजयितुम् आगता इति तर्कयामि।)
(ततः प्रविशन्ति गौतमीसहिताः शकुन्तलां पुरस्कृत्य मुनयः। पुरतश्चैषां पुरोहित-कञ्चुकिनौ।)

कञ्चुकी : इत इतो भवन्तः। (सर्वे परिक्रामन्ति)

शाङ्र्गरवः : महाभागस्सत्यं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ
न कश्चिद् वर्णानाम् अपथम् अपकृष्टोऽपि भजते।
तथापीदं शश्वत् परिचितविविक्तेन मनसा
जनाकीर्णं मन्ये हुतवहपरीतं गृहमिव[54] ॥5-11॥

≠(79)**शारद्वतः** : स्थाने भवतः पुरप्रवेशाद् इत्थंभूतस्संवेगः। अहमपि,
अभ्यक्तमिव स्नातः, शुचिरशुचिमिव, प्रबुद्ध इव सुप्तम्।
बद्धमिव स्वैरगतिर्जनम् अवशस्सङ्गिनमवैमि[55] ॥5-12॥

शकुन्तला : (दुर्निमित्तं सूचयन्ती) (सखेदम्) अम्मो, किं पि वामेदरं मे णअणं विप्पकरेदि[56]। (अहो किम् अपि वामेतरं मे नयनं विप्रकरोति।)

गौतमी : पडिहदं[57] अमङ्गलं। सुहाइं दे भत्तु-कुलदेवदाओ विदरन्तु[58]। (परिक्रामन्ति) (प्रतिहतम् अमङ्गलं, सुखानि ते भर्तृकुलदेवता वितरन्तु।)

पुरोहितः : (राजानं निर्दिशन्[59]) भोस्तपस्विनः। असावत्रभवान् वर्णाश्रमाणां रक्षिता प्रागेव मुक्तासनः प्रतिपालयति। पश्यतैनम्।

ऋषयः : महाब्राह्मण, काममेतद्[60] अभिनन्दनीयम्। तथापि वयमत्र मध्यमस्थाः[61]। कुतः-
भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै-
र्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धतास्सत्पुरुषास्समृद्धिभिः

स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥5-13॥

प्रतीहारी : देव, पसण्णमुहराआ दीसन्ति सत्थकय्या इसओ[62]।
(देव, प्रसन्नमुखरागा दृश्यन्ते स्वस्थकार्या ऋषयः।)

राजा : (शकुन्तलां दृष्ट्वा) अथात्रभवती—
कास्विद् अवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीर[63] ला ≠(80) वण्या।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्॥ 5-14॥

प्रतीहारी : देव, कुदूहलदाए[64] विम्हिदम्हि। ण मे तक्को पसीददि।
(देव, कुतूहलतया विस्मितास्मि। न मे तर्कः प्रसीदति।)

परिजनः : भट्टा, दंसणीआ खु से आकिदी लक्खीअदि[65]। (भर्तः, दर्शनीया खल्वस्या आकृतिर्लक्ष्यते।)

शकुन्तला : (आत्मगतम्) (उरसि हस्तं दत्त्वा) (ससाध्वसम्) हिअअ, किं एवं वेवसि[66]। अय्यउत्तस्स भावत्थिदिं सुमरिअ धीरं[67] दाव होहि।
(हृदय, किमेवम् वेपसि। आर्यपुत्रस्य भावस्थितिं स्मृत्वा धीरं तावद् भव।)

पुरोहितः : (पुरो गत्वा) देव, एते विधिवद् अर्चितास्तपस्विनः। कश्चिदेतेषाम् उपाध्यायसन्देशः। तं देवः श्रोतुम् अर्हति।

राजा : (सादरम्[68]) अवहितोऽस्मि।

ऋषयः : (उपसृत्य) (हस्तान् उद्यम्य) विजयस्व राजन्।[69]

राजा : (सप्रणामम्) सर्वान् अभिवादये वः।[70]

ऋषयः : स्वस्ति भवते।[71]

राजा : अपि निर्विघ्नं तपः।

ऋषयः : कुतो धर्मक्रियाविघ्नस्सतां रक्षितरि त्वयि।
तमस्तपति घर्मांशौ कथम् आविर्भविष्यति ॥5-15॥

राजा : अर्थवान् मे खलु राजशब्दः। अथ तत्रभवाल्ँलोकानुग्रहाय कुशली काश्यपः।

शाङ्गर्रवः : स्वाधीनकुशलास्सिद्धिमन्तः। स भवन्तमनामयप्रश्नपूर्वम् इदम् आह।

राजा : किम् आज्ञापयति।

शाङ्र्गरवः : (शकुन्तला ≠(81) म् उद्दिश्य) यन् मिथस्समयाद्[72] इमाम् मदीयां दुहितरम् उपयेमे। तन्मया प्रीतमनसा युवयो[73] रनुज्ञातम्। कुतः-

त्वमर्हतां प्राग्रहरः स्मृतो हि नः,
शकुन्तला मूर्तिमतीव[74] सत्क्रिया।
समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरं
चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः ॥5-16॥

तदियम् इदानीम् आपन्नसत्त्वा[75] प्रतिगृह्यतां सहधर्मचारणायेति[76]।

गौतमी : भद्दमुह, वत्तुकामा त्थिदाम्हि। ण अ मे वअ {व} णावकासो[77] अत्थि। कधं त्थि(ति)–

णावेक्खिदो गुरुअणो इमा इणा इह पुच्छिदा बन्धू।
एक्केक्कमेण वरिए किं भण्णत एक्कम् एक्कमि ॥5-17॥

(भद्रमुख, वक्तुकामा स्थितास्मि। न च मे वचनावकाशोऽस्ति। कथमिति,

नापेक्षितो गुरुजनोऽनया, न चात्र पृष्टा बन्धवः।
एकैकेन वरिते किं भण्यताम् एकम् एकस्मिन् ॥5-17॥)[78]

राजा79 : (साशङ्काकुलम् आकर्ण्य) अयि, किमिदम् उपन्यस्तम्।

शकुन्तला : (स्वगतम्) (साशङ्कम्) हुं पावो से वअणोवक्खेवो[80]। (हुँ, पावकोऽस्य वचनोपक्षेपः।)

शाङ्र्गरवः : कथं नाम[81] अत्रभवन्त एव सुतरां लोकयात्रानिष्णाताः।
सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयाम् जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते।
अ≠(82) तः समीपे परिणेतुरिष्यते तद् अप्रियापि प्रमदा स्वबन्धुभिः॥5-18॥

राजा : किम् अत्रभवती मया परिणीतपूर्वा।

शकुन्तला : (सविषादमात्मगतम्) हिअअ, संवदिदा[82] खु दे आसङ्का। (हृदय, संवर्द्धिता खलु त आशङ्का।)

शाङ्र्गरवः : राजन्, किं कृतकार्यद्वेषाद् धर्मं प्रति[83] विमुखता राज्ञः।

राजा : कुतोऽयम् असत्कल्पनाप्रसङ्गः।

शाङ्र्गरवः : मूर्च्छन्त्यमी[84] विकाराः प्रायेणैश्वर्यमत्तेषु॥ 5-19॥

राजा : विशेषेणाधिक्षिप्तोऽस्मि।

गौतमी : (शकुन्तलां प्रति) जादे, मा मुहुत्तअं लज्ज, अवणयिस्सं दाव दे अवगुण्ठनं। तदो भट्टा तुमं अहिजाणइस्सदि त्ति[85]। (जाते, मा मुहूर्तकं लज्जस्व। अपनेष्यामि तावत् तेऽवगुण्ठनम्। ततो भर्ता त्वाम् अभिज्ञास्यतीति।) (शकुन्तला यथोक्तं[86] करोति)

राजा : (शकुन्तलां निर्वर्णयन् सविस्मयम् आत्मगतम्)

इदमुपनतमेवं रूपम् अक्लिष्टकान्ति
प्रथमपरि[87] गृहीतं स्यान्न वेत्यध्यवस्यन्।
भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारम्
न च खलु परिभोक्तुं नापि शक्नोमि हातुम् ॥5-20॥

परिजनः : (जनान्तिकम्) अहो धम्मावेक्खिदा भट्टिणो। ईदिसं णाम सुहोवणदं इत्थीरदणं पेक्खिअ को अण्णो विआरेदि। (अहो धर्मावेक्षिता भर्तुः। ईदृशं नाम सुखोपनतं स्त्रीरत्नं प्रेक्ष्य कोऽन्यो विचारयति।)

शाङ्र्गरवः : राजन्, किम् एवम् जोषम् आस्यते।

राजा : भोस्तपस्विन्, चिन्तयन्नपि[88] न खलु स्वीकरणम् अत्रभवत्याः ≠(83) स्मरामि। तत्कथमनभिव्यक्त-सन्धिलक्षणम् आत्मानं क्षेत्रिणम्[89] अनाशंसमानः प्रतिपत्स्ये।[90]

शकुन्तला : (अपवार्य) हद्धी कधं परिणए य्येव सन्देहो। भग्गा दाणिं मे दूरारोहिणी आसा। (हा धिक्, कथं परिणय एव सन्देहः। भग्नेदानीं मे दूरारोहिण्याशा।)

शाङ्र्गरवः : मा तावत्।

कृताभिमर्शाम् अवमन्यमान[91] स्सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः।
जुष्टं प्रतिग्राहयता स्वम् अर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन॥5-21॥

शारद्वतः : शाङ्र्गरव, विरम त्वमिदानीम्। [92]शकुन्तले,

वक्तव्यमुक्तमस्माभिः। सोऽयमत्रभवान् इदमाह। तद् दीयताम् अस्मै प्रतिवचनम्।

शकुन्तला : (स्वगतम्) (सखेदं निःश्वस्य) इदं अवत्थान्तरं गदे तादिसे मुहुत्तरागे, किं वा सुमराविदेण[93] सम्पदं तेण। अह वा,[94] अत्ता दाणिं मे सोधणीओ[95] त्थि, विवदिस्सं एदं।

(इदम् अवस्थान्तरं गते तादृशे मुहूर्तरागे किं वा स्मारितेन साम्प्रतं तेन। अथ वा, आत्मेदानीं मे शोधनीयोऽस्ति, विवदिष्याम्येतत्।

(प्रकाशम्) अय्यउत्त, (इत्यर्धोक्ते **स्वगतम्**) अहवा, संसइदो[96] दाणिं मे समुदाआरो। (आर्यपुत्र, ...। अथवा, संशयितो इदानीं मे समुदाचारः।)

(प्रकाशम्) पोरव, जुत्तं णाम पुरा अस्समपदे सब्भावुत्ताण हिअअं इमं जणं समयपुरवं[97] पदारिअ, इदिसेहिं अक्खरेहिं पच्चाचक्खिदुं। (पौरव, युक्तं नाम पुराश्रमपदे सद्भावोत्तानहृदयम् इमं जनं समयपूर्वम् प्रतार्येदृशैरक्षरैः प्रत्याख्यातुम्।)

राजा : (कर्णौ स्पृष्ट्वा) शान्तं [पापम्][98]।

व्यपदेशम् आविलयितुं किम् ईहसे माम् [च पातयितुमास्त।
कूलङ्कषेव][99] ≠(84) सिन्धुः प्रसन्नमोघं तटरुहं च॥ 5-22॥

शकुन्तला : जदि परमत्थदो परपरिग्गहणसङ्किणा तए एवं वुत्तं। दा अहिण्णाणेण गुरुणा[100] तुह सन्देहं अवनइस्सं। (यदि परमार्थतः परपरिग्रहणशङ्किना त्वयैवमुक्तम्। तदभिज्ञानेन गुरुणा तव सन्देहम् अपनेष्यामि।)

राजा : उदारम्।

शकुन्तला : (मुद्रास्थानम् परामृश्य) हद्धी, अङ्गुलीअसुण्णा मे अङ्गुली। (तापसीं पश्यति) (हा धिक्, अङ्गुलीयशून्या मेऽङ्गुली।)

गौतमी : ण खु दे सक्कावदारे[101] सचिदि(ति) त्थोदअं अवगाहमाणाए पब्भट्ठो अङ्गुलीओ। (न खलु ते शक्रावतारे शचीतीर्थोदकम्

अवगाहमानायाः प्रभ्रष्टोऽङ्गुलीयकः।)

राजा : (सस्मितम्) इदम् तद् यौतुकं प्रत्युपन्नं स्त्रीणाम् इति यदुच्यते।

शकुन्तला : एत्थ दाव विहिणा दंसिदं पहुत्तणं, अवरं दे कधयिस्सं। (अत्र तावत् विधिना दर्शितम् प्रभुत्वम्, अपरं ते कथयिष्यामि।)

राजा : श्रोतव्यमिदानीं संवृत्तम्।

शकुन्तला : ण खु तत्थइक्कदिअसे णवमालिआमण्डवके[102] णलिणीपत्तभाअणगदं उदअं तव हत्थसण्णिहिदं आसी। (न खलु तत्रैकदिवसे नवमालिकामण्डपके नलिनीपत्र भाजनगतमुदकं तव हस्तसन्निहितम् आसीत्।)

राजा : शृणुमस्तावत्।

शकुन्तला : तक्खणं च मम सो किदअपुत्तओ हरिणओ[103] उवत्थिदो। तदो तए अअं दाव पढुमं पिवदु त्ति अणुकम्पिणा उवच्छन्दिदो। ण उण दे अव ≠(85) रिइदस्स हत्थब्भासो उवगदो। पच्छा तस्सिं य्येव उदए मए गिहीदे पणअपकासइव्वं अं(प) हसिदो सि, भणिदं च तए, सव्वो सगन्धे विससिदि, दुवेवि[104] एत्थ आरण्णआ त्ति। (तत्क्षणं च मम स कृतकपुत्रको हरिणक उपस्थितः। ततस्त्वयायं तावत् प्रथमं पिबत्वित्यनुकम्पिनोपच्छन्दितः। न पुनस्तेऽपरिचितस्य हस्ताभ्यास उपगतः। पश्चात् तस्मिन्नेवोदके मया गृहीते प्रणयप्रकाशपूर्वं प्रहसितोऽसि, भणितं च त्वया सर्वस्सगन्धे विश्वसिति। द्वावप्यत्रा- रण्यकाविति।)

राजा : (विहसन्) एभिरात्मकार्यनिर्वत्तिनीनां[105] योषिताम्-अनृत-वाङ्मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः।

गौतमी : महाभाअ, णारहसि इत्तिकं मन्तइदुं। तवोवणसंवड्ढिदो खु अअं जणो अणभिण्णो केदवस्स। (महाभाग, नार्हस्येतावद् मन्त्रयितुम्। तपोवनसंवर्द्धितः खलु अयं जनोऽनभिज्ञः कैतवस्य।)

राजा : तापसवृद्धे,

स्त्रीणाम् अशिक्षितपटुत्वम् अमानुषीषु
सन्दृश्यते किम् उत याः परिबोधवत्यः।
प्राग् अन्तरिक्षगमनात् स्वम् अपत्यजातम्
अन्यद्विजैः परभृतः[106] किल पोषयन्ति ॥5-23॥

शकुन्तला : (सरोषम्) अत्तणो हिअआणुमाणेण सव्वं पेक्खसि। को अण्णो धम्मकञ्चुअपवेसिणो तण[107] च्छन्नकूवोपमस्स तवाणुकारी भविस्सदि।(आत्मनो हृदयानुमानेन सर्वं प्रेक्षसे, कोऽन्यो धर्मकञ्चुकप्रवेशिन-स्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकारी भविष्यति।)

राजा : (स्वगतम्) वनवासाद् अविभ्रमः पुनरत्रभवत्याः कोपो लक्ष्यते। ≠(86) तथा हि—

न तिर्यग् अवलोकि चक्षुरतिलोहितं केवलं
वचोऽपि परुषाक्षरं[108] न च पदेषु संसज्जते।
हिमार्त इव वेपते सकल एष बिम्बाधरः
स्वभावविनते भ्रुवौ युगपद् एव भेदं गते ॥5-24॥

(प्रकाशम्) भद्रे, दुष्यन्तचरितं प्रजासु प्रथितम्[109]। न चापीदं दृश्यते[110]।

शकुन्तला : *[<तुम्हे य्येव पमाणं जाणध[111] धम्मत्थितिं च लोअस्स।*
लज्जाविणिज्जिदाओ जाणन्ति खु किण्ण महिलाओ॥ 5-25॥
(युवामेव प्रमाणं जानीथो धर्मस्थितिं च लोकस्य।
लज्जाविनिर्जिता जानन्ति खलु किं न महिलाः॥ 5-25॥)>][112]

सुट्ठु दाव सच्छन्दआरिणी कदम्हि जा अहं इमस्स पुरुवंसपच्चएण हिअअसत्थधारस्स[113] मुहमहुणो हत्थब्भासं उवगदा। (सुष्ठु तावत् स्वच्छन्दचारिणी कृतास्मि, याहं अस्य पुरुवंशप्रत्ययेन हृदय-शस्त्रधरस्य मुखमधुनो हस्ताभ्याशम् उपगता।) (इति मुखमावृत्य[114] रोदिति।)

भागुरिः : इत्थम् अप्रतिहतं चापलं दहति। अतः खलु,

परीक्ष्य सर्वं कर्तव्यं विशेषात् संविदः क्रियाः।

अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥5-26॥

राजा : अयि भोः, किमत्रभवतीप्रत्ययाद् एवास्मान् अतिबलेन क्षिण्वन्ति भवन्तः।

शाङ्र्गरवः : [115]श्रुतं भवद्भि ≠(87) रधरोत्तरम्।
आ जन्मनः शाठ्यम् अलक्षितो[116] यः, तस्याप्रमाणं[117] वचनं जनस्य।
पराभिसन्धानमधीयते यै र्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः॥5-27॥

राजा : हन्त भोस्सत्यवादिन्, अभ्युपगतं तावदस्माभिः। एवं विधा वयम्। किं पुनरिमाम् अभिसन्धाय लभ्यते।

शारद्वतः : विनिपातः।

राजा : तं नाहं[118] प्रार्थये।

शारद्वतः : भो राजन्, किम् उत्तरोत्तरैः। अनुष्ठितगुरुनिदेशाः स्मः। सम्प्रति निर्गच्छामहे[119] वयम्,
तदेषा भवतः पत्नी त्यज वैनां गृहाण वा।
उपयन्तुर्हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी॥ 5-28॥
गौतमि, गच्छ गच्छाग्रतः। (सर्वे प्रस्थिताः)

शकुन्तला : (सदैन्यम्) हुं इमिणा दाव केतवेण[120] विप्र(प्प) लब्धम्हि[121]। तुम्हे वि मं परिच्चिइदुमिच्छध[122]। ता (का) गदी।(इति गौतमीम् अनुगच्छति।)
(हुं अनेन तावत् कैतवेन विप्रलब्धास्मि। यूयमपि मां परित्यक्तुम् इच्छथ, तत्का गतिः।)

गौतमी : (स्थित्वा) वच्छ साङ्गरव, अणुगच्छदि एसा करुणपरिदेविणी सउन्तला। पच्चादेसकलुसे भत्तारे किं वा पुत्तिआ मे करेदु। (वत्स शाङ्र्गरव, अनुगच्छत्येषा करुणपरिदेविणी शकुन्तला प्रत्यादेशकलुषे भर्तरि किं वा पुत्रिका मे करोतु।)[124]

≠(88) **शाङ्र्गरवः** : (पुरोधसा संज्ञितः प्रतिनिवृत्त्य) आः पुरोभागे, किम् इदम् स्वातन्त्र्यम् अवलम्ब्यते। (शकुन्तला भीता वेपते)

शाङ्र्गरवः : शृणोतु भवती।
यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा त्वम् असि किं पितृशोकदया

त्वया[125]।

अथ तु वेत्सि शुचि व्रतमात्मनः पतिगृहे[126] तव दास्यमपि क्षमम् ॥5-29॥

तिष्ठ, साधयामो वयम्।

राजा : भोस्तपस्विन्, किमत्रभवतीम् विप्रलभसे। पश्य,

कुमुदान्येव शशाङ्कस्सविता बोधयति पङ्कजान्येव।

वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः ॥5-30॥

शाङ्र्गरवः : राजन्, अथ पूर्वपरिग्रहो[127] ऽन्यासङ्गाद् विस्मृतो भवेत्, तदा कथम् अधर्मभीरुः[128]।

राजा : भवन्तम् एवं गुरुलाघवं प्रक्ष्यामि[129]।

मूढः स्याम् अहमेषा वा वदेन् मिथ्येति[130] संशये।

दारत्यागी भवाम्यहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः ॥5-31॥

पुरोधाः[131] : देव, विचारय, यदि तावद् एवम् क्रियते।

राजा : अनुशास्तु मां भवान्।

पुरोधाः : अत्रभवती तावद् आप्रसवाद् आपन्नसत्त्वा मद्गृहे तिष्ठतु। भूतमिदम् उच्यते, त्वं साधुभिरादिष्टः ≠(89) प्रथमं चक्रवर्तिनं जनयिष्यसीति। स चेन्मुनिदौहित्रस्तल्लक्षणोपपन्नो भविष्यति[132] इति ततः प्रतिनन्द्य शुद्धान्तमेनां प्रवेशयिष्यसीति। विपर्यये पितुरस्यास्समीप-गमनमुपस्थितम् एव[133]।

राजा : यथा गुरुभ्यो रोचते।

पुरोधाः : वत्से, अनुगच्छ माम्।

शकुन्तला : (रुदती)

भअवदि वसुहे, देहि मे विअरं।

(भगवति वसुधे, देहि मे विवरम्।)

(इति निष्क्रान्ता सह सकलैः पुरोधसा च)

राजा : (शापव्यवहितस्मृतिः[134] शकुन्तलाम् एव चिन्तयति।)

॥ नेपथ्ये ॥

आश्चर्यम् आश्चर्यम्।

राजा : (कर्णं दत्त्वा) किं नु खलु स्यात्।

(प्रविश्य) **पुरोहितः**-देव, अद्भुतम् खलु संवृत्तम्।

राजा : किमिव।

पुरोधाः : परिवृत्तेषु कण्वशिष्येषु,

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला बाहूत्क्षेपं क्रन्दितुं च प्रवृत्ता।

राजा : किं च,

पुरोधाः : स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमाराद् आक्षिप्यैव ज्योतिरेनाम् तिरोऽभूत्॥ 5-32॥

(सर्वे विस्मिताः)[135]

राजा : भगवन्, प्राग् एव सोऽस्माभिरर्थः प्रत्यादिष्ट एव {प्रत्यादिष्ट एव}। किं वृथा तर्केणान्विष्टेन। विश्रमामि।

पुरोधाः : विजयस्व। (इति निष्क्रान्तः)

≠(90)**राजा** : (सखेदम्[136]) वसुमति, पर्याकुलोऽस्मि। शयनभूमिम् आदेशय।

प्रतीहारी : (सादरम्) इदो इदो देवो। (इत इतो देवः।) (परिक्रामति)

राजा : (आत्मगतम्)

कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं[137] मुनेस्तनयाम्।

बलवत् तु दूयमानं प्रत्यायतीव सा[138] हृदयम् ॥5-33॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ अभिज्ञानशकुन्तलाख्ये नाटके[139] पञ्चमोऽङ्कः॥

सन्दर्भ

1. (भूर्ज.) एवं (ऑ.-2) श्रीगणेशाय नमः।, (ऑ.1) नमो विघ्नहन्त्रे।, एवं (श्री.) ॐ॥
2. (श्री.) काञ्चुकी।
3. अत्र ≠ अनेन चिह्नेन भूर्जपत्रोपरिलिखिताया मातृकायाः पृष्ठाङ्का निर्दिश्यन्ते।
4. (श्री.) यष्टिः।
5. (श्री.) शक्त।
6. (श्री.) देवायसुयमनुष्ठेयम्।
7. (ऑ.-2) एवं (श्री.) आवेदयिष्यामि।

8. (ऑ.1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) तपस्विनो।
9. (ऑ.1) लङ्घते।
10. (ऑ.-2) एवं (श्री.) मौद्गल्यायन।
11. (ऑ.1) तावद्।
12. (ऑ.1) एवं (श्री.) वरुध्यते।
13. (श्री.) नन्वीदृशमेव।
14. (ऑ.1) दाहं।
15. (श्री.) शालासन्नं।, (ऑ.-2) सङ्गीतशालासत्रं शिलामण्डपं।
16. (भूर्ज.) योग।
17. (ऑ.1) भो वअस्स, सङ्गीदसालान्तेण अवधाणं।, (श्री.) भो वअस्स, शङ्गीतशालान्तेण अवधारणं।
18. (ऑ.1) तालगदीविसुद्धाए।, (बु.) तालगदिए विसुद्धाए।
19. (श्री.) सरसंजोगा।, (ऑ.-2) स्वरसप्रयोगः।
20. (ऑ.1) हंसवत्तिआ।, (ऑ.-2) हंसावदिआ।
21. (श्री.) आकलयामि।
22. (ऑ.1) ध्यानावसक्तिचित्तो।, (ऑ.-2) ध्यानसक्तचित्तो।,(श्री.) ध्यानासक्तचित्तो।
23. (ऑ.1) एवं (ऑ.-2) ततो नेपथ्ये गीयते।
24. (ऑ.1) मुहलोहभाविणं।, (श्री.) महुलोहलीअअं।, (ऑ.-2) महुलेहभाविअं।, (बु.) महुलोहभावि(ओ)।
25. (श्री.) तहा।, (ऑ।-2) तह। (सं. अत्र मातृकायां तथेति छाया प्रदत्ता।)
26. (श्री.) चूतमञ्जरिं।
27. (ऑ.1) वेस्सरदो सि णं कधं।, (ऑ.-2) विसरिदो सि णं कधं।, (श्री.) विस्सविदोसि णं कध। (बु.) विसरिओ णं कहं।
28. (श्री.) अहो परिवादिनी गीतिका।
29. (ऑ.1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) सकृत्कृत।
30. (ऑ.1), (ऑ.-2) इतः पूर्व "देवीम्" इत्यधिकम्।
31. (श्री.) हंसवितिका।, (ऑ.-2) हंसावदिका।, (बु.) हंसपदिका।
32. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) नागरिक।
33. (ऑ.-2) एवं (श्री.) आत्मगतम्।
34. (श्री.) इष्टविरहाद्।
35. (ऑ.1) वेक्ष्य।
36. (श्री.) पर्युत्सको।
37. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) अबोध।, (बु.) [अबोध]।
38. (ऑ.-1) भावस्थितानि जननान्तरसौहृदाणि।, (ऑ.-2) भावस्थितानि सौहृदानि।,

(श्री.) सौहृदानि।

39. (ऑ.1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) त्यकारण्यवासिनः।
40. (श्री.) इतः पूर्वम् "सविस्मयम्" इति रंगसूचना।
41. (ऑ.1) एवं (श्री.) परिक्रामन्ति।
42. (श्री.) दुःखहेतुरेव।
43. (श्री.) रंगसूचनेयं नास्ति।
44. (ऑ.1) एवं (श्री.) वैतालिकौ।
45. (ऑ.1) एवं (श्री.) वृत्ति।
46. (श्री.) संस्थितान्।
47. (श्री.) पुनर्नवीकृता स्मः।
48. (ऑ.1) प्रेशिताः।, (ऑ.-2) प्रेषिताः।, (श्री.) प्रथिताः।
49. (श्री.) विघ्नैस्तपो दुषणै।
50. (ऑ.1) स्विदिति नास्ति।
51. (ऑ.-2) एवं (बु.) इत्यारूढ।
52. (श्री.) भवपरिसङ्गाणिवदे।
53. (ऑ.-2) सुचरिदाहिणन्दिणो इसओ।, (श्री.) इसवो।, (बु.) इसिओ।
54. (श्री.) गृहपति।
55. (श्री.) अवैहि।
56. (ऑ.1) एवं (श्री.) वेवदि।, (ऑ.-2) वेपदि।
57. (श्री.) परिहतम्।
58. (ऑ.-2) सुहाणि दे भत्तुणो कुलदेवदाओ विदरदु।
59. (श्री.) निदर्शन्।
60. (ऑ.1) न काममेतद्।
61. (ऑ.1) एवं (श्री.) मध्यस्थाः।
62. (ऑ.1) एवं (श्री.) इसवो।, (बु.) इसिओ।
63. (भूर्ज.) शरीर इति नास्ति।
64. (श्री.) कोदुहलगदा।
65. (ऑ.1) आकिदी दीसइ।, (ऑ.-2) आकिदी दीसइ।, (श्री.) आकिदे दीसइ।
66. (ऑ.1) एवं (श्री.) विवसि।
67. (ऑ.1) धीरो।
68. (श्री.) साधरम्।
69. (श्री.) वाक्यमिदं नास्ति।
70. (श्री.) वाक्यमिदं नास्ति।
71. (श्री.) उपसृत्य। स्वस्ति भवते राजन्॥

72. (ऑ.1) एवं (श्री.) समयादिमाम्।, (बु.) समवयाम्।
73. (ऑ.1) युवतयो।
74. (ऑ.1) मूर्तिवतीव।
75. (श्री.) आपन्नसत्त्वां।
76. (ऑ.1) धर्मचरणायेति।
77. (श्री.) वअणावअरो।
78. (ऑ.1,2) एवं (श्री.) इतः परं "शकुन्तला-अपवार्य सोत्कण्ठम्। किं णु खु अय्यउत्तो भणिस्सदि" इत्यधिकम्।
79. (भूर्ज.) शकुन्तला इति लिखितं, तच्च लिपिकारस्य प्रमादः।
80. (ऑ.1) पत्तो सेयअणो वक्खेव।,(ऑ.-2) हं पत्तस्य वअणो क्खेओ।, (श्री.) वअणोपक्खेवो।
81. (ऑ.-2) एवं (श्री.) पदद्वयमिदं नास्ति।
82. (ऑ.-1) संविदिदा।, (ऑ.-2) संविदा दे।, (बु.) संवड्ढिदा।
83. (ऑ.-2) धर्मस्य।
84. (ऑ.1) गच्छन्त्यमी।
85. (ऑ.-2) वाक्यमिदं नास्ति।
86. (श्री.) यवथोक्तम्।
87. (ऑ.1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) प्रथममपि।
88. (भूर्ज.) तपस्विनः, चिन्तयन्नपि—इति न पठ्यते, भूर्जपत्रस्य खण्डितत्वात्।, (ऑ. -2) चिन्तयन्नपि स्वीकरणम् अत्रभवत्या न खलु स्मरामि।
89. (श्री.) पदमिदं नास्ति।
90. (ऑ.1) एवं (ऑ.-2) लक्षणमनाशंसमानमात्मानं क्षेत्रिणं प्रतिपत्स्ये।
91. (श्री.) अनुमन्यमानः।
92. (ऑ.1) एवं (ऑ.-2) इतः पूर्वम् "शकुन्तला प्रति" इत्यधिकम्।
93. (ऑ.1) एवं (श्री.) मुहुत्तराए किं वा सुम्मारिदेण।
94. (बु.) अधवा।
95. (ऑ.-2) सुधणीअ। (अत्र शोचनीयेति छाया प्रदत्ता, किन्तु सा न समीचीना)
96. (ऑ.1) अथवा मम इदं।, (ऑ.-2) अधवा संसयिदो।, (बु.) अधवा।
97. (ऑ.1) समअपूरअं।, (ऑ.-2) समअपूरुअं।, (श्री.) समअपरुव्वं।
98. (भूर्ज.) पङ्क्तिद्वयं खण्डितम्। अतः शब्दोऽयं न पठ्यते।, (ऑ.1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) पदमिदं नास्ति।
99. (भूर्ज.) अस्मिन् प्रकोष्ठे दर्शितः पाठो भूर्जपत्रस्य खण्डितत्वात् न पठ्यते।, किन्तु ऑ.-2 इत्यत्रोपलभ्यते।
100. (ऑ.1) एवं (श्री.) अहिण्णाणदंसणेण इमिणा।, (ऑ.-2) अहिण्णाणदंसणेन एमिणा।

101. (श्री.) सक्कावदारी।
102. (श्री.) णवमालिआमण्डवके।, (श्री.) णवमालिआमण्डके।
103. (ऑ.-2) पदमिदं नास्ति।
104. (श्री.) विससइ, दुवैवि।
105. (ऑ.1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) आत्मकार्यविहारिणीणां।
106. (श्री.) परभृता।
107. (ऑ.1) तुण।, (श्री.) तिण।
108. (श्री.) पुरषाक्षरं।
109. (ऑ.1) पदमिदं वाक्यारम्भे वर्तते।, (ऑ.-2) भद्रे, प्रथितं दुष्य्यन्तचरितं प्रजासु।
110. (भूर्ज.) तवापीदं दृश्यते।, (ऑ.-2) न चापीदं लक्ष्यते।
111. (ऑ.-1) जाणीत्थ।
112. अस्मिन् [< ... >] प्रकोष्ठे संपुटीकृतः पाठः प्रक्षिप्तः प्रतिभाति। स च "तवापीदं दृश्यते" इति पाठान्तरपूर्वकं कदाचिदवतारितः स्यादिति प्रतीयते।
113. (भूर्ज.) "हिअअसत्थ" इत्येवास्ति।
114. (ऑ.-2) एवं (श्री.) पटान्तेन मुखमावृत्य।
115. (ऑ.-2) एवं (श्री.) इतः पूर्वम् "सासूयम्" इति रंगसूचना।
116. (ऑ.-2) अशिक्षितो।, (श्री.) अशिक्षितं।, (बु.) अशिक्षितो।
117. (ऑ.-1) तस्याः प्रमाणं।
118. (ऑ.-1) तेनाहं प्रार्थये।
119. (ऑ.-1) प्रतिवर्तामहे।, (ऑ.-2) निवर्तामहे।
120. (ऑ.-1) किदवेण।, (श्री.) दा दाव किदवेण।
121. (श्री.) विप्रलब्धास्मि।, (भूर्ज.) विप्रलब्धं।
122. (श्री.) इच्छदि।, (ऑ.-2) परिच्चिइदुं इच्छद इति।, अत्र "का गतिः" इति वाक्यं नास्ति।
123. (ऑ.-1) विभत्तुरो।, (ऑ.-2) पच्चादेसकुसले भत्तारे।, (बु.) भट्टरि।
124. (श्री.) इतः परं "इति गौतमीम् अनुगच्छति" इत्यधिकं वर्तते।
125. (ऑ.-1) शोकदयान्विता।
126. (ऑ.-1) परिगृही।
127. (ऑ.-1) पूर्वप्रतिग्रहो।
128. (ऑ.-1) एवं (श्री.) अधर्मभीरो।
129. (ऑ.-2) एवं (श्री.) प्रवक्ष्यामि।
130. (श्री.) मिथ्येपि।
131. (श्री.) पुरोहितः।
132. (ऑ.-1) अवस्थितम्।, (श्री.) "स चेन् ... भविष्यति''। वाक्यमिदं नास्ति।

133. (श्री.) अवस्थितम्।
134. (श्री.) पदमिदं नास्ति।
135. (श्री.) इतः परं "राजा—किम्। पुरोहितः- स्त्रीसंस्थानम्" इति वाक्यद्वयम् अधिकम्।
136. (भूर्ज.)सस्मितम्।
137. (श्री.) प्रतिग्रहं।
138. (ऑ.-2) मे।, (श्री.) मे।
139. (श्री.) इति शकुन्तलां।, (ऑ.-2) पञ्चमोऽङ्कस्समाप्तः॥

॥ षष्ठोऽङ्कः॥

[1](**ततः प्रविशति नागरिकस्यालः,**
पश्चाद् बद्धं पुरुषमादाय रक्षिणौ च)

रक्षिणौ : (पुरुषं ताडयित्वा) अले कुम्भिलआ[2], कहेहि[3] कहिं तए एशे महामणिपत्थलुक्किण्ण णामक्खले[4] लाअकीअङ्गुलीअए समासादिदे[5]। (अरे कुम्भिलक, कथय कुत्र त्वयैषा महामणिप्रस्तरोत्कीर्ण-नामाक्षरो राजकीयाङ्गुलीय-कस्समासादितः।)

पुरुषः : (भयं नाटयित्वा)[6] पसीदन्तु पसीदन्तु भादुअमिच्चा[7]। हगे खु [न] ईदिसस्स कम्मणो कले। (प्रसीदतु, प्रसीदतु भ्रातृकमिश्राः। अहम् खलु [न] ईदृशस्य कर्मणो कुर्वे।

प्रथमः : किं णु खु शोहणो बम्हणे त्ति कलिअ लञ्ञा पदिग्गहे दिण्णे[9]। (किं नु खलु शोभनो ब्राह्मण इति कृत्वा राज्ञा प्रतिग्रहो दत्तः।)

पुरुषः : आण वा दाणिं हगे सक्कावदालवासिके धीवले[10]।
(आनव इदानीम् अहम् शक्रावतारवासिको धीवरः।)

द्वितीयः : पाडच्चल, किं खु दे अम्हेहिं जादी पुच्छि ≠(91)[11] दा।
(पाटच्चर, किं खलु तेऽस्माभिर्जातिः पृष्टा।)

स्यालः : सूचअ, कधेदु सव्वं अणुक्कमेण। मा णं अन्तरा पडिबन्धिट्ठ[12]। (सूचक, कथय सर्वम् अनुक्रमेण। (मा) एनम् अन्तरा प्रतिबन्धिष्ठ।)

रक्षिणौ : जं आउत्ते आणवेदि। (पुरुषं प्रति)[13] भण भण[14]।

पुरुषः : से हगे[15] जालपडि(बडि)सादेहिं[16] मश्चबन्धणोवाएहिं कुटु(डु)म्बभलणं करे(ले) मि। (सोऽहं जालपडि (बडि) सादिभि-र्मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि।)

स्यालः : (प्रहस्य) विशुद्धो दाणिं दे आजीओ। (विशुद्ध इदानीं त आजीवः।)

पुरुषः : भट्टा,
सहजं किल जं पि णिन्दिदं[17] ण हि तं कम्म विवज्जणीअए।
पशुमालककम्म दालुणे अणुकम्पामिदु एव सोत्तिए[18]॥ 6-1॥
(सहजं किल यदपि निन्दितं न हि तत्कर्म विवर्जनीय[क]म्।
पशुमारककर्म्मदारुणो ऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः॥ 6-1॥)

स्यालः : तदो तदो। (ततस्ततः)

पुरुष[19] : अधेक्कदिअशे[20] खण्डशो लोहिदमच्छे[21] मए कप्पिदे। जाव तस्स उदलब्भन्तला एदं रअण-भासुलं[22] अङ्गुलीअं[23] पेक्खामि॥ पश्चा इध णं विक्कआअ दंशअन्ते गहिदे भावमिश्शेहिं[24]। इत्तिके दाव एदश्श आगमे[25]। अधुणा मालेध कुट्टेध वा[26]। (अथैकदिवसे खण्डशो रोहितमत्स्यो मया कल्पितः यावत् तस्योदराभ्यन्तर एतद् रत्नभासुरम् अङ्गुलीयकं प्रेक्षे। पश्चाद् इहैतद् विक्रयाय दर्शयन् गृहीतो भावमिश्रैः। एतावान् तावद् एतस्यागमः, अधुना मारयत कर्तयत वा।)

स्यालः : (अङ्गुलीयकम् आघ्राय[27]) जाणअ, मच्छोदरसण्ठिदं ति णत्थि संदेहो[28]। [29]तधा अअं से विसगन्धो, आगमो दाणिं एदस्स विमरिसिदव्वो[30]। ता एध राअउलं[31] येव गच्छम्ह। (जानक, मत्स्योदर-संस्थितम् इति नास्ति सन्देहः। तथायम् अस्य विस्रगन्धः, आगम इदानीमेतस्य विमर्ष्टव्यः। तद् एतम् राजकुलम् एव गच्छामः।)

≠(92)**रक्षिणौ**: गच्छ (श्च) णाध गण्ठिभेदअ[32]। (सर्वे परिक्रामन्ति) (गच्छ नाथ ग्रन्थिभेदक।)

स्यालः : सूचअ, इद मं गोउलदुव्वारे[33] अप्पमत्ता पडिवालेद, जाव इमं

जहागमं[34] अङ्गुलीअअं भट्टिणो उवणिअ तदीअसासणं पडिच्छअ णिक्कमामि। (सूचक, इह मां गोपुरद्वारेऽप्रमत्तौ प्रतिपालयतं यावद् इदं यथागमं अङ्गुलीयकं भर्तुरुपनीय तदीयशासनं प्रतीष्य निष्क्रमामि।)

उभौ : पविसदु आउत्ते सामिपसादाअ। (स्यालो निष्क्रान्तः) (प्रविशत्वाबुत्तस्वामिप्रसादाय)

प्रथमः : जाणआ, चिलाअदि आउत्ते। (जानक, चिरायत्याबुत्तः।)

द्वितीयः : णं अवशलोवशप्पअणिआ लाआणो[35]। (ननु अवसरोपसर्पणीया राजानः।)

प्रथमः : वअश्शा, फुलन्ति[36] मम हत्था इमश्श वशणे(णं)[37] पिणद्धुं। (वयस्य, स्फुरतो मम हस्तावस्य व्यसनं पिनद्धुम्।

(पुरुषं निर्दिशति)

पुरुषः[38] : णालहदि भादुभादुके[39] अकालमालके भविदुम्। (नार्हति भ्रातृभ्रातृकोऽकालमारको भवितुम्।)

द्वितीयः : (विलोक्य) आगच्छदु[40] अम्हाणं ईशले, पदिगिण्हिअ लाअशाशणं। (पुरुषं प्रति)[41] शउलाणं[42] मुहं पेक्खशि, अध वा गिद्धशिआलाणं[43] बली भविश्शशि[44]। (आगच्छतु अस्माकमीश्वरः, प्रतिगृह्य राजशासनम्। शकुलानां मुखं प्रेक्षसेऽथवा गृध्रशृगालानां बलिर्भविष्यसि।)

(प्रविश्य)

स्यालः : सिग्घं सिग्घं एदम्। (इत्यर्धोक्ते) (शीघ्रं शीघ्रम् एतम्।)[45]

पुरुष : हा हदे म्हि। (हा हतोऽस्मि।) (इति विषादं नाटयति)[46]

स्यालः : मुञ्चेध रे मुञ्चेध जालोवजीविणं[47]। उववण्णो से किल अङ्गुलीअअस्स आगमो[48]। अम्हसामिणा येव मे कधिदम्।[49] (मुञ्चतं रे मुञ्चतं जालोपजीविनम्। उपपन्नोऽस्य किल अङ्गुलीयकस्यागमः। अस्मत्स्वामिनैव मे कथितम्।)

रक्षिणौ : जं आणवेदि आउत्ते[50]। (यद् आज्ञापयत्यावुत्तः।)

प्रथमः : जमवशदिं गमिअ गुड ≠(93) खण्डं च [द]इअ[51] पडिणिअत्ते[52]।

(पुरुषं मुञ्चति)

(यमवसतिं गत्वा गुडखण्डं च दत्त्वा प्रतिनिवृत्तः।)

पुरुषः : (पुरुषः स्यालं प्रणम्य) भट्टा, तव केलके मे जीविदे[53]। (भर्तः, त्वदीयो मे जीवितः।)

स्यालः : उत्थेहि। एस भट्टिणा अङ्गुलीअअ-मुल्लसम्मिदो पारितोसको वि दे दाविदो[54]। (उत्तिष्ठ। एष भर्त्राङ्गुलीयकमूल्यसम्मितः पारितोषिकोऽपि ते दापितः।[55])

पुरुषः[56] : (सहर्षम् प्रगृह्य) अणुगिहिदो[57] म्हि। (अनुगृहीतोऽस्मि।)

प्रथमः : तं णाम अणुगिहिदे जं शूलेहिं (शूलादो) अवदालिअ[58] हत्थिकन्धे पडिच्छिदे[59]। (तथा नामानुगृहीतो यच्छूलाद् अवतार्य हस्तिस्कन्धे प्रतिष्ठापितः।)

द्वितीयः : आउत्त, पालिदोस कहेदि महालह-लअणेण[60] तेण अङ्गुलीअएण भट्टिणो पढमबहुमदेण[61] होदव्वम्[62]। (आवुत्त, पारितोषिकः कथयति महार्घरत्नेन तेनाङ्गुलीयकेन भर्तुः प्रथमबहुमतेन भवितव्यम्।)

स्यालः : ण अ तस्सिं महालह-लअणं त्ति बहुमाणं भट्टिणो तक्केमि[63]। (न च तस्मिन् महार्घरत्नम् इति बहुमानं भर्तुः तर्कयामि।)

उभौ : किं खु।[64] (किं खलु)

स्यालः : तक्केमि तस्स दंसणेण कोवि अहिलइदो[65] जणो भट्टिणा सुमरिदो[66] त्ति, जदो तं [पेक्खिअ][67] मुहूत्तं[68] पकिदिगम्भीरो [वि] पय्युस्सुअमनो[69] संवुत्तो। (तर्कयामि तस्य दर्शनेन कोऽप्यभिलषितो जनो भर्त्रा स्मृत इति। यतस्तद् प्रेक्ष्य मुहूर्तं प्रकृतिगम्भीरोऽपि पर्युत्सुकमनास्संवृत्तः।)

द्वितीयः : साधु मन्तिदं णाम आउत्तेण। (साधु मन्त्रितं नामावुत्तेन।)

प्रथमः : णं भणामि इमश्श कदे मच्छालिआ (मशेअलिआ)[70] शत्तुणोदि (त्ति)। (पुरुषं सासूयं[71] पश्यति) (ननु भणाम्यस्य कृते मत्स्यलिका-शत्रोरिति।)

पुरुषः : भट्टा, इदो अद्धं तुम्हाणं {तुम्हाणं} शुमणोमुल्लं हो(भो) दु।

(भर्तः, इतोऽर्धम् युष्माकं सुमनोमूल्यं भवतु।)

उभौ : इत्तिके[72] ≠(94) जुज्जदि।[73] (एतावत् युज्यते।)

स्यालः : धीवल[74], महत्तलए[75] हि सम्पदं पिअवअस्सकोसि मे संवुत्तो। कादम्बिलिसक्खिअं[76] च अम्हाणं पढमसोहिदं इच्छिअदि। ता एहि सुण्डिअसालं[77] गच्छम्ह। (इति निष्क्रान्ताः) (धीवर, महत्तरको हि साम्प्रतं प्रियवयस्यकोऽसि मे संवृत्तः। कादम्बरीसाक्षिकं च अस्माकं प्रथमसौहृदम् इष्यते। तद् एहि शुण्डिकशालां गच्छामः।) (इति निष्क्रान्ताः)

॥ प्रवेशकः ॥

॥ ततः प्रविशत्याकाशयानेना[78]-क्षमाला ॥

अक्षमाला : णिव्वत्तिदं मए पय्याअ[79] णिव्वटत्तणीअं अच्छरा-तित्थ-सण्णीज्झं। ता जाव इमस्स राएसिणो उदन्तं पच्चक्खीकरेमि। मेणआ[80] -सम्बन्धेण सरीरभूदा मे सउन्तला। ताए अ एतण्णिमित्तं य्येव संदिट्ठपूरवम्हि। (परिक्रम्य पुरस्समन्ताद्[81] अवलोक्य च) किं णु खु ऊसंविणि (उसवंदिणे) वि णिरूसवारम्भं[82] विअ राअउलं दीसदि। अह वा[83], अत्थि मे विभवो पणिधानेन[84] सव्वं जाणिदुं। किं तु सहिए आदरो मे आणिदव्वो[85]। भोदु[86], इमाणां दाव उज्जाणवलिणं[87] तिरक्करिणीपच्छण्णा पासपरिवत्तिणी भविअ उवालभिस्से। (तथा करोति) (निर्वर्तितं मया पर्यायनिर्वतनीयम् अप्सरस्तीर्थसान्निध्यम्। तद् यावद् अस्य राजर्षेरुदन्तं प्रत्यक्षीकरोमि। मेनकासम्बन्धेन शरीरभूता मे शकुन्तला। तया चैतन्निमित्तम् एव सन्दिष्टपूर्वास्मि। किं नु खलूत्सवंदिनेऽपि निरुत्सवारम्भमिव राजकुलं दृश्यते। अथ वास्ति मे विभवः प्रणिधानेन सर्व ज्ञातुम्। किन्तु सख्यादरो म आनीतव्यः। भवतु, एतासां तावदुद्यानपालिनीनां तिरस्करिणी-प्रच्छन्ना पार्श्वपरिवर्तिनी भूत्वोपालभिष्ये।) ≠(95) (ततः प्रविशति चूताङ्कुरम् अवलोकयन्ती चेटी तस्याश्च पृष्टतोऽपरा)

प्रथमा : आताम्रहरिदवेण्टअ जो ऊस्ससिदं सि सुरहिमासस्स[88]।
दिट्ठो अ चूअच्छारअ खणमङ्गलं पेक्खामि[89]॥ 6-2॥
(आताम्रहरितवृन्त [क] य उच्छ्वसितोऽसि सुरभिमासस्य।
दृष्टश्च चूतक्षार [क] क्षणमङ्गल [क] म् [इव] प्रेक्षे॥6-2॥)

द्वितीया : (उपसृत्य) हला परहुदिए, किं णेदं एआइणी मन्तेसि।[90]
(हले परभृतिके, किम् इदानीम् एकाकिनी मन्त्रयसि।)

प्रथमा : सहि चूदलदिअं पेक्खिअ उम्मत्ता परहुदिआ भोदि।[91]
(सखि, चूतलतिकां प्रेक्ष्योन्मत्ता परभृतिका भवति।)

द्वितीया : (सहर्षम्) कधं उवत्थिदं(दो) महुमासो। (कथम् उपस्थितो मधुमासः।)

प्रथमा : महुअरिए, तवेदाणिं कालो[92] एसो मदविब्भमुग्गीदाणं।[93]
(मधुकरिके, तवेदानीं काल एष मदविभ्रमोद्गीतानाम्।)

द्वितीया : सहि, अवलम्बस्स जाव अग्गपादपडिट्ठाविदा[94] भविअ कामदेवस्स[95] अच्चणं करेमि। (सखि, अवलम्बस्व यावद् अग्रपादप्रतिष्ठापिता भूत्वा कामदेवस्यार्चनं करोमि।)

प्रथमा : जदि ममा वि अद्धं अच्चणअफलस्स।[96] (यदि ममाप्यर्धम् अर्चन(क) फलस्य।)

द्वितीया : हला, अभणीदे पि एदं भोदि[97]। जदो एक्कम् येव णो दुधात्थिदं[98] सरीरम्। (हले अभणितेऽप्येतद् भवति, यत एकम् एव नो द्विधा स्थितं शरीरम्।)

(सख्यावलम्बितं कृत्वा चूतभङ्गं नाटयति[99])

अम्महे[100], अप्पडिबुद्धो पि चूदपसवो एस(सो) बन्धणभङ्गसुरहि वादि[101]। (कपोतकं कृत्वा) णमो भअवदे मअरद्धजाअ[102]। (अहो, अप्रतिबुद्धोऽपि चूतप्रसव एष बन्धनभङ्ग-सुरभिर्वाति। नमो भगवते मकरध्वजाय।)

अरिहसि मे चूअङ्कुर दि≠(96) ण्णो कामस्स गहिअधनुअस्स।[103]
सण्ठविअ-जुलइ-लक्खो[104] पच्छपच्छाखदिदो[105] सरो होदुं[106] ॥6-3॥ (अर्हसि मे चूताङ्कुर दत्तः कामस्य गृहीतधनो-।

स्संस्थापितयुवतिलक्षः पश्चात् प्रतिस्खलितस्सरो भवितुम्॥ 6-3॥)

(चूताङ्कुरं क्षिपति)

कञ्चुकी : (प्रविश्य रुषितः[107] कञ्चुकी) मा तावद् अनात्मज्ञे, देवेनाप्रमुखत[108] एव प्रतिषिद्धे वसन्तोत्सवे[109] त्वमत्र मञ्जरीभङ्गम् आरभसे।

उभे : (भीते[110]) पसीददु अय्यो। अगहीदत्था[111] खु अम्हे। (प्रसीदत्वार्यः। अगृहीतार्थे खलु आवाम्।)

[< **कञ्चुकी** : *हुं, न खलु श्रुतं युवाभ्यां यथा वासन्तैस्तरुभिरपि देवस्य शासनं प्रमाणीकृतं तदाश्रयिभि[112] श्च। तथा हि,*

चूतानां[113] चिरनिर्गतापि कलिका बध्नाति न स्वं रजः
संनद्धं यदपि स्थितं कुरबकं तत् कोरकावस्थया[114]।
कण्ठेषु स्खलितं गतेऽपि शिशिरे[115] पुंस्कोकिलानां रुतं
शङ्के संहरति स्मरोऽपि चकितस्तूणार्धकृष्टं शरम्॥6-4॥

अक्षमाला : *ण[116] एत्थ सन्देहो। महप्पभावो राएसी। (नात्र सन्देहः। महाप्रभावो राजर्षिः।)*

प्रथमा : *अय्य,[117] कदि दिअसा[118] अम्हाणं मित्तावसुणा रत्थिएण[119] भट्टिणो पादमुलादो पेसिदाणं।* ***1*** *(97)इध आकीलगिहे[120] पडिकम्मं अप्पिदं। अदो ण कदा वि सुदपुरवो एसो अम्हेहिं वुत्तन्तो[121]। (आर्य, कति दिवसा अस्माकं मित्रावसुना राष्ट्रियेण भर्तुः पादमूलात् प्रेषितानाम्। इहाक्रीडागृहे प्रतिकर्मार्पितम्। अतो न कदापि श्रुतपूर्व एष अस्माभिर्वृत्तान्तः।) >]*

कञ्चुकी : भवतु, पुनर्न एवम् वर्तितव्यम्।

उभे : अय्य, कोदूहल्लं[122] जं इमिणा जणेण सोदव्वं ता कदे(धे) दु[123], अय्यो किं णिमित्तं भट्टिणा वसन्तकोमुदी पडिसिद्ध त्ति। (आर्य, कौतुहल्यं यद् अनेन जनेन श्रोतव्यं तत् कथयत्वार्यः, किं निमित्तं भर्त्रा वसन्तकौमुदी प्रतिषिद्धेति।)

अक्षमाला : ऊसवे पि (ऊसवपिआ) राआणो[124]। इ(ए) त्थ गुरुणा कारणेण

होदव्वं[125]। (उत्सवप्रिया राजानः। अत्र गुरुणा कारणेन भवितव्यम्।)

कञ्चुकी : बहुलीभूतम् एतत्। तत् किं न कथ्यते। अस्ति भवत्योः कर्णपथम् आयातं शकुन्तलाप्रत्यादेश-कौलीनम्।

उभे : अय्य, सुदं रट्ठिअमुहादो जधा(जाव)[126] अङ्गुलीअअदंसणं। (आर्य, श्रुतं राष्ट्रियमुखाद् यथा(यावद्)अङ्गुलीयकदर्शनम्।)

कञ्चुकी : तेन हि स्वल्पं कथयितव्यम्। यदा खलु स्वाङ्गुलीयकदर्शनाद् अनुस्मृतं देवेन सत्यम् ऊढपूर्वा मया रहसि तत्रभवती शकुन्तला। मोहात् प्रत्यादिष्टेति, तदाप्रभृत्येव पश्चात्तापपरिगतो[127] देवः। कुतः-

रम्यं द्वेष्टि यथासुखं प्रकृतिभि ≠(98) र्न[128] प्रत्यहं सेव्यते
शय्योपान्तविवर्तनैर्विगमयत्युन्निद्र एव क्षपाः।
दाक्षिण्येन ददाति वाचम् उचिताम् अन्तःपुरेभ्यो यदा
गोत्रेषु स्खलितं तदा भवति च व्रीडा[129]-विलक्ष्यश्चिरम्॥6-5॥

अक्षमाला : पिअं मे। (प्रियं मे।)

कञ्चुकी : प्रभवतो वैमनस्याद् उत्सवप्रतिषेध इति।

प्रथमा : जुज्जदि। (युज्यते)

(नेपथ्ये)

एदु एदु भवं। (एतु एतु भवान्।)

कञ्चुकी : (कर्णं दत्त्वा) अयं इत एवाभिवर्तते देवः। तत्स्वकर्मानुष्ठीयताम्। (इति निष्क्रान्ते चेटिके)

(ततः प्रविशतः पश्चात्तापसदृशवेषो राजा विदूषकः प्रतीहारी च)[130]

कञ्चुकी : (राजानम् अवलोक्य) अहो सर्वास्ववस्थासु रमणीयत्वम् एवाकृतिविशेषाणाम्[131]। समुत्सुकोऽपि शकुन्तलां प्रति[132] प्रियदर्शनो देवः। य एषः-

प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठे श्लथं
बिभ्रत् काञ्चनम् एकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः।

चिन्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणाद् आत्मनः
संस्कारोल्लिखितो महामणिरिव क्षीणोऽपि नालक्ष्यते ॥6-6॥

अक्षमाला : [133]थाणे खु[134] पच्चादेसविमाणिदा वि स ≠(99) उन्तला जं इमस्स किदे किल तम्मदि[135]। (स्थाने खलु प्रत्यादेश-विमानितापि शकुन्तला यदस्य कृते किल ताम्यति ।)[136]

प्रतीहारी : एदु एदु महाराओ। (एतु एतु महाराजः ।)

राजा : (ध्यानमन्दं परिक्रम्य)[137]

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया[138] प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम् ।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं सम्प्रति विबुद्धम्[139] ॥6-7॥

अक्षमाला : ईदिसाइं से तवस्सिणीए भागधेआइं[140]। (ईदृशान्यस्यास्तपस्विन्या भागधेयानि ।)

विदूषक : (अपवार्य) लङ्घिदो एसो भूओ सउन्तलावादेण। ण आणे कधम् किच्छिदव्वो हु(भ)विस्सदि[141]। (लङ्घित एष भूयः शकुन्तलावातेन। न जाने कथं चिकित्सितव्यो भविष्यति ।)

कञ्चुकी : (उपगम्य[142]) जयतु जयतु देवो महाराजः। मया तावद् राज्ञः[143] प्रत्यवेक्षिताः प्रमदवनभूमयः[144] यथाकामम् अध्यास्ताम् विनोदस्थानानि देवः।

राजा : (प्रतीहारीम् प्रति) वसुमति[145], मद्वचनाद् अमात्यपिशुनं ब्रुहि। चिरप्रबोधान्न सम्भावितम्[146] अस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्। यत् प्रत्यवेक्षितमार्येण पौरकार्यं तत् पत्रकमारोप्य दीयतामिति।

प्रतीहारी : जं देवो आणवेदि। (यद् देव आज्ञापयति ।) (इति निष्क्रान्ता)

राजा : पार्वतायन, त्वमपि स्वनि[147] योगम् अशून्यं कुरु।

कञ्चुकी : तथा। (इति निष्क्रान्तः)

विदूषकः : किदम् भवदा णि ≠(100) म्मक्खिअं[148]। सम्पदं सिसिरविच्छेदे रमणीए इमस्सिं[149] पमदवणे सुहं विहरिस्सामो[150]। (कृतं भवता निर्मक्षिकम्। साम्प्रतं शिशिरविच्छेदे रमणीयेऽस्मिन् प्रमदवने[151] सुखं विहरिष्यामः ।)

राजा : वयस्य, यदुच्यते रन्ध्रोपरिपातिनो[152] ऽनर्था इति, तद्

अव्यभिचारि। पश्य,

उपहितस्मृतिरङ्गुलीमुद्रया प्रियतमाम् अनिमित्तनिराकृताम्।
अनुशयाद् अनुरोदिमि चोत्सुकस्सुरभिमाससुखं च परि(पुरः) स्थितम्[153]] ॥6-8॥

विदूषकः : दिट्ठ जाव। इमं दण्डअं चूदमम्मधए पाडए[154]। (तिष्ठ यावत्। इमं दण्डकं चूतमन्मथके पातये।)

राजा : (सस्मितम्) भवतु, दृष्टं ब्रह्मवर्चसम्। सखे, अत्रोपविष्टः प्रियायाः किंचिद् अनु {प} कारिणीषु[155] लतासु दृष्टिं विलोभयामि।

विदूषकः : णं खु भअदा मेधाविणी लिविकरी[156] सन्दिट्ठा। माहवीमण्डवे[157] इमं खणं पडिवालइस्सं। तहिं मे चित्तफलए सुहत्थलिहिदं तत्थभोदीए सउन्तलाए पडिकिदिं आणेहि त्ति[158]। (ननु खलु भवता मेधाविनी लिपिकरी सन्दिष्टा, माधवीमण्डप इमं क्षणं प्रतिपालयिष्यामि। तत्र मे चित्रफलके स्वहस्तलिखितं तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः प्रतिकृतिम् आनयेति।)

राजा : ईदृशं मे हृदयसंस्थानम्। तत् तम् एवादेशय माधवीमण्डपम्।

विदूषकः : एदु भवं।[159] (परिक्रामतः) (एतु भवान्।)

(अक्षमालाऽनुग ≠(101) च्छति)

विदूषकः : (विलोक्य[160]) एसो मणिसिलापट्टकसणाहो माहवीमण्डवको[161] विवित्तदाए णिसद्दं सागदेण विअ पडिच्छदि पिअवअस्सम्। उवविसम्ह। णिसीददु भवं। (उभौ प्रविश्योपविष्टौ[162]) (एष मणिशिलापट्टकसनाथो माधवीमण्डपको विविक्ततया निश्शब्दं स्वागतेनेव प्रतिच्छति प्रियवयस्यम्। उपविशामः। निषीदतु भवान्।)

अक्षमाला : (लतामाश्रित्य स्थिता)

राजा : (स्मरणमभिनीय) सखे माधव्य, सर्वम् इदं स्मरामि शकुन्तलायाः प्रथमदर्शनवृत्तान्ते[163], यत् कथितवान् अस्मि भवते, स भवान् प्रत्यादेशदिवसे मत्समीपगो[164] नासीत्। प्रथमम् अपि न त्वया

कदाचित् संकथासु तत्रभवत्याः कीर्तितं नाम। न खलु अहमिव मिथस्संविदं स्मृतोऽसि[165]।

विदूषकः : ण विसुमरामि[166]। किं तु सव्वं कहिअ तए [य्ये] व वुत्तं[167]। परिहासविअप्पो[168] एसो, ण भूदत्थो त्ति। रहस्सभेदभीरुणा मए वि मिप्पिण्ड-मन्द-बुद्धिणा तहा येव गिहिदम्[169]। अवि अ, भविदव्वदा बलवदी।(न विस्मरामि। किन्तु सर्वं कथयित्वा त्वयैव उक्तम्। परिहासविकल्प एष, न भूतार्थ इति। रहस्यभेदभीरुणा मयापि मृत्पिण्डमन्दबुद्धिना तथैव गृहीतम्। अपि च, भवितव्यता बलवती।)

अक्षमाला : एवं णेदम्। (एवमेतत्।)

राजा : (ध्यात्वा) सखे, परित्रायस्व[170] माम्, परित्रायस्व माम्।

विदूषकः : किं णेदम्। ईदिसं उवणदम्। ≠(102) कदा उण संपु (सप्पु) रिषा सोअबद्धधिय्या[171] हं (हो) न्ति। णं पवादेण वि गिरिओ णिप्पकम्पा। (किम् एतत्। ईदृशम् उपनतम्। कदा पुनस्सत्पुरुषाः शोकबद्धधैर्या भवन्ति। ननु प्रवातेनाऽपि गिरयो निष्प्रकम्पाः।)

राजा : वयस्य, निराकरणविप्लवायाः प्रियाया[172] स्समवस्थाम् अनुस्मृत्य बलवद् अस्वस्थोऽस्मि। सा मया,

> ततः प्रत्यादिष्टा स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
> स्थिता तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे।
> पुनर्दृष्टिं बाष्पप्रसरकलुषाम् अर्पितवती
> मयि क्रूरे यत् तत् सविषमिव शल्यं दहति माम् ॥6-9॥

अक्षमाला : अम्महे, ईदिसी कट्ठावत्था[173]। इमस्स सन्तावेण[174] अहं रमे। (अहो ईदृशी कष्टावस्था। अस्य सन्तापेनाहं रमे।)

विदूषकः : अत्थि देव तक्को। केण तत्थभोदी आकासगामिणा[175] अवहित त्ति।
(अस्ति देव तर्कः। केन तत्रभवत्याऽकाशगामिनाऽपहृतेति।)

राजा : क इव देवताभ्योऽन्यः सम्भाव्यते। मेनका किल सख्यास्ते जन्मप्रतिष्ठेति श्रुतवान् अस्मि। तत्सखीभ्य (भि) स्तामेव

[हृतां][176] हृदयम् आशङ्कते।

अक्षमाला : अम्मो, मोहो खु एसो रमणीओ[177], उण पडिबोहो। (अहो मोहः खल्वेष रमणीयः, पुनः प्रतिबोधः।)

विदूषकः : जदि एवं ता अत्थि खु समागमो वि कालेन तत्थभवदीए[178]। (यद्येवं तदस्ति खलु समागमोऽपि कालेन तत्रभवत्या।)

राजा : कथमिव।[179]

विदूषकः : ण खु मादापिदरो भत्तुविरहिदं दुहिदरं चिर(रं) पेक्खिदुं पारेदि[180]। (न खलु मातापितरौ भर्तृविरहितां दुहितरं चिरं प्रेक्षितुं पारयेते।)

राजा : वयस्य,

स्वप्नो नु मा ≠(103) या नु मतिभ्रमो वा
क्लिष्टं नु तावत् फलमेव पुण्यम्।
आसन्नवृत्तेस्[181] तद् अतीतम् एष,
मनोरथानाम् अतटप्रपातः ॥6-10॥

विदूषकः : भो, मा एवं भण। णं खु अङ्गुलीअअं येव णिदरसणं[182]। एवं येव संभाविणो चिन्तणीया[183] समागमा होन्ति। (भोः मैवं भण। ननु खल्वङ्गुलीयकम् एव निदर्शनम्। एवमेव संभाविनो ऽ– चिन्तनीयास्समागमा भवन्ति।)

राजा : (अङ्गुलीयं विलोक्य) अये, इदं तद् असुलभस्थानभ्रंशि शोचनीयम्।

तव सुचरितम् अङ्गुलीय नूनं
प्रतनु ममेव विभज्यते[184] फलेन।
अरुणनखमनोहरासु तस्याश्च्युतमसि
लब्धपदं यद् अङ्गुलीषु ॥6-11॥

अक्षमाला : (आत्मगतम्) सहि, दूरे वत्तसे[185]। एआइणि दाव कण्णसुहं अनुभवामि[186]। (सखि, दूरे वर्तस, एकाकिनी तावत् कर्णसुखमनुभवामि।)

विदूषकः : भो वअस्स, इदं अङ्गुलीअअं केण उग्घादेण तत्थभोदिए

हत्थसंसग्गं[187] पाविदं। (भो वयस्य, इदम् अङ्गुलीयकं केनोद्घातेन तत्रभवत्या हस्तसंसर्गम् प्रापितम्।)

राजा : श्रूयताम्। यदा तपोवनात् स्वनगरगमनाय प्रस्थितं मां प्रिया सबाष्पमिदम् आह, कियच्चिरेणार्यपुत्रोऽस्माकं संस्मरिष्यतीति।

विदूषकः : तदो तदो। (ततः ततः।)

राजा : पश्चाद् इमां नाममुद्रां ≠(104) तदङ्गुलौ निवेशयता मया प्रत्यभिहितम्[188]।

एकैकमत्र दिवसे दिवसे मदीयं
नामाक्षरं गणय, गच्छसि यावदन्तम्।
तावत् प्रिये, मदवरोधगृहप्रवेशी
नेता जनस्तव समीपमुपेष्यतीति ॥6-12॥

तच्च मोहात्तथा[189] दारुणम् अनुष्ठितम्।

अक्षमाला : रमणीओ दे विहिणा दंसिदो मग्गो[190] (रमणीयस्ते विधिना दर्शितो मार्गः।)

विदूषकः : अध कधं दासीए पुत्तस्स[191] रोहिदमच्छस्स बलिसं[192] विअ एदं अंगुलीअअं मुहे पविट्ठम्। (अथ कथं दास्याःपुत्रस्य रोहितमत्स्यस्य बडीशम् इवैतद् अंगुलीयकं मुखे प्रविष्टम्।)

राजा : शचीतीर्थसलिलं किल वन्दमानायास्ते सख्या गङ्गास्रोतसि परिभ्रष्टम्। भवतु, उपालप्स्ये तावदेतत्।

कथं नु तं बन्धुरकोमलाङ्गुलिं[193]
करं विहायासि[194] निमग्नमम्भसि[195]।

अथ वा[196]—

अचेतनं नाम गुणान् न लक्षयेन्[197]
मयैव कस्माद् अवधीरिता प्रिया ॥6-13॥

अक्षमाला : पुव्वावरविरोधी[198] एसो वुत्तन्तो वट्टदि। (पूर्वापरविरोध्येष वृत्तान्तो वर्तते।)

राजा : अकारणपरित्यक्ता कदा नु प्रेक्षणीया भ ≠(105) विष्यति।

(ततः प्रविशति फलकहस्ता लिपिकरी)

लिपिकरी : (समन्ताद् अवलोक्य) एसो खु भट्टा जाव णं उपसप्पामि[199]। (उपसृत्य) जअदु जअदु भट्टा। इअं चित्तगदा भट्टिणी। (एषः खलु भर्ता, यावद् एनम् उपसर्पामि। जयतु जयतु भर्ता। इयं चित्रगता भर्त्री।)

(चित्रफलकं[200] दर्शयति)

विदूषकः : (विलोक्य[201]) हे हे भो, सभावमहुरा आकीदि खु[202]। साहु वअस्स साहु। किं बहुणा। सन्तानुप्पवेस[203] संकाए आलवणकुदूहलं मं जणअदि। (हे हे भोः, स-भावमधुरा आकृतिः खलु। साधु वयस्य साधु। किं बहुना। स्वान्तानुप्रवेशशङ्कयालपनकुतूहलं मां जनयति।)

अक्षमाला : अहो वअस्सस्स वत्तिकारेहाए णिउणदा। जाणे सही अग्गदो मे तिट्ठदि[204]। (अहो वयस्यस्य वर्तिकारेखाया निपुणता। जाने सख्यग्रतो मे तिष्ठति।)

राजा : (निःश्वस्य)

साक्षात् प्रियाम् उपगताम् अपहाय पूर्वं
चित्रार्पितामहम् इमां बहु मन्यमानः।
स्रोतोवहां बहु[205] निकामजलाम् अतीत्य
जातोऽस्मि रे[206] प्रणयवान् मृगतृष्णिकायाम् ॥6-14॥

अक्षमाला : अअं य्येव सव्वं[207] पडिवण्णो जम्हि वत्तुकामा[208]। (अयमेव सर्वं प्रतिपन्नो यद् अस्मि वक्तुकामा।)

विदूषकः : (निर्वर्ण्य) भो तिण्हो अत्थभोदीए(ओ)[209] दीसन्ति। सव्वाओ दंसणीआ। कदमा इत्थ दीसदे सउन्तला[210]। (भोः तिस्रोऽत्रभवत्यो दृश्यन्ते। सर्वा दर्शनीयाः। कतमा इह दृश्यते शकुन्तला।)

≠(106)**अक्षमाला** : मोहदक्खो तवस्सी। अवस्सं ण से पच्चक्खा सही। (मोहदक्षस्तपस्वी। अवश्यं नास्य प्रत्यक्षा सखी।)

राजा : त्वं तावत् कतमां तर्कयसि[211]।

विदूषकः : (चिरं विलोक्य) तक्केमि जा एसा अवसेअसिणिद्ध पल्लवं

असोअलदिअं संसिदा[212] सिहिलकेस[213]-बन्धोव्वमन्तकुसुमेण बद्धसेअबिन्दुणा वदणकेण[214] विसेस-णमिद-सा [हा] हिं[215] बाहुलदाहिं ऊससिद-णीविणा[216] वसणेण ईसि परिसन्ता विअ आलिहिदा[217] एसा अत्थभोदी सउन्तला[218]। इदराओ सहीओ। (तर्कयामि यैषावसेकस्निग्धपल्लवाम् अशोकलतिकाम् संश्रिता शिथिलकेश-बन्धोद्वमत्कुसुमेन बद्धस्वेदबिन्दुना वदनकेन विशेष-नमित-शाखाभ्यां बाहुलताभ्यां उच्छ्वसित-नीविना वसनेनेषत् परिश्रान्तेवालिखितैषात्रभवती शकुन्तला। इतरास्सख्यः।)

राजा : [219]निपुणो भवान्। अस्त्यत्र मे भावचिह्नम्।

स्विन्नाङ्गुलीनिवेशो रेखाप्रान्तेषु[220] दृश्यते मलिनः।
अश्रु च कपोलपतितं लक्ष्यमिदं वर्तिकोच्छ्वासात्॥6-15॥

मेधाविनि, अवलिखितम्[221] एतद् विनोदनम् अस्माभिस्तद् गच्छ, वर्तिकास्तावद् आनय।

लिपिकरी : अय्य माधव, अवलम्भ[222] चित्तफलअं यावद्[223] गच्छामि। (इति विदूषकाय दत्त्वा निष्क्रान्ता)
(आर्य माधव्य, अवलम्भस्व चित्रफलकं, यावद् गच्छामि।)

विदूषकः : किं अवरं इत्थ अभिलिहिदव्वं[224]। (किमपरम् इहाभिलिखितव्यम्।)

अक्षमाला : ≠(107) असंसअं, जो जो सहीए मे अभिरुइदो[225] पदेसो तं आलिहिदुकामो[226] भविस्सदि त्ति तक्केमि। (असंशयम्। यो यस्सख्या मेऽभिरुचितः प्रदेशस्तं तं आलिखितुकामो भविष्यतीति तर्कयामि।)

राजा : माधव्य, श्रूयताम्—

कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादान्ते निभृतं निषण्णचमरो गौरीगुरोः पावने[227]।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निमातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥6-16॥

विदूषकः : (आत्मगतम्) तहा[228] तक्केमि पूरिदमणेण चित्तफलअं कुच्चालआणं तवसाणं[229] त्ति। (तथा तर्कयामि पूरितमनेन चित्रफलकं कूर्चालकानां तापसानाम् इति।)

राजा : माधव्य, अन्यच्च शकुन्तलायाः प्रसाधनम् अभिप्रीतम् अत्र विस्मृतम् अस्माभिः।

विदूषकः : किं विअ। (किमिव।)

अक्षमाला : वणवासस्स तस्सा अ सोउमय्यस्स जं अणुसदिसं भविस्सदि त्ति।
(वनवासस्य तस्याश्च सौकुमार्यस्य यद् अनुसदृशं भविष्यतीति।)

राजा :
कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे
शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम्।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं
मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥6-17॥

विदूषकः : किं णु अत्थभोदी रत्तकुवलअसोहिणा अग्गहत्थेण मुहं ओवारिअ चकिदं(द)चकिदा विअ ट्ठिदा।(किं नु अत्रभवती रक्तकुवलय-शोभिनाग्रहस्तेन मुखमपवार्य चकितचकितेव स्थिता।)≠(108)
(दृष्ट्वा) हे हे भो, एस(सो) दासीए पुत्तो कुसुमपाडच्चरो महुअरो[230] अत्थभोदीए वअणकमलं अभिलसदि[231]। (हे हे भोः, एष दास्याः पुत्रः कुसुमपाटच्चरो मधुकरोऽत्रभवत्या वदनकमलम् अभिलषति।)

राजा : ननु निवार्यताम् एष धृष्टः[232]।

विदूषकः : भवं य्येव अविणीदाणुसासी वारणे पभवदि[233]। (भवान् एवाविनीतानुशासी वारणे प्रभवति।)

राजा : युज्यते। अयि भोः, कुसुमलताप्रियातिथे! किं इतः[234] परिपतनखेदम् अनुभवसि।
एषा कुसुमनिषण्णा तृषितापि सती भवन्तम् अनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु त्वया विना[235] पिव (ब) ति ॥6-18॥

अक्षमाला : अभिजादं खु वारिदो। (अभिजातं खलु वारितः।)

विदूषकः : पडिसिद्धवामा[236] एसा जादी। (प्रतिषिद्धवामैषा जातिः।)

राजा : एवं भोः, न मे शासने तिष्ठसि। श्रूयताम् तर्हि सम्प्रति।

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं,
पीतं मया सदयमेव रतोत्सवेषु।
बिम्बाधरं दशसि चेद् भ्रमर प्रियाया-
स्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम् ॥6-19॥

विदूषकः : एवं तिक्खदण्डस्स कधं ते ण भाईस्सदि। (प्रहस्य) एस (सो) उम्मत्तको खु[237]। अहं पि ईदिसस्स संसग्गेण ईदिसवण्णो विअ संवुत्तो। (एवं तीक्ष्णदण्डस्य कथं ते न भेष्यति। एष उन्मत्तकः खलु। अहमपीदृशस्य संसर्गेण ईदृशवर्ण इव संवृत्तः।)

अक्षमाला : ममा ≠(109) वि अत्तणो अनन्तरं गुणेहि जा अहं दाणिं पडिबुद्धा[238]।
(ममाप्यात्मनोऽनन्तरं गणय याहमिदानीं प्रतिबुद्धा।)

राजा : प्रिये, स्थितोऽहम्[239] एतावति।

अक्षमाला : अहो धीरे वि जणे रसो पदं[240] करेदि। (अहो धीरेऽपि जने रसः पदं करोति।)

विदूषकः : भो चित्तम् खु एदम्। (भोः चित्रम् खलु एतत्।)

राजा : (सविषादम्) वयस्य, किमिदम् अनुष्ठितम् पौरोभाग्यम्।

दर्शनसुखम् अनुभवतस्साक्षाद् इव तन्मयेन हृदयेन।
स्मृतिकारिणा त्वया मे पुनरपि चित्रीकृता कान्ता ॥6-20॥
(रोदिति[241])

अक्षमाला : वअस्स, सुमरिदं तए पच्चादेसविमाणणं सउन्तलाए सहीए, दिट्ठं खु पच्चक्खं अम्हेहिं। (वयस्य, स्मृतं त्वया प्रत्यादेशविमाननं शकुन्तलायाः सख्याः, दृष्टम् खलु प्रत्यक्षम् अस्माभिः।)

लिपिकरी : (प्रविश्य लिपिकरी) भट्टा, देवीए कुलप्पभाए[242] परिजणेण अन्तरा अवच्छिण्णो दे वत्तिका-करण्डओ[243]। (भर्तः, देव्याः कुलप्रभायाः परिजनेनान्तरावच्छिन्नस्ते वर्तिकाकरण्डकः।)

राजा : भवतु, वयमप्यक्षमास्सम्प्रति वर्तिकाकर्मणि।

अक्षमाला : बहुमाणा असे कुलप्पभा। अह वा[244], ण एदम् किं चि। विपञ्चीए खु[245] असण्णिधाने[246] एकतन्तुरपि अग्घदि।(बहुमान्याऽस्याः कुलप्रभा। अथ वा, नैतत् किञ्चित्। विपञ्च्याः खलु असन्निधान एकतन्तुरप्यर्घति।)

राजा : वयस्य, पश्य, कथम् अविश्रामदुःखम् अनुभवामः[247]।
≠(110) प्रजागरात् खिलीभूत[248] स्तस्याः स्वप्नसमागमः।
बाष्पोऽपि न ददात्येनाम् द्रष्टुं चित्रगतामपि॥ 6-21॥

लिपिकरी : भट्टा, इदं पि दाणिं चित्तपडिकिदं पिङ्गलिआमिस्सीओ अवहट्टिदं यदन्ति (जं अत्थि)[249]। (भर्तः, इदमप्यिदानीं चित्रप्रतिकृतं पिङ्गलिकामिश्राभिः अवघट्टितं यदस्ति।)

विदूषकः : छिण्णा[250] दाणिं से आसा। (छिन्ना इदानीम् अस्याशा।)

राजा : हुं। (स्तनान्तरे हस्तं निक्षिपति)

॥ नेपथ्ये॥

जअदु जअदु भट्टिणी। (जयतु जयतु भर्त्री।)

विदूषकः : (कर्णं दत्त्वा) अवेध भो[251], मेधाविणिं मिगीं विअ[252] अनुसरन्ती[253] उवत्थिदा अन्तेउरव्वग्गी पिङ्गलिआ।(अपेत भोः, मेधाविनीं मृगीम् इवानुसरन्त्युपस्थितान्तःपुरव्याघ्री पिङ्गलिका।)

राजा : वयस्य, इमाम् रक्षेमाम् प्रियाप्रतिकृतिम्[254]।

विदूषकः : अत्ताणअं त्ति भणाहि। (आत्मानमिति भण।)

अक्षमाला : सहि एसा पदिकिदी वि दे पडिवक्खस्स[255] अलङ्घणीआ करीअदि।
(सखि, एषा प्रतिकृतिरपि ते प्रतिपक्षस्यालङ्घनीया क्रियते।)

विदूषकः : (फलकमादाय) एसो णं तहिं गोएमि जत्थ पारावदिं[256] वज्जिअ अवरो ण पेक्खदि। (द्रुतपदं निष्क्रान्तः) (एष एनं तत्र गोपयामि यत्र पारावतीं वर्जयित्वाऽपरो न प्रेक्षते।)

(प्रविश्य पत्रहस्ता प्रतीहारी)

जअदु जअदु देवो। (जयतु जयतु देवः)

राजा : वसुमति, न खलु देव्यागता।

प्रतीहारी : भट्टा, पत्तकहस्तं(त्थं) मं पेक्खिअ पडिणिवुत्ता[257]। (भर्तः, पत्रकहस्तां मां प्रेक्ष्य प्रतिनिवृत्ता।)

राजा : काल ≠(111) ज्ञा कार्योपरोधं मे परिहरति।

प्रतीहारी : देव, अमच्चो विण्णवेदि। अत्थजादस्स गणणाबहुलदाए एक्कं येव पूरकय्यं[258] अवेक्खिदं। तं देवो सोढुं अरिहदि[259]। (देव, अमात्यो विज्ञापयति। अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यम् अपेक्षितम्। तद् देवस्सोढुम् अर्हति।)

राजा : मेधाविनि, वाच्यताम्।

लिपिकरी : जं भट्टा आणवेदि। (यद् भर्ता आज्ञापयति।) (पत्रकं प्रसार्य वाचयति) "विदितम् अस्तु देवपादानां, यथा धनवृद्ध इति यथार्थनामा वणिग्[260] वारिपथोपजिवी नौ-व्यसने विपन्नः। स चानपत्यः। तस्य कोटिशतसंख्यातं वसु। तदिदानीं राजार्थमापद्यते। श्रुत्वा राजा प्रमाणमिति।''

राजा : (आकम्पितः) कष्टा खल्वनपत्यता। वसुमति, महाधनत्वाद् बहुपत्नीकेन तत्रभवता भवितव्यम्। विचार्यतां यदि कदाचिद् आपन्नसत्त्वा कापि[261] तस्य भार्या स्यात्।

प्रतीहारी : देव, इदाणीमेव केसवसि (से) ट्ठिणो दुहिदा णिव्वुत्तपुंसवणा जाआ सुणीअदि। (देव, इदानीमेव, केशवश्रेष्ठिनो दुहिता निर्वृत्तपुंसवना जाया श्रूयते।)

राजा : ननु स गर्भः पित्र्यं रिक्थम् अर्हति। गच्छ एवम् आर्यपिशुनं ब्रूहि।

प्रतीहारी : जं देवो आणवेदि। (यद् देव आज्ञापयति।) (प्रस्थिता)

राजा : ≠(112) एह्येहि तावत्।

प्रतीहारी : (निवृत्य) इअम्हि। (इयमस्मि।)

राजा : अपि च, तत्रभवान् वक्तव्यः। किम् अनेन सन्ततिरस्ति नास्ति वेति।

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।

स स पापाद् ऋते तासां दुष्यन्त[262] इति घोष्यताम्[263] ॥6-22॥

प्रतीहारी : इदं णाम इत्थ घोसिदव्वम्। (निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य च) देव, काले घुट्ठमिव अहिणन्दिदं[264] देवसासणं महाअणेण[265]। (इदम् नामात्र घोषितव्यम्। देव, काले घुष्टम् इव अभिनन्दितं देवशासनं महाजनेन।)

राजा : एवं,(दीर्घं निःश्वस्य) एवं[266] सन्ततिच्छेदनिरवलम्बानां [267]मूलपुरुषाणाम् अवसाने सम्पदः परम्[268] उपतिष्ठन्ते। ममाप्यन्ते[269] पुरुवंशश्रिय एष एव वृत्तान्तः।

प्रतीहारी : पदि (डि) हदं आसङ्किदम्। (प्रतिहतम् आशङ्कितम्।)

राजा : धिङ् माम् उपस्थितश्रेयोऽवमानिनम्।

अक्षमाला : असंसअं सहिं य्येव हिदए करिअ[270] णिन्दिदो णेण अत्ता। (असंशयं सखीम् एव हृदये कृत्वा निन्दितोऽनेनात्मा।)

राजा : संरोपितेऽप्यात्मनि धर्मपत्नी त्यक्ता मया नाम कुलप्रतिष्ठा।
कल्पिष्यमाणा महते फलाय वसुन्धरा काल इवोप्तबीजा॥ 6-23॥

लिपिकरी : (जनान्तिकम्) इमं पत्तकं पेसअन्तेण ≠(113) किं स्मारिदं[271] अमच्चेण जं पेक्ख(क्खिअ) दाव भट्टिणो जलावसेको[272] संवुत्तो। (विचिन्त्य) अह वा[273], ण सो अबुद्धिपुरवं पवट्टदि[274]। (इमं पत्रकं प्रेषयता किं स्मारितम् अमात्येन, यत् प्रेक्ष्य तावत् भर्तुर्जलावसेकः संवृत्तः। अथवा, न सोऽबुद्धिपूर्वकं प्रवर्तते।)

राजा : अहो दुष्यन्तस्य[275] संशयम् आरूढाः पिण्डभाजः।

अस्मात् परं बत यथाश्रुत[276] संभृतानि
को नः कुले निवपनानि करिष्यतीति।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रमुक्तं
धौताश्रुशेषम् उदकं पितरः पिबन्ति ॥6-24॥

अक्षमाला : सदिसं खु दे, ववधान-दोसेण अन्धआरो होदि।[277] (सदृशं खलु ते, व्यवधानदोषेण अन्धकारो भवति।)[278]

प्रतीहारी[279] : देव, अलं सन्तापितेन।[280] वअत्थो पहु अवरासु देवीसु अणुरूव-पुत्तजम्मणा पुव्वपुरिसाणां अरिणो[281] भविस्सदि त्ति। (स्वगतम्)

ण मे वअणं पडिगेण्हदि। अहवा[282] अणुरूवमेव ऊसवं (ओसधं) आतङ्कं णिवारेदि[283]। (वयःस्थः प्रभुरपरासु देवीष्वनुरूपपुत्रजन्मना पूर्वपुरुषाणाम् अनृणो भविष्यतीति। न मे वचनं प्रतिगृह्णाति। अथवानुरूपम् एवौषधं आतङ्कं निवारयति।)

राजा : (शोकावेगनाटितकेन) सर्वथा,[284]

आमूलशुद्धसंतति कुलमेतत् पौरवं प्रजावन्ध्ये।
मय्यस्तमितमनार्ये देश इव सरस्वतीस्रोतः ॥6-25॥

(संमोहं गतः[285])

परिजनः : (ससंभ्रमम् अवलोक्य) समस्ससदु समस्ससदु भट्टा। (समाश्वासितु समाश्वासितु भर्ता।)

अक्षमाला : इदाणिं य्येव णं णिव्वुदं करेए[286]। अधवा ≠(114) महदीहिं उण देवदाहिं एदं दंसिदम्[287]। ण सक्को(क्कं) मए अणणुण्णादाए हत्थसंसग्गं णेदुं। भोदु, जण्णभाओस्सुआओ देवाओ य्येव तहा करइस्सन्ति जधा[288] एसो राएसि ताए सहधम्मचारिणीए समागमिस्सदि।

(नभोऽवलोक्य)

(सहर्षम्) करयिस्सन्ति कधं[289] य्येव, तहि पेक्खामि। जाव इमिणा वुत्तान्तेण[290] पिअसहिं समसा(स्सा)सेमि[291]।

(उद्भ्रान्तकेन निष्क्रान्ता)

(इदानीमेवैनं निर्वृतं कुर्वे। अथवा महतीभिः पुनर्देवताभिरेतद् दर्शितम्। न शक्यो(क्यं) मयाननुज्ञातया हस्तसंसर्गं नेतुम्। भवतु, यज्ञभागोत्सुका देवा एव तथा करिष्यन्ति यथैष राजर्षि-स्तया सहधर्मचारिण्या समागमिष्यति॥ करिष्यन्ति कथमेव, तत्र प्रेक्षे। यावद् अनेन वृत्तान्तेन प्रियसखीं समाश्वासयामि।)

(नेपथ्ये)

अब्बम्हण्णं[292] अब्बम्हण्णं भो। अब्बम्हण्णं। (अब्रह्मण्यम्

अब्रह्मण्यम् भोः। अब्रह्मण्यम्)

राजा : (शनैः प्रत्याश्वस्य।[293]) (कर्णं दत्त्वा) अये माधव्यस्येवार्तनादः।

लिपिकरी : तवस्सी, पिङ्गलिआमिसीणं मुहे पडिदो भविस्सदि। (तपस्वी पिङ्गलिकामिश्राणां मुखे पतितो भविष्यति।)[294]

राजा : वसुमति, गच्छ मद्वचनाद् अनिषिद्धपरिजनां देवीम् उपालभस्व[295]।

प्रतीहारी : तथा।[296] (इति निष्क्रान्ता)

(नेपथ्ये)

अब्बम्हण्णं अब्बम्हण्णं भो। (अब्रह्मण्यम् अब्रह्मण्यम् भोः।)

राजा : परमार्थभीत एव भिन्नस्वरो ब्राह्मणः। कः कोऽत्र भोः।

कञ्चुकी : (प्रविश्य) आज्ञापयतु देवः।

राजा : किम् एष माधव्यो माणवकः क्रन्दति।

कञ्चुकी : देव, यावद् अ ≠(115) वलोकयामि। (निष्क्रम्य संभ्रमात्[297] पुनः प्रविष्टः)

राजा : पार्वतायन, न खलु किञ्चिद् अत्ययिकम्।

कञ्चुकी : देव, नैवम्।

राजा : तत्कुतोऽयं वेपथुः।

कञ्चुकी : किन्तु,–प्रागेव जरसा कम्पस्सविशेषं तु साम्प्रतम्।
आविष्करोति सर्वाङ्गम् अश्वत्थम् इव मारुतः॥ 6-26॥
तत्परित्रायताम् सुहृदं महाराजः।

राजा : कस्मात् परित्रातव्यः।

कञ्चुकी : महतः कृच्छ्रात्।[298]

राजा : अये, अनिर्भिन्नार्थम् उच्यताम्।

कञ्चुकी : देव, योऽसावभ्रंलिहो नाम प्रासादः।

राजा : किं तत्र।

कञ्चुकी : तस्याग्रभूमेर्गृहनीलकण्ठैरनेकविश्रान्तिविलङ्घ्यशृङ्गम्।
सखा प्रकाशेतर[299] मूर्तिना ते सत्त्वेन केनापि निगृह्य नीतः॥ 6-27॥

राजा : (सहसोत्थाय) [मा][300] तावत्। ममापि सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः।

अथवा, बहुप्रत्यवायं नृपत्वम्।
अहन्यहन्यात्मन एव तावज्ज्ञातुं[301] प्रमादस्खलितं न शक्यम्।
प्रजासु कः केन पथा प्रयातीत्यशेषतः कस्य नु शक्तिरस्ति ॥6-28॥[302]

(नेपथ्ये)

अयि, धाव भो[303]। (अयि, धाव भोः।)

राजा : (सहसोत्थाय) (गतिभङ्गेन[304] परिक्रामन्) वयस्य, न भेतव्यम्। न भेतव्यम्।

(नेपथ्ये)

विदूषक : कधम् दाणिं ण भाइस्सं। ≠(116) एसो मं को वि पच्छामोडिद सिरोधरं[305] इक्खुं विअ थीरभङ्गं य्येव करेदुं इच्छदि[306]। (कथमिदानीं न भेष्यामि। एष मां कोऽपि पश्चान्मोटितशिरोधरम् इक्षुम् इव स्थिरभङ्गम् एव कर्तुम् इच्छति।)

राजा : (सदृष्टिक्षेपम्) धनुर्धनुस्तावत्।

यवनी : (प्रविश्य शाङ्र्गहस्ता यवनी) जअदु जअदु भट्टा। एदं सरासणं हत्थाचापसहिदम्।
(जयतु जयतु भर्ता। एतच्छरासनं हस्ताचापसहितम्।)

राजा : (सशरं धनुरादत्ते।)

(नेपथ्ये)

एष त्वाम् अभिनवकण्ठशोणितार्थी,
शार्दूलः पशुमिव हन्मि वेष्टमानम्।
आर्तानाम् भयमपनेतुम् आत्तधन्वा
दुष्यन्त[307] स्तव शरणं भवत्विदानीम् ॥6-29॥

राजा : (सरोषम्) कथं माम् एवम्[308] उद्दिशति। तिष्ठ तिष्ठ कुलपांसन[309], अयम् इदानीं न भवसि। (चापमादाय[310]) पार्वतायन[311], सोपानमार्गम् आदेशय।

कञ्चुकी : इत इतो देवः। (सर्वे सत्वरम् उपसर्पन्ति)

राजा : (समन्ताद् विलोक्य) शून्यं खल्विदम्।

(नेपथ्ये)

विदूषक : अभिधाव भो, अहं भवं[312] पेक्खामि। एसो भवं मं न पेक्खदि। मज्जारगिहीदो विअ उन्दुरो णिरासो[313] म्हि जीविदे संवुत्तो।

(अभिधाव भोः। अहं भवन्तं प्रेक्षे। एष भवान् माम् न प्रेक्षते। मार्जारगृहीत इवोन्दुरो निराशोऽस्मि जीविते संवृत्तः।)

राजा : भोः तिरस्करिणीगर्वित, मदीयम् अस्त्रं त्वां पश्यति। स्थितो[314] भव। मा च वय ≠(117) स्यसम्पर्काद् विश्वासोऽभूत्। एष त्वदर्थं तमिषुम् संदधे।

योे हनिष्यति वध्यं त्वां, रक्ष्यं रक्षिष्यति द्विजम्।
हंसोऽपि[315] क्षीरमादत्ते तन्मिश्रा वर्जयत्यपः ॥6-30॥

(अस्त्रं सन्धत्ते)

(प्रविश्य सम्भ्रान्तो विदूषकमुत्सृज्य मातलिर्विदूषकश्च[316])

मातलिः : आयुष्मन्,

कृताः शरव्या हरिणा तवासुराः
शरासनं तेषु विकृष्यताम् इदम्।
प्रसादसौम्यानि सतां सुहृज्जने
पतन्ति चक्षूंषि न दारुणाः[317] शराः ॥6-31॥

राजा : (अस्त्रमुपसंहरन्) अये मातलिः। स्वागतम् देवराजसारथये।

विदूषकः : (निकटमेत्य) भो अहं णेण पसुमारेण मारिदो इमम्हि[318]। साअदेण अभिनन्दासि। (भोः अहमनेन पशुमारेण मारितः अस्मि। स्वागतेन अभिनन्दसि।)

मातलिः : (सस्मितम्) आयुष्मन्, श्रूयतां यदस्मि हरिणा भवत्सकाशं प्रेषितः।

राजा : अवहितोऽस्मि।

मातलिः : अस्ति कालनेमिप्रसूतिर्दुर्जयो नाम दानवगणः[319]।

राजा : श्रुतपूर्वो मया नारदात्।

मातलिः : सख्युस्ते स किल शतक्रतोरवध्यः तस्य त्वं रणशिरसि स्मृतो निहन्ता।
उच्छेत्तुं[320]प्रभवति यन्न सप्तसप्तिः तन् नैशं तिमिरमपाकरोति चन्द्रः॥6-32॥

तद् भवान् गृही ≠(118) तचाप एवेदानीं ऐन्द्रं रथम् अधिरुह्य[321] विजयाय प्रतिष्ठताम्।

राजा : अनुगृहीतम् अनया मघवतस्सम्भावनया। अथ भवद्भिर्माधव्यं प्रति किमेवं प्रयुक्तम्।

मातलिः : (सस्मितम् विदूषकम् अवलोक्य) तदपि कथ्यते। कुतोऽपि निमित्तान् मनस्तापाद् आयुष्मान् मया विक्लवो दृष्टः। पश्चात् कोपयितुम्[322] आयुष्मन्तं तथा कृतवान् अस्मि। कुतः-

ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विकृतः पन्नगः[323] फणां कुरुते।
प्रायस्स्वं महिमानं क्षोभात् प्रतिपद्यते जन्तुः ॥6-33॥

राजा[324] : (जनान्तिकम्) वयस्य माधव्य, अनतिक्रमणीया दिवस्पतेराज्ञा। तदत्र परिगतार्थं कृत्वा मद् वचनाद् अमात्यपिशुनं ब्रूयाः[325]-

त्वन्मतिः केवला तावत् परिपालयितुं प्रजाः।
अधिज्यमिदम् अन्यस्मिन् कर्मणि व्यापृतं धनुः ॥6-34॥

विदूषकः : जं भवं आणवेदि। (यद् भवान् आज्ञापयति।) (इति निष्क्रान्तः[326]।)

मातलिः : इत इत आयुष्मान्।

(इति परिक्रम्य निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति अभिज्ञानशकुन्तला-नाटके षष्ठोऽङ्कः ॥

सन्दर्भ

1. (भूर्ज.) श्रीगणेशाय नमः॥, (ऑ.1) नमो विघ्नहन्त्रे।, (ऑ.-2) श्रीगणेशाय नमः। (श्री.) ॐ ॥
2. (ऑ.1) कुम्भिलिका।, (श्री.) कुम्भिलका।, (ऑ.-2) कुम्भलिआ।
3. (श्री.) कधहेहि।, (ऑ.-2) कहेहि। इतः परं "तए एदं समासादिदम्" इत्येव।, (बु.) कधेहि।
4. (ऑ.1) णामाच्छलो।, (श्री.) महामणिपत्थिलुक्किण्णमच्छलं।
5. (ऑ.1) समासादिदो।, (श्री.) समासादिदे।, (बु.) शमाशादिदे।
6. (ऑ.1) पुरुषं नाटायित्वा।
7. (ऑ.1) पसीदतु 2 भादुअ-मिस्सा।,(श्री.) पसीदद पसीदन्दु भादुकमिश्छा।, (ऑ.-2) मिस्सा।, (बु.) मिश्शा।

8. (भूर्ज.) एवं (श्री.) इत्यत्र णेति पदं नास्ति।, (श्री.) खु एदिसस्स कम्मणो काली।
9. (ऑ.1) खु सोहणे बम्हणे ति अकलुअ रञ्ञा पदिगह दिण्णो।, (ऑ.-2) किं खु सोहणो बह्मणो सीत्थि कलिअ रण्णा पदिग्गहो दिण्णो।, (श्री.) शोभणो भम्मणो .. रञ्ञा ...दिण्णो।
10. (ऑ.1) शुणेध, दाणिं हगे सक्कावदाल वासिको धीवले।, (ऑ.-2) सुणोद दाणिं हगे सक्कावदार-वसदी धीवलो।, (श्री.) वासिको देवले।
11. अत्र ≠ अनेन चिह्नेन भूर्जपत्रोपरिलिखिताया मातृकायाः पृष्ठाङ्का निर्दिश्यन्ते।, (ऑ.-2) पाटच्चल, किं खु अम्हहिं जादी पुच्छिदे।
12. (ऑ.-2) सूचक, कदेदु सव्वं।, (श्री.) कदध ... पडिबन्धित्था।
13. (भूर्ज.) इत्यत्र नास्ति।
14. (ऑ.1) जं आवुत्तो। भण ले भण।, (श्री.) जं आवुत्तो। भण ले भण।
15. (ऑ.1) एवं (ऑ.-2) सो हगे धीवलो।
16. (ऑ.-2) जालवडिसादेहि। .... कलेमि।, (श्री.) शे हगे धीवले जालभडिसा देहिं।
17. (ऑ.1) सहजं किल जं वि णिन्दिदं।,(ऑ.-2) इतः परं "उम्पो पि सुण्णओ।" इत्येव।, (श्री.) सहजो किल जवि णिन्दितं।
18. (ऑ.1)अणुकम्पापलओ वि सुण्णए।, (श्री.) अणुकम्पालओ वि सुण्णओ।
19. (ऑ.1) एवं (श्री.) चौरः।
20. (ऑ.1) अथैक्कदिअस्से।, (श्री.) अथेक्कदिअसे।
21. (ऑ.1) लोहिदमत्स्य।, (श्री.) लोहिमच्छ।
22. (ऑ.-2) रअणभासुलं।, (बु.) लदणभाशुलं।, (श्री.) उदलब्धन्तलाओदं लअणभासुलं।
23. (भूर्ज.) इतः परं 91 क्रमांकं भूर्जपत्रमिदं सर्वथा विनष्टं वर्तते। तत आरभ्यते ≠(92) इति पृष्ठम्।
24. (ऑ.1)भादुअमिच्छेहिं।,(ऑ.-2) भादुअमिस्सेहिं।, (श्री.) भदुअमिस्सहि।
25. (ऑ.1) एवं (श्री.) वाक्यमिदमन्तिमे क्रमे, "अअं से आगमो" इत्येवं रूपेण वर्तते।, (ऑ.-2) इतः परं "माले अधवा कट्टेद, अअं से आगमो।" इति वाक्यक्रमः।
26. (ऑ.1) मारेध वा कत्तेध वा।, (श्री.) मालेध वा कत्तेध वा।
27. (ऑ.1) रंगसूचनेयं नास्ति।
28. (ऑ.1) जाणअ, विच्चगन्धो शवाअदि।,(ऑ.-2) एवं (श्री.) वाक्यमिदं नास्ति।
29. (ऑ.1) अत्रमिस्त "पुरुषं घ्रात्वा" इति रंगसूचना।, (ऑ.-2) अस्य स्थाने "जाणअ, विस्सअअन्धो से अत्थि?''
30. (ऑ.1) एवं (श्री.) अङ्गुलीअ आगमो विणवेशिदव्वो।, (ऑ.-2) जानकः- घ्रात्वा, भट्टके विस्सगन्धो असंसाअं। स्यालः- अङ्गुली आगमो वि गवेसिदव्वा।
31. (श्री.) लाअउलं।, (ऑ.-2) ता राअकुलं य्येव गच्चम्ह।
32. (ऑ.1) गण्डिभेदअ।, (श्री.) गण्डभेदअ।

33. (श्री.) गोउलदुवाले ।,अत्र "गोकुलद्वारे" इति छाया भवितुमर्हति ।, (ऑ.-2) गोवुरदुवारे ।, (बु.) गोपालदुवारे ।
34. (ऑ.-2) जधागमं ।, (बु.)जधागमं ।
35. (ऑ.-2) अवसलोपसप्पणो राआणो ।
36. (श्री.) वअस, हूलति ।
37. (ऑ.-2) वज्जवसणे ।, (श्री.) वज्जवशणं ।
38. (श्री.) चौरः ।
39. (ऑ.1) भादुके ।, (ऑ.-2) णारदि भादुको ।
40. (भूर्ज.) आगच्छदु.... इत्यत परं 92 क्रमांकं भूर्जपत्रमिदं सर्वथा विनष्टं वर्तते । तत 93 पृष्ठमारभ्यते । अयं त्रुटितांशोऽन्यासु मातृकासु यथा पठ्यते तथैवात्र प्रस्तूयते ।
41. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) इत्यत्र नास्ति ।, (कार्ल बुरखाडेन प्रदत्तोऽयं पाठः ।)
42. (ऑ.-1) सजाणण ।, (श्री.) शजणनं ।
43. (ऑ.-1) गिज्जबली ।, (ऑ.-2) गिद्धबली ।, (श्री.) गिज्जध [ब] लीं ।
44. (ऑ.-1) हुविस्सदि ।, (श्री.) हुविसधि ।,(ऑ.-2) भविस्सदि ।
45. (ऑ.-1) एवं (ऑ.-2) वाक्यमिदं नास्ति ।
46. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) पुरुषस्योक्तिर्नास्ति, रंगसूचनापि नास्ति ।
47. (ऑ.-1) एवं (श्री.) सूअअ, मुञ्चध स एस जालोपजी [वी] ।
48. (ऑ.-2) उववण्णो किल असे अङ्गुली गमो ।
49. (ऑ.-1) एवं (ऑ.-2) वाक्यमिदं नास्ति ।
50. (ऑ.-2) जहा भणदि आउत्तो ।
51. (बु.) गमिअ..(त्रुटितांशः) खण्डं एव विअ ।, (ऑ.-1) इहायं जमस्स गुडं खण्डं च [दइअ] इव पडिनिउत्तो ।
52. (श्री.) इतः परम् "द्वितीयः-जानुअ, तक्केमि ण हु केवलं अअं जमस्स गुडन्तरिदो जीअ इदो जव पालिदोसिको भि सेदा दाविदो ।" इत्यधिकम् ।, (ऑ.-2) वाक्यमिदं नास्ति । पुरुषं मुञ्चतीति रंगसूचनास्ति ।
53. (ऑ.-1) भट्टके, तए अत्थी कदा मे जीविदा ।,(ऑ.-2) स्यालं प्रणम्य, भट्टके, उवकारकं मे जीइदम् ।
54. (श्री.) दे दाविदो, इति नास्ति ।,(ऑ.-2) एस दे अङ्गुलीअं मूल्यसम्मिदो दाविदो पारिदोसिको वि ।
55. (ऑ.-2) इतः परं "इहायं जम... गुडखण्डनं दइअ पडिणिवृत्तो । द्वितीयः- जाणक, तक्केमि णु खु केवलं अअं जमस्स ...रिदो जीवइदो एव पालितोसिको वि दाविदो । चौरः- सडद्धं प्रगृह्य । अणुगिहीदो म्हि ।" इति क्रमः ।
56. (श्री.) चौरः ।
57. (ऑ.-1) अनुघिहीदो ।

58. (श्री.) अवदाय।
59. (श्री.) पदमिदं नास्ति।,(ऑ.-2) ता णाम अणुगिहीदं, जं शूलाहि अवतालिअ, हत्थिक्खन्धे पडिच्छिदो।
60. (ऑ.-1) पालिदोस्स कहोहि महालहहारणेण।
61. (ऑ.-1) एवं (ऑ.-2) परमबहुमदेण।, (श्री.) खलु सबहुमदो।
62. (श्री.) हो...। इति त्रुटितांशः।,(ऑ.-2) पारितोसिको कहेहि, महारअणेण तेण अङ्गुलीएण भट्टिणो।
63. (ऑ.-1) महालहरहणमि त्ति बहुमाणं।, (श्री.) महालअण त्ति बहुमानो भट्टिणो तक्कमि।,(ऑ.-2) ण एतस्सिं महारतणं त्थि बहुमणो भट्टिणो तक्केमि से।
64. (ऑ.-1) किण्णु खु।
65. (ऑ.-1) अहिणजणो। (सं. अभिज्ञजनः इति छाया), (ऑ.-2) अहिणन्दणीओ जणो।
66. (श्री.) अहिदइदो भट्टिणा सुमणिदो।
67. (भूर्ज.), (ऑ.-1) एवं (श्री.) पदमिदं नास्ति।
68. (ऑ.-2) मुहुत्तअं।, (श्री.) महुत्तं।
69. (ऑ.-1) पयुस्सुअमणा।
70. (ऑ.-2) मच्छीलिआ।, (बु.) कोष्ठान्तर्गतः पाठः बुरखाडेन प्रदत्तः।
71. (श्री.) सास्रूयं।
72. (ऑ.-1) एह एत्तिके।, (श्री.) शत्तिके।
73. (भूर्ज.) भूर्जपत्रस्यास्य पाठः सर्वथा पठितुं न शक्यः, प्रतिकृतेः धूमितत्वात्।
74. (बु.) धीवर।
75. (ऑ.-1) महात्तल।, (श्री.) महत्तलए।, (बु.) महत्तरको।
76. (ऑ.-1) कादम्बलीशक्किअं।, (ऑ.-2) कादम्बीअसक्खं। (श्री.) कदम्भलसक्किअ।, (बु.) कादम्बरीसक्खिअं।
77. (ऑ.-1) सुण्डिकासालं य्येव।, (ऑ.-2) सुण्डिआसालं य्येव।
78. (ऑ.-1) आकाशयायेना।, (ऑ.-2) आकाशयातकेना।, (श्री.) त्याकाशयातकेना।
79. (ऑ.-1) सखीपय्याय।
80. (बु.) मेनआ।, (ऑ.-2) मीनआ।
81. (श्री.) पदमिदं नास्ति।
82. (ऑ.-1) खु ऊसविणि रुस्सवारम्भे।
83. (बु.) अध वा।
84. (श्री.) मे इहवो परिधाणेण।
85. (श्री.) जाणिदव्वो।
86. (ऑ.-1) होदु।

87. (ऑ.-1) उज्जाणपालीणं ।, (ऑ.-2) उद्दाणपालीणं ।, (श्री.) उज्जानमालीनं ।, (बु.) उज्जाणवालिणीणं ।
88. (ऑ.1) आदस्सहरिदं विणअ जत्थ समिदं सुरहिमासस्स ।,(ऑ.-2) आदाम्बं हरिदविण्टअं जं ऊसविदा सुमुहि-माहस्स ।, (श्री.) आदस्स हारिद विणृअ जाससि दं सुराइमासस्स ।
89. (ऑ.-1) दिट्ठं चूअच्छारअ-क्षणमङ्गलअं खु पेक्खामि ।, (ऑ.-2) खणमङ्गलं । (श्री.) खखु पेक्खामि ।
90. (ऑ.-2) सहि परहुदिए कि णि एकाइणी मन्तेदि ।
91. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) होदि ।
92. (श्री.) तुह गाणि दाणि काले ।
93. (ऑ.-2) तुह दाणि कालो एसो मदविब्भमोग्गीहाणाम् ।
94. (श्री.) पदपरिचिआ ।
95. (श्री.) कामदेअस्स ।
96. (ऑ.-1) जधि समाधिअद्धअच्चणेण फलस्स ।
97. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) होदि ।
98. (ऑ.-1) एकमेव णो अधट्ठिदं ।, (श्री.) दुधा त्थिदा ।, (बु.) दुहाठीदं ।
99. (ऑ.-1) एवं (श्री.) नाटयित्वा ।, (ऑ.-2) कृत्वा ।
100. (ऑ.-1) एवं (श्री.) अम्हहे ।
101. (ऑ.-2) वातहि ।, (श्री.) वाआअदि
102. (ऑ.-1) मअरध्वजाय ।, (श्री.) मधुरदुआदु ।
103. (ऑ.-2) अरहसि मए चदङ्कुर दिण्णो कामस्स गिहिअ धणुस्स ।
104. (ऑ.-1) एवं (श्री.) जुवाइलक्खस्स ।, (ऑ.-2) सण्ठविअ-जुवइ-लक्खो ।
105. (ऑ.-2) पच्चद्धिदो(?) ।
106. (श्री.) हदु ।, (बु.) होउं ।
107. (ऑ.-1) भविष्यः ।
108. (श्री.) देवेन प्रमुख ।
109. (श्री.) प्रतिषिद्धो वसन्तोत्सवो, ।
110. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) सभयम् ।
111. (ऑ.-1) अणुगहिदर्थः ।, (ऑ.-2) गिहीदत्थो खु अम्हे ।
112. (श्री.) तदाश्रियभि ।, (कञ्चुकिन अस्या उक्तितः आरभ्यानुगामिन्यौ द्वे उक्ती अपि प्रक्षिप्ते स्याताम् ।)
113. (श्री.) चूतीनाम् ।
114. (श्री.) स्थतं कुरवकं तत्दारकावस्थया ।
115. (श्री.) शिशरे ।
116. (श्री.) पदमिदं नास्ति ।

117. (श्री.) वसीद्व—इत्यधिकम्।
118. (श्री.) दिअहा।
119. (ऑ.-1) रक्खिएण।, (श्री.) रक्खधण।
120. (ऑ.-1) इत्थं अकेलिग्गहे।, (श्री.) अक्खीलगिहे।, (बु.) आकीलहरे—इति पठितम्। (आक्रीडगृहे-छाया)
121. (श्री.) सुदपुरओ , वत्तंतो।
122. (ऑ.-1), (ऑ.-2)एवं (श्री.) कुदुहलं।
123. (ऑ.-1) कदेदु।, (ऑ.-2) कहेदु।, (श्री.) कहेस्व।
124. (ऑ.-1) उस्सव-पिआ।, (ऑ.-2) ओसवपिआ।, (श्री.) ओसपविआ राणो।
125. (ऑ.-1) होदव्वम्।, (श्री.) ओदवम्।
126. (ऑ.-1) राष्टिअमुहादो जधा।, (बु.) जधा इत्यस्य स्थाने जाव (यावद्) इति सूचितम्।
127. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) पश्चात्तापं गतो।
128. (श्री.) प्रकृतिभिन्न।
129. (श्री.) व्रीडां।
130. (ऑ.-1) एवं (श्री.) रंगसूचनेयम् अधस्तात् प्रतीहार्या उक्तेः पुरस्तात् पठ्यते।
131. (ऑ.-1) त्वमेवाकृतीनाम्।
132. (श्री.) शकुन्तलां प्रति—पदद्वयमिदं नास्ति।
133. (ऑ.-1) एवं (श्री.) विलोक्येति रंगसूचनाधिका वर्तते।
134. (बु.) क्खु।
135. (ऑ.-1) तम्मति।, (ऑ.-2) क्लम्मदि।
136. (ऑ.-1), (ऑ.-2) एवं (श्री.) इतः परं "ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा विदूषकः प्रतीहारी च" इति।
137. (ऑ.-2) एतावत्पर्यन्तमेवास्तीयं मातृका।
138. (श्री.) प्रयाया।
139. (ऑ.-1) प्रबुद्धम्।
140. (ऑ.-1) ईदिसाइं से तभ (प) स्सिणीए [भा] अधेयाइं।
141. (ऑ.-1) एवं (श्री.) चिकिच्छिदव्वो होदि।, (बु.) चिकिच्छिदव्वो भविस्सदि।
142. (ऑ.-1) उपसृत्य।
143. (ऑ.-1) मया तावद् राज्ञः—इत्येतानि त्रीणि पदानि न सन्ति।
144. कार्ल बुरखाडेन "प्रमदावनभूमयः" इति पाठः प्रदत्तः, स च भूर्जपत्रमातृकायां नास्ति।
145. (श्री.) सम्बोधनमिदं नास्ति।
146. (ऑ.-1) प्रबोधान्नल(स)म्भावितम्।
147. (श्री.) अक्षरद्वयमिदं नास्ति।
148. (ऑ.-1) किदं भवदा णिम्मक्खिकं।, (श्री.) कृतं भगवता निर्धूमं ... (त्रुटितांश)।

149. (श्री.) शिशिरविच्छेदरमणीयः एतस्मिन्। (अत्र प्राकृतोक्तेरभावः)
150. (ऑ.-1) पमदवणे सुहं विचरिस्सामो।, (श्री.) प्रमदावनेष्वखं विधिरिष्यामः।
151. (श्री.) प्रमदावने।
152. (ऑ.-1) रन्ध्रनिपातिनो।, (श्री.) रन्ध्रोपनिमातिनो।
153. (भूर्ज.) एवं (ऑ.-1) निराकृतम्। - इति दृष्टिभ्रमात् पुनर्लिखितम्।, कार्ल बुरखाडेन बंगदेशीयपाठमनुसृत्य समुपस्थितमिति पाठः प्रदत्तः।, किन्तु श्रीनगरस्य मातृकायां यः पाठः समुपलभ्यते, तं संशोध्यात्र स्थापितः। मैथिलपाठोऽप्यनेनैव संगच्छते।
154. (ऑ.-1) दिट्ठ दाव इमं चण्डअट्ठ...दमण्डिदेए पादवे।, (श्री.) तिष्ठ तावत्। इमं दण्डकाष्ठं चूतलतायाः पातयामि। (अस्य वाक्यस्य प्राकृतपाठो नास्ति।)
155. (भूर्ज.) अनर्थकस्य पकारस्य निष्कासनाय अयं {} प्रकोष्ठः प्रयुज्यते।
156. (ऑ.-1) माधाविणी लिविकरे।
157. (ऑ.-1) माहवेमाण्डवे।
158. (श्री.) सहस्तलिहिखिता तत्रभवत्याः शकुन्तलायाः प्रतिकृतम् आनयेति। (अत्रापि प्राकृतपाठो नास्ति।)
159. (ऑ.-1) इदो महाराओ।, (श्री.) इतः महाराजः। (अत्रापि प्राकृतपाठो नास्ति।)
160. (ऑ.-1) एवं (श्री.) पुरतोऽवलोक्य।
161. (श्री.) एष मणिशिपट्टकनाथो हो माधवीमण्डपः ओ। (अत्रापि प्राकृतपाठो नास्ति।), (बु.) मण्डवको।
162. (श्री.) प्रवेशं नाटयत्वोपविष्टौ।
163. (श्री.) वृत्तान्तो।
164. (बु.) मत्समीपगतो।
165. (ऑ.-1) विस्मतोऽसि।, (श्री.) विस्मृतोऽसि।
166. (श्री.) ण विसुस्मरारि।
167. (ऑ.-1) कहिअ तत ऊत्तं।
168. (ऑ.-1) परिहासविकप्पो।
169. (ऑ.-1) मयेवि मृत्पिण्डमन्दबुद्धिणा, तदा एवं गिहीदं।, (श्री.) सर्वं कथयित्वा त्वया उक्तं, परिहाविकल्पो, रहस्यभेदभीरुणा अवमाने त्वया, मयापि मन्दबुद्धिना तमेवगृहीतमपि च। (अत्रापि प्राकृतपाठो नास्ति)
170. (ऑ.-1) एवं (श्री.) त्रायस्व।
171. (ऑ.-1) एवं (श्री.) सदा बद्धधैर्या।
172. (श्री.) पदमिदं नास्ति।
173. (श्री.) कत्थावत्था।
174. (ऑ.-1) सन्दावेण।
175. (बु.) आकाशगामिना।

176. (भूर्ज.), (ऑ.-1) एवं (श्री.) तत्सखीभ्यस्तामेव हृदयमाशङ्कते।, अत्र "हृता" मिति पदं नास्ति।
177. (ऑ.1) खु एसो रमणीओ।, (श्री.) एसो स्सणीओ। (बु.) कार्ल बुरखाडेन बंगदेशीयं पाठमनुसृत्य "मोहो क्खु एसो [विम्हअणीओ], [ण] उण पडिबोहो।" इति पाठः प्रदत्तः।
178. (ऑ.-1) समागमो वि कालेण तत्थभवदीए इत्येतानि पदानि न सन्ति।
179. (ऑ.-1) राज्ञो वाक्यमिदं नास्ति।
180. (ऑ.-1) मादापिदवो भत्ति, भर्तृविरहिदं दुहिदरं चिरं पेक्खिदं पारेदि।
181. (बु.) कार्ल बुरखाडेन "आसन्निवृत्यै" इति पाठः प्रदत्तः।
182. (ऑ.-1) एवं (श्री.) णिदस्सण।
183. (बु.) बंगदेशीयं पाठमनुसृत्य "अवस्सं-भाविणो अचिन्तनीया" इति पाठः प्रदत्तः।
184. (ऑ.1) एवं (श्री.) विभाव्यते।
185. (बु.) वट्टसि।
186. (ऑ.1) एवं (श्री.) अणुहवामि।
187. (ऑ.1) एवं (श्री.) संसग्ग(ग्गं)।
188. (ऑ.1) प्रत्यभिहिता च।
189. (बु.) तथेति पदं न पठितम्।
190. (ऑ.1) ददस्सिदो माग्गो।, (श्री.) माग्गो।
191. (ऑ.1) दासीपुत्तस्स।,(श्री.) दासीपुत्तः।
192. (ऑ.1) एवं (श्री.) भडिसं।
193. (श्री.) कोमलबन्धुराङ्गुलिं।
194. (श्री.) विहा [य] सि।
195. (श्री.) निमग्नमसि।
196. (ऑ.1) एवं (श्री.) पदमिदं नास्ति।
197. (ऑ.1) एवं (श्री.) अचेतनो नाम गुणं न लक्षये [न्]।
198. (भूर्ज.) विरोधी।, (श्री.) विरोही।
199. (ऑ.-1) खु भट्टा जाव देणं उपसप्पामि।, (श्री.) खु भट्टा जावेदेणं उपसप्पामि।
200. (ऑ.-1) ह(फ)ल {ह} कं।, (श्री.) फल {फ} कं।
201. (ऑ.-1) एवं (श्री.) अवलोक्य।
202. (ऑ.-1) एवं (श्री.) हद्धी भोः भावमुहुरा खु रेहा।
203. (ऑ.-1) सन्ताणुपपवेस।, (श्री.) सत्ताणुपपवेस।
204. किन्तु (बु.) चिट्ठदि।
205. (ऑ.-1) पथि।, (श्री.) पृथि।
206. (ऑ.-1) एवं (श्री.) जाता सखी।

207. (ऑ.-1) एवं (श्री.) सव्वं–इति पदं नास्ति।
208. (ऑ.-1) जहि वत्तुआमा।
209. (ऑ.-1) अत्तुंवदीए।, (श्री.) अत्थ [भ] वदीए(ओ)।
210. (श्री.) स [उ] न्तला।
211. (ऑ.-1) तक्कयसि।
212. (ऑ.-1) एवं (श्री.) संगदा।
213. (ऑ.-1) सिहिलकोस।, (बु.) सिढिलकेस।
214. (ऑ.-1) वअणोदएण।, (बु.) वअणएण।
215. (भूर्ज.) एवं (ऑ.-1) णमिदं साहिं।
216. (श्री.) उस्ससिआणीविणा।
217. (ऑ.-1) आलिखिदा।, (श्री.) आलि [हि] दा।
218. (श्री.) सन्तउ (उन्त) ला।
219. (ऑ.-1) इतः पूर्वम् "ओमिति" इत्यधिकम्।
220. (श्री.) रो (रे) वाप्रान्तेषु।
221. (बु.) कार्ल बुरखाडेन बंगदेशीयं पाठमनुसृत्य "अर्धलिखितम्" । इति पाठः प्रदत्तः। (मैथिलपाठेऽपि अर्धलिखितमिति वर्तते।)
222. (ऑ.-1) एवं (श्री.) अवलम्ब।
223. (बु.) जाव।
224. (बु.) अहिलिहिदव्वं।
225. (ऑ.-1) एवं (श्री.) अभिरुइदो।, (बु.) अहिरुइदो।
226. (ऑ.-1) आलिखिदु।, (श्री.) आलि [हि] दुकामो।
227. (ऑ.-1) एवं (श्री.) पावनः।
228. (बु.) तधा।
229. (श्री.) तवस्सिणा।
230. (ऑ.-1) एवं (श्री.) महुरह।
231. (बु.) अहिलसदि।
232. (ऑ.-1) दुष्टः।
233. (बु.) पहवदि।
234. (ऑ.-1) एवं (श्री.) अतः।
235. (बु.) विना त्वया।
236. (ऑ.-1) एवं (श्री.) पदिसिज्जवामा।
237. (बु.) उम्मत्तओ क्खु।
238. (ऑ.-1) पदिबुद्धा।
239. (बु.) स्थितोऽयम्।, (श्री.) स्थि [तो] ह(हं)।

240. (ऑ.-1) पणदं।
241. (श्री.) अश्रुणि विहरति।
242. (बु.) कुलपहाए।
243. (ऑ.-1) अवछिन्नो दे वत्तिआकरण्डओ।
244. (बु.) अधवा। (रिचार्ड पिशेलमहाशयेन संशोधितस्य शौरसेनीभाषास्वरूपस्य कार्ल बुरखाडेन स्वीकरणात्)
245. (बु.) क्खु।
246. (ऑ.-1) सन्निधाने।
247. (ऑ.-1) अनुभवामीति।, (श्री.) अविश्रमदुःखमनुभवामीति।
248. (बु.) खलीभूत।
249. (ऑ.-1) पिङ्गलिआमिस्सीओ अवहरिदुं यदत्थि।, (श्री.) अवहरिदं यदन्ति।
250. (ऑ.-1) किण्णु।, (श्री.) किण्णा।
251. (ऑ.-1) अभिधाव।, (श्री.) अभिधावभिः।
252. (ऑ.-1) मिगीव।, (श्री.) मगीव।
253. (ऑ.-1) अअणुसन्ती।, (श्री.) अअ (नु) स [र] न्ती।
254. (श्री.) रक्षेमां प्रियाप्र [ति] कृतिम्।, (भूर्ज.) पुनरुक्तिरियं सम्भ्रमं द्योतयितुं स्यात्।
255. (बु.) पडिकिदी वि दे पडिवक्खस्स।
256. (ऑ.-1) एस णं तण्हि गोवेमि जहीं पारावदी।, (श्री.) एस णं तम्हिं ण्हिगेवैमि जहिं प (पा) रावदी।
257. (ऑ.-1) पदिणिवुत्ता।
258. (ऑ.-1) एक य्येव पौरकाय्यं।
259. (ऑ.-1) अरहदि।, (श्री.) अहरदि।
260. (श्री.) विणिका।
261. (ऑ.-1) पदमिदं नास्ति।, (श्री.) कापि।
262. (ऑ.-1) दुष्व्वन्त।
263. (ऑ.-1) एवं (श्री.) घुष्यताम्।
264. (ऑ.-1) अभिणन्दिदं।
265. (ऑ.-1) राअशासणं महाजणेण।
266. (ऑ.-1) एवं भोः।
267. (ऑ.-1) एवं (श्री.) इतः पूर्वम् “कुलानाम्” इत्यधिकम्।
268. (ऑ.-1) एवं (श्री.) पारम्।
269. (ऑ.-1) समाप्यन्ते।
270. (बु.) कदुअ।
271. (बु.) सुमारिदं।

272. (बु.) जलावसेओ।
273. (बु.) अध वा।
274. (ऑ.-1) पवद त्ति।
275. (ऑ.-1) एवं (श्री.) दुष्ष्वन्तः स।
276. (ऑ.-1) एवं (श्री.) यथाश्रुति।
277. (भूर्ज.) सदिसं खु ववधाणं। (सदृशं खलु ते व्यवधानम्।) (इतः परं भूर्जपत्रे "वअत्थो" इत्यादीनि वचनानि सन्ति। द्वयोरनयोः शब्दयोः मध्ये ये शब्दा आसन्, ते सर्वेऽपि लिपिकारस्यानवधानाद् अलिखिता स्युः।), (ऑ.1) एवं (श्री.) सदिसं खु दे अणवदाण दोसेण अन्धआरो होदि।
278. (श्री.) अत्र नास्ति संस्कृतच्छाया। सा चास्माभिः प्रदत्ता।
279. (श्री.) प्रतीहारी इत्यस्या उक्तिरियमस्तीति भूर्जपत्रोपरि लिखितायां मातृकायां नास्ति। तत्र तूक्तिरियम् अक्षमालाया अस्ति। (लिपिकारस्यानवधानादिति प्रतीयते।)
280. (भूर्ज.) वाक्यमिदं नास्ति। (इतः परं यद्वाक्यं वर्तते तद् अक्षमालाया अस्तीति स्वीकृतम्। तद्दोषावहम्।)
281. (श्री.) अनृणो।
282. (बु.) अधवा।
283. (ऑ.1) ओसधं आदङ्गं।,(श्री.) ओसधं आदङ्गं णिवारअदि।
284. (भूर्ज.) नास्तीदं पदम्।
285. (ऑ.-1) एवं(श्री.) उपागतः।
286. (ऑ.-1) य्येव णिव्वदं करेए।, (श्री.) य्येव णं णिव्वुदं करेए अहं।
287. (भूर्ज.) महद्धीहिं उण देवदेहिं दिट्ठिदे।,(ऑ.1) एसदट्ठं।, (श्री.) एस दव्वं।, (बु.) प्रदत्तः पाठः स्वीकृतः।
288. (ऑ.-1) एवं (श्री.) तथा करिसन्ति, जहा।
289. (ऑ.-1) किं (क) धं।
290. (ऑ.-1) एवं (श्री.) अणेण वुत्तान्तेण।
291. (ऑ.-1) पिअसहिं सिग्घं समासासिसइति। (प्रियसखीं शीघ्रं समाश्वासयिष्यति इति छाया)
292. (श्री.) अब्रह्मण्यं।
293. (ऑ.-1) एवं (श्री.) प्रबुद्धः।
294. (ऑ.-1) एवं (श्री.) पुनर्नेपथ्ये—इत्यधिकम्।
295. (भूर्ज.) उवालभस्व।
296. (ऑ.-1) एवं (श्री.) जं देव आणवेदि त्ति।
297. (श्री.) ससंभ्रमम्।
298. (श्री.) राज्ञः कञ्चुकिनश्च वाक्यद्वयं नास्ति।

299. (ऑ.-1) एवं (श्री.) प्रकाशेहर।
300. (भूर्ज.), (ऑ.-1)एवं (श्री.) पदमिदं नास्ति।
301. (श्री.) ता [व] ज्ञातुं।
302. (ऑ.-1) एवं (श्री.) इतः परम् "माधव्य, मा भैषीः" इत्यधिकमेकं वाक्यम्।
303. (ऑ.-1) अभिधाव भोः।
304. (श्री.) गतिभेदेन।
305. (ऑ.-1) एवं (श्री.) पच्चाडिदशिरोधरं।
306. (श्री.) त्थिरभङ्गी [करि] दुमिच्छदि।
307. (ऑ.-1) दुष्ष्वन्त।
308. (ऑ.-1) एवं (श्री.) कथमिव माम्।
309. (श्री.) कुलपांसुन।
310. (ऑ.-1) एवं (श्री.) चापमारोप्य।
311. (भूर्ज.) वातायन।
312. (बु.) भवन्तं।
313. (ऑ.-1) निरासो।
314. (ऑ.-1) एवं (श्री.) स्थिरो।
315. (बु.) हि।
316. (श्री.) ततः प्रविशति विदूषकमुत्सृज्य शक्ररथाधिरूढो मातलिः विदूषकश्च।
317. (श्री.) दा [रु] णाः।
318. (बु.) मणम्हि। (मनाग् अस्मि छाया)
319. (श्री.) राज्ञः मातलेश्च वाक्यद्वयमिदं नास्ति।
320. (श्री.) उच्छेतं।
321. (ऑ.-1) एवं (श्री.) आरुह्य।
322. (भूर्ज.) शब्दद्वयमिदं भूर्जपत्रे खण्डितम्। तच्च कार्ल बुरखाडेन प्रदत्तम्।
323. (श्री.) पवगः।
324. (ऑ.-1) इतः पूर्वम् "विदूषकं प्रति" इत्यधिकम्।
325. (ऑ.-1) ब्रूथाः।
326. (भूर्ज.) रंगसूचनेयं भूर्जपत्रे नास्ति।

॥ अथ सप्तमोऽङ्कः॥

[1](ततः प्रविशति नाक [1] (119)[2] लासिका)

नाकलासिका : [3]आणत्तं हि गुरुणा णारएण जहा[4] एदेसु य्येव दिवसेसु मच्चलोआदो[5] उत्तिण्णेण राएसिणा दुस्सन्तेण[6] भअवदो पुरन्दरस्स पिअआरिणा दाणववहणिमिद्दं[7] गन्तव्वं। जाव अभि [च्चि] अ इमं[8] आपुच्छिअमाणो[9] णिक्खिवदि ताव य्येव मए[10] विबुहपच्चक्खं[11] मङ्गलणिमित्तं किं पि पेक्खणअं दरसइदव्वं[12]। ता तुमं कं पि लासिअं[13] अण्णेसिअ[14] सङ्गीदसालाअं आगच्छत्ति[15]। ता जाव लासिअं अण्णेमि[16]। (परिक्रम्यावलोक्य च)[17] का पुण एसा गिहीदवरणा[18] पच्छा[19] हरिसिदुक्कण्ठिदा[20] विअ इदो एवागच्छदि। (निपुणमवलोक्य) कहं[21] पिअसही चूदमञ्जरी। ता जाव एदाए सह उवज्झाअसमीपं[22] गच्छामि।
(इति प्रतिपालयति[23])

(आज्ञप्तं हि गुरुणा नारदेन यथैतेष्वेव दिवसेषु मर्त्यलोकाद् उत्तीर्णेन राजर्षिणा दुष्यन्तेन भगवतः पुरन्दरस्य प्रियकारिणा दानववधनिमित्तं गन्तव्यं, यावद् अभ्यर्च्येममापृच्छ्यमानो(नं)[24] निक्षिपति तावदेव मया विबुधप्रत्यक्षं मङ्गलनिमित्तं किमपि प्रेक्षणकं दर्शयितव्यम्। तत् त्वं कामपि लासिकाम् अन्वेष्य सङ्गीत- शालायामागच्छेति। तद् यावल्लासिकाम् अन्वेषयामि। का पुनरेषा गृहीतवर्णा पश्चाद् हर्षितोत्कण्ठेवेत एवागच्छति। कथं प्रियसखी चूतमञ्जरी। तद् यावद् एतया सहोपाध्याय-समीपं गच्छामि।)

॥ ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा लासिका[25] सविस्मयं सहर्षं च ॥

अहो, महप्पभावो[26] राएसी दुस्सन्तो। (सासूयम्) अहो महाबलो सो हदो दुज्जओ दाणवबलो। (विचार्य) ≠(120) अहवा[27], दुस्सन्तो य्येव जेण सारधि-दुदीएण[28] य्येव अणेअ पहरण साहस्सइं[29] विकिरन्तो खणेण य्येव णिहदो[30] सो दुज्जअदाणवबलो। **(नृत्यति)** (अहो महाप्रभावो राजर्षिर्दुष्यन्तः। अहो महाबलस्स हतो दुर्जयो दानवबलः। अथवा दुष्यन्तः एव येन सारथिद्वितीयेनैवानेकप्रहरणसाहसानि विकिरन् क्षणेनैव निहतः स दुर्जयदानवबलः।)

प्रथमा : (उपसृत्य) सहि चूदमञ्जरिए उक्कण्ठिदा विअ लक्खीअसि[31]। (सखि चूतमञ्जरिके, उत्कण्ठितेव लक्ष्यसे।)

द्वितीया : (विलोक्य) कहं पारिजाअमञ्जरी। सहि, सव्वं कधयिस्सं।[32] तुअं[33] दाव कहिं पत्थिद त्ति पुच्छिस्सं। (कथं पारिजातमञ्जरी। सखि, सर्वं कथयिष्यामि। त्वं तावत् कुत्र प्रस्थितेति प्रक्ष्यामि।)

प्रथमा : सहि, सङ्खेवेण कधइस्सं[34]। अहं खु राएसिणो दुस्सन्तस्स दाणवविजअ-ववदेसेण[35] अज्ज मङ्गल-निमित्तं किं पि पेक्खणअं[36] दंसीअदि त्ति, उवज्झाअस्स आणाए उभे य्येव सआसं[37]।

(सखि, सङ्क्षेपेण कथयिष्यामि, अहं खलु राजर्षेर्दुष्यन्तस्य दानवविजयव्यपदेशेनाद्य मङ्गलनिमित्तं किमपि प्रेक्षणकं दर्शयत इति उपाध्यायस्याज्ञया उभे एव सकाशम् ......।[38])

द्वितीया : (सोत्कण्ठम्) आसि अवसरो एदस्स दाणिं[39] पुणो मच्चलोअं पत्थिदे एदस्सिं महाराए कस्स दंसीअदि। (आसीदवसर एतस्य। इदानीं पुनर्मर्त्यलोकं प्रस्थित एतस्मिन् महाराजे कस्य दृश्यते।)

प्रथमा : (साशङ्कम्) सहि, किं महेन्दस्स मनोरहाइं[40] सम्पादिअ गदो, आद अण्णदि[41] त्ति। (सखि, किम् महेन्द्रस्य मनोरथान् सम्पाद्य गत, उतान्यथेति।)

द्वितीया : सहि, सुणु। अज्ज य्येव गोसग्गसमए णवरं[42] दुज्जयदाणवजीवि अ-सव्वस्स ≠(121) सेसं गिहितुण एव[43] अ तिदसविलासिणि[44]

सरसहिअआइं अवणिम् अहिपडिदो[45] अदो अ मए हरिसोकण्ठाणं कारणं। (सखि, शृणु। अद्यैव गोसर्गसमये केवलं[46] दुर्जय-दानवजीवितसर्वस्वशेषं गृहीत्वा, यावच्च त्रिदशविलासिनीसर स-हृदयान्यवनिम् अभिप्रस्थितः। अतश्च मे हर्षोत्कण्ठानां कारणम्।)

प्रथमा : सहि तए पिअं णिवेदिदं जं य्येव उवज्झाएण पुरुवंसराएसिणो पुरओ कय्यं कादुं आणत्तं। तं य्येव गीअं कादुण इत्थ[47] य्येव करेम्ह। (सखि, त्वया प्रियं निवेदितं यद् एवोपाध्यायेन पुरुवंशराजर्षेः पुरतः कार्यं कर्तुम् आज्ञप्तम्। तदेव गीतं कृत्वाऽत्रैव कुर्वः।)

द्वितीया : जं दे [रोअदि][48], य्येव ता ज य्येव गीअं मए लविदं तए वा सह णच्छम्म[49]। (यत्ते [रोचते], एवं तत् यदेव गीतं मया, लपितं त्वया वा, सह नृत्यावः।)

प्रथमा : सहि, एवं करेम्ह। (उभे गायतः)

अविसअगमणं कंचन[50] अण्णं अ सराअमालि[51] महुसमओ।
अण्णं कुणइं वसण्णं पाडीइमाणं भूमीए ॥7-1॥
(सखि, एवं कुर्वः।
अविषयगमनं कंचनान्यं च सरागम् आलिं मधुसमयः।
अन्यं करोति विषण्णं पात्यमानं भूम्याः ॥7-1॥)

(इत्यन्ते नर्तित्वा निष्क्रान्ते।)

(प्रवेशकः)[52]

(ततः प्रविशति रथयानेन रथाधिरूढो[53] राजा दुष्य्न्तो मातलि[54]श्च)

राजा : मातले, अनुष्ठितनिदेशोऽपि मघवतस्सत्क्रियाविशेषाद् अनुपयुक्तम् इवात्मानं समर्थये।

मातलिः : आयुष्मान् उभयमप्यपरितोषम्। कुतः-

उपकृत्य हरेस्तथा भवाल्लँघु सत्कारम् अवेक्ष्य मन्यते।
गणयत्यपदान ≠(122) सम्मितां भवतस्सोऽपि न सत्क्रियाम्

इमाम् ॥7-2॥

राजा : मा मैवम्। स खलु[55] मनोरथानाम् अप्यतिभूमिवर्ती विसर्जनावसरे सत्कारः। मम हि दिवौकसां समक्षम् अर्धासनोपवेशितस्य।

अन्तर्गतप्रार्थनम्[56] अन्तरस्थं
जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन।
प्रमृज्य वक्षो हरिचन्दनाक्तं
मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा ॥7-3॥

[मातलिः] : किमिव नायुष्मान् परमेश्वराद् अर्हति। पश्य[57]—

सुखपरस्य हरेरुभयैः कृतं त्रिदिवम् उद्धृतदानवकण्टकम्।
तव शरैरधुना नतपर्वभिः पुरुषकेसरिणश्च पुरा नखैः ॥7-4॥

राजा : अत्र शतक्रतोरेव महिमा। पश्य,

सिद्धयन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
संभावनागुणम्[58] अवेहि तमीश्वराणाम्।
किं प्राभविष्यद् अरुणस्तमसां वधाय
तं चेत् सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत् ॥7-5॥

मातलिः : सदृशं तवैतत्। (स्तोकम् अन्तरमतीत्य) आयुष्मान्, इतः पश्य,

नाकपृष्ठप्रतिष्ठितस्य[59] सौभाग्यम् आत्मयशसः।
विच्छित्तिशेषैस्सुर ≠(123) सुन्दरीणां वर्णैरमी कल्पलतान्तरेषु।
संचिन्त्य गीतिक्षमम् अर्थतत्त्वं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति॥7-6॥

राजा : मातले, असुरसंप्रहारोत्सुकेन पूर्वं दूरम् अधिरोहता न लक्षितो मया स्वर्गमार्गः। तत् कतमस्मिन् पथि मरुतां वर्तामहे[60]।

मातलिः :

त्रिस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां
ज्योतींषि वर्तयति चक्रविभक्तरश्मिः।
तस्य व्यपेतरजसः प्रवहस्य वायो-
र्मार्गो द्वितीयहरिविक्रमपूत एषः ॥7-7॥

राजा : ततः खलु मे सबाह्यान्तःकरणोऽन्तरात्मा प्रसीदति। (रथाङ्गे[61] विलोक्य) शङ्के मेघपथम् अवतीर्णो स्वः।

मातलिः : (सस्मितम्) कथम् अवगम्यते।

राजा : अयम् अरि[62] विवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भिः[63]
हरिभिरचिरभासां तेजसा चानुलिप्तैः।
गतमुपरि घनानां[64] वारिगर्भोदराणां
पिशुनयति रथस्ते शीकरक्लिन्ननेमिः ॥7-8॥

मातलिः : क्षणम् ऊर्ध्वम् आयुष्मान् नात्माधिकारभूमौ वर्तिष्यते[65]।

राजा : (अधोऽवलोक्य) मातले, वेगावरणाद् आश्चर्यदर्शनः खलु सम्पद्यते मनुष्यलोकः। तथा—
शैलानाम् अ ≠(124) वरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी[66]
पर्णेष्वन्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात् पादपाः[67]।
सन्धानं तनुभावनष्टसलिला व्यक्ता व्रजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वम् आनीयते ॥7-9॥

मातलिः : ([68]सबहुमानम् आलोक्य) अहो उदग्ररमणीया पृथिवी।

राजा : मातले, कतमोऽयं पूर्वापरसमुद्रा[69] वगाढः कनकनिष्यन्दशोभी सान्ध्य इव मेघपरिघः सानुमान् आलोक्यते[70]।

मातलिः : आयुष्मान् एष हेमकूटो नाम किम्पुरुषपर्वतः परं तपस्विनां सिद्धिक्षेत्रम्। पश्य,
स्वायम्भुवो मरीचि(चे)[71] र्यः प्रबभूव प्रजापतिः।
सुरासुरगुरुः सोऽस्मिन् सपत्नीकस्तपस्यति ॥7-10॥

राजा : (सादरम्) तेन हि अनतिक्रमणीयानि श्रेयांसि। प्रदक्षिणीकृत्य भगवन्तं [गन्तुमि] च्छामि यावत्[72]।

मातलिः : प्रथमः कल्पः। (अवतरणं नाटयित्वा) एताववतीर्णौ स्वः।

राजा : (सविस्मयम्) मातले,
उपोढशब्दा न रथाङ्गनेमयः प्रवर्तमानं च न दृश्यते रजः।
अ ≠(125) भूतलस्पर्शतया निरुद्धतिस्तवावतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते॥7-11॥

मातलिः : एतावान् एव शतमन्यो[73] रायुष्मतश्च विशेषः।

राजा : [74]कतमस्मिन् प्रदेशे मारीचाश्रमः।[75]

मातलिः : (हस्तेन दर्शयन्)

वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरगत्वग्ब्रह्मसूत्रान्तरः
कण्ठे[76] जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसंपीडितः।
अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं[77] बिभ्रज्जटामण्डलं
यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः ॥7-12॥

राजा : नमोऽस्मै कष्टतपसे[78]।

मातलिः : (संयतप्रग्रहं कृत्वा[79]) एतावदिति परिवर्धितमन्दारवृक्षकं प्रजापतेस्तपोवनं प्रविष्टौ स्वः।

राजा : अहो विस्मयः। स्वर्गाद् अधिकनिवृत्ति[80] स्थानम्। अधिक(अमृत) ह्रद[81] मिवावगाढोऽस्मि।

मातलिः : (रथं स्थापयित्वा) अवतीर्यताम्।

राजा : (साभिनयम् अवतीर्य) भवान् कथम् इदानीम्। ≠(126)

मातलिः : समय [य] न्त्रितो[82]ऽयम् आस्ते रथः।

[राजा[83]] : वयमप्यवतरामः। (तत(था)[84] कृत्वा)

[मातलिः[85]] : इत इत आयुष्मान्। (उभौ परिक्रम्य)

मातलिः : आयुष्मन्, दृश्यन्ताम् अत्रभवतां सिद्धर्षीणां तपोवनभूमयः।

राजा : ननु विस्मयाद् उभयमप्यवलोकयामि।
प्राणानाम् अनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये हैमसहस्रपत्रसुभगे नक्तंदिवं सद्-व्रतम्।
ध्यानं रत्नशिलागृहेषु विबुधस्त्रीसंनिधौ संयमो
यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्य[86] मुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी॥7-13॥

मातलिः : उत्कर्षिणी खलु महतां प्रार्थना। (परिक्रामतः)

मातलिः : (आकाशे) वृद्धशाकल्य, किं व्यापारो भवान्[87]।(कर्णं दत्त्वा) किं ब्रवीषि। एष[88] दाक्षायण्या पतिव्रतापुण्यम् अधिकृत्य पृष्टः। तस्यास्तद् व्याकरोतीति[89] प्रतिपाल्यावसरः खलु प्रस्तावः।(राजानं दृष्ट्वा) अस्मिन् नशोकपादपे तावद् आयुष्मान् आस्ताम्। याव ≠(127) त् त्वां प्रजापतये (य)[90] आवेदयामि[91]।

राजा : यथा भवान् मन्यते। (स्थितः), (निष्क्रान्तो मातलिः।)

राजा : (निमित्तं सूचयित्वा)

मनोरथाय नाशंसे बाहो स्फुरसि किं वृथा।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्तते ॥7-14॥

(नेपथ्ये)

मा खु मा खु चवलदं[92] करेहि। सिङ्ग.....। कधं कधं य्येव अत्तणो पकिदिं[93] दंसेसि। (मा खलु मा खलु चपलतां कुरु। सिंह ....। कथं कथमेवात्मनः प्रकृतिं दर्शयसि।)

राजा : (कर्णं दत्त्वा) अभूमिरियम् अविनयस्य। को नु खल्वविनयं[94] निषिध्यते। (शब्दानुसारेणावलोक्य) (विस्मयाभिनयपूर्वकम्) अये, अनुरुध्यमान[95] स्तापसीभ्याम् अबालसत्त्वो बालः।
अव(र्ध) पीतस्तनं मातुरामर्द[96] क्लिष्टकेसरम्।
विलम्बितं[97] सिंहशिशुं करेणाहत्य कर्षति ॥7-15॥
(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टकर्मा तापसीभ्याम् अनुरुध्यमानो बालः।)

बालः : जिम्भ जिम्भ, ले सिङ्घ[98]। दन्ताइं दे गणइस्सं। (जृम्भ जृम्भ, रे सिंह, दन्तानि ते गणयिष्यामि।)

तापसी[99] : अविणीद, किं ति णो अवच्चणिव्विसेसाइं सत्ताइं विप्पकरो ≠(128) सि। पवट्टदि [दे][100] संरम्भो। थाणे क्खु[101] इसिजणेण सव्वदमणो त्ति किदणामधेओ[102] सि। (अविनीत, किमिति नोऽपत्य-निर्विशेषाणि सत्त्वानि विप्रकरोषि। प्रवर्तते [तव] संरम्भः। स्थाने खल्वृषिजनेन सर्वदमन इति कृतनामधेयोऽसि।)

राजा : किं नु खलु बालेऽस्मिन् नौरस इव पुत्रे स्निह्यति मे मनः। (विचिन्त्य) नूनमनपत्यता मां वत्सलयति।

द्वितीया : एसा केसरिणी तुमं लङ्घेदि, जदि से पुत्तकं ण मुञ्चेसि[103]। (एषा केसरिणी त्वाम् लङ्घयति यद्यस्याः पुत्रकं न मुञ्चसि।)

बालः : (सस्मितम्) अम्महे, बलिअं खु भीदे[104] म्हि। (इत्यधरं दशति) (अहो बलीयः खलु भीतोऽस्मि।)

राजा : [105]महतस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिभाति मे।
स्फुलिङ्गावस्थया वह्निरेधोपेक्ष इव[106] स्थितः ॥7-16॥

प्रथमा : वच्छक, मुञ्च एदं बालं मइन्दं ।[107] अण्णं दे कीलणकं दाइस्सं ।[108] (वत्सक, मुञ्चैतम् बालं मृगेन्द्रम् । अन्यं ते क्रीडनकं दास्यामि ।)

बालः : कहिं शे । देहि मे एणं[109] । (कुत्र सः । देहि म एनम्) (इति दक्षिणहस्तं[110] प्रसारयति)

राजा : कथं चक्रवर्तिलक्षणम् अनेन[111] धार्यते । तथा ह्यस्य,

प्रलोभ्यवस्तुप्रणयप्रसारितो
विभाति जालग्रथिताङ्गुलिः[112] करः ।
अलक्ष्यपत्रान्तरम् इद्धरागया[113]
नवोषसा भिन्नमिवैकपङ्कजम् ॥7-17॥

प्रथमा : सुव्वदे, ण सक्को एसो आआसमित्तेण[114] सअमिदुं[115] । ता गच्छ । मम केरए उडए[116] इसि [मङ्कण-अस्स][117] इसि ≠(129) कुमारअस्स वण्णअचित्तिदो[118] मिट्टिआ[119] मऊरओ चिट्ठदि[120] । तं से उवाहर । (सुव्रते, न शक्य एष आश्वासमात्रेण संयमितुम् । तद् गच्छ । मामक उडजे ऋषि [मङ्कनकस्य] कुमारकस्य वर्णकचित्रितो मृत्तिकामयूरकस्तिष्ठति । तम् अस्योपाहर ।)

द्वितीया : तधा ।[121] (तथा) (इति निष्क्रान्ता)

बालः : ताव इमिणा य्येव कीलयिस्सं[122] । (तावद् अनेनैव क्रीडिष्यामि ।) (तापसी विलोक्य हसति)

राजा : स्पृहयामि दुर्ललितकायास्मै । (निश्श्वस्य)

आलक्ष्यदन्तमुकुलान् अनिमित्तहासै-
रव्यक्तवर्णरमणीयवचः प्रवृत्तीन्[123] ।
अङ्काश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो
धन्यास्तदङ्गरजसा परुषीभवन्ति ॥7-18॥

तापसी : (साङ्गुलितर्जनम्) भोदु । ण मं गणअसि ।(पार्श्वम् अवलोक्य) को एत्थ इसिकुमारकाणं[124] । (राजानं दृष्ट्वा) भद्दमुह, एहि मोएहि[125] दाव इमिणा दुम्मोहहत्थग्गेण[126] डिम्बकलिणा[127] बाधीअमाणं बालमइन्दअं[128] । (भवतु, न मां गणयसि । कोऽत्र

ऋषिकुमारकाणाम्। भद्रमुख, एहि मोचय तावद् अनेन दुर्मोचहस्ताग्रेण डिम्बकरिणा बाध्यमानं बालमृगेन्द्रम्।)

राजा : तथे-(त्युपगम्य) अयि महर्षिपुत्र,
एवमाश्रमविरुद्धवृत्तिना संयमी किमिति जन्मदस्त्वया।
सत्त्वसंश्रयसुखोऽपि ≠(130) दूष्यते कृष्णसर्पशिशुनेव चन्दनः ॥7-19॥

तापसी : भोदु। ण खु[129] अअं इसिकुमारओ। (भवतु। न खलु अयम् ऋषिकुमारकः।)

राजा : आकारसदृशं चेष्टितम् एवास्य कथयति। स्थानप्रत्ययात् तु वयम् अतर्किणः। (सिंहं मोचयित्वा, यथाभ्यर्थितम् अनुष्ठितम्। बालस्पर्शम् अनुभूयात्मगतम्।)

अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण
स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम्।
कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्याद्
यस्यायम् अङ्गात् कृतिनः प्रसूतः ॥7-20॥

तापसी : (उभावलोक्य) अच्छरीअं अच्छरीअं। (आश्चर्यम् आश्चर्यम्।)

राजा : किम् इव।

तापसी : अस्स बालस्स असम्बद्धे वि भद्द (द्द) मुहे संवादिणी आकिदित्ति विम्हिदम्हि[130]। अवि अ, अच्चन्तपरिइदस्स[131] विअ अप्पडिलोमो एसो दे संवुत्तो। (अस्य बालस्यासम्बद्धेऽपि भद्रमुखे संवादिन्याकृतिरिति विस्मिताऽस्मि। अपि च, अत्यन्त-परिचितस्येवाप्रतिलोम एष ते संवृत्तः।)

राजा : (बालम् उपलालयन्) न चेन्मुनिकुमारोऽयम्, अथ[132] कोऽस्य व्यपदेशः।

तापसी : पुरुवंसो। (पुरुवंशः।)

राजा : (स्वगतम्) कथम् एकान्वयोऽयमस्माकम्। अतः खलु मदनुका ≠(131) रिणम् अत्रभवती मन्यते। (प्रकाशम्) अस्त्येतत् पौरवाणाम् अन्त्यं कुलव्रतम्[133]।

भवनेषु सुधासितेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थम् उशन्ति ते[134] निवासम्।
नियतैकयति-व्रतानि पश्चात् तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम्॥7-21॥
न पुनरात्मगत्या मानुषाणाम् एष विषयः[135]।

तापसी : णं जधा भद्दमुहो भणादि। अच्छरासम्बन्धेण पुणो[136] इमस्स बालस्स जणणी एत्थ[137] य्येव गुरुणो तवोवणे[138] पसूदा। (ननु यथा भद्रमुखो भणति-अप्सरसम्बन्धेन पुनरस्य बालस्य जनन्यत्रैव गुरोस्तपोवने प्रसूता।)

राजा : (आत्मगतम्) दत्तं[139] द्वितीयमिदमाशङ्काजननम्। (प्रकाशम्) तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी।

तापसी : को तस्स धम्मदारपरिच्चाइणो णामधेअं गिण्हीसदि।[140] (कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नामधेयं ग्रहीष्यति।)

राजा : (स्वगतम्) इयं[141] खलु कथा मामेव लक्षीकरोति। किं तावद् अस्य शिशोर्मातरम् नामतः पृच्छेयम्[142]। [143]अथवा, अन्याय्यः परदारव्यवहारः[144]। (प्रविश्य मृन्मयमयूरहस्ता द्वितीया)

तापसी : सव्वदमण, सउन्तला-[145]। (सर्वदमन, शकुन्तला-।) ≠(132)

बालः : (सदृष्टिक्षेपम्) कहिं अज्जू[146]। (कुत्रार्या माता) (उभे प्रहसिते)

प्रथमा : णामसादिस्सेण क (छ) लिदो मादुअच्छलओ[147]। (नामसादृश्येन छलितो मातृवत्सलकः।)

द्वितीया : वच्छ, सउन्तला भणादि। इमस्स कित्तिम-मऊरस्स रमणीअदं पेक्खत्ति[148]। (वत्स, शकुन्तला भणति। अस्य कृत्रिम-मयूरस्य रमणीयतां पश्येति।)

राजा : (स्वगतम्[149]) किं शकु [न्त] लेति[150] मातुराख्या। सन्ति पुनर्नामसादृश्यानि। अपि नाम मृगतृष्णिकेव नायमन्तेन[151] प्रस्तावो विषादाय कल्पते।

बालः : अत्ताके, लोअदि मे भद्दालके[152] एहे मऊले[153]। (क्रीडणकम्[154] आदत्ते)
(आत्मा के(?), रोचते मे भद्रालक एष मयूरः।)

द्वितीया : (आलोक्य ससंभ्रमम्) अम्मो, रक्खाकरण्डकं से मणिबन्धे

ण दीसदि। (अहो रक्षाकरण्डकमस्य मणिबन्धे न दृश्यते।)

राजा : अलमावेगेन। नन्वयम् अस्य सिंहशावकमर्दात् परिभ्रष्टम्[155]। (आदातुमिच्छति)

उभे : मा खु णं आलबिद्वा[156]। कधं गिहीदं येव णेण[157]। (सविस्मयम्) (मा खल्वेनमालम्बिष्ठाः। कथं गृहीतमेवानेन।)

(उरो[158]-निहितहस्ते परस्परम् अवलोकयतः)

राजा : किमर्थं प्रतिषिद्धोऽस्मि।

प्रथमा : सुणादु अय्यो। महाप्पहावा एसा खु ≠(133) अवराइदा णाम महोसहि इमस्स दारअस्स जादकम्मसमए भअवदा मारीएण दिण्णा। एदम् किल मादापिदरं(रो) अत्ताणअं[159] वा वज्जिअ अवरो भूमिपदिदं ण गिण्हादि[160]। (शृणोत्वार्यः। महाप्रभावैषा खलु अपराजिता नाम महौषधिरस्य दारकस्य जातकर्मसमये भगवता मारीचेन दत्ता, एताम् किल मातापितरावात्मानं वा वर्जयित्वाऽपरो भूमिपतितां न गृह्णाति।)

राजा : अथ गृह्णाति, किं भवति[161]।

प्रथमा : तदो सप्पो भविअ अण्णं दंसेदि। (ततस्सर्पो भूत्वाऽन्यं दशति।)

राजा : अथ भवतीभ्यां कदाचिदस्याः प्रत्यक्षीकृता विक्रिया।

उभे : अणेअसो[162]। (अनेकशः)

राजा : (सहर्षम्) तत्किम् खल्विदानीं पूर्णमपि मनोरथं नाभिनन्दामि। (बालं परिष्वजति(ते)[163])

द्वितीया : सञ्ञदे[164], एहि, इमं वुत्तान्तं णिअमणिव्वुदाए[165] सउन्तलाए णिवेदेम्ह।

(संयते, एहि इमं वृत्तान्तं नियमनिर्वृतायाः शकुन्तलाया निवेदयावः।)

प्रथमा : एवम् करेम्ह। (इति निष्क्रान्ते तापस्यौ) एवं करिष्यावः।

बालः : मुञ्च मं, जाव अज्जूसकासं गच्छामि[166]। (मुञ्च मां, यावद् मातृसकाशं गच्छामि।)

राजा : पुत्रक, मयैव सह मातरं नन्दयिष्यसि[167]।

बालः : मम खु तादे दुश्शन्ते, ण तुवं[168]। (मम खलु तातो दुष्यन्तो, न त्वम्।)

राजा : (सस्मितम्) एष विवाद एव मां प्रत्याययति।

(ततः प्रविशति एकवेणीधरा शकुन्तला)

शकुन्तला : ≠(134) विआरकाले वि पकिदित्थं[169] तं सव्वदमणस्स ओसहिं[170] सुणिअ ण मे आसासो अत्तणो भाअधेएसु। अह वा[171], जधा मे अक्खमालाए आचक्खिदं तदा(धा) सम्भावो[172] एदं। (विकारकालेऽपि प्रकृतिस्थां तां सर्वदमनस्यौषधिं श्रुत्वा न म आश्वास आत्मनो भागधेयेषु। अथवा, यथा मेऽक्षमालया आख्यातं, तथा सम्भाव्यत एतत्।) (परिक्रामति)

राजा : (शकुन्तलां दृष्ट्वा[173]) अये इयमत्रभवती शकुन्तला।
वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी कृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं[174] बिभर्ति॥
7-22॥

शकुन्तला : (राजानं दृष्ट्वा[175]) ण क्खु[176] अय्यउत्तो विअ। ता को णु खु[177] एसो किदरक्खामङ्गलं दारअं मे हत्थसंसग्गेण दुसेदि। (न खल्वार्यपुत्र इव। तत् को नु खल्वेष कृतरक्षामङ्गलं दारकं मे हस्तसंसर्गेण दूषयति।)

बालः : (मातरमुपेत्य) अज्जुए, एस कोवि परो को मं माणुसो[178] पुत्तके त्ति आलवदि[179]। (अज्जुके, एष कोऽपि परः मां मानुषः पुत्रक इत्यालपति।)

राजा : प्रिये, क्रौर्यमपि मे त्वयि प्रयुक्तम् अनुकूलपरिणामं संवृत्तम्। यतोऽहमिदानीं त्वया प्रत्यभिज्ञातम् आत्मानमिच्छामि।

शकुन्तला : (स्वगतम्) हिअअ, समस्सस समस्सस। पहरिअ णिव्वुत्तमच्छरेण अणुकम्पिदम्हि देव्वेण। (सहर्षम्) (हृदय, समाश्वासिहि समाश्वासिहि। प्रहृत्य निर्वृत्त-मत्सरेणानुकम्पिताऽस्मि दैवेन।) (सहर्षम्) ≠(135) अय्यउत्तो य्येव एसो। (आर्यपुत्र एवैषः।)

राजा : स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या प्रमुखे स्थितासि मे सुमुखि।
उपरागान्ते शशिनस्समुपनतो[180] रोहिणीयोगः ॥7-23॥

शकुन्तला : जअदु जअदु अय्यउत्तो। (इत्यर्धोक्ते बाष्पकण्ठी बाष्पं विहरति)
(जयतु जयतु आर्यपुत्रः।)

राजा : प्रिये,

बाष्पेण प्रतिषिद्धेऽपि जयशब्दे[181] जितं मया।
यत्ते दृष्टम् असंस्कार-पाटलौष्ठम्[182] इदं मुखम् ॥7-24॥

बालः : अज्जुए। को वा एसो[183]। (अज्जुके, क एवैषः।)

शकुन्तला : वच्छ, भाअधेआणि[184] मे पुच्छ। (रोदिति) (वत्स, भागधेयानि मे पृच्छ।)

राजा : (प्रणिपत्य)

सुतनु हृदयात् प्रत्यादेश-व्यलीकम् अपैतु[185] ते
किमपि मनसस्सम्मोहो मे तदा बलवान् अभूत्।
स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया
प्रबलतमसाम् एवं प्रायः[186] शुभेष्वपि वृत्तयः ॥7-25॥

शकुन्तला : उत्थेदु[187] अय्यउत्तो। णं[188] मम सुहपदिबन्धअं पुराकिदं[189] तेसु दिअसेसु परिणामाभिमुहआसि। जेण साणुक्कोसो वि अय्यउत्तो मए तहाविओ[190] संवुत्तो।

(राजोत्तिष्ठति)

(उत्तिष्ठत्वार्यपुत्रः। ननु मम सुखप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणामाभिमुखम् आसीद्। येन सानुक्रोशोऽप्यार्यपुत्रो मयि तथाविधस्संवृत्तः।)

शकुन्तला : ≠(136) अध[191] कधं अय्यउत्तेण सुमरिदो अअं[192] जणो।
(अथ कथमार्यपुत्रेण स्मृतोऽयं जनः।)

राजा : उद्धृतशल्यविष (षा) दः[193] करोमि, करिष्यामि[194]।

मोहान् मया सुतनु पूर्वम् उपेक्षितस्ते
यो बाष्पबिन्दुरधरं परिधावमानः।
तं तावद् आकुलित-पक्ष्म-विलग्नम् अद्य

कान्ते प्रमृज्य विगतानुशयो भवामि ॥7-26॥

([195]यथोक्तमनुतिष्ठति)

शकुन्तला : (प्रमृष्टबाष्पा, नाममुद्रां दृष्ट्वा) अय्यउत्त, णणु तं अङ्गुलीअं। (आर्यपुत्र, ननु तद् अङ्गुलीयम्।)

राजा : अथ किम्। अस्माद् अद्भुतोपलम्भान् मया स्मृतिर्लब्धा।

शकुन्तला : सुमुहिकादुं[196] खणेण जं तदा अय्यउत्तस्स पच्चक्खेण करेण[197] दुल्लहं मे संवुत्तम्। (सुमुखीकर्तुम् क्षणेन यत् तदार्य्यपुत्रस्य प्रत्यक्षेण करेण (प्रत्ययकरणे) दुर्लभं मे संवृत्तम्।)

राजा : तेन ह्यृतुसमागमाशंसि प्रतिपाद्यतां लता कुसुमम्।

शकुन्तला : ण से वीससामि[198]। अय्यउत्तो एव णं धारेदु[199]।(नास्य विश्वसामि। आर्यपुत्र एवैनत् धारयतु।)

(प्रविश्य)

मातलिः : दिष्ट्या धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चायुष्मान् वर्धते।

राजा : सुहृत्संपादितत्वाद् उत्तरफलो[200] हि मनोरथः। मातले, न खलु विदितोऽयम् आ ≠(137) खण्डलस्यार्थः।

मातलिः : एहि, भगवांस्ते मारीचो[201] दर्शनं वितरति।

राजा : शकुन्तले, अवलम्ब्यतां पुत्रः। त्वां पुरस्कृत्य भगवन्तं द्रष्टुमिच्छामि।

शकुन्तला : अरिहामि[202] अय्यउत्तेण सह समीवं गन्तुम्। (अर्हाम्यार्यपुत्रेण सह समीपं गन्तुम् [?]।)

राजा : आचरितमेतद् अभ्युदयकालेषु। एहि एहि। (सर्वे परिक्रामन्ति)
(ततः प्रविशत्यदित्या सार्धम् अर्धासनस्थो[203] मारीचः)

मारीचः : (राजानम् अवलोक्य) दाक्षायणि,

पुत्रस्य ते रणशिरस्ययम् अग्रगामी[204]
दुष्यन्त इत्यभिहितो भुवनस्य भर्ता।
चापेन यस्य विनिवर्तितकर्म जातं
तत्कोटिमत् कुलिशम् आभरणं मघोनः ॥7-27॥

अदितिः : संभावणीआ से खु आकिदि[205]। (सम्भावनीयास्य खल्वाकृतिः।)

मातलिः : भूतलपते, एतौ पुत्रप्रीतिपिशुनेन चक्षुषा दिवौकसां पितरावयलोकयतः। तदुपसर्पतु[206]।

राजा : मातले,

प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणं
भर्तारं ≠(138) भुवनत्रयस्य सुषुवे[207] यद् यज्ञभागेश्वरम्।
यस्मिन्नात्मभवः[208] परोऽपि पुरुषश्चक्रे भवायास्पदं
ब्रह्मानन्तरविश्वयोनिसहितं द्वन्द्वं तदेतद् वशी ॥7-28॥

मातलिः : अथ किम्।

राजा : (प्रणिपत्य) उभावपि वां वासवनियोज्यो दुष्यन्तः प्रणमति।

मारीचः : वत्स, चिरं पृथिवीं पालय।

अदितिः : अप्पदिरहो[209] होहि। (अप्रतिरथो भव।)

शकुन्तला : दारकेण सहिता पादवन्दणं करेमि[210]। (दारकेण सहिता पादवन्दनं करोमि।)

मारीचः : वत्से, चिरम् अविधवा भव।

आखण्डलसमो भर्ता जयन्तप्रतिमस्सुतः।
आशीरन्या न ते योज्या पौलोमीमङ्गला[211] भव ॥7-29॥

अदितिः : जादे, भट्टिणो[212] बहुमदा होहि। अअं च दे देहओ वच्छओ[213] उभअपक्खं अलंकरेदु। ता उवविसध। (जाते, भर्तुर्बहुमता भव। अयं च ते देहजो वत्सक उभयपक्षम् अलङ्करोतु। तद् उपविशत।)

(सर्वे प्रजापत्य (तिना) भिह (हि) तम्[214] आसनम् उपविशन्ति)

मारीचः : (एकैकम् निर्दिशन्)

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी[215], सदपत्यमिदम् ≠(139) भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्[216] समागतम् ॥7-30॥

राजा : भगवन्, प्राग् अभिप्रेता सिद्धिः, पश्चात् दर्शनम्। इत्यपूर्वो भगवतोऽनुग्रहः। पश्यतु भगवान्।

उदेति पूर्वं कुसुमं, ततः फलं, घनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः।
निमित्तनैमित्तकयोरयं विधिस्तव प्रसादस्य पुरस्तु संपदः॥7-31॥

मातलिः : एवं विश्वगुरवः प्रसीदन्ति।

राजा : भगवन्, इमाम् आज्ञाकरीं वो गान्धर्वेण विवाहविधिनो[217] पयम्य कस्यचित् कालस्य बन्धुभिरानीतां[218] स्मृतिशैथिल्यात् प्रत्यादिशन् नपराद्धोऽस्मि तत्रभवतः कण्वस्य। पश्चाद् एनाम् अङ्गुलीयकदर्शनाद् आरूढस्मृतिरूढपूर्वाम्[219] अनुगतोऽस्मि। तच्चित्रमेव मे प्रतिभाति।

यथा गजेनेतरपक्षरूपे[220] तस्मिन्न–
तिक्रामति संशय[221] स्स्यात्।
पदानि दृष्ट्वा तु भवेत् प्रतीति–
स्तथाविधो मे मनसो विकारः ॥7-32॥[222]

मारीचः : वत्स, अलम् आत्मापचारशङ्कया। सम्मोहोऽपि त्वय्युप ≠(140) पन्नः। यतः श्रूयताम्–

राजा : अवहितोऽमि।

मारीचः : यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात् प्रत्यक्षवैक्ल्व्यां शकुन्तलाम् आदाय मेनका दाक्षायणीसकाशमागता। तदैव ध्यानादधिगतो[223]ऽस्मि। दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी प्रत्यादिष्टा, नान्यथेति[224]। स चाङ्गुलीयकदर्शनावसरः।

राजा : (सोच्छ्वासम्) एषोऽहं वचना(नीयान्)न्[225] मुक्तोऽस्मि।

शकुन्तला : (आत्मगतम्) दिट्ठिआ अकामपच्चादेसी[226] अय्यउत्तो। ण उण [सत्तं] अत्ताणअं सुमरामि[227]। अहवा[228], ण सुदो धुवं अण्णहिअआए मए सावो। जदो सहीहिं अच्चादरेण सन्दिट्ठम्हि[229] भत्तुणो अङ्गुलीअअं देसहे त्ति। (दिष्ट्याऽकाम-प्रत्यादेश्यार्यपुत्रः। न पुनश्शप्तम् आत्मानं स्मरामि। अथवा न श्रुतो ध्रुवम् अन्यहृदयया मया शापः। यतस्सखीभ्याम् अत्यादरेण सन्दिष्टाऽस्मि भर्तुर् अङ्गुलीयकं दर्शयेति।)

मारीचः : वत्से, विदितार्थाऽसि[230]। तददिदानीं सहधर्मचारिणं प्रति न त्वया मन्युः[231] कर्तव्यः[232]। पश्य[233],

शापाद् इति[234] प्रतिहतस्मृतिलोपरूक्षे
भर्तर्यपेततमसि प्रभुता तथैव।
छाया न मूर्छति मलोपहतप्रसादे[235],
शुद्धे तु दर्पणतले सुभगावकाशा[236] ॥7-33॥

≠(141) **राजा** : यथा भगवान् आह।

मारीचः : वत्स, कच्चिद् अभिनन्दितस्त्वया विधिवद् अस्माभिरनुष्ठितजातकर्मा पुत्र एष शाकुन्तलेयः[237]।

राजा : भगवन्, नत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा।

मारीचः : तथा तत्। भाविनं चक्रवर्तिनं एनम् अवगच्छतु भवान्। पश्य,

रथेनानुद्घातस्तिमितगतिरा[238] तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधाम् अप्रतिरथः।
इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात् सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति सर्वस्य[239] भरणात् ॥7-34॥

राजा : भगवता कृतसंस्कारे सर्वम् अस्मिन् आशंसामहे।

अदितिः : इमाए आनन्द[240]-मणोरह[241] सम्पत्तिए कण्णो वि दाव सुदवित्थारो[242] करिअदु। मेणआ इध य्येव सण्णिहिदा। (अनया आनन्द- मनोरथसम्पत्त्या कण्वोऽपि तावच्छ्रुतविस्तारः क्रियताम्। मेनकेहैव सन्निहिता।)

शकुन्तला : [243]मणोगदं मे मन्तिदं भअवदीए। (मनोगतं मे मन्त्रितं भगवत्या।)

मारीचः : सर्वमेतत् तपःप्रभावात् प्रत्यक्षं तत्रभवतः कण्वस्य।

राजा : हन्त खलु न स्स (स) मभिक्रुद्धो[244] गुरुः।

मारीचः : तथाप्यसौ प्रियमस्माभिः श्रावयितव्यः।[245] कः कोऽत्र भोः।

(प्रविश्य[246]) शिष्य : भगवन्, अयमस्मि।

मारीचः : वत्स गालव, म ≠(142) द् वचनाद् इदानीमेव विहायसा गत्या तत्रभवते श्रीकण्वाय[247] प्रियम् आवेदय। यथा शकुन्तला दुर्वाससः शापविनिवृत्तिसमुपागतस्मृतिना दुष्यन्तेन प्रतिगृहीतेति।

शिष्यः : यदाज्ञापयति भगवान्। (प्रणम्य निष्क्रान्तः)[248]

मारीचः : (राजानं प्रति) वत्स, त्वमपि सापत्यदारः सन्निहितं सख्युराखण्डलस्य रथमारुह्य स्वराजधानीं प्रतिष्ठस्व।

राजा : यदाज्ञापयति भगवान्।

मारीचः : अपि च वत्स,

क्रतुभिरुचितभागांस्त्वं सुरान् भावयालं
सुरपतिरपि वृष्ट्या[249] त्वत्प्रजार्थं विधत्ताम्।
इति समम्[250] उपकारव्यञ्जितश्रीमहिम्नो-
र्व्रजति बहुतिथो[251] वां सौहृदय्येन[252] कालः ॥7-35॥

राजा : भगवन्, यथाशक्ति श्रेयसेऽहं प्रयतिष्ये।

मारीचः : वत्स, तद् उच्यताम्। किं ते भूयः प्रियम् उपहरामि।

राजा : (सहर्षम् प्रणमन्) यद् अतः परं मे भगवान् प्रसादं कर्तुम् अर्हति। ततः-

प्रवर्ततां प्रकृति ≠(143)हिताय पार्थिव-
स्सरस्वती श्रुतिमहतां[253] महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतभक्ति[254] रात्मभूः ॥7-36॥

॥ इति निष्क्रान्तास्सर्वे ॥[255]

इत्यभिज्ञानशकुन्तलाख्ये नाटके सप्तमोऽङ्कः[256]॥

समाप्तं चेदम् अभिज्ञानशकुन्तलाख्यं महानाटकम्।

कृतिः श्रीप्रसादासादितसर्वविद्यस्य महाकवेः कालिदासस्येति शुभम्॥[257]

सन्दर्भ

1. (भूर्ज.) श्रीगणेशाय नमः।, (श्री.) श्रेयोऽस्तु।
2. अत्र ≠ अनेन चिह्नेन भूर्जपत्रोपरिलिखिताया मातृकायाः पृष्ठाङ्का निर्दिश्यन्ते।
3. (ऑ.-1) एवं (श्री.) सविनयमित्यधिकम्।
4. (बु.) जधा। (अत्र शौरसेनीमनुसृत्य परिवर्तितः पाठः।)
5. (ऑ.-1) मच्छलोआदो।, (श्री.) मच्चलोआ।
6. (श्री.) दुःसन्तेण।

7. (बु.) दाणववहिणिमित्तं।
8. (श्री.) यावति अम्मो मां।
9. (श्री.) आपिच्छिअण।
10. (श्री.) निक्किसदि दाव एव मए।
11. (ऑ.-1) विवुहपच्चक्खे।, (श्री.) विबुहच्चक्खे।
12. (बु.) दरसिइदव्वं।
13. (ऑ.-1) एवं (श्री.) ताअ काम्पि लासिआं।
14. (ऑ.-1) अण्णेष्यसिअ।, (श्री.) अण्णेष्यामिअ।
15. (बु.) सङ्गीदसालाए0। (श्री.) 0आगच्छसि।
16. (बु.) अण्णेसेमि।
17. (ऑ.-1) एवं (श्री.) रंगसूचनेयं नास्ति।
18. (ऑ.-1) एवं (श्री.) गिहीदवरणेव।
19. (श्री.) पदमिदं नास्ति।
20. (ऑ.-1) एवं (श्री.) हरसिदोत्कण्ठिदा।
21. (बु.) कधं।
22. (ऑ.-1) उपज्जावसमीवं।
23. (ऑ.-1) एवं (श्री.) प्रतिपालयामि।
24. (बेल.) ह्यापृच्छयमानमिति पाठः प्रदत्तः।
25. (ऑ.-1)एवं (श्री.) नाकलासिका।
26. (बु.) महप्पहावो।
27. (बु.) अधवा।
28. (ऑ.-1) एवं (श्री.) सारदि-द्वितीएण।
29. (ऑ.-1) अणेकप्रहरण साहस्सइ विकिरन्तो क्खणेण य्येव।, (श्री.) "अणेकप्रहरण साहस्स" इति द्विरुक्तम्।
30. (श्री.) णिहोद।
31. (ऑ.-1)एवं (श्री.) लक्खेअसि।
32. (ऑ.-1)एवं (श्री.) कधइस्सं।, (बु.) कधैस्सं।
33. (ऑ.-1) एवं (श्री.) तुहं।, (बु.) तुमं।
34. (ऑ.-1)संक्खेवेण कहइस्से।, (श्री.) सक्खेवेण कहइस्सं।
35. (ऑ.-1) व्यवदेसेण।
36. (श्री.) पेक्खणीअं।
37. (ऑ.-1)सकासं।, (डॉ. बेलवालकर.) अत्र - - - इति चिह्नेन खण्डितांशः प्रदर्शितः।
38. (डॉ. बेलवालकर) बिन्दुपङ्क्तिः प्रदर्शिता। (अत्र वाक्यपूर्तिर्न भवति। लिपिकारस्य स्खलनं स्याद्।)

39. (बु.) इदाणिं।
40. (ऑ.-1) मणोरहाइं।, (श्री.) मणोरहा।, (बु.) मणोरधा।
41. (ऑ.-1)एवं (श्री.) आहो अणदि।, (बु.) अण्णध।
42. (बु.) गोसग्गसमयेन वरं। (गोसर्गसमयेन वरं। इति पदच्छेदः छायायां कृतः, स च दोषावहः।)
43. (ऑ.-1) गिहितुण जाव।, (श्री.) गिहिउण एव।, (बु.) गेण्हिअ जाव।
44. (बु.) तिअसविलासिणी।
45. (बु.) अहिप्पत्थिदो।
46. (बु.) "गोसर्गसमयेन वरं" इति छाया प्रदत्ता। किन्तु सा न समीचीना। यतो हि प्राकृत-भाषायां केवलार्थे णवरं इत्यव्ययपदं प्रयुज्यते।
47. (बु.) कदुअ एत्थ।
48. (बु.) संपुरितोऽयं शब्दः।
49. (बु.) णच्चम्ह।
50. (ऑ.-1)एवं (श्री.) आचं।
51. (श्री.) सराअ आसरलि।, (बु.) आलिं(?)।
52. (भूर्ज.), (ऑ.-1)एवं (श्री.) रंगसूचनेयं नास्ति।, (बु.) कार्ल बुरखाडेन प्रदत्तेयं रंगसूचना।
53. (ऑ.-1), रथाधिरूढो गगनगमनेन।, (श्री.) 0रथाधिरूढो गगनगमानेन।
54. (ऑ.-1) मालति।
55. (श्री.) मा खलु।
56. (ऑ.-1) एवं (श्री.) प्रार्थितम्।
57. (श्री.) इत आरभ्य सिध्यन्तीत्येतत् पर्यन्तं नास्ति।
58. (ऑ.-1) सम्भावना हि तम्।
59. (श्री.) नाकपृष्ठप्रतिष्ठस्य।
60. (ऑ.-1) एवं (श्री.) वर्तते। महे।
61. (ऑ.-1) एवं (श्री.) रथाङ्गं।
62. (ऑ.-1) एवं (श्री.) अयमपि।
63. (भूर्ज.-ऑ. 3) अस्माच्छ्लोकादारभ्य ऑक्सफर्ड-भूर्जपत्रोपरि लिखितायाः मातृकायाः पाठः समुपलभ्यते।
64. (ऑ.-1) घणानाम्।, (श्री.) गणानाम्।
65. (ऑ.-1) भूमेर्वर्तिष्यते।
66. (ऑ.-1) एवं (श्री.) शिखरान्मज्जतां मेधिनी।
67. (ऑ.-1) एवं (श्री.) स्कन्दोदयात् पादपः।
68. (ऑ.-1) साधु दृष्टममित्यधिकम्।, (श्री.) साश्चर्यमित्यधिकम्।

69. (ऑ.-1) एवं (श्री.) परसमुद्रा।
70. (श्री.) मेघसानुमानवलोक्यते।
71. (बु.) मरीचेर्।, (ऑ.-1) एवं (श्री.) मरीचिर्।
72. (ऑ.-1) एवं (श्री.) भगवन्तं गन्तुमि यावत्।, (भूर्ज.-ऑ.3.) दक्षिणीकृत्य भगवन्तं गन्तुमिच्छामि।
73. (ऑ.-1) एवं (श्री.) शतक्रतो।, (भूर्ज.-ऑ.3) शतक्रतो।
74. (ऑ.-1) एवं (श्री.) कलयेत्यधिकम्।, (भूर्ज.-ऑ.3) मातले इति सम्बोधनमधिकम्।
75. (श्री.) मातलि-राज्ञोरुक्तिद्वयं पुनर्लिखितम्।
76. (ऑ.-1) कर्णे।, (भूर्ज.-ऑ.3) कण्ठे।
77. (भूर्ज.-ऑ. 3) नीडरचितम्।
78. (ऑ.-1) एवं (श्री.) कष्टतपसैः।
79. (भूर्ज.-ऑ. 3) संयतप्रग्रहधन्वा।
80. (ऑ.-1) निर्वृति।, (भूर्ज.-ऑ. 3) निर्वृति।
81. (ऑ.-1) एवं (श्री.) अमृतह्रद।, (भूर्ज.-ऑ. 3) अमृतह्रदमिवा।
82. (भूर्ज.), (ऑ.-1) एवं (श्री.) समयन्त्रितो।, (भूर्ज.-ऑ. 3) समययतितो।
83. (भूर्ज.), (ऑ.-1) एवं (श्री.) पदमिदं नास्ति।
84. (भूर्ज.) ततः कृत्वा।, (ऑ.-1) रंगसूचनेयं नास्ति।
85. (भूर्ज.) एवं (ऑ.-1) पदमिदं नास्ति।
86. (श्री.) तपोभिरन्ति।
87. (ऑ.-1)भगवान्।, (श्री.) भगवानी।, (भूर्ज.-ऑ. 3) भगवान्।
88. (भूर्ज.-ऑ. 3) ऋषिः।
89. (भूर्ज.) तर्प्याकरोमीति।, (ऑ.-1) तद् व्याकरोमीति।
90. (भूर्ज.) एवं (ऑ.-1) प्रजापतये इत्यसाधुः पाठः।, (श्री.) प्रजापतेय।
91. (ऑ.-1) एवं (श्री.) निवेदयामि।
92. (ऑ.-1) एवं (श्री.) चपल, इदं।, (भूर्ज.-ऑ. 3) चावलदं करेहि।
93. (ऑ.-1) सि कधं, अविणीद, पकिदिं।, (श्री.) सि कधं। अविणी च पकिदि।, (भूर्ज.-ऑ. 3) मिक्तधं कधं य्येव आत्तणो पकिदिं गमेसि।
94. (ऑ.-1) एवं (श्री.) किं नु खलु अविनयमेव।, (भूर्ज.-ऑ. 3) खल्वयमेष।, अविनयादिति भवितुमर्हति।
95. (ऑ.-1), (श्री.) एवं (भूर्ज.-ऑ. 3) अये अयमनुवध्यमान।
96. (ऑ.-1) एवं (श्री.) मातुरामन्द।
97. (बु.) विलम्बिनं।
98. (ऑ.-1) एवं (श्री.) जिम्ब जिंब ले सिङ्गिका।, (भूर्ज.-ऑ. 3) जिम्भ, जिम्भ, ले सिग्गका।

99. (भूर्ज.-ऑ. 3) प्रथमा।
100. (भूर्ज.) पदमिदं नास्ति।, (ऑ.-1) पवड्ढिदो दे।
101. (ऑ.-1) एवं (श्री.) खु।
102. (ऑ.-1) एवं (श्री.) किदणामधीओ।, (बु.) णामहेओ।
103. (ऑ.-1) एवं (श्री.) तुवं लङ्घदि, जदि से पुत्तकं न मुञ्चसि।
104. (ऑ.-1) एवं (श्री.) भीदो।
105. (ऑ.-1) एवं (श्री.) सविस्मयमिति रंगसूचना।
106. (भूर्ज.) रेधो इव।, (ऑ.-1) रेखावस्थ इव।, (श्री.) रेधोवस्थ इव।
107. (ऑ.-1) एवं (श्री.) वच्छक, मुञ्च एदं बालमिगेन्दं।
108. (ऑ.-1) एवं (श्री.) अन्य दे कीलणअं दइस्सं।
109. (ऑ.-1), (श्री.) एवं (भूर्ज.-ऑ. 3) कहिं से, देहि मे णं।
110. (ऑ.-1), (श्री.) एवं (भूर्ज.-ऑ. 3) इति हस्तं।
111. (ऑ.-1) एवं (श्री.) शिशुनानेन।, (भूर्ज.-ऑ. 3) लक्षणमप्यनेन शिशुना।
112. (ऑ.-1) एवं (श्री.) जालग्रथितालिः।
113. (ऑ.-1) पत्रान्तरसिद्धरागया।
114. (ऑ.-1) एवं (श्री.) आआसमित्तेण।, (भूर्ज.-ऑ. 3) वाआमेत्तकेण।
115. (ऑ.-1) एवं (श्री.) संयमिदं।, (भूर्ज.-ऑ. 3) संयमिदुं।,(बु.) सञ्जमिदुं।
116. (ऑ.-1) एवं (श्री.) मम कीईए उडएइं।
117. (ऑ.-1) एवं (श्री.) पदमिदं नास्ति।, (भूर्ज.-ऑ. 3) मण्कस्य।, (बु.) मङ्कणअस्स।
118. (ऑ.-1) एवं (श्री.) वण्णअचिन्तिदो।
119. (ऑ.-1) एवं (श्री.) मित्तिआ।, (भूर्ज.-ऑ. 3) मृत्त-मऊरो।
120. (ऑ.-1) एवं (श्री.) दिट्ठदि।, (भूर्ज.-ऑ. 3) चिठ्ठिदि।
121. (ऑ.-1) एवं (श्री.) एवं करस्सामि।, (भूर्ज.-ऑ. 3) एवं करइस्सं।
122. (ऑ.-1) य्येव कीलिस्सम्।, (श्री.) य्येव कीलिःसम्।, (भूर्ज.-ऑ. 3) ताव इदंण य्येव कीलिस्से।
123. (श्री.) प्रवृत्तीनाम्।
124. (ऑ.-1) एवं (श्री.) इत्थ इसिकुमारकाणां।, (बु.) इसिकुमारआणम्।
125. (ऑ.-1) एवं (श्री.) मोएहि।, (बु.) मोआवेहि।
126. (श्री.) डम्मदहत्थग्गेण।
127. (ऑ.-1) डिम्बकल्लिणा।, (श्री.) ड्बिम्बकलिणा।
128 (ऑ.-1) एवं (श्री.) भादीअमाणं बालमइन्दअम्।, (भूर्ज.-ऑ.3) बाधयिमाणं बालमइन्दकं।
29. (बु.) क्खु।
130. (ऑ.-1) एवं (श्री.) शंवादिणी आकदि त्ति विसद म्हि।
131. (ऑ.-1) एवं (श्री.) अच्छन्तपरिमिदस्स।

132. (ऑ.-1) एवं(श्री.) इतः पश्चात् त्रुटितांशः ...... इति बिन्दुरेखया प्रदर्शितः।
133. (ऑ.-1) पौरवाणामन्तो बालभूतम्।, (श्री.) पौरवाणामन्ते वानव्रतम्।
134. (बु.) ये।
135. (ऑ.-1) एवं (श्री.) विस्मयः।
136. (बु.) उण।
137. (ऑ.-1) एवं (श्री.) इत्थ।
138. (भूर्ज.-ऑ. 3) गुरुणो तवोवणे—इति पदद्वयं नास्ति।
139. (भूर्ज.-ऑ. 3) हन्त।
140. (ऑ.-1) णामधीअं गिण्हीदि।, (श्री.) णामधीअं गिहीदि।
141. (ऑ.-1) एवं (श्री.) कथमियं।
142. (ऑ.-1) का तावदस्य शिशोर्माता इति तावत्पृच्छामि।, (श्री.) मातर इति तावत् पृच्छामि। (भूर्ज.-ऑ. 3) पृच्छामि।
143. (ऑ.-1) एवं (श्री.) विमृश्येति रंगसूचना।
144. (ऑ.-1) एवं (श्री.) खलु परदाराभिव्याहारः।, (भूर्ज.-ऑ. 3) व्याहारः।
145. (भूर्ज.) इतः परं "वण्णं पेक्ख" इति शब्दद्वयं नास्ति।, (ऑ.-1) सउन्तला।, (श्री.) सन्तला। (शारदा-परम्परायां कुत्रापि "सउन्तलावण्णं पेक्ख" इति नास्ति। बुर्खाडिन बंगीयपाठमनुसृत्य शब्दद्वयमिदं स्वीकृतम्।)
146. (ऑ.-1) एवं (श्री.) कहिं वा अज्ज।
147. (ऑ.-1) कलिदं मत्तिवच्छलको।, (श्री.) छलिदं मत्तिवच्छलको।, (भूर्ज.-ऑ.3) मादिवच्छलको।
148. (ऑ.-1) एवं (श्री.) पेक्खस्व त्ति।, (भूर्ज.-ऑ. 3) पेक्खन्ति।
149. (ऑ.-1) आत्मगतम्।
150. (भूर्ज.) शकुलेति।, (ऑ.-1) शकुन्तलेत्यस्य।, (भूर्ज.-ऑ. 3) नायमन्ते।
151. (ऑ.-1) एवं (श्री.) नायमन्ते।
152. (ऑ.-1) एवं (श्री.) भद्दके।, (भूर्ज.-ऑ. 3) आत्तके, लायत भद्दलको।
153. (ऑ.-1) मऊरो।
154. (ऑ.-1) क्रीडाणीयकम्।, (श्री.) क्रीडणीयकम्।, (भूर्ज.-ऑ. 3) क्रीडनकम्।
155. (ऑ.-1)एवं (श्री.) शावकविमर्दात् परिभ्रष्टम्।, (भूर्ज.-ऑ. 3) निभ्रष्टम्।, (बु.) परिभ्रष्टः।
156. (ऑ.-1) आलम्भित्था।
157. (ऑ.-1) एवं (श्री.) 0गिहीदं य्येव अणेण।, (भूर्ज.-ऑ.3) 0 गिहीदं य्येव णेण।
158. (ऑ.-1) एवं (श्री.) उरसि।
159. (ऑ.-1) एवं (श्री.) पदमिदं नास्ति।
160. (ऑ.-1) पदिदं ण गिह्णदि।, (श्री.) पदिदं ण गिहदि।, (भूर्ज.-ऑ. 3 गेद्धा।, (बु.) गेण्हदि।

161. (भूर्ज.-ऑ. 3) पदद्वयमिदं नास्ति।
162. (ऑ.-1) अणेकसो।
163. (श्री.) परिष्वजति।, (भूर्ज.-ऑ.3) परिष्वजति।, (बु.) परिष्वजते।
164. (ऑ.-1)एवं (श्री.) संयदे।
165. (ऑ.-1) णिजं अणिव्वदाए।
166. (बु.) शकाशं गश्चामि।
167. (ऑ.-1) एवं (श्री.) मातरमानन्दयिष्यसि।, (भूर्ज.-ऑ. 3) न पठ्यते खण्डितांशः।
168. (ऑ.-1) एवं (श्री.) दुस्सन्तो, ण तुवं, (भूर्ज.-ऑ. 3) दुस्सन्तो, ण तुमं।
169. (ऑ.-1), (श्री.) एवं (भूर्ज.-ऑ.3) पकिदित्थं।
170. (ऑ.-1) एवं (श्री.) ओहिं।
171. (ऑ.-1) एवं (श्री.) अहवा।, (बु.) अधवा।
172. (ऑ.-1) एवं (श्री.) आक्खदं। तदा सम्भावे।, (बु.) सम्भावीअदि।
173. (भूर्ज.-ऑ. 3) इतः परं "सहर्ष-खेदम्" इत्यधिकम्।
174. (श्री.) विरव्रतं।
175. (भूर्ज.-ऑ. 3) सवितर्कमित्यधिकम्।
176. (बु.) क्खु।
177. (ऑ.-1) एवं (श्री.) खु।
178. (ऑ.-1) एसो कोवि परकीओ मनुस्सो।, (बु.) पले के मं माणुशे।
179. (श्री.) एस को वि परकीए मणुः मे।
180. (श्री.) स्समुपतनो।, (भूर्ज.-ऑ. 3) समुपगतो।
181. (भूर्ज.-ऑ. 3) जितशब्दे।
182. (भूर्ज.-ऑ. 3) पातालोष्ठम्।
183. (ऑ.-1) एवं (श्री.) एसो।, (भूर्ज.-ऑ. 3) एदो।, (बु.) के व एशे।
184. (ऑ.-1) एवं (श्री.) भाअधेआणि।, (बु.) भाअधेआइं।
185. (भूर्ज.-ऑ. 3) व्यलीकमपैतु।
186. (ऑ.-1) एवं (श्री.) प्रायः।, (बु.) प्रायाः।
187. (ऑ.-1) एवं (श्री.) उत्तिष्ठदु।
188. (ऑ.-1) णूणं।, (श्री.) णुणं।
189. (ऑ.-1) एवं (श्री.) पुराकिदं।, (भूर्ज.-ऑ. 3) सुभपदिबन्धकं पुराकिदं।, (बु.) पुराकदं।
190. (ऑ.-1) एवं (श्री.) मए तहाविओ।, (बु.) मइं तधाविहो।
191. (ऑ.-1) एवं (श्री.) सहर्षलज्जमिति रंगसूचना वर्तते।
192. (भूर्ज.-ऑ. 3) दुक्खभागं।
193. (ऑ.-1) एवं (श्री.) उद्धृतशल्यविशदः।, (भूर्ज.-ऑ. 3) उद्धृतशल्यविषादः।

194. (भूर्ज.) क्रियापदद्वयमिदं वर्तते।, (ऑ.-1) एवं (श्री.) कथयिष्यामि।, (भूर्ज.-ऑ. ३) कथयिष्यामि।
195. (ऑ.-1) एवं (श्री.) शकुन्तलाया इत्यधिकं वर्तते।
196. (ऑ.-1) एवं (श्री.) समीहिदं कान्तं।
197. (श्री.) पच्चअकरणे। (प्रत्ययकरणे। एतदेव साधुः पाठः स्यादिति प्रतीयते।)
198. (ऑ.-1) एवं (श्री.) मे विस्सामि।, (भूर्ज.-ऑ. ३) विस्ससामि।
199. (ऑ.-1) धारयदु।, (श्री.) [धार,] येदु। (भूर्ज.-ऑ. ३) धारेदु।
200. (भूर्ज.-ऑ. ३) स्वादुतरफलो।
201. (ऑ.-1) एवं (श्री.) भगवान्मुनिर्मारीचस्ते।
202. (ऑ.-1) हिरिआमि।, (श्री.) हिरआमि।, (भूर्ज.-ऑ. ३) हिरियामि।
203. (भूर्ज.-ऑ. ३) आसनस्थो।
204. (ऑ.-1) एवं (श्री.) अग्रयायी।, (भूर्ज.-ऑ. ३) अग्रयायी।
205. (बु.) क्खु आइदि।
206. (ऑ.-1) एवं (श्री.) तदुपसृत्य।
207. (श्री.) सुषवे।
208. (भूर्ज.-ऑ. ३) आत्मभुवः।
209. (ऑ.-1) अप्पदिरहो।, (श्री.) अप्पदिरो।, (बु.) अप्पडिरधो।
210. (श्री.) दारकेण सहितं पादवन्दनं करोति।
211. (बु.) पौलोमीप्रतिमा।, (भूर्ज.-ऑ. ३) पौलोमीमङ्गला।
212. (ऑ.-1) भत्तुणो।, (भूर्ज.-ऑ. ३) जादे, भत्तुणो बहुमदा भव।
213. (ऑ.-1) एवं (श्री.) देहाओ वच्छके।, (भूर्ज.-ऑ. ३) दीहाउ वच्छ। (=दीर्घायुः वत्सः)
214. (ऑ.-1) एवं (श्री.) प्रजापत्यभिहितम्।, (भूर्ज.-ऑ. ३) सर्वे प्रजापतिसहिता उपविशन्ति।
215. (श्री.) स्वाध्वी।
216. (श्री.) त्रितयत्।
217. (ऑ.-1) एवं (श्री.) गान्धर्वेण विधिनो।
218. (ऑ.-1) एवं (श्री.) बन्धुभिः पश्चादेनामानीतां।
219. (ऑ.-1) एवं (श्री.) आरूढस्मृतिपूवामम्।
220. (ऑ.-1) यथा गजो नेतरपक्षरूपे।,(श्री.) यथा गजे ने त रप हत्थ पे।, (भूर्ज. -ऑ.३) यथा गजो नेतरि पक्षरूपे।, (बु.) यथा गजो नेति समक्षरूपे।, (संशयग्रस्तोऽयं पाठ इति प्रतिभाति।)
221. (श्री.) संयमः।
222. (भूर्ज.-ऑ. ३) इतः परं मारीचस्य राज्ञश्च संवादद्वयं नास्ति।

223. (ऑ.-1) एवं (श्री.) अवगतो।
224. (भूर्ज.-ऑ. 3) शब्दोऽयं नास्ति।
225. (ऑ.-1) एवं (श्री.) वचनीयान्।, (भूर्ज.-ऑ. 3) एष वचनीयात्।
226. (श्री.) अपश्चादेसी।
227. (ऑ.-1)ण उण सत्तमत्तुणं सुमरामि।, (श्री.) ण सत्त सत्तणं स्वमरामि।, (भूर्ज.-ऑ. 3) सत्तुं अत्ताण सुमरामि।
228. (ऑ.-1)एवं (श्री.) अहवा।, (बु.) अधवा।
229. (ऑ.-1) सन्दिट्ठास्मि।, (श्री.) सन्दिट्ठम्मि।
230. (श्री.) वेदितार्थास्मि।
231. (भूर्ज.) शब्दोऽयं नास्ति।
232. (ऑ.-1)एवं (श्री.) कार्यः।, (भूर्ज.-ऑ.3) कार्यः।
233. (श्री.) इतः परं लिपिकारेण भरतवाक्यस्यान्तिमं चरणमेव लिखितम्। तद्यथा—''ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः। इति [नि] ष्क्रान्ता सर्वे। शुभम्। समाप्तम्॥''
234. (ऑ.-1) शापादिति।, (भूर्ज.-ऑ.3) शापादिति।, (बु.)शापाद् [असि,]।
235. (भूर्ज.-ऑ. 3) छाया मूर्च्छति मनोहतप्रसादैः।
236. (ऑ.-1) एवं (भूर्ज.-ऑ. 3) सुभगावकाशा।, (बु.) सु[लभा,] वकाशा।
237. (भूर्ज.-ऑ. 3) शाकुन्तलीयः।
238. (ऑ.-1) रथेनानुद्धातस्तिमिरगतिना।, (भूर्ज.-ऑ.3) 0गतीजलधिः।
239. (भूर्ज.-ऑ. 3) लोकस्य।
240. (ऑ.-1) आणन्द।, (बु.) इमाए [णन्दणा]।
241. (ऑ.-1) मनोरह।, (बु.) मनोरध।
242. (ऑ.-1) सुदिवित्थारं।
243. (भूर्ज.-ऑ. 3) सहर्षमित्यधिकम्।
244. (ऑ.-1) हन्त न मामतिक्रुद्धो।, (भूर्ज.-ऑ. 3) मा मेऽभिक्रुद्धः गुरुः।
245. (भूर्ज.-ऑ. 3) उच्चैरिति रंगसूचनाधिका।
246. (भूर्ज.-ऑ. 3) ततः प्रविशति अपटीक्षेपेण तापसः। उपसृत्य सविनयम्। अयमस्मि।
247. (ऑ.-1) कण्वाय।, (भूर्ज. बो.) कण्वाय।
248. (भूर्ज.-ऑ.3) प्रणम्य, यदाज्ञापयतीति निष्क्रान्तः।
249. (ऑ.-1) वृष्टिं।
250. (ऑ.-1) सुखम्।
251. (ऑ.-1) बहुतिथौ।
252. (ऑ.-1) सौहृदेनैव।
253. (ऑ.-1) श्रुतिमहतो।, (भूर्ज.-ऑ. 3) श्रुतमहतां।

254. (श्री.) शक्ति।
255. (भूर्ज.)संवत् 33 वै शु ति सप्तम्याम्। सम्पन्नमिदं शकुन्तलाख्यम् नाटकम्। इति शुभम्। श्रीगुरवे सरस्वतीभूपायोम् नमः॥ ॥ श्रीगणेशाय नमः॥ - इति पुष्पिकायाम्।, (श्री.) शुभम्। समाप्तम्॥
256. (ऑ.-1) सप्तमोऽङ्कः॥ समाप्तं चेदमभिज्ञानशकुन्तला नाम नाटकम्॥ कृतिर्महाकवेः कालिदासस्येति शिवम्। शुभमस्तु लेखक-पाठक-श्रोतृणाम्॥ शुभं भवतु सर्वत्र॥
257. (भूर्ज.-ऑ.3) इति निष्क्रान्ता सर्वे। सप्तमोऽङ्कः। समाप्तमिदमभिज्ञानशकुन्तलं नाम नाटकम्। इति शुभमस्तु लेखक-पाठकयोः। शिवं च सर्वजगताम्। अशुद्धत्वमादर्शदोषात्। सं. 52 पौ सुति 11, गुरौल, श्रीगणेशाय नमः।

परिशिष्ट-1

हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण में अभिज्ञानशकुन्तला के उदाहरण

भूमिकाः संस्कृत नाटकों में नायक का नर्मसचिव विदूषक एवं अन्य स्त्री-पात्र सृष्टि होती है। उसके साथ में चेटियाँ, प्रतीहारी (द्वार पालिकायें), एवं कञ्चुकी आदि निम्न कक्षा का परिजन वर्ग भी होता है वे सभी प्राकृत भाषा में बोलते हैं। लेकिन प्राकृत भाषायें तो बहुविध है, अतः प्रश्न होता है कि इन पात्रों के द्वारा कौन सी प्राकृत भाषा का विनियोग किया जाता था? इस सन्दर्भ में,नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने कहा है कि काव्य की रचना तो अनेक देशों की (प्राकृत) भाषाओं का विनियोग करते हुए की जा सकती है। अलग अलग प्रान्तों के निवासियों के लिए अलग अलग प्राकृत भाषा हो सकती है। लेकिन नाटक की नायिका जैसे स्त्री पात्रों के द्वारा तो शौरसेनी प्रकार की प्राकृत भाषा (ही) बोली जानी चाहिए। तथा व्यसन के सन्दर्भों में, विशेष रूप से आत्म रक्षा करने की स्थिति उपस्थित हो जाने पर मागधी प्राकृत का विनियोग होना चाहिए। एवमेव, गङ्गा-सागर के बीचवाले (अर्थात् उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल) प्रदेशों में एकार बहुल (मागधी) भाषा का प्रयोग होना अपेक्षित है। भरत मुनि के शब्द इस तरह के है :-

सौरसेनं समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके।
अथवा छन्दतः कार्या देशभाषा प्रयोक्तृभिः ॥18 -34॥
नानादेशसमुत्थं हि काव्यं भवति नाटके।
मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसेन्यर्धमागधी ॥18-35॥

वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः।
शबराभीरचण्डालसचरद्रविडोद्रजाः ॥18-36॥
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृता।
मागधी तु नराणाञ्चैवान्तःपुरवासिनाम् ॥18-37॥
चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठीनाञ्चार्धमागधी।
प्राच्या विदूषकादीनां योज्या भाषा अवन्तिजा ॥18-38॥
नायिकानां सखीनाञ्च सौरसेन्यविरोधिनी।
यौधनागरिकादीनां दाक्षिणात्या च दीव्यताम्॥ 18-39॥
व्यसने नायिकादीनां आत्मरक्षासु मागधी।
गङ्गासागरमध्ये तु ये देशाः संप्रकीर्तिताः॥ 18-45॥
एकारबहुलां तेषु भाषां तज्ज्ञः प्रयोजयेत्'॥ 18-46॥

इससे यह बात स्पष्ट होती है कि भरत मुनि के द्वारा लिखे गये उपर्युक्त नियम उनके उत्तरवर्ती काल के संस्कृत नाट्यकारों के लिए मार्गदर्शक बने होंगे। कालिदास, शूद्रकादि जैसे नाट्यकार, जो कि भरत मुनि के समय के नज़दीक रखें जाते हैं, उसके लिए तो यह बात प्रायः सही हो सकती है। इस पूर्वभूमिका के अनुसन्धान में हम यदि अभिज्ञानशाकुन्तल में प्रयुक्त प्राकृत भाषा का विश्लेषण करते हैं तो अभिज्ञानशाकुन्तल के मौलिक पाठ में हुए परिवर्तनों के कुछ ठोस प्रमाण सामने आते हैं। क्योंकि इस नाटक की उपलब्ध हो रही पाण्डुलिपियों में तथा उसके वर्तमान संस्करणों में प्राकृत-संवादो में शौरसेनी की अस्मिता (उनके निजी ध्वनिस्वरूप) क्रमशः लुप्त हो रही है और उसके स्थान पर महाराष्ट्री प्राकृत का स्वरूप दाखिल होता जा रहा है ऐसे प्रकट संकेत मिल रहें हैं। प्राकृत भाषाओं में हुआ ध्वनि-परिवर्तन एक ऐसा भाषाकीय तथ्य है कि जिसके साथ भौगोलिक एवं सामयिक भेदक रेखा का सम्बन्ध भी जुड़ा हुआ है। जिस तरह से भगवान् महावीर की मूल वाणी मागधी या अर्धमागधी में प्रकट होने के बाद, कालान्तर में जब उसका माथुरी वाचना में परिवर्तन होता है तो उसमें शौरसेनी प्राकृत के लक्षण प्रविष्ट होते हैं। तत्पश्चात् वही माथुरी वाचना का पाठ कालान्तर में जब गुजरात

के वलभी प्रान्त में लिपिबद्ध किया गया तब उसमें महाराष्ट्री प्राकृत के लक्षण प्रभावी हो गयें। यह बात केवल जैन-आगमों तक ही सीमित नहीं है, यह बात साहित्य में प्रयुक्त प्राकृत भाषा को भी लागु होती है। मतलब कि प्राकृत भाषाओं में स्थल-काल के अनुसार ध्वनि-परिवर्तन होता रहा है वह एक ऐतिहासिक तथ्य है। अतः अभिज्ञानशाकुन्तल के मूल पाठ में महाकवि कालिदास ने अपने हाथ से, भरत मुनि के द्वारा निर्दिष्ट नियमानुसार स्त्री-आदि पात्रों के संवाद शौरसेनी एवं मागधी प्रकार की प्राकृत भाषा में जो लिखे होंगे वह अद्यावधि यथावत् नहीं रह पाये होगें। प्राकृत-संवादों का मूल कवि प्रणीत पाठ भी विभिन्न स्थल-काल की नट मण्डलियों के द्वारा मंचन के दौरान एवं पाण्डुलिपियों के प्रतिलिपिकरण के सिलसिले में समय समय पर बदलता रहा होगा यह अवश्यंभावी हकीकत है। अतः शाकुन्तल में भरत मुनि के मार्गदर्शन अनुसार शौरसेनी प्राकृत का विनियोग हुआ होगा ऐसी पूर्वावधारणा को लेकर, आज के जमाने में प्रचलित हुए शाकुन्तल के प्राकृत संवादों का विश्लेषण करके देखते हैं तो उसमें शौरसेनी-प्राकृत का स्वरूप सुरक्षित नहीं रहा है ऐसा मालूम होता है। तथा इस नाटक के सम्भवित (आदि) पाठ और वर्तमान में प्रचलित हुए पाठ के बीच में रहे प्राकृत-व्याकरणों को देखेंगे तो उसमें उद्धृत हुये उदाहरणों से कुछ सामग्री ऐसी मिल जाती है कि जिससे शाकुन्तल की विचलित हो रही पाठ परम्परा के अतीत में झाँखने का मार्ग मिलता है!

1

अभिज्ञानशाकुन्तल में नायिका शकुन्तला, उनकी सहेलियाँ अनसूया एवं प्रियंवदा, आश्रम-माता गौतमी आदि स्त्री पात्र तथा विदूषक, दौवारिक जैसे अन्य नीच पात्र शौरसेनी में बोलते हो यह भरत मुनि के उपर्युक्त वचनों की अपेक्षा है। साथ में षष्ठाङ्क में, जहाँ धीवर-प्रसंग का निरूपण है वहाँ एकार-बहुल मागधी प्राकृत भाषा प्रयुक्त की गई हो यह जरूरी है। क्योंकि नगर रक्षकों ने "दुष्यन्त" ऐसा नाम जिस पर उत्कीर्ण किया

है उस अङ्गुलीयक को बेचने के लिए हस्तिनापुर में आये मत्स्यजालोपजीवी धीवर को ग्रन्थि भेदक (चौर) होने की आशङ्का से पकड़ लिया है और उसे मारा-पीटा जा रहा है। यह धीवर मूलतः गङ्गाघाट पर आये शक्रावतार/शचीतीर्थ पर रहनेवाला है। अतः आत्मरक्षा के सन्दर्भ में, और गङ्गासागर के मध्यभाग में रहनेवालों के द्वारा मागधी प्राकृत भाषा का विनियोग करने की विशेष सूचना भरत मुनि ने दे रखी है। इन सूचनाओं को देखते हुए अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रचलित संस्करणों में प्राकृत भाषा-निबद्ध संवादों का विश्लेषण करना चाहिए। परन्तु ऐसे विश्लेषण के लिए वररुचि का "प्राकृत-प्रकाश" प्राचीनतर होते हुए भी, हम इसका उपयोग नहीं करेंगे। क्योंकि वररुचि ने प्राकृत-प्रकाश के द्वादशाध्याय में शौरसेनी का वर्णन करते समय जो वाक्य उद्धृत किये हैं वे सभी मृच्छकटिक प्रकरण से पसंद किये हैं[2]। इस सन्दर्भ में, हमारे प्रस्तुत आलेख में तो आचार्य हेमचन्द्र जी के प्राकृत-व्याकरण का ही सहारा लेना उपकारक सिद्ध होगा। हेमचन्द्राचार्य ने अपने प्राकृत-व्याकरण में जो शौरसेनी एवं मागधी प्राकृत के नियम दिये हैं उसमें उदाहरणभूत शब्दावली महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक से ली है!

2

हेमव्याकरण के अष्टम अध्याय के चतुर्थ पाद में शौरसेनी प्राकृत के नियम अनुक्रम से इस तरह से दिये गये हैं : - (1) *तो दोऽनादौ शौरसेन्याम् अयुक्तस्य* । 8-4-260॥ [वृत्तिः-शौरसेन्याम् भाषायामनादावपदादौ वर्तमानस्य तकारस्य दकारो भवति, न चेदसौ वर्णान्तरेण संयुक्तो भवति। अनादौ किम्—तधा करेध जधा तस्स राइणो अणुकम्पणीआ भोमि॥ अयुक्तस्येति किम्—अय्यउत्तो। असंभाविद-सक्कारं। हला सउन्तले॥] यहाँ "तथा" अव्यय के आरम्भ में आया हुआ तकार दकार में परिवर्तित नहीं हुआ है, क्योंकि सूत्र में "अनादौ" ऐसी शर्त रखी गई है। उसी तरह से सूत्र में आये हुए "अयुक्तस्य" पद का स्वारस्य प्रकट करने के लिए "सउन्तले" ऐसा उदाहरण रखा गया है। यहाँ "सउन्तला" शब्द में "न्त" संयुक्ताक्षर है।

अतः संयुक्ताक्षर में स्थित तकार का दकार में परिवर्तन नहीं होता है यह दिखाया गया है। किन्तु वर्तमान में अभिज्ञानशाकुन्तल का जो पाठ सारे देश में स्वीकृत एवं सुप्रचलित हुआ है वह है देवनागरी वाचना का पाठ। उसमें सर्वत्र "सउन्दला" (अथवा "सउंदला'') ऐसा पाठ प्रवर्तित हुआ दिख रहा है। यहाँ पर, यानें "सउन्दला" ऐसे प्राकृत शब्द में शौरसेनी भाषा का लक्षण घटित नहीं होता है। (यदि अनुस्वारयुक्त "सउंदला" शब्द रखते हैं तो उसमें संयुक्ताक्षर के रूप में न्त नहीं होने से तकार का दकार हो सकता है।)

आचार्य हेमचन्द्र ने 1172 ई. सा. में इस व्याकरण की रचना की थी। लेकिन उससे भी पहले प्राकृत-प्रकाश पर भामह (600 ई. सा.) ने जब मनोरमा-टीका लिखी है तब भामह[3] ने भी "हला सउन्तला" ऐसा ही शौरसेनी का एक उदाहरण दिया है।

(2) *थो धः*। 8-4-267 [वृत्तिः-शौरसेन्यां थस्य धो वा भवति। कधेदि-कहेदि।] इस सूत्र के अनुसार शौरसेनी भाषा में थकार का धकार में (विकल्प से) परिवर्तन होता है। उदाहरण के रूप में, कथयति क्रियापद में जो कथ्-धातु का थकार है उसका धकार में परिवर्तन होता है। इस नियम का चारितार्थ्य अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के "तधा करेध जधा तस्स राइणो अणुकम्पणीआ भोमि।" इस वाक्य में आप देख सकते हैं। (यह वाक्य उपर्युक्त पहले नियम के उहाहरण में ही हेमचन्द्र जी ने दिया है, वह अवलोकनीय है।) यहाँ पर "तथा" एवं "यथा" ऐसे दो अव्ययों में जो थकार है, उसका शौरसेनी में अनुक्रम से "तधा" और "जधा" ऐसे ध्वनि परिवर्तन-वाले रूप दिये गये हैं। किन्तु आज इस नाटक का जो पाठ देवनागरी वाचना[4] में मिल रहा है, उसमें तो "तहा" और "जहा" ऐसा रूप दृष्टिगोचर हो रहा है। राघवभट्ट ने जिस देवनागरी पाठ पर टीका लिखी है उसमें तो प्रस्तुत वाक्य इस स्वरूप में उपलब्ध हो रहा है :- रूतं जइ वो अणुमदं ता तह वट्टह जह तस्स राएसिणो अणुकंपणिज्जा होमि। (इस की संस्कृतच्छाया होती हैः-तद्यदि वामनुमतं तदा तथा वर्तेथां यथा तस्य राजर्षेरनुकम्पनीया भवामि। अङ्क-3)। इससे यह निष्कर्ष

निकलता है कि हेमचन्द्राचार्य ने शौरसेनी प्राकृत के लिए थकार के स्थान में धकार होने का निदर्शभूत उदाहरण जिस शाकुन्तल नाटक से दिया है उसकी पोथी का पाठ और हमारे सामने रहा पाठ भिन्न ही है। हेमचन्द्र जी की पोथी का पाठ कालिक दृष्टि से निश्चित रूप से प्राचीनतर मानना होगा। आज हमारे सामने प्रचलित हुआ शाकुन्तल का पाठ महाराष्ट्री प्राकृत में परिवर्तित हुआ मिलता है।

(3) भुवो भः। 8-4-269 [वृत्तिः-भवतेर्हकारस्य शौरसेन्यां भो वा भवति॥] इस सूत्र के अनुसार भू धातु का भकार शौरसेनी में भ के रूप में ही रहता है, और विकल्प से उस भकार का कुत्रचित् हकार भी हो सकता है। (यहाँ वैकल्पिक रूप वाञ्छनीय नहीं है—ऐसा समझना है) इस नियम के सन्दर्भ में हेमचन्द्र जी ने 8-4-260 का उदाहरण देने के लिए जिस वाक्य को उद्धृत किया है उसकी ही ओर निगाह डालेंगे। *तधा करेध जधा तस्स राइणो अणुकम्पणीआ भोमि।* इसमें भवामि क्रियापद के लिए शौरसेनी में भोमि ऐसा रूप होता है वह दिखाने का तात्पर्य है। लेकिन अभिज्ञानशाकुन्तल के आज प्रचलित हुए देवनागरी पाठों में शौरसेनी के इस नियम का परिपालन नहीं हुआ है। जैसे कि, *तं जइ वो अणुमदं ता तह वट्टह जह तस्स राएसिणो अणुकंपणिज्जा होमि।* यहाँ भू-धातु से निष्पन्न भवामि क्रियापद के स्थान में भू धातु के भकार का हकार में परिवर्तन किया गया है, जो महाराष्ट्री प्राकृत का ध्वनि परिवर्तन माना जाता है।

(4) *पूर्वस्य पुरवः*। 8-4-270 [वृत्तिः-शौरसेन्यां पूर्व शब्दस्य पुरव इत्यादेशो वा भवति।, अर्थात् संस्कृत भाषा के पूर्व-शब्द के स्थान में, शौरसेनी प्राकृत में पुरव ऐसा ध्वनि परिवर्तन होता है। हेमचन्द्राचार्य ने इसका उदाहरण देते हुए लिखा है कि—अपुरवं नाडअं। अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की प्रस्तावना में इस तरह का एक वाक्य मिल रहा है : *णं अज्जमिस्सेहिं पढमं एव्व आणत्तं अहिण्णाणसाउंदलं णाम अपुव्वं णाडअं पओए अधिकरीअदुत्ति।* (संस्कृतच्छाया—नन्वार्यमिश्रैः प्रथममेवाज्ञप्तम् अभिज्ञानशाकुन्तलं नामापूर्वं नाटकं प्रयोगेऽ-धिक्रियतामिति।) किन्तु प्रचलित देवनागरी शाकुन्तल के पाठों में तो “अपुरवं” नहीं है, “अपुव्वं” ऐसा रूप

चलता है। तथा यह अपुव्वं रूप तो महाराष्ट्री प्राकृत का है। अतः जिज्ञासा होती है कि आचार्य हेमचन्द्र जी ने शौरसेनी के उदाहरण के रूप में "अपुरवं नाडअं" ऐसा उदाहरण किसमें से लिया होगा? अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की देवनागरी के अलावा जो अन्यान्य वाचनायें है, जैसे कि मैथिली और बंगाली उसमें भी अपुरवं ऐसा शौरसेनी का रूप तो मिलता ही नहीं है। अतः हेमचन्द्राचार्य जी के द्वारा दिये गये उदाहरण का स्रोत गवेषणीय बनता है। डॉ. एस. के. बेलवालकर जी ने काश्मीरी वाचना के अभिज्ञानशाकुन्तल का पाठ सम्पादित किया है उसमें भी ऐसा रूप नहीं है। वहाँ पर तो "अपुव्वं" ऐसा महाराष्ट्री रूप ही दिया गया है! तो इसके लिए द्रष्टव्य है भूर्जपत्र वाली पाण्डुलिलि, क्र. 192 एवं ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी की बोडलीयन लाईब्रेरी में 1247 क्रमांक से संगृहीत शारदा लिपि में निबद्ध काश्मीरी पाण्डुलिपि। उसमें "अपुरवं णाडअं" ऐसा स्पष्ट शौरसेनी का रूप संचरित हुआ दिखाई रहा है। इससे ऐसा सूचित हो रहा है कि आचार्य हेमचन्द्र जी के सामने काश्मीरी पाण्डुलिपिवाला पाठ रहा होगा।

(5) *कृ-गमो डडुअः*। 8-4-272 [वृत्तिः-आभ्यां परस्य क्त्वा-प्रत्ययस्य डित् अडुअ इत्यादेशो वा भवति। कडुअ। गडुअ।, पक्षे करीअ। गच्छिय।] इस सूत्र के अनुसार, कृत्वा एवं गत्वा जैसे कृदन्तों के लिए शौरसेनी प्राकृत में कडुअ और गडुअ रूप प्रयुक्त होते हैं। हेमचन्द्र जी ने इसके उदाहरण अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक से नहीं दिये हैं। इस सन्दर्भ में देवनागरी वाचना के शाकुन्तल (अङ्क 2 और 3) में कृत्वा—रूप का जहाँ प्रयोग हुआ है ऐसे कतिपय वाक्य देखेंगे। 1. कुतः किल सअं अच्छी आउलीकरिअ अस्सुकारणं पुच्छेसि।-देव., 2. अत्तभवं किं वि हिअए करिअ मंतेदि। देव. , 3. इमं देवप्पसादस्सावदेसेण सुमणोगोविदं *करिअ* से हत्थअं पावइस्सं। -देव. (पृ. 97) इन सब में कृत्वा के लिए करिअ ऐसा ही रूप दृष्टिगोचर हो रहा है। लेकिन ऐसा करिअ (और करिदूण) रूप तो महाराष्ट्री प्राकृत में ही मान्य है। शौरसेनी का विशेष रूप तो "कदुअ" ही हो सकता है। तो हेमचन्द्र जी ने जैसा शौरसेनी का रूप निर्दिष्ट किया है वैसा रूप भाग्यवशात् ऑक्सफर्ड की उपरि-निर्दिष्ट शारदा पाण्डुलिपि में सुरक्षित मिल

रहा है। तथा अभिज्ञानशकुन्तल का बृहत्पाठ जिसमें संचरित हुआ है ऐसी मैथिली एवं बंगाली वाचनाओं में भी "कदुअ" ऐसा ही रूप उपलब्ध हो रहा है।

(6) *न वा र्यो य्यः*। 8-4-267 [वृत्तिः-शौरसेन्यां र्यस्य स्थाने य्यो वा भवति।, शौरसेनी प्राकृत में रेफोत्तरवर्ती यकार के स्थान में य्य का प्रयोग होता है। अर्थात् संयुक्ताक्षर के रूप में रहे "र्य" में समीकरण की प्रक्रिया से "य्य" जैसा परिवर्तित रूप जन्म लेता है। हेमचन्द्र जी ने उसके उदाहरण के रूप में "अय्यउत्त पय्याकुलीकदम्हि।" वाक्य दिया है। लेकिन हमें इस स्वरूप का कोई वाक्य प्रचलित शाकुन्तल में से नहीं मिला है। किन्तु र्य का य्य में पर्यवसान हुआ हो ऐसे एक वाक्य का उहाहरण हेमचन्द्र जी ने इदानीमो दाणिं। 8-4-277 सूत्र की वृत्ति में दिया है, जो अभिज्ञानशाकुन्तल से लिया गया है। तद्यथा–*अनन्तरकरणीयं दाणिं आणवेदु अय्यो*। (शाकुन्तल की प्रस्तावना में) यहाँ पर नटी सूत्रधार को सम्बोधन करते हुए आर्य शब्द के स्थान में अय्यो शब्द का विनियोग करती है। अब देवनागरी वाचना के शाकुन्तल का पाठ देखने पर यही वाक्य इस स्वरूप में मिलता है : नटी–*अज्ज, एवं णेदं। अणंतरकरणिज्जं अज्जो आणवेदु।* (पृ. 10) इस तरह देवनागरी वाचना में तो आर्य शब्द का ध्वनि परिवर्तन हो कर अज्ज रूप होता है ऐसा प्रदर्शन हुआ है। दूसरी ओर हेमचन्द्र जैसे प्राकृत भाषाओं के व्यापक परिशीलन करनेवाले वैयाकरण कहते हैं कि शौरसेनी प्राकृत में तो र्य का य्य ऐसा ही ध्वनि परिवर्तन होता है। अब हेमचन्द्र जी ने जिस वाक्य को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है वह काश्मीर की शारदा पाण्डुलिपि में उपलब्ध हो रहा वाक्य है, जो सही स्वरूप में शौरसेनी प्राकृत का रूप सुरक्षित रखनेवाली परम्परा है। लेकिन इस नाटक का शौरसेनी पाठ पश्चाद्वर्ती काल में उत्तरोत्तर महाराष्ट्री प्राकृत की ओर झुकता जा रहा है॥ इसी तरह से *णं नन्वर्थे।* 8-4-283 [वृत्तिः-शौरसेन्यां नन्वर्थे णमिति निपातः प्रयोक्तव्यः।, सूत्र से कहा गया है कि ननु निपात के लिए शौरसेनी में णं ऐसा निपात प्रयुक्त होता है। यहाँ पर हेमचन्द्र जी ने जो उदाहरण दिया है वह भी द्रष्टव्य हैः *णं अय्यमिस्सेहिं पुढमं*

य्येव आणत्तं। (अङ्क-1)। तथा, *णं भवं में अग्गदोचलदि।* (अङ्क-2)। इसमें आर्यमिश्रैः के लिए अय्यमिस्सेहिं ऐसा रूप दिया गया है, जो भी शारदा पाण्डुलिपियों के पाठ में ही उपलब्ध होता है। देवनागरी वाचना में तो, *णं अज्जमिस्सेहिं पढमं एव्व आणत्तं।* मिलता है। अर्थात् र्य के स्थान में ज्ज का प्रयोग ही शुरू कर दिया गया है, जो परवर्ती काल का महाराष्ट्री प्राकृत है। एवमेव, संस्कृत भाषा के "एव" निपात के स्थान में शारदा पाण्डुलिपियों में "य्येव" चलता है, किन्तु देवनागरी वाचना में "एव्व" प्रचलित किया गया है। एवं का एव्व भी परवर्ती काल का रूप है, और वह शौरसेनी का नहीं है।

3

आचार्य हेमचन्द्र जी ने मागधी प्राकृत का निरूपण करते समय भी अभिज्ञानशाकुन्तल के षष्ठाङ्क के आरम्भ में आये हुए धीवर-प्रसंग में से बहुत सारे वाक्य उदाहरण के रूप में दिये हैं। इस प्रसंग में जिस प्राकृत का विनियोग हुआ है वह मागधी-प्राकृत ही है। अतः हेमचन्द्राचार्य के द्वारा उद्धृत किये गये इन वाक्यों को प्राचीनकालीन सहायक-सामग्री (Testimonial) के रूप में ग्रहण करके इस सन्दर्भ में प्रयुक्त की गई मागधी-प्राकृत के पाठ का पुनर्वसन (Restoration) किया जा सकता है। क्योंकि ऐसी सहायक-सामग्री हेमचन्द्राचार्य जी के द्वारा 1172 ई.सा. में उद्धृत हुई होने से, शाकुन्तल की उपलब्ध पाण्डुलिपियों के समय से अधिक पुराने समय की वह है। (शाकुन्तल की आज मिलनेवाली कोई भी पाण्डुलिपि हेमचन्द्राचार्य के समय की नहीं है।) अतः पाठालोचन की प्रक्रिया में जो प्राचीन से प्राचीनतर, और प्राचीनतर से प्राचीनतम पाठ की खोज करने का लक्ष्य होता है वह ऐसी प्राचीनतर सहायक-सामग्री के मिलने पर अनायास सिद्ध हो जाती है, तो उसे अधिक श्रद्धेय मान कर स्वीकारनी चाहिए।

हेमचन्द्र ने मागधी-प्राकृत के उदाहरण देने के आशय से अभिज्ञानशाकुन्तल से जिन वाक्यों को उद्धृत किये हैं, वह निम्नोक्त हैं

:- (1) हगे न एलिशाह कम्माह काली। [*अवर्णाद्वा ङसो डाह।* सूत्रक्रमांक 8-4-299], (2) हगे शक्कावदाल-तिस्त-णिवाशी धीवले। [*अहं-वयमोर्हगे।* सूत्रक्रमांक 8-4-301], (3) पविशदु आवुत्ते शामि पशादाय। [*र-सोर्ल-शौ*। सूत्रक्रमांक 8-4-288], (4) मालेध वा धलेध वा, अयं दाव शे आगमे। (मारयत वा धरत वा, अयं तावत् तस्य आगमः।) [*वादेस्तावति*। सूत्रक्रमांक 8-4-262], (5) अले कुम्भिला कधेहि। [*थो धः*। सूत्रक्रमांक 8-4-267], (6) किं खु शोभणे बह्मणे शि त्ति कलिय, लञ्ञा पलिग्गहे दिण्णे। [*क्त्व इय-दूणौ*। सूत्रक्रमांक 8-4-271], (7) गश्च। [*छस्य श्चोऽनादौ*। सूत्रक्रमांक 8-4-295]॥

हेमचन्द्र के द्वारा दिये गये इन वाक्यों की तुलना देवनागरी वाचना में जो प्राकृत रूप प्रचलित हुए मिल रहे हैं उसके साथ करनी चाहिए : (1) हगे ण ईदिशकम्मकाली। (2) हगे शक्कावदालब्भंतरालवाशी धीवले। (3) पविसदु आवुत्ते शामिपशादश्श। (4) मालेह वा मुंचेह वा, अअं शे आअमवुत्तंते। (5) अले कुंभीलआ, कहेहि। (6) किं सोहणे बम्हणेत्ति कलिअ रज्जा पडिग्गहे दिण्णे। (7) तह, गच्छ अले गंडभेदअ॥ इन उदाहरणों में मागधी प्राकृत के सभी लक्षण घटित नहीं होते हैं। अर्थात् महाकवि कालिदास ने भरत मुनि की सूचनाओं को दृष्टि समक्ष रखते हुए जिस तरह की मागधी प्राकृत का विनियोग किया होगा वह कालान्तर में (विशेष रूप से देवनागरी एवं दाक्षिणात्य वाचनाओं के पाठ में) बहुत कुछ बदला हुआ है। यहाँ जो शब्द अधोरेखाङ्कित है उसमें दिख रहे ध्वनि-परिवर्तन महाराष्ट्री प्राकृत की ओर झुकता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है।

4

षष्ठांक के आरम्भ में जहाँ धीवर-प्रसंग वर्णित है उसमें (भरत मुनि की सूचना के अनुसार) मागधी प्राकृत संवादों का होना अपेक्षित है, किन्तु देवनागरी वाचनावाले शाकुन्तल के संस्करणों में प्राकृत उक्तिओं में धीर धीरे महाराष्ट्री-प्राकृत का प्रभाव बढता जा रहा है। जिसके कारण कुछ स्थानों पर अपपाठों ने भी जन्म ले लिया है। जैसे कि, *कथयति* क्रियापद

का मागधी प्राकृत में *कधेहि*—ऐसा रूप होता है। क्योंकि मागधी में थकार का धकार में परिवर्तन होता है। किन्तु कालान्तर में, (द्वितीय स्तर पर) उस धकार का महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव से हकार में परिवर्तन किया गया। जिसके फल स्वरूप *कहेहि* रूप बना होगा, और उसने "यह लोडर्थक (आज्ञार्थक) रूप है" ऐसी भ्रान्ति को जन्म दिया होगा। परिणामतः, *आवुत्त, परितोषं कहेहि।* ऐसी उक्ति का संस्कृत छायानुवाद करने का प्रसंग आया होगा तब, राघवभट्ट जैसे टीकाकार ने भी यह ध्यान में नहीं लिया कि *कधेहि* जैसे मागधी क्रियापद का (महाराष्ट्री-प्राकृतीकरण होने के बाद) यह *कहेहि* रूप पाण्डुलिपियों में चल पड़ा है। उसका छायानुवाद कथय के रूप में न करके, कथयति के रूप में ही करना अनिवार्य था। लेकिन महाराष्ट्री-प्राकृत के स्वरूप को हि मूलपाठ मान लेने के कारण *कहेहि* का छायानुवाद *कथय* कर दिया गया है। द्रष्टव्य है जानुक की उक्तिः—आवुत्त, पलिदोशं कहेहि। तेण अंगुलीअएण भट्टिणो शम्मदेन होदव्वं। (छाया—आवुत्त, परितोशं कथय। तेनाङ्गुलीयकेन भर्तुः संमतेन भवितव्यम्।)[5] यहाँ किसी भी तरह से कथय ऐसा संस्कृतच्छायानुवाद सुसंगत नहीं है। फिर भी वही पाठ देवनागरी परम्परा में चल रहा है।

5

हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण में उद्धृत हुए शौरसेनी एवं मागधी के जिन उदाहरणों की तुलना प्रचलित देवनागरी पाठ के साथ की जाती है तो मालूम होता है कि समग्र भारत की विद्वत्ता जिस देवनागरी पाठ को श्रद्धेय मान रही है वह पाठ तो उपर्युक्त भाषाकीय तथ्य को मद्दे नज़र रखते हुए उत्तरवर्ती काल का सिद्ध हो रहा है। और संस्कृत पाठालोचन का प्रथम कर्तव्य यही मानना चाहिए कि हम प्राचीन से प्राचीनतर, और प्राचीनतर से प्राचीनतम पाठ की पहले खोज करें। इसके लिए उपलब्ध पाण्डुलिपियों से भी अधिक पुरानी सहायक-सामग्री जो हो उसे हस्तगत करले। यदि ऐसी सामग्री श्रद्धेय स्रोत से मिल रही हो और उस बहिरङ्ग सामग्री में दिख रही पाठ परम्परा का समर्थन करनेवाली कोई एकल

(काश्मीरी जैसी) वाचना भी कहीं से उपलब्ध हो रही है, तो उसका समादर करके प्राचीनतर पाठ का पुनर्वसन कर लेना चाहिए॥ उपर्युक्त समग्र चर्चा एवं तुलना हमें यह सूचित करती है कि अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक की देवनागरी वाचना के संस्करणों में प्रचलित हुआ (परवर्ती काल का) महाराष्ट्री प्राकृत का स्वरूप त्याग कर, जिस पाठ में शौरसेनी एवं मागधी के लक्षण विद्यमान रहे हैं, उसको प्राचीनतम (एवं अधिक श्रद्धेय) मान कर उसे "समीक्षित" पाठ के रूप में अपना लेना चाहिए।

सन्दर्भ

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम्। (राघवभट्टकृतार्थद्योतनिकया सहितम्), सं. नारायण राम, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, 2006
2. कालिदास ग्रन्थावली, सं. श्रीरेवाप्रसाद द्विवेदी, कालिदास संस्थान, वाराणसी, 1986
3. नाट्यशास्त्रम्। (मूलमात्रम्), सं. बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा ओरिएन्टालिया, वाराणसी, 1980
4. प्राकृत-प्रकाशः। (भामहकृत-मनोरमा-व्याख्या सहित), सं. मथुराप्रसाद दीक्षित, चौखम्बा संस्कृत सीरीझ आफिस, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 1959,
5. हेमचन्द्राचार्यकृतं प्राकृत-व्याकरणम् (अष्टमोऽध्यायः), सं. वज्रसेन विजय, श्रीजैन आत्मानंद सभा, भावनगर, 1982
6. S'akuntala, Ed. Monier Williams, Chawkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 3rd Edition, 1961
7. नाट्यशास्त्रम्। (मूलमात्रम्), सं. बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा ओरिएन्टालिया, वाराणसी, 1980, पृ. 217
8. प्राकृत-प्रकाशः (भामह कृत मनोरमा-व्याख्या सहितः), सं. मथुराप्रसाद दीक्षित, चौखम्बा संस्कृत सीरीझ ऑफिस, वाराणसी, 1959 (चतुर्थ संस्करण), अध्याय 12-सूत्र 16, 18, 20, 27, (पृ. 244-246)
9. प्राकृत-प्रकाश (भामह कृत-मनोरमा-व्याख्या सहित), सं. मथुराप्रसाद दीक्षित, चौखम्बा संस्कृत सीरीझ आफिस, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 1959, पृ. 239.
10. मोनीयर विलियम्स (1876), पी.एन. पाटणकर (1902), रेवाप्रसाद द्विवेदी (1986) आदि के संस्करणों में।
11. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (राघवभट्टकृतार्थद्योतनिकया सहितम्), सं. नारायण राम, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, 2006, पृ. 187

Bibliography

List of the Kaashmiri "Shaaradaa" Manuscripts

1. MS. No. 192, written on Brich bark., B.O.R.I. Pune
2. MS. No. 1247, a paper manuscript from the Bodleian Library.Oxford University
3. MS. No.159, a paper manuscript from the Bodleian Library,Oxford University
4. MS. No. 87 (93 / 170), Brich-bark manuscript from the Bodleian Library, Oxford
5. MS. No. 1435, paper manuscript, from the Jammu & Kashmir Govt. Library, on the campus of University of Shrinagar, Shri-nagar.

List of other Manuscripts

1. नेपाल की दरबार लाईब्रेरी की मैथिल पाण्डुलिपि, क्रमांक-1600, जिसको श्री धर्मानन्द कौशाम्बी ने प्राप्त की थी, और जो आज काकासाहेब कालेलकर जी के संग्रह, दिल्ली में है।

Books in Sanskrit

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम्। (राघवभट्टकृतार्थद्योतनिकया टीकया समेतम्), सं. नारायण राम, प्रकाशकः राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नयी दिल्ली, 2006.

2. अभिज्ञानशकुन्तलम् नाटकम्। शङ्कर-नरहरिकृताभ्यां टीकाभ्याम् समलंकृतम्।, (मैथिल-पाठानुगम्), सं. रमानाथ झा, प्रकाशकः मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा, 1957
3. अभिज्ञानशकुन्तलम्। (बंगाली वाचनानुसारि), सं. दिलीपकुमार काञ्जीलाल, प्रकाशकः संस्कृत कॉलेज, कोलकाता, 1980
4. अभिज्ञानशकुन्तलम्। (चन्द्रशेखर-चक्रवर्तिनः सन्दर्भदीपिकया सहितम्), सं. वसन्तकुमार म. भट्ट, राष्ट्रिय पाण्डुलिपि मिशन, दिल्ली, 2013
5. अभिज्ञानशाकुन्तलम्। (काटयवेमरचितया कुमारगिरिराजीयया टीकया सहितम्), प्रकाशकः आन्ध्रप्रदेश संस्कृत अकादेमी, हैदराबाद, 1982
6. नाट्यशाशास्त्रम्। (भाग-2), अभिनवभारती के साथ, गायकवाड ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट, वडोदरा, 2006
7. नाट्यशास्त्रम्, सं. बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, 1980
8. अभिज्ञानशाकुन्तलम्। सं. एम. आर. काळे, (प्रथमावृत्ति-1898, दशवी आवृत्ति- 1969), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
9. कालिदास ग्रन्थावली, (1976 एवं द्वितीयावृत्ति 1986), सं. डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी जी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
10. अभिज्ञानशकुन्तलम्। (शुद्धतर देवनागरी पाठ), सं. पी. एन. पाटनकर, प्रका. शीरालकर एण्ड कंपनी, बुधवार पेठ, पूणें (द्वितीयावृत्ति 1902)
11. अभिज्ञानशकुन्तलम्। सं. शारदा रञ्जन राय, कोलकाता, 1908
12. शकुन्तला। सं. मोनीयर विलियम्स, चौखम्बा संस्कृत सिरीझ, वाराणसी, (1961 तृतीयावृत्ति)
13. किशोरकेलि-व्याख्यासमेतम् अभिज्ञानशाकुन्तलम्। सं. श्रीकान्तानाथशास्त्री तेलङ्गः, चौखम्बा संस्कृत सिरीझ, वाराणसी, 1960
14. चतुर्वेदी, सीताराम. (1963). कालिदासग्रन्थावली (हिन्दीअनुवादसहिता).अलीगढरू अखिलभारतीयपुस्तकमन्दिर.
15. कालिदास परिशीलन, सं. राधावल्लभ त्रिपाठी, हरिसिंह गौर युनि.

सागर, 1988
16. अभिज्ञानशकुन्तलम् ।(देवनागरी पाठ), सं. गौरीनाथ शास्त्री, साहित्य अकादेमी, दिल्ली, 1983
17. महाभारतम् (आदिपर्वन्), सं. वी. एस. सुकथंकर, भाण्डारकर ओरिएन्टल इन्स्टीट्युट, पूणें, 1933
18. अभिज्ञानशाकुन्तलम् । (अभिरामकृत-व्याख्यासमेतम्), श्रीवाणी-विलास-प्रेस, श्रीरंगम्, 1917
19. अभिज्ञानशाकुन्तलम् । (घनश्यामकृत-संजीवनाख्य-टिप्पण-समेतम्), सं. पूनम पंकज रावळ, सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदावाद, 1997
20. अभिज्ञानशाकुन्तलम् । (नीलकण्ठी-टीकया समेतम्), सं. गोपाल रेड्डी, तिरुपति, भारतीय बुक कोर्पोरेशन, दिल्ली, 1996

Books in English

1. Karl Burkhad, DieKacmirer Cakuntala-Handschrift von, Sitzungsberichte der Philosophisch&Historischen Classe, Wien. 1884
2. Richard Pischel, Kalidasa's Sa'kntala, the Bangali Recension, Ed. Harvard University Press, second edition, 1922
3. Lectiones codicis Ca'kuntali Bikanirensis, by Karl Burkhard, 1881. See : Achter Jahresbericht uber das K.K. Franz – Joseph – Gymnasium in Wien, 1881/82.
4. B. K. Thakore, The Text of Sákuntala (A paper read at the First Oriental Conference, Poona, 1919), Pub. By D. B. Taraporewala Sons & Co., Bombay, 1922
5. V. Raghavan, Introduction, p. 3, The A bhijnanasakuntala, Ed. S.K. Belvalkar, Sahity Akademy, Delhi, 1965.
6. V. Raghavan, (Ed.) New Catalogus Catalogorum, (Vol. 1), University Of Madras, 1968

7. P. N. Patankar, (Ed.) The A bhijnanasákuntala, The purer Devnagari Text, Shiralkar & Co., Poona, second edition revised and improved, 1902

Books in Hindi

1. कालिदास : अपनी बात (भारतीय दृष्टि), रेवाप्रसाद द्विवेद, कालिदास संस्थान, वाराणसी, 2004
2. कालिदास का परिशीलन, सं. राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, 1988
3. कालिदास का अनुशीलन, सं. राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर, 1988

Periodicals

1. Entracte to 7 (Natak and Natan), Bulletin of Deccan College Research Institute, Poona, vol. 20, (pp. 19-24), 1950.
2. Hansapadika's song, by G. K. Bhat, Journal of the Oriental Institute, M. S. University of Baroda, Vadodara, 1953
3. Kalidasa's A bhijnanasa'kuntala – Its Dramatic Setting, Vikram Volume, (pp. 45-55), Scinia Oriental Institute, Ujjain, 1948
4. Natak and Nartan (Entr'acte to 7), Bulletin of Deccan College Research Institute, Poona, vol. 20, (pp. 19-24), 1950.
5. S'ringaric Eloboration in Sákuntala – Act : 3, Indian Studies in Honor of C. R. Lanman, Harvard University Press, (pp. 187-192), 1929.
6. The Application of a few Canons of Textual and Higher Criticism to Kalidaasa's Sa'kuntala. Asia Major, Leipzing, (pp. 78-104),1923.
7. The Original Sa'kuntala, Sir Ashutosh Mookerjee Silver

Jubilee Vol. 3, Orientalia, Part–2, (pp. 344-359), Calcutta, 1925.

8. निसर्ग कन्या शकुन्तला। कालिदास ग्रन्तावली, अनुवादक श्रीसीताराम चतुर्वेदी, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ, 1962, में प्रकाशित लेख, पृ. 59-70।
9. नाट्यम्, (अङ्क 71-74), सं. राधावल्लभ त्रिपाठी, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, 2011-12

●●●